NAVNEET

2012 Sep. Dec.

सितम्बर, 2012 20 रुपये

नवनीत

हिन्दी डाइजेस्ट

भाषा बहता नीर

आपके लिए नवनीत की
उपहार योजना

यदि आप अपने पांच प्रियजनों को एक वर्ष की सदस्यता दिलवाते हैं तो आपको **1200** रुपये के बजाय भुगतान करने होंगे केवल **1000** रुपये !

(एक सादे पृष्ठ पर अपने सभी पांच प्रियजनों सहित ...ना नाम, पता व फ़ोन नं. साफ़-साफ़ अक्षरों में लिख भेजें.)

...ानी उपहार-योजना जारी रहेगी, जिसके तहत आप अपने ... मित्र, परिचित व सम्बंधी को केवल **220** रुपयों में एक वर्ष तथा ... रुपयों में दो वर्ष की सदस्यता उपहार स्वरूप भिजवा सकते हैं.

... आप ऑनलाइन ***नवनीत*** के ग्राहक बन सकते हैं !

लॉग ऑन कीजिए

...ttp://www.bhavans.info/periodical/pay_online.asp

यहां से काटें और आज ही भेजें

... इन्हें ***नवनीत*** उपहार में भिजवाना चाहता/चाहती हूं. कृपया विशेष ...के साथ इन्हें एक वर्ष /दो वर्ष के लिए मेरी ओर से ***नवनीत*** भिजवा ...चेक/मनीऑर्डर/ड्राफ़्ट भेज रहा हूं / रही हूं.

...ाम व पता ....

....

.... पिन नं. -......................

... नं. - .... ई-मेल ....

उपहार प्राप्तकर्ता का नाम

...श्रीमती ....

....

.... पिन.न. -................

...............................ई-मेल..............................

(मुंबई से बाहर की चेक राशि में 25/- रुपये अतिरिक्त जोड़ दें.)

(मनीऑर्डर या ड्राफ़्ट *'भारतीय विद्या भवन'* के नाम से बनायें.)

पाठकनामा

जून अंक में गंगा के बारे में जवाहरलाल नेहरू का पत्र पढ़कर उनके व्यक्तित्व का एक नया ही पक्ष सामने आया. एडवर्ड थॉमसन को उन्होंने सलाह दी है कि गंगा के बारे में वे जो डॉक्यूमेंट्री बना रहे हैं, उसमें में 'गैजेज़' नाम काम में न लें- क्योंकि गैजेज़ आकाशगंगा को नष्ट करता है. हर बात में अंग्रेज़ी का छौंक लगाने वाले हमारे नयी पीढ़ी वाले नेहरू की इस बात की गहराई को समझ लें तो उनका कल्याण हो जायेगा.

● **रामप्रकाश गुप्ता, बुलंदशहर (उ.प्र.)**

चाहकर भी नवनीत के सम्पादक महोदय को औपचारिक पत्र नहीं लिख पा रही. इतने दिनों का नवनीत से सम्बंध अब औपचारिकता तक सीमित नहीं है. नवनीत अब मेरी व्यक्तिगत आवश्यकता और अपनी निधि है. उसकी प्रत्येक प्रति बहुत सहेज कर संग्रहित है.

आपका सम्पादकीय बहुत ध्यान से पढ़ती हूं. षष्ठिपूर्ति अंक तो विशिष्ठ था ही. सभी पुरानी बातें यादों के गलियारे में चहलकदमी करने लगी थीं. उस समय काफ़ी अस्वस्थ थी- इस कारण पत्र लिख न सकी. इसी कारण वार्षिक देय समय पर नहीं पहुंचा. पर रिमाइंडर पाकर पत्र लिखने से अपने आपको रोक नहीं सकी.

इतने अपनत्वपूर्ण, स्नेह सिक्त रिमाइंडर मन को अति सुख दे गये. सच में नवनीत हमारा है और हम उसके हैं. उसे हर हाल में पुष्पित-पल्लवित होना ही है.

नवनीत की उन्नति निश्चित है. हमारे परिवार की ओर से आपको हार्दिक शुभकामनाएं हैं. हमारे नवनीत को संवार कर सुरक्षित रखने के लिए आत्मिक धन्यवाद सहित.

● **डॉ विनीता चतुर्वेदी, नयी दिल्ली**

नवनीत के जून अंक में सभी लेख पठनीय हैं. श्री रवि चोपड़ा का लेख 'आओ अपनी गंगा बचायें' सारगर्भित सिद्ध हुआ. समाज सुधारक, राजनेता, संत सभी अमृततुल्य, जीवनदायिनी गंगा की महिमा बखान करके देशसेवा में अपना महान योगदान समझ लेते हैं. सही मायने में, गंगा को क्यों और कैसे बचाना है, यह भी रवि चोपड़ा जी के लेख में परिलक्षित हुआ है अतः सबसे पहली आवश्यकता गंगा के ऊपर बढ़ते हुए बांधों के निर्माण को रोकने की है. इसके लिए पूरे भारतवर्ष को एकजुट हो कर पहल करनी पड़ेगी. गंगा के बारे में इतनी अच्छी जानकारी के लिये साधुवाद. धारावाहिक

'कंथा' बेजोड़ है. इसकी उत्कृष्टता बयान करने के लिए शब्द नहीं हैं. काशी के छोटे बड़े गली-मोहल्ले, जयशंकर प्रसाद के समय के लेखकों, कवियों के आपस में वाद-संवाद, सम्भाषण का सजीव चित्रण है, मन सीधा काशी में रमण करने लगता है. 'कंथा' जैसी अमूल्यनिधि को पढ़ते-पढ़ते श्याम बिहारी 'श्यामल' जी के बारे में जानने की तीव्र उत्कंठा जाग उठी है, जिन्होंने जयशंकर प्रसाद का ऐसा सजीव दर्शन कराया, मन गदगद हो उठता है.

● अनिता कुमार, पुणे.

यूं तो 'नवनीत' का हर अंक गहन रूप से पठनीय है किंतु जुलाई अंक का तो प्रत्येक लेख, कथा गम्भीर रूप से आत्मसात करने योग्य है. पिछले एक वर्ष से मैं नवनीत को निरंतर पढ़ रहा हूं. मुझे लगता है दिन-प्रतिदिन मैं इससे और जुड़ता जा रहा हूं. गम्भीर हिंदी की ऐसी दूसरी पत्रिका अभी तक मुझे नहीं मिली. पत्रिका में कहीं सस्तेपन-छिछोरेपन की झलक नहीं दिखाई पड़ती.

● डॉ. सतीश चंद्र गुप्ता, फरीदाबाद

जुलाई अंक संस्कृति के संकट को कई कोणों से समझने, उससे उबरने और अभियान की भांति ग्रहण करने की दिशा में सहायक साबित होता है. 'पहली सीढ़ी' पर दर्ज है 'आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः', भद्र विचारों को हर ओर से आने दो. अगर हम चर्चा की शुरूआत इस अंक के मुख्य आवरण पृष्ठ पर शुचिता से अंकित चित्र तथा शब्द युग्म 'शुभ-लाभ' से करें तो कहना न होगा कि आज जिस कदर संस्कृति तार-तार हो रही है या की जा रही है, इसके समतुल्य मनोरंजन अथवा भोजनादि हमारा लक्ष्य होना चाहिए. जो शुभ होगा वही हमारा लाभ है, जो लाभ होगा वही हमारा शुभ है. इस सोच से आये दिन विकृति आ गयी है. हम कुल मिलाकर एक आस्थावान जीवन जीने के बजाय एक यांत्रिक जीवन जी रहे हैं. एक उपभोक्तावादी अपसंस्कृति हावी होती जा रही है.

सम्पादकीय 'ताकि जीवन सार्थक सारगर्भित बने', पठनीय व मननीय है. कविता कुंज की ओर रुख करने पर 'पहली सीढ़ी' पर दृष्टि अटक गयी, युग की मांग

मेरे लम्बे जीवन का पाथेय

हाल ही में समाचारपत्र में पढ़ा कि हिंदी (पढ़ना) अनिवार्य नहीं होगा तो आपको पत्र लिखने का मन कर गया. किसी के सामने तो अपनी वेदना प्रकट करूं. हिंदी के समाचारपत्र और पत्रिकाएं ही तो इस लम्बे जीवन का पाथेय बनी हुई हैं. ईश्वर की अपार अनुकम्पा से बचपन से ही राजनीतिक वातावरण मिला. विवाह भी अमर शहीद गणेश शंकर विद्यार्थी के परिवार में हुआ. महात्मा गांधी के साथ कानपुर की गलियों में घूम-घूम कर चंदे में केवल रुपया-आभूषण ही नहीं, स्त्रियों ने अपने बहुमूल्य विदेशी वस्त्र भी छज्जों से फेंक दिये थे, जिनकी मैदान में होली जलायी थी. उस समय उत्तर प्रदेश वास्तव में उत्तम प्रदेश था और कानपुर पूरी तरह कांग्रेसमय था. गणेश शंकर विद्यार्थी जी ने धनपति चुन्नीलाल के विरुद्ध चुनाव लड़ा था. उनके पास न धनबल था, न बाहुबल परंतु आत्मबल तथा जनता के आदर-प्यार के कारण हजारों मतों से विजयी हुए थे. क्या समय था और आज क्या हो गया है? क्या गांधीजी ने ऐसे ही रामराज्य की कल्पना की थी? इस आधुनिकता तथा वैज्ञानिकता ने तो भारत को 'इंडिया' बना दिया. अनेक नये-नये एक दिवसीय उत्सव आ गये-13 मई को 'मातृ दिवस' की औपचारिकता पूरी कर ली गयी. वह दिन भी भूला नहीं है जब भारत माता को खंडित करके आज़ादी की भीख मिली थी.

क्या फिर उसी भ्रम से भ्रमित होकर 'मां' नाम की गरिमा कम होती जा रही है? दादी, नानी, परिवार सब बिखर गये. पिता के परिवार में भी आंटी-अंकल भर रह गये. मां ही वह पक्की नींव है, जिसपर ऊंची इमारत खड़ी हो सकती है.

नवनीत साठ वर्ष की हो गयी. यथा नाम तथा गुण है. अमर रहेगी, इस आशा के साथ इस पत्रिका को कितना-कितना आशीर्वाद दूं. 95 वर्ष की आयु में भी एक दिन में पूरी समाप्त हो जाती है, तब पुरानी निकालनी पड़ती है. पत्र-पत्रिकाएं ही मेरे समय की साथी हैं.

● प्रकाशवती विद्यार्थी, कानपुर

और जीवन के दर्द से 'आमंत्रण' कविता तदवत दिखी. कविता के रचयिता श्री नबारुण भट्टाचार्य को बधाई.

● सीताराम सिंह सरोज, बेंगलुरू

जुलाई अंक मिला तो संस्कृति के बारे में जानकारी में वृद्धि व परिष्करण हुआ. साहित्य की विविध विधाओं को समेटे नवनीत वाकई एक पठनीय होना प्रमाणित करती है. संस्कृति पर कई लेख कहानी, लघुकथा तथा गीत पढ़कर लगा अंक संग्रहणीय है.

पत्रिका के कलेवर को अधिक मज़बूत बनाने वाला भाग रहा श्री सत्यपाल सिंह 'सुष्म' का व्यंग्य लेख 'व्यंग्य तुलवाइए'. हर बार की भांति सुष्म जी ने एक साथ कई मुद्दों को भले ढंग से तोला है.

● मुकुपा दलोता, झुंझुनू, राजस्थान

जो मेरा है

'**स्व**धर्म का पालन करते हुए मर जाना उत्तम है'- इस वचन में मनुष्य की गतिशील एकता के लिए भीषण कसौटी समाविष्ट है. निरंतर होने का अर्थ है, अपने माने हुए सत्य को सहारा देने के लिए, सर्वस्व बाजी पर लगा देना. यही गतिशील एकता सिद्ध करने की एकमात्र तैयारी भी है.

योग की इस अभेद्य एकता में 'होना' और 'करना' एक ही होते हैं. स्वकर्म, स्वभाव का एक अंश बन जाता है. जिस कर्म में केवल ध्येय का ही दर्शन हो और चित्त का वृत्तात्मक स्वरूप मानो विस्मृत हो जाए तो योगसूत्र की व्याख्या में उसे समाधि कहा गया है. 'मैं हूं', 'मैं कर्ता हूं', इन दोनों का समिश्रण होने पर जब एक तीव्र क्रिया उत्पन्न हो, तब फिर सर्जन का कार्य होता ही है. मैं जिस चीज़ पर ध्यान एकाग्र करता हूं, वह मुझे सिद्धि देती है. जब 'मैं हूं', 'मैं करता हूं', के रूप में प्रकट होता है तो यह करने वाला 'मैं हूं' को मापने का गज बन जाता है. गेटे के 'प्रोमिथियस' काव्य में इसे बड़े सुंदर ढंग से कहा गया है.
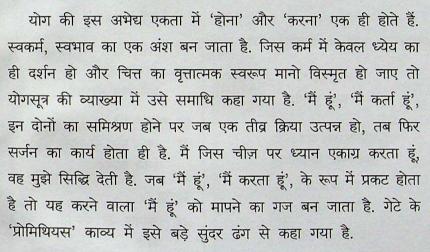
प्रोमिथियस- जो मेरा है उसे वे छीन नहीं सकते. जो उनका है, उसे वे भले ही सुरक्षित रखें, वह मेरा है, यह उनका है, यही अंतर है.

ऐपिमेथियस - तुम्हारा क्या है?

प्रोमिथियस - मेरी प्रकृति जो वर्तुल बनाती है, वह मेरा स्वभाव, मेरा स्वकर्म और उनके लिए मेरी मरने की तैयारी- यह सत्य है. यही ईश्वर-प्राणिधान, प्रपत्ति तथा शरणागति है.

(कुलपति के. एम. मुनशी भारतीय विद्या भवन के संस्थापक थे)

नवनीत
हिंदी डाइजेस्ट

समय... साहित्य... संस्कृति... का समग्र संसार

• भारतीय विद्या भवन का मासिक •
भवन की पत्रिका 'भारती' से समन्वित

वर्ष : 60 अंक : 9 • सितम्बर 2012

संस्थापक
कनैयालाल मुनशी • श्रीगोपाल नेवटिया

सम्पादक
विश्वनाथ सचदेव

वरिष्ठ उपसम्पादक
राधारमण त्रिपाठी

उपसम्पादक
विकास जोशी

प्रसार-सहायक
राजाराम पाल • आज़ाद आलम
कार्यालय सहायक - **हंसमुख परमार**

सम्पादकीय कार्यालय
भारतीय विद्या भवन
क. मा. मुनशी मार्ग, चौपाटी, मुंबई - 400 007
फ़ोन : 022-23634462/ 1261/ 1554
फ़ैक्स : 022-23630058
प्रसार-विभाग : 022-23514466/ 23530916
ई-मेल : navneet.hindi@gmail.com
bhavan@bhavans.info

एक नज़र में

आवरण-कथा

महाभारत जारी है

व्यंग्य

धारावाहिक उपन्यास

कविताएं

कहानियां

समाचार

'प्रभाव' पर भारी पड़ता 'असर'

• आनंद गहलोत

'प्रभाव' संस्कृत से पहले की भाषा की 'भा' धातु से बना है. 'भा' का अर्थ है चमकना, दीप्ति होना. 'भा' से ही 'प्रभा', 'प्रभात' शब्द बने. 'प्रभा' का अर्थ है 'चमक', 'दीप्ति', 'कांति', 'जगमगाहट', 'रोशनी'.

'प्रभा' और 'प्रभाव' के माता-पिता एक ही थे. शुरू में दोनों शब्दों के अर्थ व गुण समान रहे, लेकिन जहां 'प्रभा' शब्द अपने प्राचीन चमक-दमकपूर्ण रूप और अर्थ से संतुष्ट रहा, वहां 'प्रभाव' ने अपने 'प्रभाव' और अर्थ का दायरा बढ़ाना शुरू कर दिया. 'प्रभाव' के 'कांति' और 'दीप्ति' के साहचर्य से 'गरिमा', 'यश', महिमा' और 'तेज' अर्थ विकसित हुए. यद्यपि मराठी, गुजराती, तमिल, तेलुगु, मलयालम, कन्नड़ में आज भी 'प्रभाव' का अर्थ 'शक्ति', 'महिमा', 'तेज' बना हुआ है लेकिन हिंदी, उर्दू, बांग्ला तक आते-आते 'प्रभाव' का एक अर्थ 'प्रभा' गुल हो गया. 'प्रभा' अर्थ ज़िंदा बचा है तो 'प्रभात' शब्द में. 'प्रभाव' के सगोत्र 'प्रभु' 'प्रभुता' में शक्तिशाली अर्थ उसका सहचर हो गया है. यह आधिपत्य और सर्वोपरिता का पर्याय हो गया है.

'प्रभाव' का 'असर' अर्थ शक्ति भाव के सहचर हो जाने, जुड़ जाने या शब्द में समा जाने से हुआ है. कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में 'प्रभाव' शब्द न केवल 'शक्ति' बल्कि 'दिव्यशक्ति' तक के लिए इस्तेमाल किया है. यह कहना प्रासंगिक होगा कि संस्कृत साहित्य में 'प्रभावशाली' का अर्थ 'शक्तिशाली' है. अब 'प्रभाव' का पुण्य कुछ क्षीण हो गया है.

हिंदी-उर्दू में 'प्रभाव' का अर्थ रह गया है- 'इतना मान या अधिकार कि जो बात चाहे कर या करा सके.' अरबी से हिंदी उर्दू, आदि भारतीय भाषाओं में आये 'असर' शब्द ने 'प्रभाव' शब्द की शक्ति को कम किया है. अरबी में 'असर' का मूल अर्थ है 'लक्षण', 'गुण', 'चित्त', 'तासीर', 'निशान'. 'गुणकारी' शब्द के आधार पर अरबी-हिंदी के मेल से 'असरदायक' शब्द भी लोकप्रिय हो गया है.

'असर' का बहुवचन है 'आसार.' शब्द-संसार की यह अजीबोगरीब घटना है कि बहुवचन शब्द ने कुछ नये अर्थ भी विकसित कर लिये.जैसे 'प्रभाव' का शुरू का एक अर्थ 'प्रभूत (उत्पन्न)' भी था, ठीक उसी तरह 'आसार' का एक मूल अर्थ 'प्रारम्भ' आधार भी था.

॥ आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः ॥

सात सुरों सधना है...

दरवाज़ा खुलते ही बोले
मुझसे सड़क शुरू होती है,
आहट की थर थर थर पर ही
लीलटांस पांखें झर झरती उड़े दूरियां गाती

कहते से बैठे हैं आगे
चार पांच छह सात रास्ते,
दस-दस बांसों ऊंचे-ऊंचे
खड़े हुए हैं पेड़ थामकर छायाओं के छाते,
घाटी इधर उधर डूंगर वह
जंगल बहुत घना है...

झुका हुआ आकाश जहां पर
उस अछोर को ही छूना हो,
कोरे से इस कागज़ ऊपर
अपने होने के रंगों को भर देना चाहा हो,
तब तो आखर के निनाद को सात सुरों सधना है...

— हरीश भादानी

सम्पादकीय

सवाल भाषा की प्राणवत्ता का

भाषा को बहता नीर कहा गया है. बहता नीर यानी नदी. नदी जब बहती है तो अपने साथ जो कुछ लाती है, वह किनारों को बांटती चलती है और बदले में वह सब बटोरती भी जाती है, जो किनारे उसे देते हैं. इसलिए यदि कोई चाहे कि वह आज भी नदी के उसी पानी में नहा ले जिसमें वह कल नहाया था तो यह असम्भव है. उसी जगह तो वह नहा सकता है पर उसी पानी में नहीं. भाषा पर भी यही बात लागू होती है. नदी की ही तरह बांटने-बटोरने की प्रक्रिया भाषा के साथ भी चलती रहती है. विशेषता यह है कि यह परिवर्तन भाषा को ताकतवर ही बनाता है- ताकतवर अर्थात अधिक सम्प्रेषणीय, अधिक सारगर्भित. इस प्रक्रिया में भाषा की शब्द-सम्पदा ही नहीं बढ़ती, अभिव्यक्ति को नये आयाम भी मिलते हैं. भाषा में आने वाला यह बदलाव अखरता भी नहीं है- सहज लगता है.

लेकिन जब किसी बहती नदी में किनारे के किसी कारखाने का खतरनाक कचरा जबर्दस्ती बहाया जाता है तो यह किनारे के किसी देय को बटोरना नहीं कहलाता. यह जाने-अनजाने की गयी एक खतरनाक कोशिश होती है, नदी को भ्रष्ट करने की.

सवाल उठता है कि कहीं हम अपनी भाषा- 'हिंदी'- के साथ भी तो कुछ ऐसा ही नहीं कर रहे? भाषा का निरंतर बदलना एक स्वाभाविक प्रक्रिया है, उसमें अन्यान्य भाषाओं के शब्दों का आना भी स्वागत-योग्य है. भाषा के विकास के लिए ज़रूरी भी है यह. लेकिन जिस तरह अंग्रेज़ी हमारी भाषाओं पर हावी होती जा रही है या कहना चाहिए उसे हावी किया जा रहा है, वह सिर्फ़ चौंकाने वाली बात नहीं, चिंता की बात भी है. चिंता इसलिए कि अंग्रेज़ी का यह आक्रमण हमारी भाषाओं की प्रकृति और प्रवृत्ति दोनों पर नकारात्मक प्रभाव डाल रहा है. वैश्वीकरण और कम्प्यूटरीकरण की दुहाई देकर हमारी भाषाओं पर

अंग्रेज़ी थोपी जा रही है. लेकिन सचाई यह भी है कि हमें कहीं न कहीं यह अहसास भी कराया जा रहा है कि अंग्रेज़ी आधुनिकता की प्रतीक है; कि अंग्रेज़ी उच्चता का प्रमाणपत्र है. जहां तक भारत का सवाल है, अंग्रेज़ी के साथ यह भाव भी जुड़ा हुआ है कि यह शासकों की भाषा है. इसलिए, अंग्रेज़ी बोलकर अथवा अपनी भाषा को अंग्रेज़ी शब्दों की रंगीन चादर ओढ़ाकर हम अपने कद को बढ़ा हुआ महसूस करने लगते हैं. कहने को इसे उच्चता की भावना कह सकते हैं पर वस्तुतः इसमें हमारी हीन भावना ही परिलक्षित होती है.

पिछले दिनों मुम्बई में साने गुरुजी की चर्चित मराठी कृति 'श्यामची आई' का अंग्रेज़ी नाट्य रूपांतरण प्रस्तुत किया गया था. इसका स्वागत होना चाहिए पर जब नाटककार यह कहता है कि 'मराठीभाषी बच्चों को इस महान कृति से परिचित कराने के लिए इसे अंग्रेज़ी में प्रस्तुत करना ज़रूरी हो गया है,' तो सोचना पड़ता है कि अपनी भाषाओं के प्रति हमारी उपेक्षा-दृष्टि का कारण क्या है?

भाषा संस्कृति की वाहक होती है और अपने साथ एक संस्कृति लाती भी है. इसलिए ज़रूरी हो जाता है कि आज देश में अपनी भाषाओं के प्रति बनते उपेक्षापूर्ण दृष्टिकोण के बारे में गम्भीरता से सोचा जाए. हमें यह भी नहीं भूलना है कि यदि किसी मानव समूह में भाषा मान्यता खोने लगती है तो वह अपनी प्राणवत्ता भी खो देती है.

'नवनीत' की इस बार की आवरण-कथा से जुड़े आलेखों में इसी स्थिति के प्रति चिंता प्रकट होती है और ऐसे में क्या किया जाना चाहिए, का उत्तर तलाशने की एक कोशिश भी.

आज की हिंदी, आज की चुनौतियां

• प्रियदर्शन
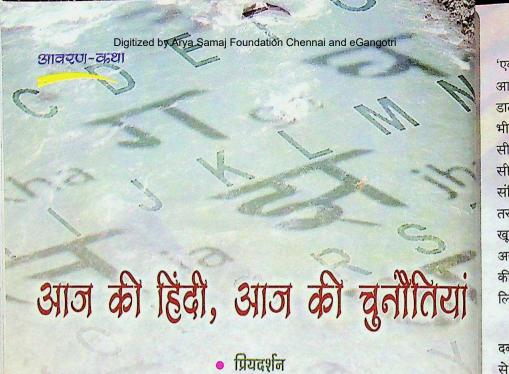
नये दौर के माध्यमों में जो हिंदी बरती जा रही है, उसकी दो-तीन चुनौतियों से मैं लगभग रोज़ रूबरू होता हूं. सबसे पहली चुनौती अंग्रेज़ी की आक्रांता भूमिका के सामने हिंदी को उसके निरीह आत्मसमर्पण से बचाने की है. भाषाओं के बीच लेन-देन स्वाभाविक भी है और भाषाओं की सेहत और समृद्धि के लिए ज़रूरी भी, लेकिन हिंदी में जिस तेज़ी से अंग्रेज़ी शब्दों की घुसपैठ बढ़ रही है, उसे देखकर चिंता होती है. हिंदी के बिल्कुल सहज-सरल शब्दों की जगह भी अंग्रेज़ी शब्द लाये जा रहे हैं- बल्कि अंग्रेज़ी के कई बार मुश्किल और लम्बे शब्द भी हिंदी के आसान और छोटे शब्दों की जगह ले रहे हैं. जैसे जीत की जगह 'विक्टरी', जश्न या समारोह की जगह 'सेलेब्रेशन', खेल-भावना की जगह 'स्पोर्ट्समैन स्पिरिट', पदक की जगह 'मेडल', पुरस्कार की जगह 'अवार्ड'. ये सारे शब्द अमूमन खेलों की दुनिया से जुड़े हैं, लेकिन राजनीति और कारोबार के संसार में भी हिंदी की हालत कोई खास अच्छी नहीं- संसद की जगह पार्लियामेंट, अविश्वास प्रस्ताव की जगह 'नो कॉन्फिडेंस मोशन', चुनाव की जगह 'इलेक्शन' बिल्कुल धड़ल्ले से इस्तेमाल ही नहीं किये जा रहे, बल्कि आसानी से समझ में आने वाले और आम बोलचाल में काम में लिये जाने वाले शब्दों के तौर पर इनकी वकालत भी की जा रही है. कारोबार की दुनिया में, मुद्रास्फीति की जगह 'इन्फ्लेशन' 'आयात-निर्यात' की जगह

'एक्सपोर्ट-इम्पोर्ट', मुद्रा की जगह 'करेंसी' आम हैं. यह भाषा तब ज़्यादा सांसत में डालती है जब हम इनके छोटे रूपों को भी ज्यों का त्यों इस्तेमाल करने लगते हैं. सीएम, पीएम, सीबीआई, पर्सेंट आरसीआर, सीआरआर एएफएसपीए जैसे ढेर सारे संक्षिप्त रूप हैं जिन्हें कई बार पहेली की तरह समझना पड़ता है, लेकिन हिंदी में इन्हें खूब इस्तेमाल किया जा रहा है. यही नहीं, अखबारों के परिशिष्टों और टीवी चैनलों की स्क्रीन पर कई बार इन्हें सीधे रोमन लिपि में लिखा जाता है.

बहरहाल, यह हिंदी पर अंग्रेज़ी के बढ़ते दबदबे का बहुत प्रत्यक्ष और बड़ी आसानी से पकड़ में आ जाने वाला रूप है. लेकिन इस प्रभाव का एक सूक्ष्म रूप भी है जिस पर लोगों की नज़र अमूमन कम पड़ती है. ध्यान से देखें तो माध्यमों में इस्तेमाल की जा रही हिंदी पूरी तरह अनुवाद की भाषा हो गयी है. हम अपनी बेखबरी में ही अंग्रेज़ी के वाक्यों का जैसे मन ही मन अनुवाद कर रहे होते हैं. हिंदी का अपना भाषिक विन्यास जैसे कहीं खो गया है. अमूमन मूल हिंदी शब्दावली के साथ भी गढ़े वाक्य मूलतः अंग्रेज़ी की छाया में लिखे गये होते हैं. दुर्भाग्य से यह वह प्रभाव है जिसे न पहचानना आसान है न बदलना, क्योंकि हम सब जाने-अनजाने इसकी चपेट में आ चुके हैं.

पूछा जा सकता है कि इसमें बुरा क्या है. भाषाओं के रूप स्वाभाविक तौर पर बदलते ही हैं. सौ साल पहले लिखी जा रही हिंदी 50 साल पहले बदल चुकी थी और 50 साल पहले लिखी जा रही हिंदी अब फिर से बदल रही है. यह प्रक्रिया दुनिया की सारी भाषाओं के साथ घटित होती है. न रूसी पहले जैसी रही और न ही जर्मन. अंग्रेज़ी तो काफ़ी ज़्यादा बदल चुकी है. फिर हिंदी के बदलने पर, उसमें नये शब्दों के दाखिल होने पर हायतोबा या हाहाकार कहां तक उचित है?

दरअसल इस सवाल के ज़वाब के लिए हमें भाषाओं की भूमिका और राजनीति दोनों पर विचार करना होगा. क्योंकि भाषाओं के साथ सिर्फ़ उनकी सांस्कृतिक ही नहीं, राजनीतिक ताकत भी होती है. यह सच

है कि दुनिया भर की भाषाएं हाल के वर्षों के लेन-देन की वजह से बदली हैं, उनके भाषिक वैशिष्टय एक-दूसरे की गर्मी में कुछ पिघले हैं, लेकिन इस समूचे खेल में अंग्रेज़ी अपनी राजनीतिक और आर्थिक हैसियत की वजह से आक्रांता भूमिका में रही है. सिर्फ़ हिंदी नहीं, फ्रेंच और दूसरी भाषाएं भी अपने-आप को अंग्रेज़ी के असर से बचाने की कोशिश कर रही हैं. हिंदी या भारतीय भाषाओं की स्थिति इस लड़ाई में ज़्यादा दयनीय दिखती है तो इसलिए कि हमारे साथ एक औपनिवेशिक विरासत भी जुड़ी है जिसने अंग्रेज़ी को हमारे देश में पहले से ही विशेषाधिकार-सम्पन्न हैसियत दे रखी है.

दूसरी बात यह कि भाषा आती है तो अपने साथ पूरी संस्कृति लाती है, परम्परा लाती है और विचार प्रक्रिया लाती है. अंग्रेज़ी ने भी यही काम किया है और इसलिए अंग्रेज़ी के असर में लिखी जा रही हिंदी में वह जातीय स्मृति नहीं दिखती जो एक भाषा के रूप में उसकी शक्ति बनती है. दरअसल यह बात बहुत बारीकी से समझने की है कि हर शब्द अपने साथ एक ऐतिहासिक स्मृति का संसार भी लिये चलता है. उसकी छवि होती है, उसके साथ हमारी कथाएं होती हैं, उसके साथ हमारी भावनाएं होती हैं. मां या मदर एक ही अर्थ वाले दो शब्द हैं, लेकिन दोनों की छवियां बिल्कुल अलग-अलग हैं. घर, आंगन,

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिवार, समाज, राष्ट्र, धर्म या ऐसे ढेर सारे दूसरे शब्द हैं जो अपनी स्मृति की सम्पदा भी अपने साथ लिये चलते हैं. जब हम इन शब्दों को विस्थापित करते हैं तो दरअसल इनके साथ जुड़ी एक पूरी स्मृति और संस्कृति को भी बेदखल करते हैं. इसके बाद लिखी जा रही हिंदी अपने चरित्र में बहुत यांत्रिक और बोझिल हो उठती है. दिलचस्प यह है कि इसके बाद माध्यमों को लेकर फैसला करने वाले लोग शिकायत करते हैं कि यह हिंदी तो बिल्कुल बेमानी लगती है, इससे बेहतर और फड़कती हुई भाषा तो अंग्रेज़ी है.

तो आज की हिंदी के सामने ये दो सबसे अहम चुनौतियां हैं- जो भाषा लिखी जा रही है, वह अपने भाषिक विन्यास और अपनी वैचारिक अभिव्यक्ति दोनों के लिए अंग्रेज़ी पर इस कदर निर्भर दिखाई पड़ती है कि उसकी अपनी खुशबू, उसका अपना आस्वाद ही जैसे खो गये हैं.

लेकिन इस चुनौती से निबटने का तरीका क्या है? यह जो नयी हिंदी लिखी जा रही है, वह क्यों लिखी जा रही है, किसके दबाव में लिखी जा रही है? इस सवाल का जवाब दरअसल हमें एक ज़्यादा बड़ी चुनौती के सामने खड़ा करता है जिसका वास्ता ज्ञान-विज्ञान की पूरी परम्परा और उसके लिए बरते जा रहे माध्यम से है. यहां आकर हम पाते हैं कि दरअसल वह बौद्धिक दासता लगभग सम्पूर्ण हो चली है जो बिल्कुल प्रारम्भ में बस एक मानसिक विवशता मालूम होती थी. हमारे मध्यवर्गीय समाज में अब पठन-पाठन की, ज्ञान-विज्ञान की, रोटी और रोज़गार की, आत्मनिर्भरता और आत्मसम्मान की नयी भाषा अंग्रेज़ी है. सूचना प्रौद्योगिकी का यह पूरा दौर एक माध्यम के तौर पर अंग्रेज़ी को समर्पित है. इसमें बेशक, बाज़ार और कारोबार के दबाव में कुछ गुंजाइश हिंदी की निकलती है- मसलन हिंदी अखबारों की, हिंदी न्यूज़ चैनलों की, हिंदी एसएमएस की और हिंदी फ़िल्मों की- लेकिन इस हिंदी के सामने भी अस्तित्व और श्रेष्ठता के मानक अंग्रेज़ी से आ रहे हैं. यह हिंदी अंग्रेज़ी के अनुवाद से बनती है, उसकी शर्तों पर काम करती है, अंग्रेज़ी शब्दों को पहले की तरह अपने भाषिक मिज़ाज में नहीं ढालती, बल्कि उन्हें उनके बिल्कुल शुद्ध उच्चारण के साथ इस्तेमाल करने की दयनीय कोशिश करती
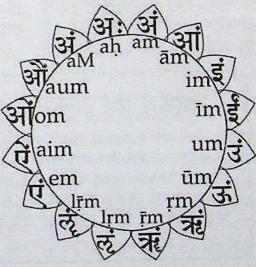
दिखती है और उन लोगों की [illegible] होती है जो अंग्रेज़ी में काम करते-करते हिंदी पर भी कुछ करम कर जाते हैं.

सवाल है, इससे नुकसान क्या है? बस इतना ही कि ऐसी हिंदी का इस्तेमाल हमें मौलिक नहीं रहने देता. हम जाने-अनजाने सिर्फ़ अंग्रेज़ी शब्दों या वाक्यों का अनुवाद ही नहीं कर रहे होते. एक पूरी वैचारिक पद्धति को धीरे-धीरे अपना रहे होते हैं. आज माध्यमों की दुनिया में यही हो रहा है. हिंदी की पोशाक पहन कर अंग्रेज़ी हावी है- यह भाषिक गुलामी एक तरह की बौद्धिक गुलामी भी है जो हमारे औपनिवेशिक अतीत को एक नव उपनिवेशवादी वर्तमान में बदलने में अहम भूमिका निभा रही है.

लेकिन इस चुनौती से निबटने का रास्ता जितना भाषा की गली से जाता है, उससे कहीं ज़्यादा राजनीतिक-सांस्कृतिक संघर्ष की सड़क से. दुर्भाग्य से हमारे समय में सांस्कृतिक संघर्ष का मतलब भाषिक या सांस्कृतिक शुद्धतावाद के पक्ष में छेड़ी गयी एक भावुक और ज़िद्दी मुहिम भर है जो इसलिए [illegible] नहीं [illegible] पाती कि उसकी जड़ें कहीं ज़्यादा जटिल सचाई से दूर रहती हैं. हिंदी या भारतीय भाषाओं का आत्मसम्मान निज भाषा और निज गौरव की भावुक तकरीरों से नहीं लौटेगा, यह साबित करना होगा कि भारतीय भाषाओं में काम करते हुए खाया-पिया, जिया, सोचा और सपने देखा जा सकता है. लेकिन यह साबित कैसे होगा? हिंदी या भारतीय भाषाओं की लड़ाई इस मोड़ पर नयी खगोलीकृत दुनिया के वर्चस्ववादी तबकों के खिलाफ़ लड़ाई में भी बदल जाती है. जब तक वह लड़ाई नहीं लड़ी जायेगी, जब तक भूमंडलीकरण को अपनी ज़रूरतों के हिसाब से ढालने में हम कामयाब नहीं होंगे, जब तक विदेशी पूंजी, सत्ता और संस्कृति का साझा आतंक हमारी राजनीतिक-आर्थिक ज़रूरत और मानसिक बुनावट से बाहर नहीं होगा, हम ऐसी ही हिंदी लिखते रहेंगे जैसी इन दिनों लिख रहे हैं या बल्कि धीरे-धीरे हिंदी के कहीं ज़्यादा अंग्रेज़ीकृत और रोमन रूपों को स्वीकार करते दिखेंगे. ❑

खुशबू का अनुवाद नहीं हो सकता

जिस भाषा के साथ जो संस्कृति जुड़ी है, उसे नहीं भूलना चाहिए. संस्कृति का अनुवाद नहीं होता. आप अपने विचारों का अनुवाद कर सकते हैं. लेकिन इसके सांस्कृतिक हिस्से का अनुवाद नहीं कर सकते. जैसे आप किसी फूल को किसी फूल के साथ रोप कर एक नया पौधा बना सकते हैं, पर आप खुशबू नहीं रोप सकते. खुशबू का अनुवाद नहीं हो सकता. इसी तरह संस्कृति हमारी जड़ों में बसती है.

- गुलज़ार

प्रश्न गुलामी की वृत्ति से मुक्त होने का है

• न्यायमूर्ति चंद्रशेखर धर्माधिकारी
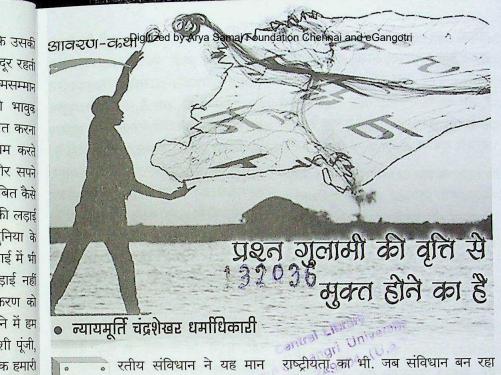
भारतीय संविधान ने यह मान लिया है कि संघ की राजभाषा हिंदी और लिपि देवनागरी होगी. संविधान सभा में जब इस विषय पर बहस चल रही थी तब 'राष्ट्रभाषा' और 'राजभाषा' दोनों शब्द एक ही सिक्के के दो हिस्से माने गये थे. आज़ादी मिलते ही महात्मा गांधी जी ने बी.बी.सी. को दिये गये साक्षात्कार में यह स्पष्ट कह दिया था– ''दुनिया से कह दो कि गांधी आज से अंग्रेज़ी नहीं जानता.'' इसमें किसी भाषा का द्वेष अभिप्रेत नहीं था बल्कि स्वदेशी भावना का आग्रह था. अंग्रेज़ जाएंगे तो उनके साथ अंग्रेज़ियत जानी चाहिए, यह भावना थी. स्वराज तथा लोकतंत्र में भाषा का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है. वह अस्मिता और संस्कृति का भी प्रतीक है और राष्ट्रीयता का भी. जब संविधान बन रहा था, तब हम 'संक्रमण काल' से गुज़र रहे थे. पुराने मूल्य, पुरानी प्रतिष्ठाएं जीर्ण होकर ढह रही थीं. नये मूल्य और नयी प्रतिष्ठाओं की स्थापना करनी थी. गांधीजी ने कभी आज़ादी या स्वतंत्रता शब्द का इस्तेमाल नहीं किया. उनका शब्द था 'स्वराज'. संक्रमण काल में कुछ समय तक यानी पंद्रह साल तक हिंदी के साथ, अंग्रेज़ी के प्रयोग की अनुमति दी गयी थी. लेकिन अंग्रेज़ी भाषा और रोमन लिपि वज्रलेप होगी यह भावना नहीं थी. संघ के शासकीय प्रयोजनों के लिए प्रयोग में आनेवाले अंकों का रूप अंतरराष्ट्रीय रूप होगा, यह भी मान लिया गया था. परंतु वह भी संक्रमण काल तक ही होगा यह भावना थी. लेकिन दुर्भाग्य से 'गोरे अंग्रेज़' गये और 'काले

अंग्रेज़ों' का राज कायम रहा. इसीलिए राजनीतिक स्वतंत्रता मिली पर हर तरह की गुलामी से आज तक मुक्ति नहीं मिली है और इसका सबसे परिपूर्ण अनुभव भाषा के क्षेत्र में आज भी दिखाई दे रहा है. यही असली दुर्भाग्य है.

15 अगस्त 1947 के बाद अंग्रेज़ मिशनरियों ने जो अंग्रेज़ी माध्यम के विद्यालय और महाविद्यालय प्रस्थापित किये थे, उन्हें बंद करने के इंतजाम हो रहे थे. लेकिन डेढ़ सौ साल की गुलामी के कारण हमारी मानसिकता गुलामी की ही रही, इसीलिए वह सारी संस्थाएं यानी कॉन्वेंट पुनर्स्थापित हुए और पनपते भी रहे हैं और प्रादेशिक भाषाओं की या राष्ट्रभाषा हिंदी की शिक्षण संस्थाएं बंद हो रही हैं. वैश्वीकरण के झंझावात में आर्थिक गुलामी फिर से प्रस्थापित होने का डर नहीं है, यह एक हकीकत बनती दिख रही है. इसका सीधा मतलब है मुक्ति का आंदोलन अभी तक समाप्त नहीं हुआ. भारत को आज भी सांस्कृतिक और भाषिक गुलामी से सम्पूर्ण मुक्ति नहीं मिली है. इसीलिए आज देश में प्रसंगों या समय के अनुरूप काम करने वाले लोगों की नहीं, समय के गर्भ में छिपी हुई आकांक्षा एवं आवश्यकता पहचानकर देश की परिस्थिति को उचित दिशा में मोड़ने की नम्र इच्छा रखनेवाले वस्तुनिष्ठ तथा ध्येय परायण लोगों की आवश्यकता है. आज लोगों के सामने कोई भी आदर्श नहीं है, जीवन को मोड़ने की प्रेरणा नहीं है, प्रयोजन भी नहीं है. किसी तरह आयी घड़ी बिताने का, अनायास जितनी सुविधा मिले उससे संतोष मान लेने का अभ्यास हो गया है. साधारण मनुष्य असमंजस में है, खोया-खोया सा है, गुमराह है, लेकिन उसको इसका पता भी नहीं है. आदर्श के अभाव में सुलभता, आराम, लापरवाही को ही वह अपनी प्रकृति मानता है. जो चीज़ें प्राप्त करने के लिए पहले विशिष्ट योग्यता, कृतित्व या गुणवत्ता की आवश्यकता होती थी, वे अब नैसर्गिक देनों की तरह अनायास प्राप्त होती हैं. इसलिए संयम या अनुशासन की ज़रूरत नहीं रह गयी है. आत्मोन्नति की आकांक्षा ही नहीं रही. मुद्दा हमारी जड़ों से जुड़ा है और सांस्कृतिक भी है.

सारी चीज़ों की आज बाज़ार के लेन-देन के सिद्धांतों के मुताबिक कीमत है. और इसके कारण मूल्य समाप्त हो रहे हैं. मैंने अपनी ज़िंदगी में कभी 'गोरा' या 'सफेद' बाज़ार देखा ही नहीं. इस बाज़ार की वृत्ति में वस्तुओं में मिलावट की प्रतिष्ठा रही, लेकिन अब तो नीयत में ही मिलावट है. यही सबसे बड़ा सांस्कृतिक संकट है. इसका सबसे अधिक अभद्र प्रदर्शन भाषा के क्षेत्र में दिखाई दे रहा है.

अब तो 'मंदी' यानी मराठी-हिंदी, 'हिराठी' यानी हिंदी-मराठी 'हिंग्लिश' यानी हिंदी-अंग्रेज़ी, 'मंग्लिश' यानी मराठी-अंग्रेज़ी की मिलावटी भाषाओं का बाज़ार गरम है. इसका कारण सिर्फ़ भाषा की मिलावट नहीं

है बल्कि इसका प्रयोग करनेवालों की नीयत में ही मिलावट है. इन्हें भारतीय या हिंदुस्तानी कहना भी कठिन है. यह सारे अपने जीवन में, आचार-विचार में, रहन-सहन में और भाषा में भी अंग्रेज़ियत पाल रहे हैं. उसे बढ़ावा दे रहे हैं. इसके लिए सबसे दोषी वे लोग हैं जिन्होंने साहित्य और पत्रकारिता के क्षेत्र में अंग्रेज़ों के ज़माने से ही अंग्रेज़ी भाषा को ही अपनी भाषा माना और आज भी वे उसी भाषा को प्रतिष्ठा का मानक मानते हैं. आज तो हिंदी के साहित्य में और पत्रकारिता में अंग्रेज़ी की अभद्र मिलावट है और जो संस्थानिक अंग्रेज़ी अखबार या पुस्तकों का व्यापार करते हैं, उन्होंने अपनी हिंग्लिश भाषा का ही प्रयोग करने में महानता मानी है. वरना 'सेक्सी' 'डेमोक्रेसी', 'वीकली', 'वोटर लिस्ट', 'रेसिड्यू', 'ओपन हाउस', 'फास्टफूड', 'फास्ट फॅक्स' जैसे शब्द देवनागरी लिपि में लिखने से हिंदी कैसे बन जाते हैं, यह बात मेरी समझ के बाहर है. झगड़ा या फ़र्क सिर्फ़ लिपि का नहीं है, भाषा का है. अंग्रेज़ी अखबार के साथ जो देशी भाषाओं में भी अखबार चलते हैं, आज भी उनके लिए भारतीय भाषा के अखबार दोयम दर्ज़े के हैं. इसलिए उन भारतीय भाषाओं के अखबारों के शीर्षकों में भी मिलावट है. वे भी अंग्रेज़ी की अहमियत पालना चाहते हैं. यह प्रश्न भाषा के शुद्धिकरण का नहीं है या दूसरी भारतीय या अन्य भाषाओं के शब्दों का इस्तेमाल करना नहीं है, या जिसके लिए हिंदी या भारतीय भाषा में प्रतिशब्द उपलब्ध नहीं है, उनके बदले अंग्रेज़ी शब्दों के इस्तेमाल का भी नहीं है, असली प्रश्न है स्वदेशी भावना का और गुलामी की वृत्ति से मुक्त होने का. वरना प्रसिद्ध शायर अकबर इलाहाबादी के मुताबिक-

तिफ्ल में बू आये क्या मां बाप के एतबार की,
दूध तो डिब्बे का है, तालीम है (अंग्रेज़) सरकार की.

आज मुम्बई में, दिल्ली में या किसी भी महानगर में रहनेवाले अमीर, बुद्धिजीवी या प्रतिष्ठित लोगों के घरों में मातृभाषा की प्रतिष्ठा नहीं है. ऐसे परिवारों में ऐसे पोते या नाती नहीं हैं, जो अपने दादा-दादी को या नाना-नानी को मातृभाषा में चिट्ठी लिख सकते हैं. आई-बाबा, मां-बाबूजी आदि रिश्ते पप्पा-मम्मी में परिवर्तित हो रहे हैं. इतना ही नहीं मां-बाप यह शब्द इस्तेमाल करने वाले बच्चे गंवार माने जा रहे हैं. पॉकेट मनी से मां-बाप की कीमत आंकी जा रही है. अब तो परिवार में मां-बाप शब्द ही नहीं, बल्कि वे रिश्ते भी बेदखल हो रहे हैं.

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि प्रमाणित भाषा का होना भाषा के वर्तमान और भविष्य के लिए अत्यंत ज़रूरी है. भारतीय संविधान की धारा 351 में हिंदी भाषा के विकास के लिए निर्देश दिये गये हैं. जिसमें कहा गया है कि "संघ का यह कर्तव्य होगा कि वह हिंदी भाषा का प्रसार बढ़ाये, उसका विकास करे, जिससे वह भारत की सामासिक संस्कृति के

सभी तत्त्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके और उसकी प्रकृति में हस्तक्षेप किये बिना हिंदुस्तानी में और आठवीं अनुसूची में विनिर्दिष्ट भारत की अन्य भाषाओं में प्रयुक्त रूप, शैली और पदों को आत्मसात करते हुए और जहां आवश्यक या वांछनीय हो वहां उसके शब्द-भंडार के लिए मुख्यतः संस्कृत से और गौणतः अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुए उसकी समृद्धि सुनिश्चित करे.'' इस संवैधानिक प्रावधान का अर्थ संविधान की धारा (51 क) जो नागरिक के मूल कर्तव्य से जुड़ी है, के संदर्भ में समझने की ज़रूरत है, जो निर्देशित करता है कि भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भातृत्व भावना का निर्माण करे जो धर्म भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी प्रकार से भेदभाव से परे हो, ऐसी प्रथाओं का त्याग करे जो स्त्रियों के सम्मान के विरुद्ध है.

हमारी सामासिक संस्कृति की गौरवशाली परम्परा का महत्त्व समझे और उसका परिरक्षण करे. यह भारत के प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य होगा. क्या हिंदी जगत या अन्य भारतीय भाषा के सुबुद्ध तथा सम्पन्न लोग या साहित्यिक तथा पत्रकार इस दिशा में कुछ कर रहे हैं? यही यक्ष प्रश्न है.

भारतीय भाषाओं के शब्द के स्थान पर अंग्रेज़ी शब्द, अंग्रेज़ियत और रोमन लिपि को बढ़ावा देने की प्रवृत्ति चल रही है. यह अराष्ट्रीय है और स्वदेशी भावना को चोट पहुंचाने वाली वृत्ति है. एक अर्थ में यह फिर से भाषिक और सांस्कृतिक गुलामी को निमंत्रण दे रही है. हम भूल रहे हैं कि संस्कृति दो ही प्रकार की होती है: त्याग पर आधारित और भोग पर आधारित. रोमन लिपि और अंग्रेज़ी शब्दों का बढ़ता इस्तेमाल तो हमें गुलामी वृत्ति की ओर और भोग संस्कृति की ओर ले जा रहा है. और जो यह कर रहे हैं वे सही अर्थ में भारतीय नागरिक ही नहीं हैं. वे तो शरीर से भारत में रहने वाले विदेशी भावना को बढ़ावा देने वाले परदेशी ही हैं. यह प्रश्नचिह्न सारे भारतीय भाषाओं के सामने आज खड़ा है.

इसीलिए एक कवि के शब्दों में नम्रतापूर्वक कहना चाहता हूं

अगर फूल है परदेसी
तो मत छूना बेवफा होंगे
वतन के हैं अगर कांटे
तो सीने से लगा लेना.

क्योंकि वे कम से कम राष्ट्र के प्रति ईमानदार तो रहेंगे. इसलिए मैं तो मानता हूं कि आज सिर्फ़ राजनीतिक आज़ादी मिली, अन्य प्रकार की गुलामी के खिलाफ़ चाहे वह आर्थिक हो, सामाजिक हो या सांस्कृतिक हो, हमारा मुक्ति का आंदोलन समाप्त नहीं हुआ है.

वैसे भी सिर्फ़ स्वतंत्रता मिलना काफी नहीं है, उसे संजोये भी रखने की ज़रूरत है, वरना अभी तो गुलामी फिर से भारत की चौखट पर दस्तक देती दिख रही है. यह माहौल बदलने वाले स्वदेशी और राष्ट्रीय वृत्ति के लोग आज की आवश्यकता हैं. मुक्ति का आंदोलन चलाने के लिए यही समय की मांग है और आकांक्षा भी. □

वैसी हिंदी लेकिन चलेगी नहीं

• बलराम

भूमंडलीकरण और उदारीकरण ने हमें पश्चिम, खासकर अमेरिका की साम्राज्यवादी नीतियों के प्रसार का एक मोहरा बना दिया है, जिसका परिणाम हम शिक्षा और संस्कृति पर स्थापित हो रहे अंग्रेज़ी के प्रभुत्व के रूप में देख रहे हैं. देश और दुनिया में आज कहीं भी अपनी संस्कृति और शिक्षा में स्वदेशी होने की बात नहीं की जा रही, सर्वत्र भूंमडलीकरण और उदारीकरण के ज़रिये अमीर होने की बातें देशी-विदेशी विचारकों द्वारा कही और तीसरी दुनिया द्वारा सुनी जा रही हैं. अंग्रेज़ी भाषा और संस्कृति में दीक्षित हो रहे हमारे बच्चे लगते ही नहीं कि वे कहीं से भी हमारे हैं. उन्हें आकाश से उतरने वाले टीवी और इंटरनेट जैसे महागुरु पश्चिम के स्वर्गिक जीवन, रहन-सहन और खान-पान में दीक्षित कर रहे हैं. देशी जीवन पद्धति, रहन-सहन और खान-पान को पिछड़ा मानते हुए वे ब्रैंडेड कपड़े पहनकर पिज्जा-बर्गर खाते हुए विदेशी धुनों पर थिरक रहे हैं और विवश से मां-बाप उन्हें यह सब करते हुए टुकुर-टुकुर देख रहे हैं, यह जानते हुए भी कि इसमें उनके बच्चे के जीवन के लिए ऐसा कुछ भी नहीं है, जो उसे स्वाधीन और आत्मनिर्भर इंसान बना सके, अपनी सभ्यता-संस्कृति में दीक्षित कर स्वदेशी रहन-सहन तथा खान-पान से स्वस्थ और अच्छे मनुष्य में ढाल सके. ऐसे हालात में उन्हें अपनी मातृभाषाओं को तो भूल ही जाना चाहिए!

लेकिन नहीं, देशी-विदेशी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को पीछे छूट रहे ऐसे ही लोगों के बीच अपना उद्यम ही नहीं करना, उनसे बेहिसाब मुनाफा भी कमाना है. सो, ज़रूरत पड़ने पर गधे को भी बाप कहने की ठगों-लुटेरों की सोची-समझी नीति के तहत वे देशी भाषाओं, खासकर हिंदी में अपना ताकतवर प्रचार तंत्र खड़ा कर रही हैं. एक तरफ़ उनकी यह मज़बूरी है तो दूसरी तरफ़ हिंदी की उपभाषाओं और बोलियों तक को अत्यंत समृद्ध भाषा के रूप में स्थापित कर आठवीं अनुसूची में शामिल करवाने का षड्यंत्र भी कर रही हैं ताकि हिंदी का जो संख्या बल उसे विश्व की बहुत बड़ी भाषा के रूप में प्रतिष्ठित कर रहा है, उसे खंड-खंड तोड़कर एक मामूली भाषा सिद्ध कर भारत में अंग्रेज़ी के वर्चस्व को पूरी तरह स्थापित किया जा सके. इसमें हमारा शासक वर्ग उनका पूरा साथ निभा रहा है. शासक

वर्ग को उपभाषाओं और बोलियों के ज़रिये अपना वोट बैंक बढ़ाना है तो विपक्ष भी आम जनता को बोलियों के व्यामोह में फंसाकर अपनी राजनीतिक रोटियां सेंक रहा है. पूरब के नागालैंड जैसे राज्यों की राजभाषा अंग्रेज़ी बनवा ही दी गयी. इस रूप में अग्रेज़ी अब विदेशी नहीं, संवैधानिक रूप से भारतीय भाषा का दर्ज़ा पा चुकी है. कल को एक-दो ऐसे और राज्य बनवाकर उनकी भी राजभाषा अंग्रेज़ी करवा ली गयी तो फिर अंग्रेज़ी को संवैधानिक राष्ट्रभाषा होने से कैसे रोका जा सकेगा?

भूमंडलीकरण ने हमारी भाषा-संस्कृति को ही नहीं, अर्थव्यवस्था से लेकर राजनीति तक को पूरी तरह अपनी चपेट में ले लिया है. इसके चलते हमारे मूल्य और मान्यताएं इतनी गड्डमड्ड हो चुकी हैं कि आम आदमी की समझ में ही नहीं आ रहा कि उसकी अस्मिता से जो खिलवाड़ चल रहा है, उसे कैसे रोके. एक निरुपायबोध में डूबता जा रहा है देश और दुनिया का आम आदमी. लगता है कि जैसे उसका अपना कोई व्यक्तित्व ही नहीं रह गया. कारण कि उनकी मातृभाषाओं का हरण हो रहा है, जो महाभारत की द्रोपदी के चीरहरण से भी ज़्यादा भयावह है. उस अनाचार के विरुद्ध अपने काल में पांडव कुछ बोल ही नहीं पाये थे, क्योंकि धूर्ततापूर्ण शर्तों में बंधे हुए थे वे सब, कृष्ण को छोड़कर. कृष्ण का अपना व्यक्तित्व सुरक्षित था, अपनी भाषा और अपनी अस्मिता भी. इसीलिए वे द्रोपदी का चीरहरण रोक सके. उसी तरह आज हमारी भाषा को उसके चीरहरण से बचाने के लिए किसी कृष्ण की ज़रूरत है. भूमंडलीकरण की धूर्ततापूर्ण शर्तों ने हमसे हमारी भाषा-संस्कृति ही नहीं, हमारा व्यक्तित्व तक, सब कुछ छीन लिया है.

असगर वज़ाहत जैसे कथाकार तो द्रोपदी जैसे चीरहरण से भी चार कदम आगे बढ़कर हिंदी को रोमन लिपि में लिखने का राग अलापना शुरू कर चुके हैं. भला हो असम के बोडो भाषा भाषियों का, जिन्होंने असगर वज़ाहत जैसे लेखकों की हिंदी के लिए रोमन लिपि अपनाने की दलील को ठोकर मारते हुए अपनी बोडो के लिए देवनागरी लिपि अपना ली. मराठी और नेपाली तो लिखी देवनागरी में जाती हैं, जो प्राचीन भारत की बहुप्रचलित लिपि रही है, जिसमें हज़ारों साल से संस्कृत लिखी जाती रही है.

हिंदी और उर्दू की लिपियों को हिंदू और मुसलमानों की लिपियां करार देकर हम अपनी इन बड़ी भारतीय भाषाओं का कबाड़ा पहले ही कर चुके हैं, जबकि आपस में ये सगी बहनें हैं, एक ही माटी की कोख से जन्मी. हिंदू-मुसलमान दोनों ही इन भाषाओं को अपनाते चले आ रहे हैं, लेकिन अब परिदृश्य पूरी तरह बदल गया है. यहां मुझे अपने जीवन की एक अविस्मरणीय घटना याद आ रही है.

एक दिन हमारे पास एक पोस्टकार्ड आया, जिसमें पता अंग्रेज़ी में लिखा था. सो, पोस्टकार्ड हमारे घर पहुंच तो गया, लेकिन बाकी सारा पत्र उर्दू में था, जिसे किसी भी तरह पढ़ नहीं सकता था. हमें उर्दू कभी

पढ़ाई ही नहीं गया, क्योंकि हिंदू घर में जन्म ले बैठे थे. पास में ही एक मुसलमान दोस्त रहता था. सोचा, उससे पढ़वा कर जान लूं कि इस पत्र में आखिर लिखा क्या है?

थोड़ी देर बाद मित्र के घर पहुंचा तो पता चला कि वह तो बाज़ार गया हुआ है. मित्र की बेटी से आग्रह किया कि बेटी, इस पत्र को ज़रा पढ़ दो. उसने मुंह बिचकाते हुए कहा, ''सॉरी अंकल, मुझे उर्दू नहीं आती.'' यही हाल मित्र के बेटे का भी था. इसी तरह बहुतेरे हिंदुओं के बच्चों को हिंदी नहीं आती. अंततः मैंने मित्र की पत्नी से आग्रह किया तो वे भी टुकुर-टुकुर चिट्ठी के हरफ़ों को देखती तो रहीं, लेकिन उन्हें बांच न सकीं. तब तक मित्र भी बाज़ार से लौट आये. उन्होंने बेगम को हमारे लिए चाय और नाश्ते का हुक्म दिया तो हमने कहा कि चाय-नाश्ता तो बाद में भी होता रहेगा यार, मेहरबानी कर पहले इस चिट्ठी को पढ़कर इसका मज़मून हमें समझा दो.

खुशी की बात है कि देश में उर्दू अभी ज़िंदा है, लेकिन उसके लिए मैं और मेरा परिवार तो कब के मर चुके.

चिट्ठी देखते ही मित्र की पेशानी पर बल पड़ गये. फिर दुखी होते हुए बोले, ''खुशी की बात है कि देश में उर्दू अभी ज़िंदा है, लेकिन उसके लिए मैं और मेरा परिवार तो कब के मर चुके.''

हिंदी को रोमन में लिखने की असगर वज़ाहत की दलील हम मानें या न मानें, लेकिन भूमंडलीकरण और उदारीकरण का पश्चिम प्रेरित विशाल बेरोक-टोक देश में यों ही नाचता रहा तो अपने उस मुस्लिम मित्र की तरह हम हिंदी वाले भी एक दिन हिंदी के लिए खुद को लापता करार दे चुके होंगे.

भारतीय भाषाएं लाने के लिए जैसे कभी राममनोहर लोहिया उठ खड़े हुए थे, वैसे ही फिर किसी को उठ खड़ा होना होगा अपनी भाषाओं, संस्कृति और राष्ट्र की अस्मिता को बचाने के लिए. गुलामी के समय में जैसे क्रांतिकारियों और सत्याग्रहियों की दोहरी चक्की में ब्रिटिश सत्ता पिसी थी, वैसे ही अमेरिकी संस्कृति, भाषा और सभ्यता के साम्राज्य को ध्वस्त करने के लिए एक बार फिर किसी गांधी और भगतसिंह को उठ खड़ा होना होगा, जिसके विचारों की वाहक निश्चित रूप से अब भी हिंदी ही होगी, जो तब की तुलना में अब कहीं ज़्यादा लोगों द्वारा पढ़ी और बोली जाने वाली दुनिया की बहुत बड़ी भाषा बन चुकी है. देश में हिंदी का महत्त्व आज भी बहुत है. एस. जयपाल रेड्डी को हिंदी आती होती तो प्रणब के बाद वही भारत के गृहमंत्री बनते, लेकिन मराठी मानुष सुशीलकुमार शिंदे को हिंदी जानने का लाभ मिला और कम अनुभव के बावजूद वे भारत के गृहमंत्री बन गये. हिंदी न आने की वजह से पी. चिदंबर गृहमंत्री के

रूप में खुद को लगातार असहज महसूस करते रहे. अंततः वित्तमंत्री पद पर वापस लौटकर उन्होंने राहत की सांस ली. इससे उनका नम्बर दो का सम्भावित रुतबा भी जाता रहा. इसलिए देश के शासक वर्ग के लिए हिंदी आज भी बहुत ज़रूरी है.

प्रिंट और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया तथा फ़िल्मों के ज़रिये आज हिंदी का प्रसार विश्वव्यापी हो चुका है. वह घरों की ही नहीं, दफ़्तरों और बाज़ारों की भाषा भी बन चुकी है, जिसे अपदस्थ करने के लिए देशी-विदेशी सत्ताएं कमर कसे हुए हैं और हमारे ज़्यादातर सत्ताधारी उनकी कठपुतली बने हुए हैं. इसे आम जनता खुली आंखों से देख और समझ रही है, लेकिन कोई विकल्प सामने नहीं है. कोई ईमानदार और सशक्त विकल्प उसके सामने आने पर वह उसके साथ होने में ज़रा भी देर नहीं लगायेगी.

हिंदी की अस्मिता से छेड़छाड़ और खिलवाड़ कुछ टीवी चैनल और अखबार भी लगातार कर रहे हैं. उनका ज़ोर हिंदी में अधिकाधिक अंग्रेज़ी शब्द ठूंस देने पर है, लेकिन यह वैसी ही हास्यास्पद कोशिश है, जैसी कभी हिंदी में अधिक से अधिक संस्कृत या फारसी-अरबी शब्द ठूंस देने के रूप में हुई थी. दोनों ही कोशिशें अंततः असफल हुईं और वहीं हिंदी आगे चली, जो आम जनता में सहज स्वीकार्य थी, जिसे समकालीन साहित्य की भाषा में मूर्त होता हुआ देखा जा रहा है.

जो लोग अखबारों और चैनलों की हिंदी में अंग्रेज़ी शब्दों की अनावश्यक ठूंसा-ठांसी कर रहे हैं, उन्हें न तो भाषा के रूप में हिंदी से प्यार है, न ही उसके साहित्यिक उत्कर्ष का उन्हें कोई ज्ञान है. और जब ज्ञान ही नहीं है तो मीडियाकर्मियों को न अच्छी हिंदी आती है, न ही उसके साहित्यिक स्वरूप का कोई प्रशिक्षण उन्हें मिला है. यह सब दरअसल सत्ता के ढुलमुल और दोमुंहे चरित्र की वजह से हुआ है. कमालपाशा जैसे किसी जनपक्षीय नायक-महानायक के हाथ में जैसे ही देश की सत्ता आयेगी, वैसे ही हिंदी को उसकी वास्तविक हैसियत मिल जाएगी. अपनी ताकत के बल पर आज भले ही कुछ लोग पाठकों पर हिंग्लिश थोप रहे हों, लेकिन वैसी हिंदी बहुत दिन चलेगी नहीं. □

स्वदेश का ध्यान

लायड जॉर्ज भाषण दे रहे थे- मैं चाहता हूं कि आयरलैंड को स्वाधीनता मिले, स्कॉटलैंड को स्वाधीनता मिले, वेल्स को स्वाधीनता मिले... बीच में ही एक साहब बोले नरक को स्वाधीनता मिले. लायड जॉर्ज ने मुस्कुराकर कहा, "अपने-अपने देश का सबको ध्यान रहता है."

भाषा में दिखता है समाज का सत्य

• अभिमन्यु अनत

मॉरीशस में अंग्रेज़ी और फ्रेंच बोलना हम प्रवासियों के लिए एक विवशता होती है. लेकिन भारतीय भाषाएं बोलना हमारे लिए गौरव की बात है. तेलुगु, मराठी, उर्दू, भोजपुरी, तमिल, हिंदी और संस्कृत सुनना हमारे लिए सौभाग्य के क्षण होते हैं. इन भाषाओं को हमारे पूर्वज भारत छोड़ते समय वहां नहीं छोड़ पाये थे बल्कि साथ लेकर आये थे.

करीब 200 साल पहले भारतीय गिरमिटिया मज़दूरों की समुद्री यात्रा शुरू हुई थी. गिरमिटिया मज़दूरों ने छले जाकर भी हिम्मत नहीं हारी. अनेक यातनाओं को सहकर भी अपनी भाषा, संस्कृति और अस्मिता को पराई ज़मीन पर भी बचाये रखा. भारतीय प्रवासियों को, जिन्हें लम्बे इतिहास के दौरान कुली कहा जाता रहा, उनकी इस संघर्ष-गाथा पर हजारों पन्ने लिखकर भी मैं अपने उन पूर्वजों के कर्ज़ से मुक्त नहीं हो पा रहा. हमारे पूर्वज वे पहले लोग थे जो देश से दूर होकर भारत की महानता और उसकी खासियत को समझ पाये और स्वीकार किया कि भाषा संस्कृति की संवाहक तो है ही साथ ही एक समाज की अंदरूनी ताकत भी है. वे जहां भी रहे यातनाओं और ज़िल्लतों को बर्दाश्त करते हुए. उन्होंने नयी धरती पर भाषा और संस्कृति को भी लिया और वहीं से शुरू हुआ एक नया अभियान. तहज़ीब को ज़िंदा रखने के लिए और अपनी भाषा के लिए मर मिटने की अभिलाषा उनके भीतर ज़ोर पकड़ती गयी. आज मॉरीशस में विशेषकर हिंदी, उर्दू, तमिल, तेलुगु और मराठी प्रारम्भिक पाठशालाओं से लेकर विश्वविद्यालय तक निःशुल्क पढ़ाई जाती हैं. इसी की बदौलत आज मॉरीशस में भारतीय संस्कृति अपनी पराकाष्ठा पर है. मंदिर, मस्जिद तथा कोविल के प्रांगणों में भी भाषा अपनी भूमिका निभाती रही और संस्कृति का संरक्षण होता रहा. भारत से बाहर मॉरीशस ही वह मुल्क है जहां भारतीय भाषाओं, साहित्य, संगीत और कला का इतना विराट स्वरूप देखने को मिल सकता है. भारत के छह त्यौहारों– महाशिवरात्रि, गणेश चतुर्थी, ईद-उल-फित्र, उगाडी, कावाडी और दीवाली के अवसर पर इस देश में सार्वजनिक अवकाश होता है और अब तो प्रवासी दिवस भी छुट्टी का दिन है.

अपने संकल्पों पर अडिग रहकर भारतीय

मज़दूरों ने चट्टानों पर हरियाली उगायी, बंजर ज़मीन को जन्नत का रूप दिया. अपमानों और यातनाओं को झेलते हुए भी अपने बच्चों को अपनी भाषाएं सिखाने से नहीं चूके. वक्त के साथ भाषाओं ने भी अपनी भूमिका निभानी शुरू की. ज़ुबान एक दूजे से मिलकर तहज़ीब को एक समूहशक्ति का रूप देती रही. आज मॉरीशस में हिंदुस्तानी तहज़ीब अगर घर-घर, आंगन-आंगन, बुलंदी के साथ नज़र आती है तो इसकी सबसे बड़ी वजह भाषा के प्रति समर्पण ही है. भारतीय ज़ुबानों ने इस जज़ीरे में तहज़ीब और मज़हब को ही ज़िंदा नहीं रखा बल्कि उनको विकसित भी करती रही हैं. इस द्वीप में हिंदी सभी भारतीय भाषाओं की रीढ़ है. मॉरीशस में जिस दिन हिंदी कमज़ोर होने लगेगी उस दिन कोई भी भारतीय भाषा अपनी हिफ़ाज़त नहीं कर पायेगी. भारतीय भाषाओं का आपसी सहयोग ही इन भाषाओं और भारतीय संस्कृति की गरिमा को बढ़ाये हुए है. मॉरीशस की हिंदी की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि भारत से बाहर वह हिंदी साहित्य को एक नयी गति दे पायी. रचना की संख्या और उसके स्तर दोनों रूपों में इतनी सशक्त बानगी भारत से बाहर देखने को कम ही मिलेगी. मॉरीशस का हिंदी साहित्य फ्रेंचभाषी देशों में अनुवाद के बाद अपनी धाक जमा पाया. दूसरी बड़ी कामयाबी मॉरीशस की हिंदी की यह रही कि विश्व हिंदी सचिवालय की स्थापना मॉरीशस में हो पायी. कोई 90 देशों को एक मंच दे पाने की ताकत है यह.

भारतीय भाषाएं और संस्कृति किसी आयात की हुई संस्कृति और भाषा के अधीन नहीं हैं. भारतीय इतिहास की तरह भारतीय संस्कृति की अपनी एक गरिमा है, अपना अस्तित्व है और अपनी उपलब्धियां भी हैं. प्रवासियों ने भारतीय भाषा और संस्कृति को जिस तरह विश्व भर में फैलाया, वह अद्वितीय है. भारतीय भाषाएं और संस्कृति पहले दिन से आज तक हर प्रवासी की धमनी में दौड़ती रही हैं. ठीक भारत ही की तरह प्रवास में भी, चाहे वह यूरोप रहा हो या अमेरिका, अफ्रीका हो या दुनिया का कोई भी सुदूर प्रांत, प्रवासियों के हृदय में भी भारतीय सभ्यता, उसकी संस्कृति सुरक्षित है. इस जीवंतता के पीछे उसकी अपनी बहुआयामी संस्कृति और इंद्रधनुषी भाषाओं की महाछटा निहित है.

जहां तक मॉरीशस में ज़ुबान और तहज़ीब की बात है, मुझे यह कहते हुए गर्व है कि आधुनिकता की खुमारी में भी हम अपने घरों में आज भी अपने बड़ों को अंकल-आंटी न कहकर चाचा-चाची, मौसा-मौसी, भाई-भाभी, नाना-नानी, दादा-दादी, बुआ-फूफा और खाला आदि ही कहते हैं. हम सुबह-शाम अपने बड़ों को गुड मॉर्निंग तथा गुडनाइट न कहकर नमस्ते, वणक्कम, प्रणाम, आदाब और सलाम कहते हैं. हम अगर अंग्रेज़ी, फ्रेंच में बातें करते हैं तो उन्हीं की शब्दावली में उन्हीं के शिष्टाचार में ही और जब हिंदी, उर्दू में बोलते हैं तो कभी यह नहीं कहते

कि 'मेरा हस्बेंड मार्केट गया है वेजीटेबल लाने.' और ना ही यह कहते हैं कि 'हैप्पी दीवाली' या 'हैपी ईद', बल्कि आज भी हम दीपावली अभिनंदन और ईद मुबारक ही कहते हैं. अगर हमने भाषा के ज़रिये तहज़ीब को बरकरार रखा है तो संस्कृति के द्वारा भाषा को भी सही रूप में ही सहेजे हुए हैं.

मॉरीशस में सबसे लोकप्रिय चाईनीज़ फूड नहीं, बल्कि दालपूरी, रोटी और बिरयानी ठौर-ठौर पर बिकते हैं. रोटी और दालपुरी तो हमारी सबसे अधिक पसंद की जानी वाली फास्ट फूड है. मिठाइयों में जलेबी, लड्डू, गुलाब जामुन, खीर और सेवई प्रमुख हैं. पहनावे भी हमारे यहां साड़ी-ब्लाऊज, सलवार-कमीज़, कुर्ता-पायजामा भारतीय पहचान बनाये दिखते हैं. शादी-ब्याह में शहनाई बजती है. सारी भारतीय रस्में निभायी जाती हैं.

ऐसे परिवेश में हमारी यह तथाकथित मान्यता कितनी गलत हो जाती है कि अंग्रेज़ी की बैसाखी के बिना हम लंगड़े होते हैं या अंग्रेज़ी के बिना हमारा आधुनिकीकरण गति पा नहीं सकता. तो फिर जापान, रूस, चीन अंग्रेज़ी से अलग रहकर इतनी शानदार कामयाबी कैसे हासिल कर सके. यात्राओं के दौरान मैं हर देश के लोगों से मिलता रहा हूं. कभी मुझे कोई जापानी ऐसा नहीं मिला. जिसे अपनी देशी ज़ुबान का ज्ञान नहीं हो. कोई ऐसा लैटिन अमेरिकन नहीं मिला जिसे स्पेनिश न आती हो. कोई चीनी, कोई इटालियन, कोई जर्मन, कोई फ्रेंच ऐसा नहीं मिला जो अपनी भाषा न जानता हो. पर दुर्भाग्य कि ऐसे भारतीय मुझे ठौर-ठौर पर मिलते रहे हैं, जिन्हें अंग्रेज़ी बोलकर गर्व महसूस होता है और भारत की भाषा बोलने में झिझक.

आज के युग में आज़ाद और खुशहाल होकर भी हम भाषा का उपनिवेश बने हुए लगते हैं- कितनी हैरानी है. राजनीतिक साम्राज्यवाद के खात्मे के बाद भी हम अपनी भाषाओं की समृद्धि को नकारकर विदेशी भाषा की दुहाई देते फ़िर रहे हैं. यह नसीहत या हिदायत नहीं बल्कि दृढ़ मान्यता है कि भारत की सभी भाषाएं राष्ट्र को एकसूत्र में बांधे रखने के लिए हिंदी के प्रति उदारता दिखायेंगी. विदेशी भाषा के माध्यम से विभिन्न भारतीय भाषियों में मेल-मिलाप कभी आत्मीय और सार्थक नहीं हो सकेगा. अपने देश की भाषाओं की विविधता और उनकी साहित्यिक भूमिका की जानकारी रखते हुए हम किसी विदेशी भाषा के माध्यम से अपने समाज में फैली विसंगतियों को कैसे मिटा सकते हैं. जिस भाषा का जन्म भारतभूमि में नहीं हुआ, उस भाषा को हम अपने देश, अपनी भूमि की भाषाओं से अधिक महत्त्व कैसे दे पा रहे हैं! कैसे हम यह मानकर चल रहे हैं कि 'डिवाइड एंड रूल' वाले हमें एक सूत्र में बंधने का मंत्र सिखा जायेंगे! संस्कृति तोड़ने की नहीं, जोड़ने की प्रक्रिया होती है. संस्कृति न तो रातोंरात बनती है और ना ही रातोंरात विलीन होती है. हम भारतीय प्रवासी मूल रूप से दो देशों के 'नागरिक' हैं. एक तो

अपनी जन्मभूमि के और दूसरे अपनी संस्कृति भूमि के. इसलिए मैं अपने को भारत और मॉरीशस दो देशों का नागरिक मानता हूं.

भारत को तो इस बात का गर्व होना चाहिए कि उसके पास भाषाओं का खज़ाना है. संस्कृत, द्रविड़ और फारसी की विरासत है. भाषाओं को एकसूत्र में बांधकर उन्हें विकसित करने का दायित्व भारत की राष्ट्रभाषा का होना चाहिए. इसे हम विडम्बना न समझें कि भारत से दूर जाकर ही सही पहचान हो पाती है. हम प्रवासी इस सत्य को भारतीयों से अधिक महसूस कर पाते हैं. विश्व भर में हिंदी आज सबसे अधिक बोली जानेवाली भाषा है. भारत को इस बात की खुशी होनी चाहिए और हम प्रवासी तो इस तथ्य से अभिभूत हैं. समाज का सत्यम, साहित्य का शिवम और संस्कृति का सुंदरम मुद्दतों से भाषा ही हमें जताती आयी है.

विदेशों में फल-फूल रही भारतीय भाषा और संस्कृति जहां प्रवासियों के गौरव को बढ़ाती हैं, वहीं पाश्चात्य संस्कृति के प्रलोभन के खतरे से भी आगाह करती रही है. विसंस्कृतिकरण का तंत्र इतना सुनियोजित है कि विदेशों में रह रहे प्रवासियों का भारत की ओर देखते रहना बड़ा स्वाभाविक हो जाता है. इसलिए प्रवासियों को अपनी संस्कृति-भूमि से उम्मीदें रखना भी काफ़ी हद तक अपेक्षित है. ❑

हिंग्लिश हिंदी का विकास नहीं है

किसी भी भाषा का विकास दूसरी भाषा के सम्पर्क में आने पर ही होता है, जैसे अरबी, फारसी और तुर्की के शब्दों और मुहावरों ने हिंदी को समृद्ध किया है. इस प्रसंग में यह बात दर्ज करने लायक है कि किसी दूसरी भाषा से हम कुछ लेते हैं तो उसे अपना बना करके. जैसे ग़रीब हम गरीब बना लेते हैं और उसका बहुवचन गुरबा न करके गरीबों कर लेते हैं. यही बात अंग्रेज़ी पर भी लागू है. अंग्रेजी के अनेक शब्द हमने लिए हैं, लेकिन उन्हें अपना बनाकर, जैसे हॉस्पीटल को हमने अस्पताल कर लिया है और कॉलेज को कालेज. यह हिंग्लिश वाली बात मेरी समझ में नहीं आती, क्योंकि यह हिंदी के अपने रूप को विकृत करना है. लेकिन बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के फैलाव के साथ अंग्रेज़ी और हिंदी का हास्यास्पद मिश्रण किया जा रहा है और कुछ लोग इसे हिंदी का विकास समझते हैं. अपनी प्राण शक्ति से उद्वेलित हिंदी भाषा की धारा बहुत शीघ्र ऐसी विकृतियों को किनारे पर फेंक देगी और अपनी गति से आगे बढ़ जायेगी.

इस्तेमाल से बनती है भाषा
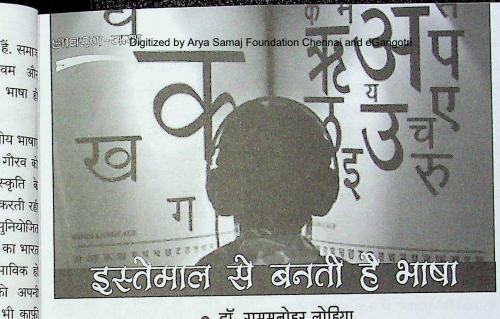
● डॉ. राममनोहर लोहिया

इस समय हिंदी अंग्रेज़ी की और सरकार की चेरी है. अधिकांश जनता और बहुत थोड़े-से प्रभावशाली लोग ज़रूर इस स्थिति में खिन्न हैं. लेकिन जिनकी तूती बोलती है और जो रोज़ की ज़िंदगी पर नियंत्रण रखते हैं, जैसे सरकारी कामकाज, अध्ययन-अध्यापन और विचार-प्रचार, रेडियो-अखबार वगैरह के लोग, वे जाने-अनजाने या विवश होकर हिंदी को अंग्रेज़ी की दासी बनाये हुए हैं. इनका एक कवच है. चाहे इन्होंने उस कवच को धारण किया हो परमार्थ हेतु, लेकिन यह उनकी रक्षा करता है. यह कवच सीधा-सा किंतु शक्तिशाली हैः हिंदी फैलाओ, हिंदी को समृद्ध बनाओ. इन दो विचारों अथवा नारों में काफ़ी खिंचाव-शक्ति है. प्राथमिक असर पड़ता है कि बात है, आखिर जितने हिंदी वाले हैं, कम-से-कम उतने ही गैर-हिंदी वाले हैं; बिना हिंदी का प्रचार हुए, हिंदी हिंदुस्तान की भाषा कैसे बन सकती है; साथ ही, हिंदी में वह आधुनिकता नहीं है जो कुछ यूरोपीय भाषाओं में है. इसलिए सहज ही बात गले के नीचे उतरने लगती है कि हिंदी के शब्दकोश अथवा किताबों को सुधारा-संवारा जाए. लेकिन इन दोनों रचनात्मक तर्कों में ज़हर घुला हुआ है. हो सकता है कि ज़हर घोलने वालों को पता भी न हो कि वे क्या कर रहे हैं.

कभी-कभी रचनात्मक शब्द से घृणा होने लगती है, जब यह विध्वंसात्मक का विकल्प बन जाता है. विध्वंस और रचना पूरक काम हो तो मज़ा आता है. एक के बिना दूसरा हर हालत में अधूरा है, लेकिन जहां रचना के बिना विध्वंस में लाभ-हानि दोनों की सम्भावनाएं हैं, विध्वंस के बिना

रचना में तो मुझको धोखा ही धोखा दिख पड़ता है.

अहिंदी इलाकों में हिंदी के प्रचार का क्या मतलब है? हमेशा आंकड़े बताये जाते हैं कि केरल अथवा बंगाल में किस सम्मेलन की कौन-सी परीक्षा में कितने अधिक विद्यार्थी हिंदी में पास हुए. ऐसे आंकड़ों का कोई अर्थ नहीं जब तक यह भी न बताया जाए कि अंग्रेज़ी में कितने ज़्यादा विद्यार्थी पास हुए. अंग्रेज़ी और हिंदी के सवाल इस समय के भारत में तुलनात्मक हैं. अंग्रेज़ी के विद्यार्थियों की तादाद बड़ी तेज़ी से बढ़ी है, हिंदी के मुकाबले में कहीं ज़्यादा. उच्च स्कूल और कॉलेज के लिए अंग्रेज़ी ज़रूरी विषय है, हिंदी वैकल्पिक है. कहां साधारण स्कूलों की रोज़ाना पढ़ाई और कहां सम्मेलनों की उड़नछू पढ़ाई. इस कथन का कोई मतलब नहीं कि अंग्रेज़ी का स्तर, व्याकरण अथवा उच्चारण के हिसाब से गिरता जा रहा है और चाहे अंग्रेज़ी के विद्यार्थियों की तादाद बढ़ रही है लेकिन उनका ज्ञान घट रहा है. लोकसभा के साल भर के अनुभव के बाद मैं कह सकता हूं कि गलत अंग्रेज़ी हिंदुस्तान की राजभाषा ज़रूर बन सकती है, चाहे मातृभाषा बनने में दूसरे रोड़े आ पड़ें. गलत अंग्रेज़ी अफ्रीका के न जाने कितने देशों की मातृभाषा बन चुकी है.

इसमें कोई शक नहीं कि हिंदी आधुनिक नहीं है. आधुनिक ज्ञान इस भाषा में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध नहीं है, न भाषा का रथ ऐसे ज्ञान के लायक बन पाया है. मेरा मतलब [illegible] नहीं है, केवल वक्त की असलियत से है. हिंदी में न जाने कितना पानी आकर मिला है. एक मायने में यह संसार की सर्वश्रेष्ठ भाषा है. इसका शब्द-भंडार संसार की किसी भी भाषा से ज़्यादा है. लेकिन ये शब्द आधुनिक ज्ञान के लिए अभी मंजे नहीं. मांजने का कार्य बिला शक होना चाहिए. इसके शब्दकोश रचे जाएं, अनुवाद किये जाएं और किताबें लिखी जाएं. यह सब काम होता रहे. लेकिन अपने में यह अधूरा है. इस काम को चाहे जितना करें, इससे सफलता नहीं मिल सकती. शब्दों के मांजने का एक और आवश्यक तथा अनिवार्य तरीका है.

जिस तरह बच्चा पानी में डुबकी लगाये बिना, छपछपाने, डूबे-उठे बिना तैरना सीख नहीं सकता, उसी तरह असमृद्ध होते हुए भी इस्तेमाल बिना भाषा समृद्ध नहीं हो सकती. इस्तेमाल सब जगह हो और फौरन; विज्ञानशाला और अदालत, अध्ययन, अध्यापन इत्यादि सभी जगह हो सकता है कि शुरू में अटपटा लगे और गलतियां हो जाएं. क्षेपक के तौर पर मैं इतना कह दूं कि मौजूदा अंग्रेज़ी की गलतियों से हिंदी की ये गलतियां कम हानिकारक होंगी. उसका सवाल और है. भाषा को संवारने-सुधारने का काम जितना भाषाशास्त्री या शब्दकोष निर्माता करते हैं, उससे ज़्यादा वकील-जज, राजपुरुष, अध्यापक, लेखक, वक्ता, वैज्ञानिक इत्यादि किया करते हैं, अपने इस्तेमाल के द्वारा. इनके इस्तेमाल से भाषा सुधरती है, न कि सुधर जाने

के बाद ये लोग उसका इस्तेमाल करने बैठते हैं.

भाषा कभी भी विकसित नहीं होती शब्दकोश के द्वारा भाषा का विकास होता है, इस्तेमाल के द्वारा, इस बात को आप याद रखना. कभी इस्तेमाल को छोड़कर होता नहीं.

यह अंग्रेज़ी, जिसका लोग इतना बड़ा गुणगान करते हैं, 1640 साल में खुद अंग्रेज़ों को कानून बनाना पड़ा था कि कोई अंग्रेज़ी भाषा को छोड़कर और किसी भाषा का इस्तेमाल न करे. उस वक्त सज़ा नहीं दी गयी थी, खाली कानून बनाया गया था. सौ वर्ष के बाद ज़रूरत पड़ी. 1740 के आसपास अंग्रेज़ों ने अपने देश में कानून बनाया, जो कोई वकील, जो कोई जज, जो कोई अध्यापक अंग्रेज़ी को छोड़कर फ्रांसीसी, लैटिन, ये दो भाषाएं वहां बहुत चलती थीं, इन दो भाषाओं का या और कोई विदेशी भाषा का प्रयोग करेगा तो उसके ऊपर दंड होगा. मुझे इस वक्त ठीक याद नहीं कि पांच पौंड या पचास पौंड. सोचो उस ज़माने का, 1740 का पचास पौंड उस समय के करीब दस हज़ार रुपये के बराबर हुआ. दस हज़ार का ज़ुर्माना दो, अगर अंग्रेज़ी को छोड़कर कोई विदेशी भाषा का इस्तेमाल करता है, अंग्रेज़ी इंग्लिस्तान में चलाने के लिए उसको विकसित करने के लिए अंग्रेज़ों को कानून बनाना पड़ा था कि देश में अंग्रेज़ी छोड़कर कोई विदेशी भाषा का इस्तेमाल न हो. पांच पौंड का जुर्माना एक ही दफा देना पड़ेगा यह नहीं, आज भी, कल भी, परसों भी. पांच पौंड का ज़ुर्माना रोज़ देना पड़े, तो ऐसा करने का विचार मर जायेगा. यह बात अंग्रेज़ों के देश में होती थी. तो इसके साफ़ नतीजे निकलते हैं कि पहले प्रतिष्ठा फिर विकास हो.

हिंदी के साथ सबसे बड़ी झंझट यह हुई कि इसका अभिषेक तो हो गया पर तिलक नहीं लगा या तिलक तो लग गया पर अभिषेक नहीं हुआ. लिख तो दिया, हो गयी हिंदी हिंदुस्तान की भाषा, लेकिन तिलक चढ़ा ही नहीं. नतीजा यह हुआ कि काम हुआ नहीं लेकिन लोगों का मन बिगड़ गया. ❑

पतंजलि ने कहा था

'नहि कश्चिद्वैयाकरणस्य समीपे गत्वा कथयति शब्दं कुरु प्रयोक्ष्ये' - भाषा का निर्माण व्याकरण या वैयाकरण नहीं करता, लोक करता है. इसलिए कोई व्यक्ति वैयाकरण के पास जाकर यह नहीं कहता कि तुम शब्द बनाओ, जिसे मैं प्रयोग में लाऊंगा.

– पतंजलि

सवाल भारतीय भाषाओं के विकास का

● नारायण दत्त

मैं आज हिंदी समेत तमाम भारतीय भाषाओं की अस्मिता के लिए जो विकट संकट पैदा हो गया है, उसकी चर्चा करना चाहता हूं.

अंग्रेज़ी आज सुरसा राक्षसी बनकर तमाम भारतीय भाषाओं को निगलती जा रही है, जीवन-व्यवहार के तमाम क्षेत्रों से उन्हें बेदखल करती जा रही है. एक तरह से उसने हम भारतवासियों से यह बात मानसिक और बौद्धिक रूप से स्वीकार करवा ली है कि सत्ता, समृद्धि और सामाजिक प्रतिष्ठा की एकमात्र भाषा वही-यानी अंग्रेज़ी ही है. इसका सबूत यह है कि हम सभी ने, चाहे हम कश्मीर के बाशिंदे हों या केरल के, चाहे हम अरूणाचल प्रदेश में रहते हों या कच्छ में हों, सिर झुकाकर चुपचाप यह स्वीकार कर लिया है कि हमें अगर अपने बच्चों का भविष्य संवारना है तो सिवा इसके कोई चारा नहीं है कि हम उसे अंग्रेज़ी के माध्यम से तालीम दिलवाएं; वरना हमारा बच्चा अकिंचन, अधिकारहीन और असहाय आदमी तथा देश की विशाल आबादी का एक गुमनाम आंकड़ा बनकर रह जाएगा. यही कारण है कि आज समूचे देश में अंग्रेज़ी माध्यम वाले स्कूलों की मांग तेज़ी से बढ़ती जा रही है और उसी हिसाब से हर जगह अंग्रेज़ी माध्यम वाले स्कूल धड़ाधड़ खुलते जा रहे हैं.

आज की जो बुजुर्ग पीढ़ी है यानी मेरी पीढ़ी, उसे याद है कि उसके अभिभावकों का यह दृढ़ विश्वास था कि हमारी अपनी भाषाओं में कोई बुनियादी खामी या खराबी नहीं है और विकास का अवसर मिले तो वे विश्व की किसी भी समृद्ध भाषा का मुकाबला कर सकती हैं और तमाम ज्ञान-विज्ञान की वाहक और प्रशासन, प्रबंध और व्यापार-वाणिज्य का समर्थ माध्यम बन सकती हैं. इसी विश्वास से प्रेरित होकर उन्होंने भारतीय भाषाओं को संस्कृत और फारसी के दबदबे से, अंग्रेज़ी के आतंक से मुक्त कराने और स्वतंत्र व समर्थ आधुनिक भाषाएं बनाने की मुहिम छेड़ी और अपनी भाषाओं में नये प्राण फूंके.

यहां पर विशेष रूप से याद करने योग्य बात यह है कि यह सब उस ज़माने में हुआ जब हमारे देश पर अंग्रेज़ों की हुकूमत थी. तो अब, यानी अंग्रेज़ी शासन से मुक्त होने के छह दशक बाद, सारे देश में उलटी गंगा क्यों बह रही है? क्यों वकील-डॉक्टर-इंजीनियर आदि तमाम पेशेवर लोगों,

व्यापारियों तथा उद्यमियों, प्रशासकों और राजनीतिज्ञों ने ही नहीं, किसानों-दस्तकारों-मज़दूरों तक तमाम वर्ग के भारतीयों ने अंग्रेज़ी की मोहिनी के आगे हथियार डाल दिये हैं? हमें उस पर गम्भीरता से विचार करना होगा और इसका कारगर इलाज तलाशना होगा.

इसे बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का षड्यंत्र कहकर हम अपना पल्ला नहीं झाड़ सकते. बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का उद्देश्य पैसा कमाना है. यों भी, जिस साम्राज्य में सूरज कभी नहीं डूबता था उस महाशक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य से जूझकर अपने को आज़ाद करने वाला देश, दासता की बेड़ियों में जकड़े दूसरे बीसियों एशियाई-अफ्रीकी देशों की स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त करने वाला हमारा देश अगर संकल्प कर ले तो बहुराष्ट्रीय व्यावसायिक संगठनों से भी जूझ सकता है और उन्हें अपना रंग-ढंग बदलने को मजबूर कर सकता है. आवश्यकता है स्वभाषा-प्रेम, स्वाभिमान और संकल्प की. मगर मुश्किल यह है कि हम सामूहिक हित की दृष्टि से नहीं, निजी स्वार्थ की दृष्टि से सोचने के आदी हो गये हैं.

तो यह है भारतीय भाषाओं के प्रेमियों के सामने असली चुनौती. हमारा हिंदी दिवस मनाना तभी सार्थक होगा, जब हिंदी तमाम भारतीय भाषाओं के साथ मिलकर अंग्रेज़ी के इस सर्वग्रासी रूप का कारगर प्रतिरोध करे. ❑

यह भी गुलामी है

मुझे सबसे अधिक शिकायत यहां (भारत) के अंग्रेज़ी पढ़े वर्ग से है, जो एक ओर तो साहित्य और संस्कृति का नाटक करता है और दूसरी ओर अपने ही देश की सांस्कृतिक आकांक्षाओं को नष्ट करता है. इस वर्ग ने भारतीय जीवंत कला को म्यूज़ियम की चीज़ बनाकर इसकी मौत का इंतज़ाम कर दिया है. इसकी रुचि घटिया और भद्दी है. और यही यहां का शासक बन बैठा है. यह पाखण्डी और नक्काल वर्ग है. इसने अंग्रेज़ी साहित्य का भी अधूरा अध्ययन किया है. शेक्सपियर उसके ड्राइंगरूम की चीज़ है. जब तक यह वर्ग बना रहेगा, भारतीय साहित्य का विकास ऐसे ही लुंज-पुंज रहेगा. मैं तो यहां तक कहूंगा कि उसके रहते भारत राजनीतिक अर्थों में भी कभी स्वाधीन नहीं हो सकता. लोग यह बात भूल जाते हैं कि संस्कृति के माध्यम से भी शासन किया जाता है. संस्कृति की भाषा में भी राजनीति की इच्छाएं व्यक्त होती हैं. ब्रिटेन और अमेरिका भारत के अंग्रेज़ी-परस्त शासक वर्ग के माध्यम से पहले की तरह टिके हुए हैं. भारतीयों को यह पहचानना ज़रूरी है कि खुद की भाषाओं और साहित्य के विकास के बगैर अभी भी दूसरे अर्थों में गुलामी में ही जी रहे हैं.

-ऑक्टेवियो पॉज़

श्रीकांत वर्मा को दिये साक्षात्कार से

देवनागरी बन सकती है राष्ट्रलिपि

● डॉ. रामनिरंजन परिमलेंदु

भारत ही नहीं, एशिया की सभी भाषाओं के लिए एक सार्वजनिक लिपि अर्थात राष्ट्रलिपि की सर्वप्रथम अवधारणा सर विलियम जोन्स (1746 ई.-1794 ई.) ने की थी. लंदन की रॉयल सोसाइटी से प्रेरित-प्रभावित होकर उन्होंने 15 जनवरी, 1784 ई. कलकत्ता में एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना की थी. इसके तत्त्वावधान में 1784 ई. में प्रस्तुत अपने 'ए डिसर्टेशन ऑन दि आर्थोग्राफी ऑफ एशियाटिक वर्ड्स इन रोमन लेटर्स' शीर्षक विनिबंध में देवनागरी लिपि को अन्य लिपियों की अपेक्षा परम श्रेष्ठ घोषित करने के बावजूद उन्होंने सम्पूर्ण एशियाई भाषाओं के लिए अनिवार्य स्वरलिपियों से युक्त संशोधित रोमन लिपि के एकमात्र लिपि के रूप में संस्तुति की. वे रोमन लिपि की अपूर्णताओं और त्रुटियों से सुपरिचित थे. यह लिपि भारतीय, फ़ारसी और अरबी शब्दों को पूर्णतया सफलतापूर्वक व्यक्त करने में अक्षम है. अतएव उन्होंने रोमन लिपि को अनिवार्य स्वरलिपियों से युक्त करने की अनुशंसा की.

फ्रेडरिक जौन शॉर ने 20 मई 1832 ई. से जून 1834 ई. तक अनेक लेख हिंदी भाषा और देवनागरी लिपि के समर्थन में लिखे थे. वे प्रथम अंग्रेज़ पदाधिकारी थे जिन्होंने देवनागरी लिपि और हिंदी भाषा का तार्किक ढंग से समर्थन किया. उन्होंने भारत की कार्यपालिका और न्यायपालिका की भाषा एवं लिपि के प्रश्न पर अत्यंत तर्कसम्मत, गहन, निष्पक्ष, न्यायपूर्ण एवं व्यापक ढंग से विचार करते हुए हिंदी भाषा और देवनागरी लिपि के पक्ष में अपना ऐतिहासिक निर्णय दिया था. अठारहवीं शताब्दी के अंतिम चरण से सम्पूर्ण उन्नीसवीं शताब्दी तक भाषा और लिपि के प्रश्न पर दो धाराएं चल रही थीं— अंग्रेज़ी भाषा की अनिवार्यता और भारतीय भाषाओं के रोमन लिप्यंतरण की धारा थी और दूसरी धारा इसके विपरीत थी. स्वदेशी भाषा और नागरी लिपि की यह धारा थी. ध्यातव्य है कि शब्दकोशकार राधालाल माथुर (1843 ई.-1913 ई.) ने 1873 ई. में प्रकाशित अपने शब्दकोश की भूमिका में हिंदी को सम्पूर्ण भारतव्यापिनी राष्ट्रभाषा का गौरवपूर्ण पद प्रदान किये जाने का प्रथम स्वप्न देखा था.

भारत की सभी भाषाओं के लिए एक लिपि और वह लिपि देवनागरी ही हो, यही राष्ट्रलिपि के सिद्धांत की मूल आत्मा है.

वस्तुतः राष्ट्रलिपि अर्थात सार्वजनीन

लिपि देवनागरी के सर्वप्रथम मंत्रद्रष्टा भारतेंदु युग के प्रमुख साहित्यकार और पत्रकार, भारतेंदु काल के दीर्घजीवी मासिक पत्र- 'हिंदी प्रदीप' के सम्पादक पंडित बालकृष्ण भट्ट थे. उन्होंने मासिक पत्र 'हिंदी प्रदीप', 1 अप्रैल 1882 ई. में 'प्रार्थना' शीर्षक सम्पादकीय अग्रलेख में यह मत व्यक्त किया था कि सम्पूर्ण भारतवर्ष के राजकार्य में नागराक्षर अर्थात देवनागरी लिपि का प्रचलन किया जाए, सभी न्यायालयों में और दरबारों में फारसी लिपि के स्थान पर देवनागरी लिपि में कार्यवाही हो और इसी लिपि में हिंदी, उर्दू, मराठी, पंजाबी आदि भाषाओं की पुस्तकों का प्रकाशन हो क्योंकि इस लिपि में प्रत्येक व्यक्ति की बोलचाल में अनुकूल उच्चारण निकलते हैं.

सर गुरुदास बनर्जी कलकत्ता उच्च न्यायालय के न्यायाधीश थे, 1890-92 ई. में कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रथम भारतीय कुलपति थे. उन्होंने 1893 ई. में प्रकाशित अपनी 'ए नोट ऑन दि देवनागरी अल्फाबेट फॉर बेंगाली स्टूडेंट्स' नामक पुस्तिका में यह निर्णय दिया कि एकमात्र देवनागरी लिपि ही पूर्ण एवं उपयुक्त है जिसकी सफल विस्मृति सम्पूर्ण भारतवर्ष में सहजतापूर्वक की जा सकती है और इस लिपि को ही भारत की सार्वजनीन लिपि अर्थात राष्ट्रलिपि का सार्वभौम अधिकार प्राप्त है.

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में महाराष्ट्र के पंडित केशव वामन पेठे ने सभी भारतीय भाषाओं के लिए एक लिपि की अनिवार्यता के सिद्धांत का प्रतिदान किया. लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक और महाराष्ट्र के तत्कालीन समाचारपत्रों ने पंडित केशव वामन पेठे के लिपि और राष्ट्रभाषा विषयक विचारों का व्यापक समर्थन किया था.

'कलकत्ता यूनिवर्सिटी मैगज़ीन', जुलाई 1903 ई. में पंडित सतीशचंद्र विद्याभूषण, एम.ए. ने एक लेख लिखा था जिसमें विभिन्न सार्थक तर्कों के साथ यह निष्कर्ष दिया गया था कि सम्पूर्ण हिंदू जाति के लिए कालांतर में देवनागरी ही एकमात्र लिपि हो सकती है. पंडित सतीशचंद्र विद्याभूषण के उक्त लेख से प्रेरित होकर न्यायमूर्ति शारदाचरण मित्र (1848 ई. -1917) ने 22 दिसंबर 1904 ई. को कलकत्ता विश्वविद्यालय इंस्टीट्यूट में सर गुरुदास के सभापतित्व में आयोजित संगोष्ठी में 'ए यूनिफार्म अल्फाबेट एंड स्क्रिप्ट फॉर इंडिया' शीर्षक निबंध का वाचन किया था. न्यायमूर्ति शारदाचरण मित्र के कथन का सारसंक्षेप यह था कि भारत की सभी भाषाएं एक ही प्रकार की लिपि में लिखी जाएं और यह एक ही लिपि देवनागरी है. सर्वत्र, विशेषकर भारतवर्ष में सब भाषाओं के लिए संस्कृताक्षर (देवनागरी) का व्यवहार चलाने तथा बढ़ाने के उद्देश्य से न्यायमूर्ति शारदाचरण मित्र के प्रयास से अगस्त 1905 ई. में तत्कालीन कोलकाता में एक लिपि परिषद् की स्थापना की गयी थी. इसका उद्देश्य था कि "भारत की भिन्न-भिन्न प्रांतीय भाषाओं को यथासाध्य यत्नों द्वारा देवनागराक्षर लिखने और छापने का प्रचार बढ़ाना जिससे कुछ समय के अनंतर भारतीय भाषाओं के लिए एक सामान्य लिपि

प्रचालित हो जाए."

भारत की सम्पूर्ण भाषाओं के लिए सार्वजनीन लिपि के निर्धारण हेतु वाराणसी में नागरी प्रचारिणी सभा के तत्त्वावधान में 1905 ई. में बांग्ला भाषा के यशस्वी उपन्यासकार रमेशचंद्र दत्त, आई.सी.एस. के सभापतित्व में विशेष सभा का आयोजन किया गया था. जिसमें लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने कहा था कि भारत की सभी भाषाओं के लिए एक सार्वजनीन लिपि देवनागरी ही हो सकती है. भारत के लिए यह मानक लिपि है. इसके विपरीत दिशा में किया गया प्रत्येक प्रयत्न आत्मघाती ही होगा.

अपने अध्यक्षीय अभिभाषण में रमेशचंद्र दत्त ने भविष्य की तार्किक तथा रचनात्मक वाणी प्रदान करते हुए विश्वास व्यक्त किया कि "एक समय ऐसा अवश्य आयेगा जबकि सारे उत्तर भारतवर्ष में एक ही लिपि हो जायेगी. इसमें शीघ्रता करने का एक मार्ग यह है कि भिन्न-भिन्न भाषाओं के जो बहुत ही प्रचलित ग्रंथ हैं वे नागरी अक्षरों में छापे जाएं."

एक लिपि विस्तार परिषद्, कोलकाता के तत्त्वावधान में न्यायमूर्ति शारदाचरण मित्र के प्रयास एवं मार्गदर्शन में मई 1907 ई. से 'देवनागर' नामक अभूतपूर्व सचित्र मासिक पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया गया. इसमें विभिन्न भारतीय भाषाओं के लेखादि एकमात्र देवनागरी लिपि में प्रकाशित किये जाते थे. भारतीय पत्रकारिता के इतिहास में यह अभिनव प्रयोग था.

नागरी लिपि सब भाषाओं में चले, इसका मतलब दूसरी लिपियों का निषेध नहीं है, दोनों लिपियां चलेंगी...

अक्टूबर 1909 में बड़ोदरा में महाराष्ट्र साहित्य सम्मेलन हुआ. इस साहित्य सम्मेलन में तत्कालीन बड़ोदरा राज्य के महाराजा गायकवाड़, उनके प्रधान अमात्य और बांग्ला साहित्यकार रमेशचंद्र दत्त, सी.आई.ई., मराठी के प्रसिद्ध ग्रंथकार सर्जन कर्नल कीर्तिकार, डॉ. रामकृष्ण गोयल भंडारकर आदि भी सक्रिय रूप से उपस्थित थे. इस अवसर पर रमेशचंद्र दत्त ने कहा था– "हमें देशभर में एक ही लिपि और एक ही भाषा का प्रचार करना चाहिए. इस काम के योग्य सिर्फ़ नागरी लिपि और हिंदी भाषा ही कही जा सकती है. बिना एक-लिपि और एक-भाषा के देश में जातीय भाव की उन्नति नहीं हो सकती. गुजराती, बांग्ला और पंजाबी लिपि नागरी लिपि से बहुत मिलती है. मद्रास में संस्कृत पुस्तकें अब तक बहुधा इसी लिपि में लिखी जाती हैं अतएव यही लिपि सारे देश में प्रचार के योग्य है. रही भाषा, सो हिंदी वह भाषा है जिसे सब प्रांतों के लोग समझ सकते हैं."

देवनागरी लिपि की सर्वोपयोगिता सबने

स्वीकार की और सर्वानुमति से यह निर्णय हुआ कि इस विषय में विभिन्न प्रांतों को अपना अहं भाव छोड़ देना चाहिए. अपनी प्रांतीय लिपि का व्यवहार अपने निज के काम में लोग भले ही करें परंतु सार्वजनिक कार्यों और सर्वजनोपयोगी पुस्तकों में देवनागरी लिपि ही काम में लायी जाए. दिसम्बर 1910 में कांग्रेस की एक लिपि विस्तार कांफ्रेंस तमिलनाडु के जस्टिस कृष्णस्वामी अय्यर के सभापतित्व में आयोजित की गयी थी जिसका कार्यारम्भ जस्टिस शारदाचरण मित्र ने किया था. इस अधिवेशन में सर्वसम्मति से यह निर्णय लिया गया था कि भारत की राष्ट्रलिपि अर्थात सार्वजनीन लिपि होने के लिए देवनागरी लिपि ही सर्वोत्तम लिपि है. बीसवीं शताब्दी के पश्चात एक लिपि का प्रश्न भारतव्यापी हो गया था. अनेक हिंदीतर प्रसिद्ध कृतियों के देवनागरी लिप्यंतरण के प्रकाशन हुए. उदाहरणार्थ, रवींद्रनाथ टैगोर कृत मूल 'गीतांजलि' का देवनागरी लिप्यंतरण इंडियन प्रेस, इलाहाबाद से 1914 ई. में प्रकाशित हुआ.

यद्यपि 'हिंद स्वराज्य' के लेखन-प्रकाशन काल से महात्मा गांधी दो लिपियों की हिंदी-हिंदुस्तानी की वकालत करते रहे, तथापि सर्वप्रथम अगस्त 1925 ई. में सम्पूर्ण भारत के लिए एक लिपि अर्थात राष्ट्रलिपि की अवधारणा को उन्होंने राष्ट्रव्यापिनी अभिव्यक्ति प्रदान की. उन्होंने कहा कि ''यदि हम एक लिपि को अपना सकें तो हम एक भाषा सम्बंधी वर्तमान स्वप्न को सच बनाने के रास्ते की एक भारी रुकावट दूर कर देंगे.''

महात्मा गांधी के अनुसार, ''सारे हिंदुस्तान के लिए एक लिपि का होना एक दूरवर्ती आदर्श है. परंतु उन सब लोगों के लिए जो कि संस्कृत से उत्पन्न होने वाली भाषाएं जिनमें दक्षिण की भाषाएं शामिल हैं, बोलते हैं, एक लिपि का होना व्यावहारिक आदर्श है, यदि हम सिर्फ़ अपनी प्रांतीयता को दूर कर दें... और इस बात के लिए कि देवनागरी ही सर्व-सामान्य लिपि हो, मैं समझता हूं किसी प्रत्यक्ष प्रमाण की आवश्यकता न होगी क्योंकि यही तो एक ऐसी लिपि है जिसे भारत के अधिकांश भाग के लोग जानते हैं. उसका प्रसार ही उसके पक्ष में यह फैसला देता है.''

1939 ई. में 'हरिजन सेवक' में महात्मा गांधी ने एक लिपि की आवश्यकता पर एक आलेख लिखा था. एक लिपि की आवश्यकता पर अपने विचार व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा था– ''यह सवाल अनेक वर्षों से लोगों के सामने है कि संस्कृत से निकलने वाली या जिन्हें उसने ग्रहण कर लिया है उन सब भारतीय भाषाओं की लिपि एक होनी चाहिए. मैं भी वर्षों से एक लिपि का ही प्रतिपादन कर रहा हूं. मुझे याद है कि दक्षिण अफ्रीका में गुजरातियों के साथ भारत सम्बंधी पत्र-व्यवहार में एक हद तक मैंने देवनागरी लिपि का व्यवहार भी शुरू कर दिया था. इसमें शक नहीं कि ऐसा करने से विभिन्न प्रांतों के पारस्परिक सम्बंधों में बहुत सुविधा हो जायेगी और

विभिन्न भाषाओं के सीखने में आज की बनिस्बत कहीं ज़्यादा आसानी होगी.

ध्यातव्य है कि अगस्त 1961 ई. में दिल्ली में आयोजित मुख्य मंत्रियों के सम्मेलन में यह प्रस्ताव सर्वानुमति से पारित किया गया था कि विभिन्न भाषाओं में आदान-प्रदान और देश की एकात्मता को सुदृढ़ करने के लिए भारत की सभी भाषाओं के लिए एक लिपि का होना वांछनीय है. एतदर्थ, एकमात्र देवनागरी लिपि ही यह स्थान ग्रहण कर सकती है. इस दिशा में कार्य-योजना का निर्माण करने का संकल्प व्यक्त किया गया था. किंतु खेद है कि इस सर्वसम्मत प्रस्ताव और संकल्प की अद्यावधि की अवहेलना की गयी.

प्रमुख विचारक और सर्वोदय आंदोलन के प्रणेता संत विनोबा भावे ने राष्ट्रलिपि के आंदोलन को नयी दिशा दी, विस्तार दिया, व्यापकता दी. उन्होंने भारतीय एकता के लिए नागरी लिपि की आवश्यकता महसूस की. उनका कथन है कि यदि नागरी लिपि भारत की सभी भाषाओं के लिए स्वीकार कर ली जाए तो हम लोगों में पारस्परिक निकटता में अभिवृद्धि होगी. उन्होंने प्रांतीय लिपियों का निषेध नहीं किया– वे भी चलें और नागरी भी चले. विनोबा जी ने बार-बार यह स्पष्टीकरण दिया कि "नागरी लिपि सब भाषाओं में चले, इसका मतलब दूसरी लिपियों का निषेध नहीं है, दोनों लिपियां चलेंगी... भारत की एकता के लिए हिंदी भाषा जितना काम देगी उससे बहुत ज़्यादा काम देवनागरी लिपि देगी. अतएव भारत की सभी भाषाएं देवनागरी लिपि में लिखी जाएं."

यद्यपि गांधीवाद के सर्वस्वीकृत व्याख्याता काका साहेब कालेलकर दो लिपियों के समर्थक के रूप में प्रख्यात रहे, तथापि उन्होंने विनोबा जी के लिपि विषयक सिद्धांतों को सार्वजनिक समर्थन प्रदान किया था. यह ध्यातव्य है कि संत विनोबा जी की सदप्रेरणा और गांधी स्मारक निधि के प्रयास से 17 अगस्त 1975 ई. को राजघाट, नई दिल्ली में स्थापित नागरी लिपि परिषद राष्ट्रीय एकता के उद्देश्य से मस्त भारतीय भाषाओं की सहलिपि और विश्व की सभी भाषाओं, विशेषकर एशियाई भाषाओं की लिपि के रूप में देवनागरी लिपि को स्वीकार्य कराने हेतु निरंतर निष्ठापूर्वक प्रयत्नशील है.

अप्रैल 1984 में भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह ने देवनागरी को सभी भारतीय भाषाओं की सम्पर्क लिपि के रूप में स्वीकार किये जाने हेतु आह्वान किया.

1784 से ही भारत में राष्ट्रलिपि का प्रश्न एक राष्ट्रीय प्रश्न रहा है. सम्पर्क लिपि, जोड़ लिपि, सहलिपि, अतिरिक्त लिपि, वैकल्पिक लिपि, अनिवार्य लिपि, राष्ट्रलिपि, सार्वजनीन लिपि– हम देवनागरी लिपि को कुछ भी कह लें, यह एकमात्र लिपि है जो भारत की राष्ट्रलिपि की उच्चतम मर्यादा एवं गरिमा के सर्वथा अनुकूल है. भारत की समस्त भाषाओं के लिए राष्ट्रलिपि का होना राष्ट्रीय दृष्टि से अनिवार्य है. इस राष्ट्रीय प्रश्न की दिशा में हिंदीतरभाषियों का अवदान राष्ट्रीय समग्रता की दृष्टि से अविस्मरणीय है. ☐

प्रमोद त्रिवेदी की कविताएं

भाषा- 1

भाषा भी देखती है सपने
चाहती है वह,
खिल उठे सपने में फूल-सी
और स्वर
आतुर होने को अलाव
दिल खोलता है अपना दरवाज़ा प्रेम के लिए
और प्रेम अपनी महक से भर देता
सारी सूनी और खाली जगह.

भाषा- 2

भाषा ही खड़ा करेगी मुझे अपने विरुद्ध
भाषा सम्पन्न होकर मैं पाऊंगा-
उपहार या दंड
भाषा ही होगी मेरा कवच भाषा के विरुद्ध
भाषा में ही पाना है मुझे अपना विस्तार
उड़ना है,
भाषा के व्योम में भाषा के पंखों से
सिद्ध करनी है मुझे भाषा में अपनी ताकत
ईश्वर.
बहुत हो चुका निर्वात में जीना
मैं भाषा में होना चाहता हूं - झरना.

मेरी पहली कहानी

संवेदना के साथ ज्ञान भी चाहिए

• हरिशंकर परसाई
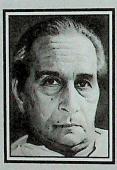
व्यंग्यकार हरिशंकर परसाई का जन्म मध्य प्रदेश के होशंगाबाद जिले के 'जामनिया' गांव में 22 अगस्त, सन् 1924 को हुआ. परसाईजी ने अंग्रेज़ी में एम.ए. करने के बाद लेखन कार्य शुरू किया. उन्होंने 'वसुधा' नाम की पत्रिका भी निकाली. उनकी प्रमुख रचनाओं में 'प्रेमचंद के फटे जूते', 'जैसे उनके दिन फिरे', 'शिकायत मुझे भी है', 'दो नाक वाले लोग', 'रानी नागफनी की कहानी' जैसे अन्य कहानी संग्रह हैं.

सन् 1982 में उनकी रचना 'विकलांग श्रद्धा का दौर' के लिए उन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया.

लिखना आरम्भ करने की निश्चित तारीख क्या बताऊं? मेरी शायद पहली कहानी जो छपी वो 1947 में जबलपुर के साप्ताहिक 'प्रहरी' में. उसके सम्पादक थे पं. भवानी प्रसाद तिवारी और रामेश्वर गुरु. प्रहरी बहुत प्रखर साप्ताहिक था. उन दिनों गुरुजी भी बहुत अच्छे कवि और लेखक थे. उन लोगों का साथ मिला तो मैंने पहली कहानी लिखी और लिखकर उपनाम से प्रहरी के दफ़्तर में भेज दी. अगले हफ़्ते छप गयी. इस तरह लिखना प्रारम्भ किया. एक घटना पर आधारित थी यह कहानी -

दीवाली का दिन था. जबलपुर में फव्वारा जो है, वहां आसपास सब दुकानें हैं. सबसे ज़्यादा रोशनी, चमक-दमक और आतिशबाजी वहीं होती है, खास इलाका है वो जबलपुर का. वहां से मैं जा रहा था रोशनी देखता हुआ तो वहां एक बहुत अच्छी चमचमाती कार खड़ी थी. उत्सुकतावश दो-तीन फटेहाल गरीब लड़के उस पर हाथ फेर रहे थे, उसे देख रहे थे. इतने में ड्रायवर आया और उन तीनों लड़कों को मारकर भगा दिया. इसको मैंने देखा. मुझे निश्चित रूप से इस अनुभव ने प्रभावित किया. मैंने देखा कि दूसरे की कार को छूने का सुख ये भोग रहे थे, वो भी इन्हें नहीं मिला. इस कहानी को यथावत मैंने लिख दिया. इसका शीर्षक था- 'दूसरे की चमक-दमक' (संग्रह में कहानी का शीर्षक 'पैसे का खेल' दिया गया)

मैं जिस वर्ग से आया था वो निम्न मध्य वर्ग है. इसके अलग बंधन वर्जनाएं और भ्रम होते हैं. मुझे पढ़ने का शौक बचपन से ही बहुत था. मुझे सब अध्यापक ऐसे मिले थे, जिन्होंने साहित्य की रुचि दसवीं-मैट्रिक में ही जागृत कर दी थी. तो कुछ राजनैतिक चेतना जो है, वो किसी आइडियोलॉजी से मेरे अंदर हो ऐसी बात नहीं थी. लेकिन इंस्टिंक्टिवली मैं किसी एक वर्ग को बिलांग करता था. तभी उन लड़कों की हालत देखकर सहानुभूति पैदा हुई. मुझे पढ़ने का बहुत शौक था. दो तीन अखबार रोज़ पढ़ता था. लेकिन सैद्धांतिक अध्ययन किसी आइडियोलाजी का मैंने तब तक नहीं किया था. समाजवादियों से मैं प्रभावित ज़रूर था. लेकिन उसका कारण ये था कि ये लोग 1942 के स्वतंत्रता संग्राम के हीरो लोग थे. इनको मैंने देखा था. ये लगातार पूंजीपतियों पर, कांग्रेसियों पर अटैक किया करते थे. यह मेरे विद्रोही मन को अच्छा लगता था. इसलिए उस प्रकार की चेतना मेरे अंदर थी. आइडियोलॉजिकल ट्रेनिंग मेरी तब तक नहीं हुई थी. खैर मैं यह मानता हूं कि सारे साहित्य का सृजन जीवन से होता है. जो जीवन के मूल्य हैं, वहीं साहित्य के. उसके सिवाय अलग से उसका कोई मूल्य नहीं होता. जीवन है, उसमें जो घटता है, व्यक्तिगत रूप में विभिन्न जो घटनाएं होती हैं, उनके जो अंतर्विरोध हैं, और उसके अंतर्द्वंद्व हैं, ये सब उसकी आकांक्षाएं हैं. ये सब चीज़ें लेखक को प्रभावित करती हैं. घटनाएं लेखक की चेतना को उद्वेलित करती हैं. ये घटनाएं स्वयं में मूल्यवान नहीं होतीं, अगर ये अनुभव का अंश न हो जाएं.

लेखक का विषय अनुभव के सिवाय और कुछ होता है. अनुभव जो हुआ है वो भी जैसे का तैसा रचने के लिए काफी नहीं होता. उस अनुभव का विश्लेषण कर उसका अर्थ खोजना पड़ता है. जैसा कि मुक्तिबोध ने कहा हैं, 'ज्ञानात्मक संवदेना और संवदेनात्मक ज्ञान'. संवेदना के साथ-साथ ज्ञान भी चाहिए. घटना संवेदना को जगाती है लेकिन ज्ञान से उसका विश्लेषण और अर्थ खोजा जाता है पर ये मिलकर लेखक की रचनात्मक चेतना को बनाती हैं, तब उसको भाषा मिलती है, शैली मिलती है और फ़ॉर्म मिलता है.

मैं व्यंग्य लिखता हूं. इसकी कोई अलग रचना-प्रक्रिया नहीं है. मैं जीवन में जो घटना घटती है, उसको नोट करता हूं. अनुभवों को मैं छोड़ता नहीं, उनका विश्लेषण करता हूं. जांचता हूं कि अनुभव का सामाजिक महत्त्व क्या है? कोई अनुभव ऐसा होता है जिस पर आप एक मिनट हंस सकते हैं, उसका सामाजिक महत्त्व नहीं होता. इस प्रकार जो काम के अनुभव हैं वे ही आगे चलकर रचना का रूप लेते हैं.

पैसे का खेल

घर में तो एक कागज़ पर अपने ऋण का हिसाब लिखकर उसकी ही पूजा की. अपने पास तो लक्ष्मी के नाम पर यही कभी न छूटनेवाला कर्ज़ है. फिर सोचा, चलो कुछ दूसरों का हाल ही देख आवें. चौक से ही चला. दोनों ओर सजी हुई दुकानों की कतारें, जगमग करते लाल-हरे बल्ब और बीच में भड़कीली पोशाक पहने हुए, सामने से जाती हुई भीड़ पर गर्वदृष्टि डालते हुए बैठे थे– दुकानदार. सड़क दर्शकों से भरी थी. इतने सारे लोग अपने घर की दीवाली को तुच्छ समझकर दूसरों की दीवाली देखने निकल पड़े थे.

फुहारे के पास विशेष भीड़ थी. एक भारी सुंदर दुकान थी, जिसमें एक-से-एक बढ़िया पोशाक पहिने महकते हुए सेठ लोग धन की देवी की पूजा के लिए आयोजन करने में व्यस्त थे. किसी की राह देखी जा रही थी. सहसा एक 'कार' पों-पों करती हुई आयी और रुकी. आकाश में झिलमिल करती हुई नयी गाड़ी, आंखों को चौंधिया देती थी, दृष्टि नहीं ठहरती थी उस पर. मानो कोई सुंदर नक्षत्र भूमि पर उतर आया हो. भीतर शोर हुआ, सेठजी आ गये! सेठजी आ गये! मैंने सोचा, होगा कोई पीली पगड़ी बांधे कान में कंठी पहिने, मुंह पर गंदी मूंछों की झाड़ी बढ़ाये मारवाड़ी सेठ परंतु अरे! वे तो खादीधारी थे. फिर क्या नेता हैं? हां, थे नेता भी थे और सेठ भी. जन्म और कर्म से सेठ थे और दुनिया की आंखों में धूल झोंकने के लिए चंदारूपी दक्षिणा देकर अभी-अभी नेतागिरी का गुरुमंत्र भी पढ़ लिया था. हां तो वे 'नेतानुमा सेठ' भीतर गये और पूजा आरम्भ हुई.

उस सुंदर चमचमाती हुई कार को देखकर किसका मन पास आने को न होगा. किसी उर्दू कवि की 'नायिका' के समान वह अपनी जगह अड़ी थी, टस-से-मस नहीं हो रही थी. फिर भी कितनी भली गलती थी. मैं स्वयं कई बार उसे पास से जाकर देखने का लोभ संवरण न कर पाया था. फिर ये तो बेचारे अपढ़ गरीब मजदूर थे. एक पूरा परिवार था वह, मां-बाप, 13-14 साल की लड़की और 9-10 साल का एक बालक कौतूहल से आंखें फाड़े इस विश्वमोहिनी 'कार' को देख रहे थे. बच्चा डरता-डरता कार के पास पहुंचा और उल्लास तथा अचरज से भरी आंखों से देखकर उसने अपनी पहली अंगुली-मात्र डरते-डरते कार पर रख दी और ड्राइवर जो अभी तक

मूंछों पर ताव दे रहा था, अधिकार [illegible] चिल्लाया, "अबे हट वहां से. क्यों हाथ लगाता है?" बच्चे ने एकदम अंगुली खींच ली, जैसे कोई आग के अंगारे को छूकर हाथ खींच लेता हो.

भीतर लक्ष्मी पूजा हो रही थी– 'लक्ष्मी की जय'– और मेरे पास ही खड़ा हुआ एक लड़का ठंड से 'सी-सी' करता हुआ पुकार रहा था "एक-एक आने में माचिस, एक-एक आने में!" और वह मजदूर परिवार उस कार को और कभी उस भीड़ को देख रहा था. बच्चा बेचारा भूखा था, सामने मिठाई देखी तो रो पड़ा– "अम्मा भूख लगी है. मिठाई ले दे." बेचारी मां ने दो पैसे की लैया लेकर बालक के हाथ में दे दी. बालक उस मिठाई को मग्न हो खाने लगा, पर दृष्टि थी उसकी उसी कार पर. कई बार उसने हाथ बढ़ाया पर प्रत्येक बार ड्राइवर को देखकर चौंक जाता था.

ड्राइवर भीतर का दृश्य देख रहा था. बालक ने इस मौके से पूरा लाभ उठाना चाहा. उसने फुर्ती से पूरा हाथ 'मडगार्ड' पर फेर दिया. ड्राइवर अभी भी उसी ओर देख रहा था. बच्चे का साहस बढ़ा. वह कार पर जमी हुई धूल बड़ी श्रद्धा से सम्हाल-सम्हालकर पोंछने लगा. धूलरहित वह कार और भी चमक उठी. बालक के नेत्र भी उल्लास से चमक उठे. वह हाथ की लैया खाना भूल गया.

इसी समय ड्राइवर की आंखें घूमीं. चिल्लाया वह, "अबे नहीं मानता? ठहर..." और झपटकर उसने उस बालक का हाथ [illegible] दिया. बेचारा गिर पड़ा, हाथ की लैया भूमि पर बिखर गयी. वह रोने लगा, चोट लगने के कारण नहीं, लैया गिर जाने के कारण. आधी ही तो खा पाया था बेचारा. मां ने उसके आंसू पोंछे और धूल से भरे लैया के कण बीन-बीनकर उसे खिलाने लगी. मां-बाप में से किसी ने ड्राइवर के इस कार्य का प्रतिवाद नहीं किया. वे तो उस कार को, उसके मालिक को और उसके ड्राइवर, सबको अलौकिक मान चुके थे. तभी तो वे उनसे इतने भिन्न थे.

इधर बच्चा कुरते से आंसू पोंछता जाता था और धूल में सने हुए लैया के टुकड़े खाता जाता था. भीतर स्वादिष्ट प्रसाद बांटा जा रहा था. अतृप्त बालक बोला, "मां! और!" मां ने कहा, "बेटा, अब पैसे नहीं है. चलो घर चलें." और वह बालक, वह लड़की और उनके मां-बाप उस कार देवी पर अंतिम ललचाई दृष्टि डालकर चल दिये.

उधर गजरों से लदे 'कार' के मालिक सेठ- चंचल लक्ष्मी के कृपापात्र-उस चंचल कार में सवार होकर चल दिये. एक बूढ़े ने कहा, "भैया, सब पैसे का खेल है." खिसकती हुई भीड़ में अंतिम आशा से वह ठंड से कांपता हुआ लड़का फिर चिल्लाया, "एक-एक आने में माचिस, एक-एक आने में!"

मैं भी वापिस चला. दिमाग में घूम रहे थे- वह कार, वह सेठ, वह मज़दूर-परिवार और वह माचिसवाला लक्ष्मी-पूजा की उस घड़ी में. पर इनमें कोई सम्बंध नहीं समझ पा रहा था. ❑

रंगमंच की बदलती भाषा का सच

● बादल सरकार

रंगमंच की भाषा पर वक्तव्य देने से पहले मेरे सामने यही पहला प्रश्न उपस्थित होता है कि मैं कौन हूं? यह केवल इकलौता प्रश्न नहीं, बल्कि इसके साथ प्रश्नों की एक श्रृंखला खड़ी हो जाती है– जैसे, मैं कहां से आया हूं? इस जटिल संसार में, एक सामाजिक परिवेश में मेरा क्या स्थान है? मेरा वर्तमान काल क्या है? मेरी भाषा क्या है? मेरा रंगमंच क्या है? मेरे रंगमंच की भाषा क्या है?

यह सब अहं भरा प्रतीत होता है, पर वास्तव में ऐसा नहीं है. ये सभी प्रश्न प्रासंगिक हैं, क्योंकि मैं एक काल एवं संदर्भ से जुड़ा हुआ हूं. मैं स्वतंत्र या निरपेक्ष नहीं हूं. मेरे विचार, मेरे कर्म अपनी जीवन-शैली तक ही सीमित हैं. मेरे अनुभव, जीवन में किये गये चुनाव भले ही स्वैच्छिक हों या परिस्थितिवश हों, पर वे मेरे परिवेश से प्रभावित हैं. रंगमंच की भाषा से मेरा तात्पर्य मेरे रंगमंच की भाषा एवं अपनी भाषा तक ही सीमित है. मैं 'मैं' के स्थान पर 'हम' का प्रयोग कर सकता था, क्योंकि मैं एक काल-विशेष में समाज के विशेष वर्ग का प्रतिनिधित्व करता हूं एवं इस काल में मेरे जैसे बहुतेरे लोग हैं.

मैं अपने आप को एक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करता हूं. मेरे जैसा यह व्यक्ति एक आम शहरी भारतीय है, जिसका जन्म एवं शिक्षा-दीक्षा कलकत्ता जैसी महानगरी में हुई है. यह शहर जीवंत है, इसकी अपनी शक्ति और कमज़ोरियां हैं, और उन्हीं पर आधारित अपना एक दृष्टिकोण भी है. यह व्यक्ति मध्य वर्ग या उच्च-मध्य वर्ग में जन्मा है. इसके पिताजी स्कूल के अध्यापक थे एवं पड़दादाजी की शायद थोड़ी-बहुत ज़मींदारी थी. यह व्यक्ति पढ़ा-लिखा है अर्थात अंग्रेज़ी शिक्षण प्रणाली की उपज है. हालांकि शिक्षा का माध्यम मूलतः देशी भाषा ही रही है. यह उस समय विदित होता है जब उसे किसी सम्भ्रांत सभा में अंग्रेज़ी में बोलना पड़े.

इस व्यक्ति को कॉलेज की शिक्षा इसलिए मिली क्योंकि इसके पिताजी 21 वर्षीय वयस्क बेटे के कॉलेज की फीस देने में सक्षम थे. शिक्षा स्तर, एक ऐसे देश में जहां 70 प्रतिशत निरक्षर व्यक्ति हों, ऊंचा है, लेकिन व्यक्ति जिन बौद्धिक ऊंचाइयों को छू सकता है, उनके मुकाबले काफी कम है. वह व्यक्ति किस 'काल' से सम्बंधित है? उसने अपनी शिक्षा ब्रिटिश शासन काल में पूरी की एवं स्वतंत्रता से कुछ

पहले ही कमाने लगा.

वह अब 1982 ई. में जीवंत है और शक्ति-सम्पन्न है. उसकी भाषा? भाषाई रूप से बंगाली है पर सांस्कृतिक रूप से अंग्रेज़ी है क्योंकि वह जिस वर्ग से आता है उसकी भाषा अंग्रेज़ी थी और आज भी है.

यह एक मध्यम वर्गीय, शिक्षित गहरा बंगाली है. इस व्यक्ति ने कुछ चुनाव किये एवं यह उन चुनावों की उपज है. हालांकि सभी चुनाव स्वतंत्र नहीं थे, वरन ज़्यादातर परिस्थितिवश किये गये थे, लेकिन इन सीमाओं के बावजूद इस व्यक्ति का अपना एक स्वतंत्र व्यक्तित्व भी है. जीवन के अनेक चुनावों में, मान लीजिए उसने एक चुनाव रंगमंच का किया है. शुरू में यह एक मन बहलाने के लिए, फुरसत के क्षणों में किया गया काम था, लेकिन धीरे-धीरे इसका जीवन में महत्त्व बढ़ने लगा. छोटे-मोटे शौकिया नाटकों में पहले निर्देशन और बाद में नाट्य-लेखन तक पहुंचा, क्योंकि यह व्यक्ति अपने नाटकों का मंचन स्वयं करना चाहता था.

एक शहरी होने के नाते शुरू में उसका झुकाव शहरी रंगमंच की तरफ़ होना लाजमी था. 50 के दशक में कलकत्ता के रंगमंच की भाषा को चुनना उसके लिए स्वाभाविक ही था, क्योंकि थोड़ा-बहुत भारत के ग्रामीण रंगमंच के बारे में जानकारी होने के बावजूद परिपक्व ज्ञान न होने के कारण उस दिशा में उसके ज़्यादा काम करने की गुंजाइश नहीं थी.

वास्तव में जब हम 'थिएटर' शब्द का प्रयोग करते हैं, जिसे हमने प्रायः अपनी सभी भाषाओं

(15 जुलाई, 1925 -13 मई, 2011)

कलकत्ता में जन्मे सुधींद्र सरकार उर्फ बादल सरकार भारत के प्रभावशाली नाटककार तथा रंगमंच निर्देशक थे. सन् 1976 में उन्होंने खुद की थियेटर कम्पनी 'शताब्दी' शुरू की. उन्होंने 70 से भी अधिक नाटक लिखे तथा निर्देशित किये. उन्हें सबसे अधिक पहचान व्यवस्था विरोधी नाटकों से मिली. उनके मुख्य नाटकों में- एवं इंद्रजीत, बासी खबर, सारी रात, जुलूस, पगला घोड़ा, प्रस्ताव तथा अन्य हैं. उनके कई नाटक भारत की अन्य भाषाओं में अनुवादित हो चुके हैं.

उन्हें सन 1972 में पद्मश्री से सम्मानित किया गया तथा नाटक के क्षेत्र का सबसे बड़ा पुरस्कार संगीत नाट्य अकादमी रत्न सदस्य प्रदान किया गया. कैंसर की वजह से 86 साल की उम्र में कोलकता में उनका देहांत हो गया.

में अपना लिया है; इस शब्द से हम शहरी रंगमंच को ही समझते हैं. एक बड़ा प्रेक्षागृह, दर्शकों के लिए कतार में लगी कुर्सियां, जो सब एक ही दिशा में देखने के उद्देश्य से लगाये गये हैं. अगर हम दर्शक हैं तो हमारे सामने एक विशाल चित्र का 'फ्रेम' जैसा होता है जहां 'चित्र' एक भारी पर्दे के पीछे छिपा-सा लगता है. जब थिएटर का कार्य-व्यापार शुरू होता है तो हम अपने को घुप्प अंधेरे में पाते हैं, और ऐसे समय पर्दा हटा लिया जाता है. हमारे सामने यानी चित्र के फ्रेम के पीछे वास्तव में एक और कमरा उभरता है जो हमारे धरातल से ऊंचा है. सभी प्रकाश इसी कमरे पर केंद्रित है, सभी गतिविधियां इसी कमरे में हैं, सभी संवाद और शब्द इसी से बंधे हुए हैं.

जब वह अपने लिए रंगमंच चुनता है, वह ऐसा ही मंच चुनता है. प्रोसेनियम मंच— ऐसा प्रेक्षागृह जहां कुर्सियों की कतार हो, स्पॉटलाइट, पोशाक, ग्रीन-रूम नाटक का प्रचार, टिकट बिक्री आदि. ऐसा वह दो दशकों तक बराबर करता रहता, बिना किसी मानसिक बदलाव के.

शुरू में शहरी रंगमंच को यथावत स्वीकार करने के बावजूद उसके मन में कई प्रश्न उभरते रहते हैं— जैसे, नाटक से व्यक्ति कितना अभिव्यक्ति कर सकता है? क्या वह सभी कुछ, जो वह सोचता है या महसूस करता है, या इसकी अपनी सीमाएं हैं? नाटक साहित्य का कितना विशिष्ट अंग है, नाटक की भाषा एवं रंगमंच की भाषा में क्या अंतर है? आखिर रंगमंच क्या है? रंगमंच से कैसे व्यक्ति स्वयं को अभिव्यक्त कर सकता है? रंगमंच कितना मनोरंजन, कितना सौंदर्य और कितना बड़ा संदेश पहुंचाने का ज़रिया हो सकता है?

प्रश्न तो और भी अनेक जुड़ते रहेंगे, पर अंतिम उत्तर नहीं मिल सकता है. यह एक प्रक्रिया मात्र है. प्रश्न करना, उनका हल ढूंढ़ना परिवर्तन की एक प्रक्रिया है एवं यह परिवर्तन ही मूल रूप से प्रासंगिक है. परिवर्तन आता है जागरूकता से, न केवल रंगमंच के प्रति जागरूकता वरन् समाज, समय एवं जीवन के प्रति जागरूकता से परिवर्तन आता है.

खोज शुरू होती है उस चीज़ से जो इस समय हाथ में हो, और वह है समकालीन शहरी रंगमंच. लेखक एक नाटक लिखता है— यहीं से शुरुआत होती है. इस नाटक की एक भाषा है, जैसे कि कविता एवं साहित्य की अन्य विधाओं की एक भाषा होती है, और उसको वही लोग पढ़ सकते हैं जिनको उस भाषा का ज्ञान होता है. दूसरे चरण में एक निर्देशक का आगमन होता है, जो पटकथा के साथ नाटक को एक देखे-सुने जाने वाले माध्यम के रूप में अभिनेताओं के माध्यम से रूपांतरित करता है. अब यह एकांत में पढ़ने वाली साहित्यिक विधा से हटकर एक दर्शक समूह द्वारा देखने लायक विधा में परिवर्तित हो जाता है. इस तरह नाटक, पटकथा एवं मंचन-रंगमंच के तीन अंग हैं.

पटकथा लेखक एक ऐसी भाषा का उपयोग करता है जिसके माध्यम से नाटक के विभिन्न कलाकार के विचारों को जीवंत रूप में दर्शकों के सामने प्रस्तुत कर सके. ये घटनाएं वास्तविक जीवन के नजदीक हों, लेकिन उनमें अनावश्यक घटनाओं का समावेश न हो,

जिनका नाटक के संदेश से सम्बंध न हो. अतः इसमें कुछ घंटे, दिन, महीने, यहां तक कि सालों का भी अंतराल हो सकता है, जो कि सामान्यतः अंधकार करके या दृश्य परिवर्तन करके इंगित किया जाता है. इस तरह के रंगमंच को वास्तविक रंगमंच कहते हैं, क्योंकि इसमें दर्शकों के लिए एक ऐसा वातावरण तैयार किया जाता है जहां कलाकार घटनाओं को इस तरह से प्रस्तुत करते हैं कि वे दर्शकों के वास्तविक जीवन के काफी नजदीक महसूस होती हैं.

इस तरह से रंगमंच की भाषा, नाटक की भाषा एवं आम बोलचाल की भाषा में कोई विशेष अंतर नहीं होता है. अतः चरित्र वास्तविक जीवन के काफी नज़दीक लगता है जब दर्शक कलाकार को चरित्र-चित्रण करते देखता है. प्रोसेनियम मंच इस तरह के लिए काफी सुविधाजनक है, क्योंकि कलाकारों एवं दर्शकों के बीच की दूरी इस तरह वास्तविकता के भ्रम को तैयार करने में सहायक होती है, इसीलिए जादूगर भी इसी तरह का मंच चाहते हैं.

कई सवाल यहां खड़े हो जाते हैं. इस भ्रम को किस हद तक पैदा किया जा सकता है? क्या वास्तव में दर्शक भूल जाता है कि आखिर यह मंच है और इस पर सभी लोग अभिनेता हैं? कितना भी भ्रमजाल क्यों न रचा जाए, वास्तव में इसका असर दर्शक की कल्पनाशीलता के अनुसार ही होता है, न कि उसके आदेशानुसार जो कुछ मंच पर वह देखता-सुनता है. तब क्या यह मान लिया जाए कि दर्शक भ्रमित होने के उद्देश्य से ही नाटक देखने आता है? और क्या वह थिएटर के इस अलिखित नियम को मानता है?

एक बार अगर इस वास्तविकता का भ्रम पैदा करने की सीमा से निकला जाए तो अन्य सीमाओं की बंदिशें भी समाप्त हो जाएंगी. फिर कहानी, चरित्र, वास्तविकता आदि गौण हो जाएंगे. पटकथा लेखक इन सभी से ऊपर उठकर एक समस्या विशेष पर ध्यान केंद्रित कर सकता है. अब एक मूल प्रश्न— 'रंगमंच आखिर है क्या?' रंगमंच एक जीवंत प्रस्तुति है एवं इसके लिए दर्शक एवं कलाकारों का एक निश्चित समय-स्थान पर एक साथ उपस्थित होना आवश्यक है. प्रस्तुति वर्तमान की होती है, भले ही कहानी कभी की हो.

इस नये अहसास के साथ ही दर्शकों का महत्त्व बढ़ जाता है. क्यों उन्हें अंधकार में 'हम' और 'वह' के अंतर के साथ रखा जाए? वे एक सम-धरातल पर रहें, एक-दूसरे की प्रतिक्रिया जानें-समझें. दर्शक भी पूरी रोशनी में एक-दूसरे की प्रतिक्रिया समझ सकें. यह रंगमंच को एक त्रि-आयामी विधा बना देगा. ऐसा केवल रंगमंच से ही सम्भव है, क्योंकि यह एक जीवंत प्रस्तुति है.

रंगमंच भी परिणाम केंद्रित हो सकता है, क्योंकि इसका एक उद्देश्य है. यह दर्शकों के विचार में परिवर्तन लाने की भूमिका निभा सकता है. इस संदर्भ में रंगमंच दर्शकों का मनोरंजन करने के साथ ही उस पर एक वैचारिक क्रांति के लिए प्रभाव भी छोड़ जाता है. लेकिन इस प्रकार की भूमिका निभाने के लिए क्या दर्शकों की ज़्यादा भागीदारी की ज़रूरत नहीं है? क्या उन्हें केवल मूक दर्शक बनाना उचित है? क्या ऐसा नहीं हो सकता

कि उनकी जीवनसंबंधी प्रतिक्रियाएं सम्बद्ध कर उन्हें और प्रोत्साहित किया जाए? रंगमंच में ऐसी प्रतिक्रियाएं चार तरह से हो सकती हैं— कलाकारों से दर्शक, कलाकारों-कलाकारों के बीच, दर्शकों से कलाकारों तक और दर्शकों-दर्शकों के बीच. इनमें प्रथम दो से हम भिन्न हैं. कलाकार दर्शकों को ध्यान में रखकर ही भूमिका निभाते हैं. कलाकारों का एक-दूसरे के साथ संवाद होता है, क्योंकि नाटक में उनके चरित्र एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं. लेकिन जहां दूसरी दो तरह की प्रतिक्रियाओं का प्रश्न उठता है, दर्शक-दर्शक एवं दर्शक से कलाकार के बीच संवाद, हमारे मन में एक अराजकता की स्थिति हावी हो जाती है. हम यह मानकर चलते हैं कि संवाद केवल भाषा से या बोलकर ही होता है. यह वास्तविकता से परे है. संवाद लोगों के मुख-मुद्रा, शारीरिक हाव-भाव आदि से भी होता है. प्रकाश में कलाकारों तक दर्शकों की यह प्रतिक्रिया ज़्यादा सुविधा से पहुंचती है. दर्शकों को भी स्वैच्छिक भागीदारी का अवसर मिलता है.

यह खोज केवल एक मानसिक स्तर पर नहीं सीमित रहती है. रंगमंच का एक हिस्सा होने के कारण वह अपने विचारों एवं खोजों को प्रायोगिक स्तर पर शहरी रंगमंच पर उतारता है. यह परिवर्तन उसके नाटकों की भाषा— जिन्हें वह लिखता है, निर्देशित करता है, अभिनय करता है— उनमें झलकता है. मसलन, जब 'वह' यह समझ लेता है कि नाटक एक जीवंत प्रस्तुति है, वह स्वाभाविक रूप से मनुष्य पर ज़्यादा निर्भर होना शुरू करता है— जो अभिनेता भी और दर्शक भी है. इसी से उसे इस बात का भी गहरा अहसास होता है कि रंगमंच की कला का मूलभूत उपकरण 'मनुष्य' का शरीर ही है.

परम्परागत शहरी रंगमंच के वे सभी तामझाम, जैसे सेट्स, प्रॉप्स, स्पॉट लाइट, वेशभूषा, प्रसाधन आदि क्या वाकई में रंगमंच के लिए अपरिहार्य हैं? हां, ये सहायक तो हो सकते हैं और शायद किसी खास किस्म के नाटकों के लिए ज़रूरी भी हो सकते हैं, पर क्या इन्हें या इनमें से किसी एक तत्त्व को हम रंगमंच की कला के लिए ज़रूरी उपकरण के रूप में मान सकते हैं? दूसरे शब्दों में, क्यों इनकी या इनमें से किसी एक की अनुपस्थिति में रंगमंच, रंगमंच नहीं रहेगा? और एक जादू की तरह परिवर्तन वास्तव में काम करने लगता है. अंततः वह प्रोसेनियम रंगमंच से बाहर आ जाता है. यह एक कठिन कदम है, क्योंकि वह वर्षों से प्रोसेनियम मंच से जुड़ा हुआ है. पर एक बार उसके कदम इस ओर बढ़ते हैं तो उसके रंगमंच की भाषा तेज़ी से बदलने लगती है. विचार परिवर्तन में एक ठहराव आने लगता है. अंततः वह इस नये रंगमंच को सत्तर के दशक में एक मूर्त रूप प्रदान करता है.

यह एक अंतरंग रंगमंच है. यहां कलाकार दर्शकों को देख सकते हैं, छू सकते हैं. यहां तक कि उनके कानों में भी गुनगुना सकते है. नाटक उनके सामने, दायें-बायें-पीछे कहीं भी हो सकता है. ऐसा ज़रूरी भी तो नहीं है कि हर दर्शक नाटक के हर अंग को देखे ही. भले ही वह दो सौ फीट की दूरी से क्यों न

बादल सरकार का 'अंतरंग रंगमंच'

देखे. इस रंगमंच की भाषा ऐसी होनी चाहिए कि दर्शक अपने को रंगमंच का एक अंग महसूस करे. प्रयास यह है कि व्यक्ति एक-दूसरे की प्रतिक्रिया यहां और अभी ले, न कि दर्शक से दूर मंच पर कुछ हो रहा है, उसे यूं देखे और सुने या कलाकार आपस में इस तरह नाटक प्रस्तुत करे जैसे हॉल में उनके सिवाय कोई है ही नहीं.

'नये रंगमंच' का दर्शक वास्तविकता का 'भ्रम' नहीं, वास्तविकता ही चाहता है. वह कलाकार से निकटता चाहता है. इस नयी आकांक्षा के लिए बैठने के तरीके या मंच का बदलाव काफी नहीं है. ज़रूरत है दर्शक एवं कलाकारों के बीच एक गये रिश्ते तलाशने की जो व्यक्तियों के बीच मानवीय धरातल पर टिका हुआ हो. इस तरह रंगमंच को एक नयी भाषा की आवश्यकता हुई. पारम्पारिक रंगमंच में कलाकार नाटक के चरित्र के आधार पर अपनी पहचान बदलते हैं. इसके लिए चरित्र के अनुसार उनका पहनावा, शृंगार, हाव-भाव आदि की नकल करने की कोशिश की जाती है और इसी को सामान्यतः अभिनय कहा जाता है. लेकिन अब अभिनेता यह नकली नकाब उतारकर एक मानवीय स्व-व्यक्तित्त्व के रूप में दूसरे व्यक्ति (दर्शक) के सामने अपने को प्रस्तुत करता है.

नया रंगमंच कलाकार से एकदम भिन्न भाषा की अपेक्षा रखता है. कलाकार को स्वयं का मुखौटा उतारकर वास्तविक स्व को अनावृत्त करना पड़ता है. इस सभ्य समाज में शायद रंगमंच ही वह सामाजिक स्थल है जहां वह ऐसा कर सकता है और कलाकार इसका लाभ उठा सकता है. और ऐसा होने पर रंगमंच एक वास्तविक मानवीय कृति हो जाता है, न कि मुखौटों के पीछे छिपे मानव या कवच से स्वयं को छुपाये हुए लोग.

उस व्यक्ति की चेतना पर जिसके बारे में हम अब तक बातचीत कर रहे, ज़रा प्रकाश

डालने की कोशिश की जाए. उसे अब यह अहसास होने लगा है कि रंगमंच की इस बदली हुई भाषा ने उसे एक ऐसा माध्यम या ज़रिया प्रदान किया है जिसके चलते एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य से, एक हृदय का दूसरे हृदय से भावनाओं का सीधा सम्प्रेषण सम्भव है. यहां 'वह' इस बात को नकारता नहीं है कि ऐसा सम्प्रेषण प्रोसेनियम रंगमंच में भी हुआ है. पर उसका अपना अुनभव एक अभिनेता और दर्शक की हैसियत से उसे यही बताता है कि ऐसे सम्प्रेषण को घटित करना बेहद कठिन काम है. प्रोसेनियम रंगमंच में महानतम अभिनेताओं द्वारा प्रस्तुत किसी महान नाटक में ही केवल ऐसा भावात्मक प्रभाव पैदा किया जा सकता है. नया रंगमंच उसे एक ऐसी आज़ादी का अहसास कराता है जिसे उसने पहले कभी अनुभव नहीं किया था.

उसका एक और महत्त्वपूर्ण अहसास है. महंगे मंच, सभागार एवं उनसे जुड़ी महंगी वेशभूषा, रोशनी, सजावट आदि अनावश्यक है. मानवीय सम्बंधों पर निर्भरता बढ़ाने से रंगमंच की अपनी लागत काफी कम हो जाती है. एक ऐसा समाज, जिसमें सभी वस्तुएं खरीदी एवं बेची जाती हैं, कला भी एक क्रय-विक्रय की वस्तु होकर रह गयी है. और अब तक वह इन शर्तों को मानने के लिए बाध्य था. लेकिन अब एक स्वतंत्र रंगमंच की सम्भावना उजागर हुई है. इस सम्भावना ने फिर से यह प्रश्न उपस्थित कर दिया कि भारतीय संदर्भ में रंगमंच क्या है?

रंगमंच के अनेक प्रकार एक व्यापार शीर्षक 'लोकमंच' या 'पारम्पारिक रंगमंच' के शीर्षक से जाने जाते हैं. इनका अलग-अलग प्रांतों में विभिन्न नाम और स्वरूप हैं. जैसे बंगाल में 'जात्रा', महाराष्ट्र में 'तमाशा', उत्तर प्रेदश में 'नौटंकी', गुजरात में 'भवाई' केरल में 'कथकली', कर्णाटक में 'यक्षगान' आदि. अतः भारत में दो तरह के रंगमंच हैं— एक है स्वदेशी, जो कि मूल रूप में ग्रामीण क्षेत्रों में विद्यमान है, और दूसरा पश्चिमी देशों से आयातित है, खासतौर पर ब्रिटेन से, शताब्दी पूर्व. ये दोनों ही रंगमंच एक शताब्दी से भी ज़्यादा समय से एक-दूसरे के समानांतर मौजूद हैं, फिर भी इनमें कोई विशेष आदान-प्रदान नहीं हुआ है. इस स्थिति पर कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए.

हमारे देश के सामाजिक-आर्थिक विकास का एक बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण पहलू है शहरी एवं ग्रामीण जीवन की विषमताएं. ये विषमताएं केवल आर्थिक स्तर, सेवाओं की उपलब्धियों, सामाजिक विकास आदि तक सीमित नहीं हैं, वरन उनमें मूलभूत अंतर है. इसका मूल कारण ऐतिहासिक रूप से देश का लम्बे समय तक उपनिवेश बनकर रहना है. अतः शहरी विकास में औपनिवेशिक विशेषताएं आ गयी हैं.

दूसरे चरण में भारत को एक अविकसित कृषि प्रधान देश बनाया गया, जो कि ब्रिटिश उद्योगों का एक बहुत बड़ा बाज़ार बन गया एवं दूसरी ओर ब्रिटिश उद्योगों के लिए एक कच्चा माल का स्रोत बन गया.

इस द्विविभाजन का प्रभाव सांस्कृतिक क्षेत्र में भी नज़र आता है. ब्रिटिश हितों के लिए ही आधुनिक शिक्षा प्रणाली अंग्रेज़ी में प्रारम्भ की गयी और स्वाभाविक रूप से इसका लाभ

शहरों को ही मिला. अंग्रेज़ी शिक्षा आरम्भ में ज़मींदारी परिवार, बड़े भूस्वामियों, व्यापारियों आदि के परिवारों तक ही सीमित रही, जिन्होंने शोषण प्रक्रिया का हिस्सा बनकर काफी धन-संग्रह कर लिया था. फलस्वरूप शहरी संस्कृति ग्रामीण संस्कृति से पूरी तरह कट चुकी थी. लेकिन ग्रामीण संस्कृति परम्परागत तरीके से पनपती रही एवं जीवंत रही. अतः इस क्षेत्र में भी शहरी एवं ग्रामीण जीवन में अंतर की खाई बढ़ती रही.

19वीं सदी के सांस्कृतिक नवजागरण के दौरान कई विचार पश्चिमी जगत से प्रभावित थे. यह अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रभाव था. ये विचार मध्ययुगीन सामंतवाद से मुक्ति पाने के सांस्कृतिक-आर्थिक प्रयास थे. पर भारत में यह विचार उस शहरी बुद्धिजीवी वर्ग ने उठाया और विकसित किया जिसकी अपनी जड़ें सामंतशाही एवं ब्रिटेन की औपनिवेशिक शोषण व्यवस्था में पैठी हुई थीं. फलस्वरूप, इन विचारों का देशव्यापी प्रचार होने के बजाए शिक्षित शहरी बुद्धिजीवी वर्ग तक ही ये सीमित रहे. दूसरी तरफ़ आम ग्रामीण जनता, जिसे सामंतशाही से मुक्ति पानी थी, वहां पारम्पारिक सामंतशाही विचार में कोई परिवर्तन नहीं हुआ. लोकमंच की लोकप्रियता के बावजूद उसका वैचारिक क्रांति में कोई योगदान नहीं रहा. उनके विचार, मूल्य सभी प्राचीन और रूढ़िग्रस्त रहे.

परम्परागत शहरी रंगमंच के दायरों के अंदर रहकर काम करने के बावजूद धीरे-धीरे भारत की रंगमंचीय स्थिति के बारे में अवधारणा स्पष्ट होने लगती है. अपनी तमाम सीमाओं के बावजूद 'वह' रंगमंच के लिए एक नयी भाषा तलाशने की कोशिश करता है, जिससे दर्शकों से बेहतर संवाद कायम किया जा सके, साथ ही 'वह' शहर-गांव के बीच के द्विविभाजन के बारे में भी सोचता है. उसकी इस खोज में एक 'फ्री-थिएटर' या मुक्त रंगमंच की अवधारणा भी शामिल होती है. वह ऐसे रंगमंच की कल्पना करता है, जो कि शहरी दर्शकों के मध्यम और उच्च वर्ग तक ही सीमित न हो और न ही ये मेहनती जनता के सरोकारों और समस्याओं से कटा हुआ ऐसा रंगमंच हो, जो यथार्थ से परे, पिछड़े, मूल्यों से जुड़ा हो. उसे धीरे-धीरे अहसास होने लगता है कि इसके लिए एक 'लचीला' कम खर्चीला और आसानी से एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने वाले रंगमंच की ज़रूरत है, एक तीसरे रंगमंच की, जो कम-से-कम उसकी ज़रूरतों को पूरा कर सकता था.

उसका यह रंगमंच उसके दो उद्देश्यों की पूर्ति करता था और दो दिशाओं की ओर बढ़ सकता था— एक, यह अंतरंग रंगमंच था जहां सघन भावात्मक आदान-प्रदान सम्भव था. दूसरे, कि बिना इस बात की प्रतीक्षा किये कि दर्शक पहुंचेंगे, नाटक को ही दर्शकों तक आसानी से ले जाया जा सकता था. इन दोनों के माध्यम से ही रंगमंच को 'फ्री' या 'मुक्त' करना सैद्धांतिक रूप से और व्यावहारिक रूप से सम्भव था, क्योंकि इस रंगमंच को दर्शकों की इच्छा से दिये गये आर्थिक सहयोग से चलाया जा सकता था और इसके लिए प्रवेश शुल्क जैसी शर्त की ज़रूरत नहीं थी. यह बेहद महत्त्वपूर्ण बात थी, महज इसलिए नहीं

कि हमारे देश की अधिसंख्य जनता नाटक के टिकट का पैसा नहीं जुटा सकती है, बल्कि इसलिए भी कि रंगमंच सैद्धांतिक रूप से एक 'मानवीय' क्रिया है जहां लोगों को (दर्शकों और अभिनेताओं को) बिना किसी भेदभाव के मिलना चाहिए, जिससे उनके बीच एक 'मानवीय' सम्बंध बन सके. जब हम प्रवेश शुल्क को नाटक के लिए एक ज़रूरी शर्त बना लेते हैं, तो दर्शकों और अभिनेताओं के बीच क्रेता-विक्रेता जैसा सम्बंध स्थापित हो जाता है, जो समाज के लिए भले ही ज़रूरी क्यों न हो, पर ऐसे सम्बंध को 'मानवीय' नहीं कहा जा सकता है.

और अंततः एक रंगमंच की स्थापना कोलकाता में की गयी. यह प्रदर्शन एक कमरे में करता है. प्रचार केवल व्यक्ति से व्यक्ति के माध्यम से होता है. दर्शकों से केवल एक रुपया चंदा लिया जाता है— वह भी ज़रूरी नहीं है. यह संगठन विभिन्न स्थानों, जैसे सार्वजनिक पार्क, गांव, शहरी स्लम बस्ती, ऑफिस, फैक्ट्री, कॉलेज के पार्क आदि स्थलों पर प्रदर्शन करता है.

हालांकि दोनों ही तरह के प्रदर्शनों का मूल दर्शन एक ही है, फिर भी उनकी भाषा भिन्न है, क्योंकि दोनों के वातावरण में काफी अंतर है. एक कमरे में कुछ दर्शकों के बीच सीधा सम्पर्क सम्भव है, पर सार्वजनकि स्थल पर जहां कि कभी-कभी दर्शकों की संख्या सैकड़ों तक पहुंच जाती है, इस तरह व्यक्तिगत सम्बंध सम्भव नहीं है फिर भी प्रगतिशील रंगमंच उन गांव और स्लम तक पहुंच रहा है, जो कभी शहर में इस मंच तक नहीं पहुंच पाते. इस उपलब्धि के लिए, ऐसी भाषा के विकास के लिए परिश्रम आवश्यक है जो नये रंगमंच की दोनों विधाओं से न्याय कर सके.

अतः हमारी इस प्रतिनिधि की भाषा में परिवर्तन आता है और उसके रंगमंच की भाषा लगातार बदल रही है. लेकिन यह बदलाव केवल परिवर्तन के लिए नहीं है, न ही प्रयोग भर के लिए है. उसका विश्वास 'कला कला के लिए' या 'रंगमंच रंगमंच के लिए' पर कभी नहीं रहा है. पूरी प्रक्रिया एक दर्शन से जुड़ी है. उसका मानना है कि नयी भाषा एक आंदोलन से ही आ सकती है. और यह आंदोलन कोलकाता एवं उसके पास के गांव या बंगाल एवं भारत के अन्य ग्रामीण क्षेत्रों में भी तेज़ी से विकसित हो रहा है. यह एक स्वतः स्फूर्त प्रक्रिया है, जिसमें कई व्यक्ति स्वेच्छा से जुड़ते जाते हैं और अपनी तरह से आज के समाज की समस्याओं की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित करते हैं.

रंगमंच अपने-आप में कभी दुनिया को बेहतरी के लिए नहीं बदल सकता है, लेकिन वह इस पूरी प्रक्रिया का हिस्सा बन सकता है. और इस उद्देश्य के लिए रंगमंच की भाषा में ज़रूरी बदलाव आये, यही हम कामना कर सकते हैं और प्रयास कर सकते हैं.

(1982 में दिये गये मौलाना अबुल कलाम आज़ाद स्मृति व्याख्यान के सम्पादित अंश. अशोक भौमिक द्वारा सम्पादित पुस्तक 'बादल सरकार : व्यक्ति और रंगमंच' से साभार)

□

लाल फीते से पहले

• जिम कार्बेट

ब्यूरोक्रेसी की प्रपंचमयी भूलभुलैया के पहले 'इस हाथ दे और उस हाथ ले' न्याय एवं प्रशासन की एक झांकी देखिए. प्रस्तुत लेख जिम कार्बेट लिखित 'माई इंडिया' के एक अध्याय का संक्षिप्त हिंदी रूपांतर है.

जब कभी भी भारत में अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद की कहानी लिखी जाएगी, तो वह तब तक अपूर्ण रहेगी जब तक उसमें यह न व्यक्त हो जाए कि अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद की नींव दृढ़ करने में लाल फीते (रेड-टेरिज़्म) का कितना महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है. ऐसा है-लाल फीते का महत्त्व. पर एक ऐसा ज़माना अंग्रेज़ी राज्य में भी हो चुका है जब इन लाल फीतों का जाल नहीं बिछा था. उस समय अधिकारी कितने स्वच्छंद होते थे, यह आप आज के अधिकारियों को देखकर आंक ही नहीं सकते. जनरल सर हेनरी रैमजे की कहानी सुनिए.

सर हेनरी कुमायूं में जज थे. अकेले जज ही नहीं; मैजिस्ट्रेट, पुलिस-अफसर, फॉरेस्ट-अफसर, और इंजीनियर! उनके इतने पदों से ही यह भली प्रकार आंका जा सकता है कि उनको कितने अधिकार रहे होंगे और इतने अधिकारों के होते हुए भी वे इतने लोकप्रिय थे कि उस क्षेत्र के 'बेताज बादशाह' माने जाते थे. रैमजे साहब अधिकांशतः दौरे पर ही रहते और एक पड़ाव से दूसरे पड़ाव जाते हुए रास्ते में ही लोगों की तकलीफ़ें सुनते जाते और फैसला देते जाते. उन्होंने इसी प्रकार दौरे में सज़ाएं भी दी हैं, जुर्माने किये हैं तथा लोगों को जेल भी भेजा है, पर क्या मजाल कि एक भी ऐसा उदाहरण मिल जाए कि किसी ने जुर्माना खजाने पर जाकर अदा करने में आनाकानी की हो या जेल की सज़ा सुनकर खुद जेल के दरवाज़े पर हाज़िर होने में देर लगायी हो.

रैमजे की कथाएं तो और पुराने ज़माने की बात है, पर मेरे मित्र एंडरसन जिनके साथ मैं बोकसार पहुंचा था, वे भी उस क्षेत्र के अघोषित राजा ही थे. वैसे पदेन तो थे पुलिस-सुपरिटेंडेंट मात्र, पर उनके अधिकार निस्सीम थे और जब कभी वे दौरे पर निकलते तब गांव भर के लोग उनको घेर लेते और अपनी विपदा या शिकायतें सुनाना

शुरू कर देते. मेरे साथ जैसे ही श्री एंडरसन बोकसार पहुंचे, तुरंत खबर पाते ही एक पूरा गोल आ पहुंचा. एंडरसन ने उन लोगों को बैठ जाने के लिए कहा और स्वयं भी उन्हीं के निकट जा बैठे.

भीड़ में बैठा एक पुरुष खड़ा हो गया. वह बोकसार गांव से सटे गांव का मुखिया था. उसने कहना शुरू किया– ''हुजूर, मेरा गांव और बोकसार पड़ोसी गांव हैं. दोनों गांव के लिए एक ही नहर है. नहर के रास्ते में बोकसार पहले पड़ता है और मेरा गांव बाद में. इस साल वर्षा नहीं हुई और बोकसार गांव वालों ने हमारे गांव में पानी ही नहीं आने दिया, जिसका फल यह हुआ कि हमारे गांव में धान की पूरी फसल सूख गयी.'' फिर बोकसार का मुखिया खड़ा हुआ और बोला, ''हुजूर, हम लोगों ने पानी नहीं दिया, यह तो ठीक है; पर अगर दोनों गांव में पानी बांट दिया जाता, तो दोनों ही गांव की फसल सूख गयी होती.''

हम लोगों के उस गांव में पहुंचने के कुछ ही दिन पूर्व बोकसार की फसल काट ली गयी थी. एंडरसन ने दोनों पक्षों की बातें सुनकर फैसला किया कि दोनों गांवों में जिस अनुपात में धान के खेत हों उसी अनुपात में बोकसार का धान दोनों गांव वाले बांट लें.

फैसला यह हुआ तो, पर सिफ़त यह देखिए कि बोकसार वालों ने फैसला स्वीकार कर लिया. उन लोगों ने एक आपत्ति यह उठायी कि बोआई और कटाई इत्यादि में उनकी जितनी मजदूरी लगी है, उसे भी दूसरे गांव वाले उसी अनुपात में दें. इस पर दूसरे गांव का मुखिया पुनः उठा और बोला, ''हुजूर, जब ये लोग धान बो या काट रहे थे तब हम लोगों से क्यों मदद नहीं मांगी? उस वक्त मदद मांगते तो हम लोग भी परिश्रम करके पटा देते. अब नकद रुपया कहां से लायें?'' एंडरसन साहब ने दूसरे गांव के मुखिया की ही बात स्वीकार्य मानी और बोकसार वालों को हुक्म दिया कि वे अपना धान उस गांव वालों को बिना कुछ लिये दे दें. बोकसार वाले चुप रहे और धान देना स्वीकार कर लिया.

दूसरी फ़रियाद चादी नामक एक व्यक्ति ने की. उसकी फरियाद थी कि कुलू नामक एक व्यक्ति उसकी पत्नी तिलनी को भगा ले गया. चादी ने कहा– ''भगाने के तीन सप्ताह पूर्व कुलू ने तिलनी को कुछ रुपये दिये. मैं विरोध करता रहा पर कुलू ने मेरी बात नहीं सुनी और रुपये मेरी पत्नी को दे गया. उसके बाद, हुजूर, तिलनी मेरा मकान छोड़कर कुलू के घर चली गयी.''

फ़रियाद सुनने के बाद एंडरसन साहब ने पूछा, ''क्या कुलू भी यहां मौजूद है?'' एक व्यक्ति भीड़ में से उठा और बोला, ''हां हुजूर! कुलू मेरा नाम है.'' उस भीड़ में महिलाएं भी थीं. जब तक खेत का मामला छिड़ा था तब तक तो वे चुप थीं, पर जब तिलनी के भगाये जाने का मामला पेश हुआ और कुलू भी खड़ा हो गया, तब महिलाओं ने भी इस मामले में दिलचस्पी दिखानी शुरू की. इधर पंचायत होती रही और उधर कानाफूसी शुरू हो गयी.

एंडरसन साहब ने कुलू से पूछा, ''क्यों,

तुम चादी की पत्नी तिलनी को उसके घर से भगा लाये हो?''

''नहीं सरकार, तिलनी को मैंने एक मंडई दे दी है. वह उसमें मेरे साथ रहती ज़रूर है, परंतु मैंने उसे भगाया नहीं है.'' गिड़गिड़ाता हुआ कुलू बोला.

''तो क्या तुम उसे लौटाने के लिए तैयार हो?'' साहब ने पूछा.

''सरकार, वह मेरे घर अपनी इच्छा से आयी. मैं उसे बुलाने नहीं गया था और इसलिए मैं तिलनी से जबरदस्ती यह नहीं कह सकता कि तुम फिर चादी के घर चली जाओ.''

तब एंडरसन साहब ने पुनः पूछा, ''क्या तिलनी भी यहां है?'' इस बार एक लड़की खड़ी हो गयी और बोली, ''हां हुजूर! मेरा नाम तिलनी है. क्या हुकुम है मेरे लिए?'' तिलनी बड़ी साफ़-सुथरी, सुंदर लड़की मालूम पड़ी. उसकी उम्र लगभग 18 वर्ष की रही होगी. वह सफेद किनारे वाली एक काले रंग की साड़ी और लाल रंग की एक कुरती पहने थी. एंडरसन ने उसके सामने आते ही पूछा, ''तुम अपने पति का घर छोड़कर क्यों चली आयी?'' तिलनी बोली, ''सरकार, मेरे पति को आप स्वयं देख लें. कितना गंदा है वह! और जितना वह गंदा है उतना ही मक्खीचूस भी है. दो बरस मेरे विवाह को हुए, उसने मुझे न तो एक भी गहना बनवाया और न एक साड़ी दी.'' उसने अपनी साड़ी और अपने गहने की ओर दिखाते हुए कहा, ''और यह सरकार जो आप दो-एक गहने देख रहे हैं, यह सब मुझे कुलू ने दिया है.'' एंडरसन साहब ने उससे पूछा, ''तो क्या तुम अपने पति चादी के घर अब जाने को तैयार हो?'' वह नकारात्मक ढंग से सिर हिलाती हुई बोली, ''बिलकुल नहीं, सरकार! मैं चादी के घर नहीं जा सकती.''

अपनी पत्नी का ज़वाब और साहब का रुख देखकर चादी गिड़गिड़ाकर बोला- ''हुजूर ही मेरे माई-बाप हैं. मैंने न्याय के लिए हुजूर के सामने फ़रियाद की है. अगर कुलू मेरी पत्नी को वापस नहीं करना चाहता और मेरी पत्नी मेरे घर नहीं आना चाहती, तो सरकार, मुझे हरजाना ही दिला दीजिए.''

एंडरसन ऐसे मुकदमों और ऐसी परिस्थितियों से पूर्णतः भिज्ञ थे, अतः उन्होंने पूछा, ''कितना हर्जाना तुम मांगते हो?''

''सरकार! डेढ़-सौ रुपया,'' चादी बोला.

वहां उपस्थित सभी व्यक्ति डेढ़-सौ रुपया सुनकर कह उठे कि डेढ़-सौ तिलनी के लिए बहुत अधिक है.

पर, एंडरसन साहब ने फिर कुलू से भी पूछा, ''क्यों, तुम डेढ़-सौ रुपया देने को तैयार हो?''

''डेढ़-सौ रुपये तो सरकार बहुत अधिक हैं. गांव भर जानता है कि तिलनी को चादी दो बरस पहले सौ रुपये पर ले आया था. तब सरकार तिलनी नयी थी अब उसके लिए सौ रुपया भी बहुत मंहगा है. मैं पचास दे सकता हूं.''

अब वहां बैठे गांव वाले कहने लगे कि पचास तो बहुत कम है.

एंडरसन साहब दोनों तरफ की बातें सुनते रहे और अब वहां बैठे लोगों में से एक-एक

व्यक्ति अपनी राय रुपये के मामले में साहब को बतलाने लगा. तिलनी खड़ी-खड़ी मुस्काराती हुई बातें सुन रही थीं. सब की बातें सुनने के बाद एंडरसन साहब ने फैसला किया कि तिलनी का दाम 75 रुपये लगाना ठीक होगा और कुलू चादी को 75 रुपये हरजाने के रूप में दे. कुलू ने अपनी कमर से एक बसनी (डोरों की बनी एक पतली थैली) निकाली और चांदी के 52 रुपये गिन दिये. 52 की संख्या गिनते ही चादी उत्सुकतापूर्वक बोल उठा, ''और बाकी 23 रुपये?'' अब कुलू का एक मित्र आगे बढ़ा और उसने अपनी बसनी निकाली और शेष 23 रुपये भी गिन दिये. अब तिलनी कुलू की हो गयी!

जब मामला समाप्त ही होने वाला था कि हम लोगों ने देखा; एक बीमार-सी औरत धीरे-धीरे हम लोगों की ओर चली आ रही है. एंडरसन साहब ने उसे देखते ही पूछा, ''तुम कौन हो?''

''मैं सरकार, कूलू की पत्नी हूं.''

''तुम क्या कहती हो?''

''सरकार, मेरे पति को आपने दूसरी पत्नी दिला दी. मैं इधर सालों से बीमार हूं. अब युवती पत्नी के आगे तो मेरा पति मेरी बात भी नहीं पूछेगा. अब तो मैं बिना सेवा-सुश्रुषा के मर जाऊंगी. सरकार, मेरे लिए क्या हुक्म हो रहा है?''

एंडरसन साहब जब तिलनी का फैसला कर रहे थे तब उनको इसका ध्यान भी नहीं आया था कि कुलू की भी अपनी पत्नी होगी. अब तो यह एक नयी गुत्थी आ गयी और मामला फिर बढ़ा. बात समाप्त होने के बाद कुलू की पत्नी दो-चार मिनट तो चुप रही और फिर अपने आंचल में मुंह छिपा कर फूट-फूटकर रोने लग गयी.

सभी चुप थे और मामले का हल सोच ही रहे थे कि तिलनी आगे बढ़ी और कुलू की पत्नी के आंसू पोंछती हुई बोली, ''रोती क्यों हो, बहन! मेरे रहते हुए भला खाने के बगैर कैसे मर सकती हो. कुलू ने जो मुझे मकान दिया है, तुम भी उसी में आकर रहो और वह जो खर्च मुझे देगा, उसी में बांट-बांटकर हम दोनों ही खर्च चला लेंगे और तुम यह क्यों चिंता करती हो कि तुम सेवा-सुश्रुषा बिना मर जाओगी? तुम्हारी सुश्रुषा तो, जब तक तुम बीमार हो तब तक, बहन मैं स्वयं अपने हाथों करूंगी.''

तिलनी और वह बीमार औरत साथ-साथ चलीं और एंडरसन साहब भी सर्दी अधिक बढ़ जाने के कारण अपने खेमे के अंदर चले आये.

पर, थोड़ी ही देर बाद फिर चादी आया और बोला, ''सरकार मैं रुपये तो पा गया, पर कूलु को भी तो रुपयों की ज़रूरत पड़ेगी. मैं चाहता हूं कि हुक्म हो तो मैं इन रुपयों को उसे लौटा दूं. मैं और वह दोनों एक ही गांव के हैं, सरकार! किसी को कष्ट देने से क्या लाभ? सरकार कहें तो हम अपनी फ़रियाद वापस ले लें.''

एंडरसन ने अपनी रज़ामंदी दे दी और उसने कुलू के रुपये लौटा दिये.

आपको ये बातें बहुत मामूली लगी होंगी और आपने इनको बहुत सहज भाव में लिया

होगा. पर, किसी वकील से तो पूछिए कि इसमें कितने दांव-पेंच हैं. वह साफ़ कह देगा कि एक तो एंडरसन को ऐसे फैसले का कोई अधिकार नहीं था. ऐसे फैसले देने में उनको सज़ा मिल सकती है और इन फैसलों को तो देखकर वह बहत्तर कानूनी नुस्ख ही नहीं निकालेगा, वरन यह कहेगा कि यह फैसला करने वाला अफसर कोई पागल है. नहीं तो वह दूसरे के खेत की उपज दूसरे को कैसे दिला देता, एक की पत्नी दूसरे के घर कैसे भेज देता. पर नहीं, एंडरसन और उनके पूर्व के अफसरों ने इसी तरह चलते-फिरते सौ-दो सौ नहीं, हजारों मुकदमों में फैसला दिया है और उनके फैसले आज तक लागू हैं. इनमें न तो एक पैसा खर्च होता था; न मुवक्किल ही दौड़ते फिरते थे और न किसी वकील को ही मौका मिलता था कि वह अपने दिमाग की कसरत के द्वारा मामले में उलट-फेर कर सके.

पर, यह बात तब की है जब लाल फीते नहीं चले थे और जब से इन लाल फीतेवाली फाइलों की कृपा हुई, तब से तो कानून ही ऐसे बने हैं और फैसले भी ऐसे होने लगे हैं कि जिनसे अदालत में नालिशों की संख्या में अभिवृद्धि ही होती जा रही है. इसी का फल है कि हमारे किसान दरिद्र होते गये; वकीलों का पेट बढ़ता चला गया और सरकारी अफसर तथा कानून तो एक ऐसा जाल हो गया है जिसमें खुद मकड़ी ही फंसती चली जा रही है.

(नवनीत, सितम्बर 1952)

❑

झूठ की कमाई

राजेंद्रसिंह बेदी कुछ लेखकों से बातें कर रहे थे कि लिखना कितना मुश्किल है, और लेखक को अच्छा लिखने के लिए कितना संघर्ष करना पड़ता है, और सचाई तक पहुंचने के लिए किस हद तक जूझना पड़ता है...

''पर शुरू में जब मैंने कहानियां लिखनी शुरू की थीं,'' बेदी ने बताया, ''तो उन दिनों इस बात का इतना अहसास नहीं था. और हमारे घरवालों की नज़र में तो कहानियां लिखना बहुत ही आसान काम था. उनकी नज़र में यह झूठी और मनगढ़ंत बातें लिखने-वाली बात थी.'

फिर बेदी ने बताया कि बाद में उनके ताऊजी ने उनसे पूछा-- ''तुम बड़े होकर क्या करोगे?''

''कहानियां लिखूंगा?'' बेदी ने बड़े गर्व से कहा.

''तो ज़िंदगी में झूठ की ही कमाई खाओगे क्या?'' ताऊजी ने कहा.

- राजेंद्र पटोरिया

महाभारत जारी है...

धर्म-व्याध!

● प्रभाकर श्रोत्रिय

व्यास जी भी कभी-कभी हंसी ठिठौली के मूड में आ जाते हैं और हंसी-हंसी में मनुष्य के मन में गहरे चिंतन को उतार देते हैं. इसी मूड में उन्होंने एक कहानी गढ़ी– 'धर्म-व्याध'. भला बताइए रात-दिन पशु-पक्षियों की हत्या कर उनका मांस बेचने वाले से 'धर्म' का क्या सम्बंध? पर वे कहते हैं कि वह परम धार्मिक था– धर्म-तत्त्व का ज्ञाता और उस पर आचरण करने वाला. और तो और वह ब्राह्मणों में अग्रणी कौशिक ब्राह्मण को धर्म का मर्म समझाता है और उसे सोच में डाल देता है.

ब्राह्मण भी सीधा-सादा नहीं, बड़ा घमंडी और क्रोधी. एक बार वह वृक्ष के नीचे बैठकर तपस्या कर रहा था, वृक्ष पर एक बगुली बैठी थी. उसे हाजत हुई होगी, उसने ब्राह्मण पर बीट कर दी. तेजस्वी ब्राह्मण पर बीट, क्षुद्र बगुली द्वारा! वह क्रोध से तमतमा गया, उसके क्रोध से ऐसी अदृश्य ज्वाला उठी कि सूर्य की धूप में मजे से बैठी रहने वाली बगुली भी झुलस कर पेड़ से गिर पड़ी. यह एक अनकहा व्यंग्य था ब्राह्मण देवता पर! बगुली को जला डालने और व्याध द्वारा हत्या करने में भला क्या अंतर? पर ब्राह्मण के लिए न यह पाप था न व्याध-कर्म!

व्यास जी ने ब्राह्मण को एक और झटका दिया! संयोग से वह एक ऐसे गृहस्थ के द्वार पर भिक्षा मांगने पहुंच गया जहां गृहिणी विचित्र थी! उसने ब्राह्मण से कहा- "आप ठहरिए ब्राह्मण देवता, मैं भिक्षा लाती हूं." ब्राह्मण द्वार पर खड़ा रहा. इतने में उस स्त्री का पति आ गया. वह थका-हारा भूखा था. गृहिणी सब कुछ भूल-भालकर पति की सेवा में लग गयी. उसने उन्हें तृप्ति से भोजन कराया.

तभी उसे अचानक ब्राह्मण की याद आ गयी, जिसे वह दरवाज़े पर खड़ा छोड़ आयी थी. वह दौड़ी-दौड़ी भिक्षा लेकर आयी. विलम्ब के लिए क्षमा मांगी. परंतु तब तक ब्राह्मण का पारा सातवें आसमान पर चढ़ चुका था. उसने गृहिणी को डांट लगाते हुए पूछा– "तुमने इतनी देर क्यों की?" उसने सहज नम्रता से सारी बात ज्यों-की-त्यों कह सुनायी. इस पर ब्राह्मण और

भड़क उठा, उसे लगा कि पति जैसे साधारण जीव की सेवा करने में उसने महान तपस्वी ब्राह्मण का अपमान किया है! उसने पूछा- ''पति बड़ा है या ब्राह्मण?'' गृहिणी ने कहा कि दोनों की कोई तुलना नहीं, स्त्री का पहला धर्म पति-सेवा है, इस पर वे थके-हारे आये थे और भूखे भी थे.

ब्राह्मण ने सक्रोध 'ब्राह्मण' की महत्ता बतायी. व्यास जी को फिर कुतूहल सूझा. उन्होंने गृहिणी से कहलवा दिया- ''ब्राह्मण देवता, क्रोध न करो! मैं बगुली नहीं हूं जो आपके क्रोध से जल मरूंगी.''

क्रोधी ब्राह्मण चकित रह गया- अरे इसे यह कैसे पता? यह तो वहां थी नहीं! पर ऊपर से उसने स्त्री को यह नहीं दिखाया कि वह इसे कोई अनोखी बात मान रहा है और इस बारे में कुछ न पूछा.

बात यहीं समाप्त नहीं हुई. जहां ब्राह्मण को क्रोध में उसे भला-बुरा कहना था, उलटे वहीं गृहिणी उसको उपदेश देने लगी कि क्रोध नहीं करना चाहिए. उसने क्रोध की हानियां भी गिना दीं! उसने यहां तक कह दिया– ''ब्राह्मण देवता, आप जानते ही नहीं हैं कि सच्चा धर्म क्या होता है, सच्चा धर्म है सत्य और सरलता. ब्राह्मण वही होता है जो क्रोध और मोह का त्याग कर देता है.''

गृहिणी लगातार धर्म पर व्याख्यान देती रही और ब्राह्मण हक्का-बक्का सुनता रहा. यह कहकर उसने उसे और चौंका दिया कि ''ब्राह्मण देवता यदि तुम परमधर्म नहीं जानते तो मिथिलापुरी में जाकर धर्म-व्याध से पूछो.''

वह फिर चौंका- ''एं, क्या व्याध भी 'धर्म-व्याध' होता है!'' वह शायद इस बात पर स्त्री की खिल्ली उड़ाता पर वह पहले ही घनचक्कर हो चुका था, उसे समझ में नहीं आ रहा था कि यह सब हो क्या रहा है?

उसने गृहिणी से पिंड छुड़ाने के लिए कहा– ''शुभे! मेरा सारा क्रोध दूर हो गया है.'' वह चलता बना. उसे लगा जैसे उसके समूचे ब्राह्मणत्व, तप-तेज को एक साधारण गृहस्थिन ने चुनौती दी हो. वह आश्रम पहुंचा.

एकांत में व्यक्ति के मन में बहुत-सी बातें घुमड़ती हैं, वह आत्म-चिंतन भी करता है. पर ब्राह्मण के बचे-खुचे अभिमान ने उसे आत्म-चिंतन या आत्म-विश्लेषण नहीं करने दिया! उसने इस घटना को तुच्छ समझकर मन से फेंक देना चाहा. पर 'मन' भी कम नहीं होता. उसने उकसाया कि जब इतना कुछ हुआ है तो चलकर यह भी देख ही लिया जाय कि यह 'धर्म-व्याध' क्या बला है? उसका 'धर्म-तत्त्व' क्या है?

ब्राह्मण मिथिला पहुंचा, उसने उस व्याध की खोज करना प्रारम्भ किया. वह उस बाज़ार में पहुंचा जहां मांस की दुकानें थी.

उसे देखकर एक दुकान से कोई व्यक्ति उतरा और उसके पास आकर कहने लगा

"द्विज श्रेष्ठ! आपका स्वागत है. मैं ही वह व्याध हूं जिसकी खोज में आप आये हैं. आज्ञा कीजिए क्या सेवा करूं?"

अब वह जमाना टेलीफोन या मोबाइल का तो था नहीं कि गृहिणी ने व्याध को फोन पर बता दिया हो कि ऐसा-ऐसा ब्राह्मण तुम्हारे पास आयेगा. सो ब्राह्मण धक् से रह गया. उसकी धड़कन व्याध ने यह कहकर और बढ़ा दी कि "जिस पतिव्रता देवी ने आपको यहां भेजा है और जिस उद्देश्य से भेजा है वह सब मैं जानता हूं." आश्चर्य, परम आश्चर्य! झटके पर झटके!

फिर भी व्यास जी को संतोष नहीं हुआ, वे ब्राह्मण को और उधेड़ना चाहते थे. उन्होंने व्याध से बुलवाया– "ब्राह्मण देवता यह स्थान आपके योग्य नहीं है. यदि आपको कोई कठिनाई न हो तो मेरे घर चलें?"

ब्राह्मण ने सोचा, लो अब व्याध के घर भी जाना होगा! पर वह चारों ओर से इतना घिर चुका था कि इस तिलस्म में घुस ही जाना चाहता था. उसने बेमन से कहा– "अच्छा भाई चलो!"

जब वह व्याध के घर पहुंचा तो यह देखकर दंग रह गया कि उसका घर बड़ा सुंदर, सुरुचिपूर्ण, स्वच्छ और पवित्र था. वह किसी व्याध का घर लगता ही न था.

उसके मुंह से सहसा निकला- "तात! यह मांस बेचने का काम तुम्हारे योग्य नहीं है. मुझे तुम्हारे इस काम से संताप हो रहा है."

व्याध ने कहा– "आपको संताप क्यों है? यह मेरे बाप-दादाओं से चला आ रहा है. यह मेरे कुल का धंधा है. मैं अपने धर्म का पालन कर रहा हूं."

यह क्या कह रहा है व्याध! कृष्ण ने भी तो यही कहा है "स्वधर्मे निधनं श्रेयो..." छोड़ो, वह ऊंची बात है. मैं भी कहां इस व्याध के बारे में यह सोचने लगा. ब्राह्मण अपने पर झुंझलाया.

व्याध ने कहना जारी रखा– "मैं बूढ़े माता-पिता सहित परिवार का पालन करता हूं, सत्य बोलता हूं, किसी की निंदा नहीं करता, यथाशक्ति दान करता हूं, अतिथि सहित सबको खिलाकर जो बचता है, उसी में निर्वाह करता हूं."

"फिर हत्याएं क्यों करते हो" ब्राह्मण ने पूछा.

"मैं स्वयं कभी हिंसा नहीं करता, दूसरों के मारे हुए पशुओं का मांस बेचता हूं. क्या मैं नहीं जानता कि अहिंसा परम धर्म है! पर जाने किन जन्मों का भोग भोग रहा हूं."

परंतु आगे वह अत्यंत सटीक और व्यावहारिक प्रश्नों की झड़ी लगा देता है... "और हिंसा कहां नहीं होती? किसान जब हल जोतता है तो उसके हल से असंख्य जीवों की हत्या होती है; पेड़ों और वनस्पतियों को काटने में हिंसा है. इस प्राणियों से भरे जगत में जीव-जीव को खाकर पेट भरता है. पृथ्वी पर पांव रखो तो हिंसा, बैठो तो हिंसा, सोओ तो हिंसा,

यहां तक कि अहिंसा को परमधर्म मानने वाले यतियों से भी अनजाने, अनदेखे हिंसा होती है. इन तमाम बातों के बारे में आपका क्या कहना है?''

सर्वं व्याप्तमिदं ब्रह्मन् प्राणिभिः प्राणिजीवनैः।
मत्स्यान् ग्रसन्ते मत्स्याश्च तत्र किं प्रतिभाति ते।।
(208/18)

सत्त्वैः सत्त्वानि जीवन्ति बहुधा द्विजसत्तम।
प्राणिनोऽन्योन्य भक्षाश्च तत्र किं प्रतिभाति ते।।
(208/19)

चङ्क्रम्यमाणा जीवांश्च धरणीसंश्रितान् बहून्।
पद्भ्यां घ्नन्ति नरा विप्र तत्र किं प्रतिभाति ते।।
208/20

अपविष्टाःशयानश्च घनन्ति जीवाननेकशः।
ज्ञान विज्ञानवन्तश्च तत्र किं प्रतिभाति ते।।
(208/21)

अहिंसायां तु निरता यतयो द्विजसत्तम।
कुर्वन्त्येव हि हिंसां ते यत्नादल्पतरा भवेत्।।
(वन-208/24)

ब्राह्ण को लगा कि व्याध कह रहा है कि हिंसा प्रकृति का नित्य धर्म है. आत्मरक्षा और भरण-पोषण के निमित्त हिंसा करना तो किसी हद तक ठीक भी है परंतु अपने दर्प में भरकर हिंसा करना, और शायद धर्म के नाम पर हिंसा करना ही वास्तविक हिंसा है.

'अब तक आपने बगुली जैसे न जाने कितने जीवों की क्रोध से हत्या कर दी होगी और करेंगे. वास्तव में 'अहंकार, क्रोध और आत्म-प्रशंसा कुकर्मों की जड़ हैं' व्याध के अनकहे शब्द जाने कैसे ब्राह्मण को बोले हुए लग रहे थे.

व्याध ने अपने पूरे जीवन का चित्र ब्राह्मण के आगे धर दिया, जिसमें न कहीं अधर्म था न अनैतिकता, उल्टे पग-पग पर धार्मिकता टपकती थी.

कायदे से यह कथा यहीं समाप्त हो जानी थी, पर लगता है व्यास जी को इसी कथा के व्याज से धर्म का सारा तत्त्व बताना था.

जैसे नदी के छिछले पानी में चलते-चलते कोई गहरे पानी में उतरता जाए, वैसे ही यह कहानी तो हंसी-मज़ाक में शुरू हुई थी, पर धीरे-धीरे गहरे धर्म-चिंतन में उतरती गयी. एक-डेढ़ अध्याय की इस कथा को व्यास जी ने पूरे ग्यारह अध्यायों में लिखा. महाभारत में किसी लघुकथा का इतना विस्तार कम ही देखा गया है. अर्थात् वैचारिक दृष्टि से यह कहानी महाभारत की सबसे महत्त्वपूर्ण कथाओं में है.

आगे व्याध ने सत्य के बारे में एक बड़ी ही व्यावाहारिक और मार्मिक बात कही 'यद् भूतहितमत्सन्तं तत् सत्यमिति धारणा'— ''जिससे प्राणियों का अतीव हित हो, वही सत्य है. धर्म स्व-चिंतन का विषय है. अपनी आत्मा को जानना धर्म की कुंजी है.''

(कर्ण पर्व के उनहत्तरवें अध्याय में भी एक कौशिक ब्राह्मण की कथा है जिसने सत्य बोलने के अभिमान और ज़िद में, निरीह लोगों का डाकुओं को पता बताकर,

उनकी हत्या करवा दी!)

व्याध ने आत्म-साक्षात्कार के उपाय भी बताये. ब्राह्मण को लगा पूरी दुनिया जानने का दावा करने वाला मैं अपने को ही नहीं पहचान सका! धर्म की बात करते हुए व्याध, धर्म में छिपे अधर्म पर एक तीखी टिप्पणी करता है जो महाभारत का एक क्रांतिकारी विचार है. वह कहता है– "तिनके से ढके हुए कुओं की भांति धर्म की आड़ में कितने ही अधर्म चल रहे हैं. (आज के लिए यह कथन कितना सटीक है!) धर्मात्मा के वेश में रहने वाले इन अधर्मियों में इंद्रिय संयम, पवित्रता, धर्म-चर्चा आदि सभी गुण देखे जाते हैं, परंतु उनमें शिष्टाचार (सदाचार) अत्यंत दुर्लभ है–

अधर्मो धर्मरूपेण तृणैः कूपा इवावृताः
तेषां दमः पवित्राणि प्रलापा धर्मसंश्लिताः।
सर्वे हि विद्यते तेषु शिष्टाचारः सुदुर्लभः
(वनपर्व 207/59)

धर्म-व्याध एक काव्यात्मक रूपक बांधता है: "यह शरीर एक नदी है, पांच इंद्रियां इसमें जल हैं, काम और लोभ के मगर इसमें भरे हुए हैं, जन्म-मृत्यु के दुर्गम प्रदेश में यह नदी बह रही है. तुम धैर्य की नाव पर बैठो और इन दुर्गम स्थानों को पार कर जाओ."

वह पुनः विस्तार से हिंसा-अहिंसा का विवेचन भी करता है, धर्म की सूक्ष्मता और शुभाशुभ कर्म का उपाय बताता है, विषय सेवन से हानि, सत्संग का लाभ और ब्राह्मणी विद्या का वर्णन करता है. इस तरह नाना विषयों की चर्चा करते हुए धर्म का निर्वचन करता है.

बाद में वह अपने वृद्ध माता-पिता से ब्राह्मण को मिलवाता है. स्वयं उनके चरणों में प्रणाम कर सेवा का साक्षात् प्रमाण देता है. अंत में ब्राह्मण को प्रकारांतर से स्वीकारना पड़ता है कि तुम सच्चे ब्राह्मण हो, शूद्र नहीं–

यस्तु शूद्रो दमे सत्ये धर्मे च सततोत्थितः॥
तं ब्राह्मणमहं मन्ये वृत्तेन हि भवेद् द्विजम्।
(वन 216-14)

(जो शूद्र होकर भी शम, दम, सत्य तथा धर्म का पालन करता है, वही ब्राह्मण है. क्योंकि मनुष्य सदाचार से ही द्विज होता है.)

युधिष्ठिर से भी जब यक्ष ने पूछा था कि 'ब्राह्मणत्व किससे सिद्ध होता है– कुल, आचार, स्वाध्याय या शास्त्र श्रवण से?' तब युधिष्ठिर ने कहा था कि 'ब्राह्मणत्व का हेतु केवल आचार है न कि कुल, न स्वाध्याय, न शास्त्र श्रवण.' यह कहानी भी अंततः इसी निष्कर्ष पर पहुंचती है.

दलित कथ्य पर आधारित यह क्रांति-कथा शूद्र और ब्राह्मण के जातिगत विभाजन का विरोध करती है, साथ ही धर्म के आवरण में छिपे अधर्म पर प्रहार करती है. लगता है कबीर, तुकाराम, बसव, नानक जैसे मध्यकालीन संतों की यह आदिबानी है.

आधुनिक दृष्टि से यह मानवीय वैविध्य और धर्मनिरपेक्ष सोच की प्रेरक कथा है. ☐

हरि मृदुल की कविताएं

करतब

चौड़ी सड़क के किनारे की भीड़ को
उत्सुकता से देखा तो पाया कि
उस्ताद और जमूरा
किस्म-किस्म के करतब दिखाकर
लोगों की वाहवाही पा रहे हैं.

हमने हर करतब पर तालियां बजायी
जब कि हर बार हमारी आंखों में
धूल झोंकी गयी
हालांकि यहां कोई धोखा नहीं था
सिर्फ़ पापी पेट का सवाल था

यूं देखने को मिले हैं इस बीच
ऐसे-ऐसे करतब कि
जैसे हम एक अंधेरी खोह में
ढकेल दिये गये
घटनाओं को इस कुशलता से
पलट दिया गया कि
रात को दिन और दिन को रात
कहा जाने लगा

ऐसी जालसाजी
ऐसी खतरनाक बाजीगिरी
यह देश बाजीगरों और जोगियों का
सच ही है यह मान्यता
हम वाकई हैं इन बाजीगरों
जोगियों के चेले- ये हमारे गुरु

खेल ही खेल में

इक्के के सामने नहीं ठहर सका
बादशाह
बेगम कुछ न कर पायी
बादशाह के सामने
गुलाम नतमस्तक हो गया,
बेगम के आगे
दहला, नहला, अठ्ठा,
सत्ता, छक्का, पंजा,
चौथी, तिक्की
सामर्थ्यवानों के समक्ष
आत्मसमर्पण करते गये
पर कौतुक हुआ
जब अदना-सी लगने वाली दुग्गी
तुरुप बन गयी
और उसके आघात से
बलशाली इक्के तक की
मात हो गयी.

तुमने क्यों कहा कि मैं सुंदर हूं

• मनमोहन सरल

बादलों के ढेर सारे खरगोश इधर-उधर से आकर मेरे देखते-देखते आसमान पर एकाकार हो गये. ताज़ी धुनी हुई रूई के गाले-सा बादल का टुकड़ा हमारी कोठी के ठीक ऊपर से काफ़ी दूर तक घिर गया और सुबक-सुबक कर रोती हुई नयी-नवेली दुलहिन के आंसुओं जैसी रिमझिम बूंदें रिसने लगीं. इस बेवक्त की बरसात से सड़क का आवागमन जैसे क्षण भर के लिए ठिठक गया. पैदल चलने वालों में से कुछ किसी आड़ में रुककर बारिश रुकने की बाट जोहने लगे और कुछ अपने गंतव्य तक शीघ्र पहुंचने के लिए तेज़ चलने या भागने लगे. साइकिलों और ऑटो की रफ़्तार भी पहले से तेज़ हो गयी.

सड़क की पूरी व्यवस्था ही जैसे चरमरा गयी जिसे देखकर मुझे हंसी आने लगी कि कितने कायर हैं ये सब कि पानी की दो-चार बूंदें पड़ते ही ऐसे घबरा रहे हैं कि जैसे कि घुल जायेंगे. यह ज़रूर है कि इस समय मैं बालकनी में खड़ा-खड़ा इस रिमझिम बारिश का आनंद न ले पाने को विवश हूं. डॉक्टर ने तो कमरे से बाहर निकलने तक को मना कर रखा है किंतु बरसात तो सदा से मेरी कमज़ोरी रही है. मूसलाधार बारिश में बिना वजह भीगने का अपना अलग आनंद होता है. बालकनी में खड़े होकर बरसात का आनंद लेने को मैं ऐसा ही समझता हूं कि जैसे कोई नदी के किनारे पर खड़ा रहे और वहीं से नहाने का लुत्फ़ उठाने की सोचे.

बरसात अब तेज़ हो गयी और उसके साथ ही बाहर निकलकर बारिश में भीगने की मेरी इच्छा भी तेज़ी पकड़ने लगी किंतु विवशता मेरे पांवों को जकड़े हुए थी. मन मारकर बस, सड़क पर भीगने वालों को देखने लगा. यह वह वक्त था जब अपेक्षाकृत कम चलनेवाली इस सड़क पर खासी भीड़ हो जाया करती है. यह सड़क एक तरफ कॉलेज और दूसरी तरफ स्टेशन को जाती है. यह वक्त दोनों के लिए ज़्यादा अनुकूल होता है. हमारे इस छोटे शहर में कारें तो सिर्फ़ गिनी-चुनी हैं. ज़्यादातर आमोदरफ़्त साइकिलों और ऑटो से ही होता है. फिर भी ट्रेन का समय होने पर कुछेक कारें दिखायी दे जाती हैं.

कॉलेज जाता हुआ एक लड़का मेरी परिभाषा के अनुसार कायर निकला. मतलब यह कि उसने अपनी साइकिल बारिश से बचाने के लिए सामनेवाली कोठी के पोर्च की

ओर मोड़ ली. यह पोर्च मेरी बालकनी से साफ़ दिखायी देता है. मैंने देखा कि उस पोर्च में एक लड़की पहले से ही आश्रय लिए हुए है. यह लड़का उसे देखकर एक क्षण ठिठका लेकिन वर्षा बढ़ गयी थी, इसलिए कोई चारा न देखकर उसी तरफ़ बढ़ गया. लड़की ने कनखियों से उसे देखा और प्रायः उपेक्षा से दूसरी ओर मुंह कर लिया. लड़का भी उस ओर से तटस्थ बना रहा. लेकिन यह दशा अधिक देर तक नहीं रही होगी, यह मैं अपने अनुभव से कह सकता हूं. एक ही कॉलेज और सम्भव है कि एक ही कक्षा में पढ़ने वाले दो विद्यार्थियों में, जो हमउम्र भी हों ऐसी तटस्थता भला कब तक रह सकती है? उसके बाद क्या हुआ होगा और क्या हो सकता है— यह मुझे केवल अनुमान से नहीं बताना चाहिये बल्कि अपने स्वयं के अनुभव से ही बताना चाहिए क्योंकि ऐसे ही क्षण कभी-कभी किसी के जीवन में सबसे मूल्यवान या सबसे विवादास्पद बन जाया करते हैं. यह वक्त किस तरह बीता होगा, दोनों के बीच कब और किस तरह बातें शुरू हुई होंगी, क्या बातें हुई होंगी यह मैं अपने पर ढालकर सोच सकता हूं. इन दोनों को इस तरह देखकर मैं याद करने की कोशिश करता हूं, उस वक्त को जब मैं खुद भी ऐसे इत्तिफ़ाक से गुज़रा हूं.

बहुत वक्त गुज़रा उस घटना को. कॉलेज़ में, इसी कॉलेज़ में, जिसके विद्यार्थी हैं ये दोनों, पढ़ता था मैं भी. ऐसे ही तो उस दिन भी एकाएक बारिश आ गयी थी. कॉलेज़ के लिए निकला ही था. तब मैं उस उम्र में था, जब अपने शरीर से ज़्यादा कपड़ों का ध्यान रखा जाता है. ढेरों कलफ़ की हुई और ताज़ी धुली हुई कमीज़ और सफेद बलाका-सी पतलून पहने था. सिर मुंडाते ही ओले पड़ने की तरह घर से निकलते ही बारिश आ गयी थी और वह भी मूसलधार. मजबूरन मुझे भी अपनी साइकिल एक पुरानी हवेली की दहलीज़ के भीतर मोड़नी पड़ी. मुझे खड़े-खड़े दो-तीन मिनट ही हुए होंगे कि लेडीज़ साइकिल थामे वीना भी आ पहुंची थी, बारिश से बचने के लिए. एक अजनबी को वहां पहले से ही देखकर थोड़ा झिझकी थी, पर कोई और चारा न देख कर रुक गयी थी. मेरा तब उससे कोई परिचय न था, इसलिए उसकी ओर ध्यान न देकर मैं दूसरी तरफ़ देखता रहा था. सहसा वर्षा और तेज़ हो गयी थी और बौछार फाटक के अंदर तक आने लगी थी. मैं थोड़ा और पीछे खिसका और किवाड़ थोड़ा बंद कर लिया. फिर साइकिल के पैडल पर पांव रखकर आराम से खड़ा हो गया. वीना ने भी लगभग वैसा ही किया.

इस तरह हम लोग पहले की बनिस्बत काफ़ी निकट आ गये और दरवाज़ा बंद होने से सड़क से ओट भी हो गयी. लेकिन फिर भी, कम-से-कम, मैं उसकी ओर से बेखबर था.

खड़े-खड़े काफ़ी वक्त बीत गया, लेकिन बारिश थी कि बंद ही नहीं हो रही थी. मैंने ऊबकर घड़ी देखी, आधा घंटा बीत चुका था. मुझे घड़ी देखे थोड़ा समय ही बीता था कि मुझे सुनायी पड़ा, 'क्या टाइम हुआ आपकी घड़ी में?' उस खामोश फ़िज़ा में जैसे मिश्री घुल गयी.

प्रश्न उसने किया था, लेकिन बिना वजह ही क्योंकि घड़ी तो उसकी नाजुक कलाई पर भी बंधी थी. इस आधे घंटे के बीच यह पहला ही वाक्य था जो मैंने सुना था. अब तक का समय बिल्कुल चुपचाप ही बीता था. बस, एकाध बार हम दोनों ने एक-दूसरे को देखा भर ज़रूर था.

पर अब उत्तर तो देना ही था, इसलिए कहा, ''पौने दस.'' और छिपी नज़र से मैंने उसकी तरफ़ देखा. वह अपनी घड़ी मिलाने का उपक्रम करने लगी.

प्रायः दस मिनट और बीते. बरसात अब भी नहीं रुकी थी. लेकिन मेरे कान में फिर से मिश्री-सी घुल गयी, ''अब क्या बजा?'' मैंने उसकी तरफ तीखी निगाह से देखा. वह अपनी घड़ी वाली कलाई को कान से लगाये थी, जैसे कि दिखाना चाह रही हो कि उसकी घड़ी बंद हो गयी है. मैंने समय बता दिया तो उसने जैसे अपने से ही कहा, पर इस तरह कि मैं भी सुन लूं, ''अरे, तब तो चौथा पीरियड होने वाला होगा.''

''लेकिन कॉलेज तो बंद हो गया होगा.'' मैंने कहा और इस बार मैंने उसे गौर से भी देखा तो सहसा चौंक गया. अरे, यह चेहरा तो कुछ पहचाना हुआ-सा लगता है. कहां, कब देखा, मैं याद करने का प्रयत्न करने लगा. लेकिन मैं किसी नतीजे पर पहुंचूं, उधर से प्रश्न आया, ''कौन से इयर में हैं आप?''

''फोर्थ इयर'' मैंने लापरवाही से ज़वाब दिया और उसकी तरफ़ से बेखबर अपनी यादों की परतें खोलने लगा.

''फोर्थ इयर साइंस?''

''जी हां. सेक्शन बी.'' मैंने प्रायः झुंझला कर उत्तर दिया. झुंझलाहट उसके सवालों की भी थी और उस चेहरे के याद न आ पाने की भी. पर सहसा मेरे मस्तिष्क में कुछ कौंध-सा गया. सहसा ही उसको देखते हुए बोल पड़ा, ''अरे तुम?... आप... आपका नाम...?''

''जी, वीना, वीना मेहरा.'' और निःसंकोच बोली, ''आप प्रमोद को तो जानते होंगे?''

मेरे मस्तिष्क में जो कौंधा था, वह बुझ गया. तो यह कुसुम नहीं है. पर चेहरा तो बिलकुल मिलता है उससे. बस, रंग थोड़ा साफ़ है. पर बड़ी होने पर समय के साथ हो सकता है कि कुसुम का रंग भी निखर गया हो. मुझे तो छह साल पहले की कुसुम की याद है. पर अचरज़ की बात है कि इसका चेहरा हू-ब-हू कुसुम से मिलता है. कोई भी धोखा खा सकता है.

मैं यह सब सोचने में इतना उलझ गया कि मैंने उसका सवाल सुना ही नहीं. उसने फिर पूछा, ''प्रमोद कपूर को नहीं जानते आप? उसी सेक्शन में तो है वह भी.''

''हां, हां. प्रमोद तो मेरा खास दोस्त है. क्यों?''

''मैं उसकी ममेरी बहन हूं. आप?''

मैं उसकी वाचालता पर चकित था. पहली मुलाकात में ही किसी अज़नबी से लड़की इस तरह प्रश्न-पर-प्रश्न किये जाए, ऐसा मैंने पहली बार ही देखा था. बेधड़क अपना परिचय दिये जा रही है और वह भी बिना पूछे. उसकी इस मुखरता पर मैं चौंक गया.

पर बोला, ''प्रमोद से ही पूछ लीजिएगा.''

लेकिन इस पर भी वह रुकी नहीं. बोली, ''कहीं आप विमल जी तो नहीं हैं?''

कोई अपरिचित लड़की आपका नाम बता दे तो आपको अज़ीब-सा नहीं लगेगा क्या? मेरे तो शरीर में झुरझुरी-सी फैल गयी. एक क्षण मैं कुछ भी उत्तर देने की स्थिति में न रहा, फिर बात को टालता हुआ बोला, ''लीजिए, वर्षा रुक गयी.''

लेकिन इस वक्त बारिश अभी तक नहीं रुकी थी. सामने की कोठी के पोर्च में खड़े दोनों विद्यार्थी अब पहले से कुछ अधिक निकट आ गये होंगे और इस बीच दोनों में परिचय का सूत्र भी जुड़ चुका होगा.

कॉलेज का नया सेशन अभी शुरू ही हुआ था, इसलिए कॉलेज में आये नये चेहरे अभी अपरिचित ही थे. वीना भी अवश्य ही इसी साल कॉलेज में आयी होगी. इस बीच प्रमोद से भी विशेष बातचीत नहीं हुई थी, उसने भी कभी वीना के बारे में अब तक नहीं बताया था. इसलिए भी वीना के बारे में कुछ जानना न हो सका था.

वह भी साइंस स्ट्रीम में थी, इसलिए अक्सर आमना-सामना हो जाता था. अगर वह दूसरी लड़कियों के साथ होती तो सिर्फ़ हल्की मुस्कुराहट उछाल कर आगे बढ़ जाती थी. पर जब वह अकेली होती तो हाथ हिलाकर विश करती. उसके ज़वाब में मुझे भी हाथ हिलाकर स्वीकार करना होता. पर हममें कोई बात न होती थी.

पर वह जितनी बार मिलती, उतनी ही उसके प्रति मेरी दिलचस्पी बढ़ती जा रही थी. बारिश के दिन की घटना के समय तो मैं यह महसूस न कर पाया था किंतु जब मैंने इस मुलाकात पर गौर से सोचा तो मुझे लगा कि न जाने क्यों मेरा मन उसको लेकर कितने ही सपने बुनने लगा है. क्यों, यह मैंने जानने की कोशिश में अपने अतीत की परतों को उधेड़ना शुरू किया. अब से छह साल पहले वहां लगभग वीना की ही शक्ल की, सीधी-सादी किंतु प्रकृति में अपेक्षाकृत अधिक गम्भीर कुसुम जो बैठी हुई थी, शायद यही वजह थी कि वीना के प्रति मैं इतना जल्दी आसक्ति अनुभव करने लगा था. वीना को देखकर जैसे एकबारगी मेरे अवचेतन में उसी पुरानी कुसुम का बोध होता था.

उस दिन मैं कैंटीन में बैठा प्रमोद का इंतज़ार कर रहा था कि दरवाज़े पर वीना दिखाई दी. उसने वहीं से हाथ हिलाया जिसके उत्तर में मैंने भी उसे आने का इशारा किया. उसके पास आने पर मैंने उठकर उसका

स्वागत किया. वह सामने वाली कुर्सी खींचकर बैठ गयी.

अपने आप ही बोली, ''आज केमिस्ट्री के सर नहीं आये, इसलिए यह पीरियड खाली हो गया. सोचा कि कैंटीन में ही जा बैठूं.''

''मैं तो कैंटीन कम ही आता हूं.'' मैंने कहा, ''प्रमोद ने यहीं मिलने को कहा था, इसलिए चला आया. और देखो न, वह हज़रत अभी तक आये ही नहीं.''

''कोई बात नहीं, प्रमोद नहीं तो प्रमोद की बहन तो आ गयी.'' कहकर वह हंस पड़ी.

''हां, यह भी खूब हुआ. अच्छा, बोलो, कॉफी चलेगी?'' मैंने पूछा. मुझे अचरज हुआ कि सहसा ही मैं उससे इतना खुल कैसे गया कि 'आप' की जगह 'तुम' का इस्तेमाल कर डाला.

उसने इसको लक्ष्य नहीं किया और बोली, ''हां-हां, क्यों नहीं? मैं ही काउंटर से ले आती हूं.'' और वह दूसरे ही क्षण उठ गयी. थोड़ी देर में वह एक ट्रे में काफ़ी के दो कप रखे चली आयी.

बैठते ही उसने पूछा, ''प्रमोद बता रहा था कि आप कहानियां लिखते हैं.''

''हां, कभी-कभी कुछ लिख लेता हूं.'' मैंने उत्तर दिया.

''कहीं छपती भी होंगी? किस मैगज़ीन में? अबकी बार कोई आये तो बताइएगा. पढ़ना चाहूंगी.''

''ज़रूर.'' मैंने कहा. मेरी बात खत्म भी न हुई थी कि प्रमोद आता दिखायी दिया. ''लो, जनाब आ गये.''

''अच्छा, तो कॉफी पी जा रही है!''

''तू नहीं आया तो क्या करते?''

''मैं तुम्हारे लिए भी ले आती हूं.'' और वीना उठकर काउंटर पर चली आयी.

''तो तुम लोगों का इंट्रोडक्शन हो गया. मैं तो खुद तुम्हें वीना से मिलवाने वाला था. अच्छा हुआ कि तुम लोग अपने आप ही एक-दूसरे से परिचित हो गये. बड़ी ज़हीन लड़की है. इंटरमीडिएट में मेरिट में आयी है.''

''अच्छा.'' मैंने कहा.

तब तक वीना काफी ले आयी थी और फिर बातों का रुख बदल गया. एक दिन अनोखी बात हो गयी. मैं और प्रमोद फिजिक्स लैब की तरफ़ जा रहे थे कि लड़कियों का एक 'कारवां' आता दिखायी दिया. एक क्लास की लड़कियां जब कॉमन रूम की तरफ जातीं या दूसरे कमरे में जातीं तो एक झुंड बनाकर चला करती थीं. हम लड़कों ने इस झुंड का 'टेक्निकल' नाम 'कारवां' रखा हुआ था. वह कारवां जैसे ही मेरे सामने आया तो मैं चौंक पड़ा. नहीं, इस बार मैं गलती नहीं कर रहा था. बिना शक यह लड़की वीना नहीं है, जिसे मैं अब बखूबी जानता हूं. फिर कौन है यह? एक ही शक्ल की क्या तीसरी लड़की भी हो सकती है? नहीं, यह अवश्य ही कुसुम है. कुसुम, जो छह साल पहले स्कूल छोड़कर कानपुर चली गयी थी. मैं लगभग आवेश में चीख पड़ा, ''कुसुम... कुसुम को देखा प्रमोद?''

वह बोला, ''कौन कुसुम?''

''तुम नहीं जानते.''

''तो मुझसे पूछा क्यों? क्या होश ठिकाने नहीं हैं?''

"अरे यार! ऐसी कोई बात नहीं है. श्योरली यह कुसुम ही है— कुसुम शोलापुरकर. मेरे साथ सेविन्थ तक पढ़ी है. तुम तो मेरे साथ नाइन्थ में आये थे. तब मिस्टर शोलापुरकर का कानपुर ट्रांस्फर हो गया था. चलो, ज़रा आगे बढ़कर देख लें कि यह वही है न."

"अब, घंटा शुरू हुए दस मिनट हो चुके हैं. देर से पहुंचे तो वह क्लर्कवा एप्रेटस इश्यू नहीं करेगा. चल, जल्दी चल, फिर किसी दिन मिल लेना. रहेगी तो इसी कॉलेज़ में." और वह लगभग मुझे घसीटता हुआ लैब की तरफ़ ले चला.

मेरा मन एक्सपेरिमेंट करने में नहीं लग रहा था. माइक्रोस्कोप का फोकस नहीं हो पा रहा था, जबकि पूरी क्लास में सबसे शार्प और सबसे जल्दी फोकस मैं ही कर लेता था. आज अचानक कुसुम को देखकर मेरी स्मृतियां सजीव हो गयी थीं और मन था कि यही सोचता कि कैसे जल्दी-से-जल्दी उससे मिला जाए.

उन दिनों मैं नौ साल का रहा होऊंगा. चौथी क्लास में मेरा एडमिशन करा कर बाबूजी मि. क्लाडियस से मेरा ध्यान रखने को कहकर चले गये. मि. क्लास टीचर थे और बाबूजी के परिचित थे. स्कूल में पहलेपहल मुझे बड़ा अज़ीब-सा लगा था. सब कुछ अपरिचित— माहौल भी और विद्यार्थी भी. मेरा मन लगाने का प्रयास करती थी सरोज— कुसुम की छोटी बहन. उन दिनों सरोज मेरी क्लास में थी और कुसुम, मैं उसे जानता न था. उस अनजाने वातावरण में ले दे कर एक ही बात करने वाला बन पाया था— सरोज. इसलिए उससे मेरी खासी मित्रता हो गयी थी.

वे लड़ाई के दिन थे. दूसरा विश्व शुद्ध अपने देश की पूर्वी दहलीज़ पर भी दस्तक देता लग रहा था. अक्सर जब-तब ए.आर.पी. के ब्लैकआउट हुआ करते थे.

एक बार जब हम स्कूल में ही थे कि बताया गया कि ब्लैकआउट होने वाला है और स्कूल की छुट्टी कर दी गयी. कहा गया कि हम जल्दी-से-जल्दी अपने घर चले जायें. मेरा घर उन दिनों स्कूल से काफ़ी दूर था. मुझे पहुंचाने और लेने बाबूजी का चपरासी आया करता था. बेवक्त वह कैसे आ सकता था, इसलिए मैं लाचार था. घबरा गया कि क्या करूं.

मेरी उलझन सरोज भांप गयी और पास आ कर बोली, "अरे, इसमें परेशान होने की क्या बात है? तुम हमारे घर चलो न?"

मैं और क्या चाहता था, चल दिया. मि. शोलापुरकर को स्कूल की तरफ से कम्पाउंड में ही क्वार्टर मिला हुआ था. वहीं पर पहली बार मैंने कुसुम को देखा था. और वह भी कमरे के नमअंधेरे में, क्योंकि सरोज ने ए.आर.पी. की हिदायतों के अनुसार तमाम खिड़कियां बंद करके उन पर भारी परदे डाल दिये थे. वह मुझसे सीनियर थी, इसलिए परिचय करने का साहस कैसे कर सकता था? जब उसे देखा तो लगा कि वह सरोज से एकदम अलग है. मुझे बहुत गम्भीर लगी उस दिन जबकि सरोज तो बेहद चुलबुली थी. बड़ी रिज़र्व भी. शायद वह इसलिए भी

कि वह अपने को मुझसे सीनियर समझती थी. मैं खुद भी उससे बात करने में संकोच अनुभव कर रहा था. एक दूरी-सी लगी मुझे.

लेकिन दो साल बाद यह दूरी अनचाहे ही मिट गयी. अगले साल बाबूजी ने हमें बिजनौर भेज दिया. लड़ाई का डर बढ़ गया था. सुना जाता था कि जापानियों ने कलकत्ता पर हमले की तैयारी कर ली है. आज़मगढ़ फिर कितना दूर रह जाता था! यही सोच कर बाबूजी ने हम सब को वहां से भेज दिया था. किंतु अगले साल तक सब ठीक हो गया. हम लोग बिजनौर में ही थे कि बड़ी धूमधाम से विक्टरी डे मनाया गया था. मुझे आज भी याद है कि किस तरह खूब पटाखे और आतिशबाज़ियां छोड़े गये थे. सारा आसमान रौशनी से भर गया था. हमारा तो गवर्नमेंट स्कूल था. उसमें तो मिठाइयां भी बांटी गयी थीं. फिर हम लोग आज़मगढ़ आ गये थे. मैं इसी स्कूल में आ गया, छठे दरजे में. सरोज पांचवें में रह गयी और जब मैं अपनी क्लास में पहुंचा तो देखा कि कुसुम भी उसी क्लास में है. अरे, मैं चौंका. जब मैं गया था, तब भी वह छठे में ही थी. हुआ यह था कि उन सबको भी गांव भेज दिया गया था. पर उस गांव में तब कोई स्कूल न था, इसलिए उनका एक साल खराब हो गया.

एक दिन सरोज दिखी. उसने कोई रिसपोंस ही न दिया, लगा कि वह मुझे भूल गयी. मेरा भी अहंकार जागा और मैंने भी अपना तरफ़ से कोई बात न की. पर बाद में कभी कुसुम ने बताया कि दरअसल वह अपना एक साल खराब हो जाने से बहुत लगी है, इसलिए नहीं बोली. दुख तो कुसुम को भी था पर उसने मज़बूरी को स्वीकार कर लिया था.

जब मैंने उसे पहली बार देखा था, तब की और अब वाली कुसुम में बहुत फ़र्क दिखायी दिया. उसका रंग भी निखर आया था और शरीर भी भर गया था पर चेहरे जो सारल्य था, वह वही थी. वही तो उसके आकर्षण का मुख्य उपादान था. अब वह कतई गम्भीर न थी बल्कि क्लास में अक्सर बिना बात भी हंसती रहती थी. इसी कारण एक दिन साइन्स टीचर मि. दास ने उसे डांटा भी था. तब वह थोड़ी देर के लिए रुआंसी हो गयी थी पर अगले ही पीरियड में जैसी-की-तैसी.

शुरू-शुरू में हम दोनों में कोई खास बात न हो पायी. चूंकि वह सरोज की बहन थी, हम एक दूसरे पर सिर्फ़ मुस्कान उछाल देते थे या कभी 'हाय, हलो' कह देते थे. पर उसके हाव-भाव से महसूस होता था कि वह मुझसे संवाद स्थापित करना चाहती है.

स्कूल में रिसेस में अंकुए निकले हुए चने दिये जाते थे, जिनमें नमक और काली मिर्च मिले होते थे. शनिवार को उबले हुए चने या कभी-कभी एक अमरूद या केला मिलता था. सबके लिए विद्यार्थियों को लाइन लगानी होती थी. कई बार मैंने लक्ष्य किया कि मेरे पीछे ही खड़ी होने के लिए कुसुम हर चंद कोशिश करती थी.

जब अंकुए वाले चने मिलते थे, तो छात्र उनमें से कुछ बचाकर क्लास में ले आते थे और टीचर की आंख बचाकर वे चने दूसरे

छात्रों पर मिसाइल की तरह फेंकते थे.

एक दिन एक चना मुझे भी आकर लगा. मैंने उस तरफ़ देखा कि जिधर से वह मिसाइल आयी थी. वह चना कुसुम ने फेंका था और वह नज़र बचाकर मुस्करा भी रही थी.

तब तो मैंने कुछ प्रतिक्रिया जाहिर न की, पर छुट्टी होने पर मैं उसके पास गया और बोला, ''कुसुम, यह तुम्हें नहीं करना चाहिए. यह लड़कियों को शोभा नहीं देता.''

''क्यों?'' आंखें तरेर कर वह बोली, ''बड़े दकियानूसी विचार हैं तुम्हारे!'' वह पैर पटकती हुई चली गयी. पर मैंने पाया कि फिर कभी उसने यह हरकत नहीं दोहरायी.

तो यह शुरुआत थी हमारी दोस्ती की.

फिर तो अक्सर हम दोनों को साथ देखा जाता. यहां तक कि अब हम रिसेस में चने लेने वाली लाइन में भी खड़े न होते थे. हमने गार्डन में अकेला झुरमुट ढूंढ लिया था और रिसेस की घंटी बजते ही अलग-अलग रास्तों से वहां पहुंच जाते थे.

और बातें? रोज़-रोज़ क्या बातें हो सकती थीं? ज़्यादातर हमारी चुप्पी ही आपस में संवाद करती. बस, एक-दूसरे का हाथ थामे एक-दूसरे को निहारते रहते. कभी आवेश में मैं उसका हाथ चूम लेता. हम चुपचाप संवाद में इस कदर खोये रहते कि कई बार रिसेस खत्म होने की घंटी भी न सुनायी देती और जब आस-पास की चहल-पहल सूनी लगने लगती, तब भान होता कि रिसेस खत्म हो गयी है. फिर हम अपनी क्लास की ओर भागते. ऐसा लगभग प्रतिदिन ही होता था.

पर भाग्य को हमारा साथ ज़्यादा दिन मंज़ूर न था. अगले साल ही मि. शोलापुरकर का ट्रांस्फर हो गया. किसी तरह वे लोग इस सेशन के खत्म होने तक रुकने वाले थे, जबकि डैडी को जाकर कानपुर अपनी पोस्टिंग ज्वाइन करनी थी.

मुझे ठीक से याद है कि उस दिन रिसेस में जब वह मिली तो असाधारण रूप से चुप थी. उसके चेहरे पर हमेशा खेलती रहने वाली मुस्कुराहट भी गायब थी.

मन एक त्रिकोण में भी उलझ रहा था. कुसुम, फिर वीना और फिर कुसुम– कैसी ऊहापोह है यह अब?

मैंने पूछा कि क्या हुआ तो मेरे कंधे पर सिर रखकर एकदम फफक कर रो पड़ी. बार-बार पूछने पर उसने बताया कि वे लोग इस एग्जाम के बाद कानुपर चले जायेंगे. खबर मेरे लिए भी दुखद थी. मेरी आंखों में भी आंसू छलक आये.

उन छह वर्षों के अंतराल के बाद जब आज उसकी सिर्फ़ झलक देखी तो सब कुछ अचानक याद आ गया. ब्लैकआउट वाले दिन की पहली मुलाकात से लेकर दो वर्ष के सामीप्य वाले क्षण– सब आंखों के सामने घूम गये.

''अबे गामा फंक्शन! किस प्लैनेट की

सैर कर रहा है. अरे, घंटी कब की बज चुका है. कुछ होश भी है कि नहीं?'' प्रमोद ने मुझे झंझोड़ते हुए कहा.

मन हो रहा था कि कुसुम से जल्दी-से-जल्दी भेंट हो जाये. पर क्या यह तुरंत सम्भव था?

लेकिन ज़्यादा इंतज़ार नहीं करना पड़ा. उस दिन मैं क्लास से थोड़ा पहले कॉलेज़ पहुंच गया था. लॉन में चहलकदमी कर रहा था कि किताबें उठाये कुसुम आती दिखायी दी. पास आने पर जैसे ही उसकी निगाहें मुझसे मिलीं, उसके ओठों पर वही चिरपरिचित मुस्कान फैल गयी. उसने दोनों हाथ मिलाकर नमस्ते की और एकदम पास आकर रुक गयी. पहले जैसी आत्मीयता से बोली, ''आप? विमल बाबू, आप अभी तक आज़मगढ़ में ही हैं?''

''हां... पर आप ...तुम कैसे? तुम लोग तो कानुपर चले गये थे न?''

''हां, पर भाग्य में तो शिबली कॉलेज लिखा था और आप से दोबारा भेंट होनी थी.'' और वह खिलखिलाकर हंस दी.

''कौन से इयर में हो?'' अब वह फिर से तुम पर आ गयी.

''फोर्थ इयर साइंस. और तुम?''

''थर्ड इयर आर्टस्.''

तभी घंटा बज उठा. जाते-जाते वह बोली, ''पीरियड शुरू हो गया. चलें? अब तो दर्शन हुआ ही करेंगे.'' और वह हंसी बिखेरती हुई चल दी.

पर दर्शन इतने आसान न थे. साइंस की क्लासेस और लैब एक छोर पर थीं, जबकि आर्टस और कॉमर्स दूसरे विंग में. बीच में खासी दूरी थी और गार्डन से गुज़र कर जाना होता था. हम लोग उस विंग में कम ही जाते थे. हां, कैंटीन और लायब्रेरी ज़रूर उधर ही थी. मुझे यह निश्चित तो हो गया कि कुसुम अब यहीं है. इसलिए अब उस विंग की तरफ़ या कैंटीन जाना भी ज़्यादा होने लगा कि शायद सहसा कुसुम मिल जाये.

पर कुसुम तो नहीं, हां, वीना ज़रूर मिल गयी. मैं कैंटीन में दाखिल हुआ ही था कि सामने ही वीना दिखायी पड़ी. अचरज हुआ कि वह अकेली ही बैठी थी. उस दिन वह कुछ ज़्यादा ही खूबसूरत लग रही थी. मैं उसे एकटक देखता ही रह गया. उसकी टेबुल तक पहुंचा तो उसने 'हाय' कहा और बैठने का निमंत्रण दिया. मैं उसके सामनेवाली कुर्सी खींचकर बैठ गया.

''आज तुमने नये स्टाइल का हेयरस्टाइल बनाया है न?'' मैंने कहा.

''हां, तुम्हें पसंद आया?''

''ग्रेट, इस हेयर स्टाइल में बहुत खूबतसूरत लग रही हो.''

''नहीं तो क्या मैं खूबसूरत नहीं हूं?'' तुनक कर उसने पूछा.

''नहीं, मेरा यह मतलब नहीं था. यह मैंने कब कहा कि तुम खूबसूरत नहीं हो? मेरा मतलब था कि यह हेयर स्टाइल तुम्हें ज़्यादा सूट करता है.''

वह खुश हुई और मुस्कुरा दी.

''यहां आज अकेली कैसे?'' मैंने पूछा.

''अपनी फ्रेंड का इंतज़ार कर रही हूं. वह

लायब्रेरी गयी है, कोई बुक लौटाने. और तुम?''

''मैं प्रमोद को ढूंढ़ रहा हूं. आज उसने प्रैक्टिकल भी अटेंड नहीं किया. सोचा कि लेट हो गया होगा तो कैंटीन में बैठा हो.''

''अरे, वह प्रैक्टिकल तो कभी मिस नहीं करता. कहीं ऐसा तो नहीं कि वह आज आया ही न हो. प्रमोद बता रहा था कि तुम्हारी बचपन की किसी फ्रेंड ने इसी कॉलेज़ में एडमिशन लिया है.''

''हां, कुसुम को जब तुम देखोगी तो चौंक जाओगी.''

''क्यों, ऐसा क्या है उसमें?''

''वह तो जब तुम उसे देखोगी, तभी पता चलेगा.'' मैंने रहस्य को बनाये रखने के ख्याल से कहा और मैं उठ गया, ''मुझे क्लास में जाना है, तुम अपनी फ्रेंड का इंतज़ार करो.''

मैं गार्डन क्रास कर ही रहा था कि कुसुम आती दिखायी दी. मैंने अपनी चाल धीमी कर दी. वह भी गार्डन तक पहुंचकर रुक गयी.

''हाय कुसुम. कैसी हो?'' मैंने उसे देखकर कहा.

''ठीक हूं. आज इधर कैसे?'' उसने स्मिति के साथ कहा.

''पीरियड खाली था, सोचा कि कैंटीन चला जाऊं.'' मैंने झूठ कह दिया और पूछा, ''तुम्हारी क्लास कब है?''

''यह पीरियड खाली था तो सोचा कि गार्डन की हवा का सेवन ही किया जाये.'' वह पहले की तरह हंसती हुई बोली.

''चलो, मैं भी तुम्हारा साथ देता हूं. तुम्हारे लिए तो यह गार्डन नया ही होगा. चलो, एक चक्कर लगा लेते हैं. कैंटीन बाद में चले जायेंगे.''

और हम साथ-साथ चलने लगे.

''छह साल तक कानपुर में ही रहीं क्या?'' मैंने बातों का सिलसिला बढ़ाया.

''नहीं, दो साल बाद पापा का ट्रांस्फर लखनऊ हो गया था. अब तो वे रिटायर भी हो गये तो हम सब यहां आ गये, फॉर गुड.''

''क्यों क्या लखनऊ पसंद नहीं आया?''

''हां, यही समझो. पापा को छोटे शहर में रहना ही पसंद था. हमने यहां मकान भी खरीद लिया है और अब तो यहीं रहेंगे.''

''अच्छा डिसीजन है पापा का. यहां बड़े शहरों जैसी भागमभाग नहीं है. बड़े सुकून की ज़िंदगी है यहां. चलो, यहां बैठते हैं थोड़ी देर.'' और एक बेंच की तरफ़ इशारा करके मैंने कहा.

कुसुम ने इधर-उधर देखा और बैठ गयी. दो छायादार पेड़ों के बीच में थी वह बेंच, जिनकी वजह से कॉलेज के बरामदे आड़ में हो जाते थे.

''यह जगह देखकर कुछ याद आया कुसुम?'' मैंने पूछा.

वह शरमाकर नीचे देखने लगी.

मैंने फिर कहा, ''इन छह सालों में क्या तुमने कुछ मिस नहीं किया कुसुम?''

इसका उत्तर भी उसने नहीं दिया. बस, नीचे देखकर मुस्कुराती रही.

''बोलो न कुसुम? क्या इस बीच मेरी बिल्कुल याद नहीं आयी?''

"ऐसा हो सकता है भला? वे तमाम साल बराबर याद आते रहे. पर इस स्थिति पर कोई वश न था." फिर हौले से मेरा हाथ थाम कर बोली, "अब तुम उन दिनों की बात मत करो. जो बीत गया, उसको अब याद करने से क्या फायदा?"

"कोई नये दोस्त नहीं बनाये इस बीच?"

"नहीं, किसी से रिश्ता बनाने का मन नहीं होता था."

मैंने विषय बदलने के उद्देश्य से पूछा, "और सरोज का क्या हाल है? क्या वह इस कॉलेज में नहीं आयेगी?"

"नहीं, वह तो अमेरिका में है."

"ग्रेट! लेकिन कैसे?"

"लखनऊ में उसने हॉस्पिटेलिटी का कोर्स किया था. क्लार्क अवध में इंटर्नशिप कर रही थी कि उसे कनेक्टिकट का एक स्कॉलरशिप मिल गया."

"अरे, उसकी तो लाइफ ही बन गई." मैंने कहा.

"हां, अब तो शायद ही वह भारत आये."

"शायद," वह बोली, "मन तो नहीं हो रहा पर क्लास में तो जाना ही पड़ेगा. फिर मिलेंगे." और हम दोनों ही उठ गये. वह अपने विंग की तरफ़ और मैं दूसरी ओर चल दिया.

रास्ते भर मैं सोचता रहा, उन दिनों के बारे में. मन एक त्रिकोण में भी उलझ रहा था. कुसुम, फिर वीना और फिर कुसुम- कैसी ऊहापोह है यह अब? साथ ही एक बड़ी दिलचस्प कुतूहल भी था कि जब दोनों आमने-सामने होंगी, तो दोनों की क्या प्रतिक्रिया होगी.

और वह क्षण भी आ गया. मैं कुसुम का हाथ थामे उस दिन गार्डन से निकला ही था कि सामने ही वीना मिल गयी. हमें देखते ही खुद-ब-खुद बोली, "तो यह है तुम्हारा पुराना लव इंटरेस्ट?" वीना की बात से कुसुम एकदम हतप्रभ रह गयी. उसने मेरा हाथ छोड़ दिया. मुझे भी वीना का इस तरह बोलना अच्छा नहीं लगा फिर भी बोला, "नहीं, वह बात नहीं, हम पुराने दोस्त हैं. वीना, इनसे मिलो, यह है कुसुम, थर्ड इयर आर्टस. और कुसुम, यह वीना, थर्ड इयर साइंस."

कुसुम ने नमस्ते के लिए हाथ जोड़ दिये. ज़वाब में वीना ने 'वेलकम' तो ज़रूर कहा, पर उसकी नज़र का रूखापन साफ़ ज़ाहिर हो रहा था. मैंने उसके व्यवहार को नज़रअंदाज़ कर दिया पर कुसुम खुद को बहुत असहज महसूस कर रही थी इसलिए अपनी क्लास होने की बात कहकर वहां से चली गयी.

उस पर बिना ध्यान दिये ही मैंने कहा, "था न यह सरप्राइज़ तुम्हारे लिये वीना! तुम दोनों की शक्ल कितनी मिलती है कि जैसे दोनों जुड़वां बहनें हों."

"मैं क्यों होने लगी इसकी बहन!" मुंह बिचका कर बोली वीना.

"बहन न सही, पर तुम दोनों की शक्ल तो बिलकुल मिलती है." मैं अपनी रौ में ही कहता रहा.

"एकदम तो नहीं." वह बोली और वह पैर पटकती हुई वहां से चली गयी. मैं उसे देखता ही रह गया.

इस दिन के बाद हर दूसरे-तीसरे दिन वीना से सामना होता रहा किंतु उसने कभी स्माइल भी न दी. मेरे हाथ वेब करने पर भी कोई प्रतिक्रिया न दी. इस दौरान तीन-चार बार जब मैं कुसुम के साथ गार्डन से निकल रहा था, वह सामने पड़ गयी. उसने हमें एक उचाट नज़र से देखा पर रास्ता बदल कर निकल गयी.

पर उस दिन जब मैं केमिस्ट्री लैब से निकल रहा था, वीना सहसा टकरा गयी. पास आकर पूछा, ''तुम्हारे लेकचर्स खत्म हो गये?'' मैंने सिर हिलाकर इशारा किया. वह बोली, ''मेरी भी अब क्लास नहीं है. चलो, स्टैंड से साइकिल ले लेते हैं. फिर घर चलते हैं.''

दोनों ने अपनी-अपनी साइकिलें ले लीं और कॉलेज से निकल पड़े. वीना ने कहा, ''चलो, टौंस चलते हैं. थोड़ी देर नदी किनारे टहलेंगे. क्यों ठीक है न?''

मैं क्यों मना करता?

रास्ते में कोई बात न हुई. नदी किनारे एक छोटा-सा पार्क बना दिया गया है, जहां से नदी का नज़ारा देख सकते हैं. हम अपनी-अपनी साइकिलें खड़ी करके एक बेंच पर बैठ गये.

''यह अच्छा इंतज़ाम कर दिया गया है.'' मैंने कहा.

''हूं'' वह बोली, फिर कहा, ''जब से कुसुम आयी है तुम्हारे पास मेरे लिए वक्त ही नहीं रह गया है.''

''नहीं, ऐसी बात नहीं है.'' मैं और क्या कहता? 'मैंने बताया न कि वह मेरी बचपन की फ्रेंड है.' ''हां, यही मैं कहना चाह रही हूं. जिस उम्र में तुम दोनों मिले, उस उम्र में प्यार नहीं हो सकता, सिर्फ मोह होता है एक-दूसरे के लिए. एक उम्र होती है, जिसमें प्यार का जज़्बा पैदा होता है. जब हम दोनों मिले थे, तो वह उम्र थी कि हममें प्यार पनप सकता था. तुम्हारे व्यवहार से साफ़ लगता है कि मेरे लिए तुममें आकर्षण पैदा ही इसलिए हुआ कि मेरी शक्ल कुसुम से मिलती थी. पर जब आकर्षण प्यार बन जाता है तो शक्ल गौण हो जाती है. मानते हो न?''

''हां, पर कुसुम मेरा पहला प्यार है.''

''प्यार नहीं, वह सिर्फ़ तुम्हारा इनफेटुएशन है, मोह है.''

''नहीं, मैं नहीं मानता कि यह सिर्फ़ मोह है?'' मैंने कहा.

''जो भी हो, साफ़ क्यों नहीं कहते कि तुम कुसुम को छोड़ नहीं सकते?''

''पर मैं तुम्हें खोना भी तो नहीं चाहता, वीना.'' मैंने ज़ोर देकर कहा.

''लेकिन तुम मुझे पाना भी तो नहीं चाहते.''

मैं एक क्षण को निरुत्तर हो गया और चुप रहा. कुछ देर बाद बोला, ''अच्छा एक बात बताओ कि क्या कोई दो व्यक्तियों से आत्मीयता नहीं रख सकता?''

''ज़रूर, पर वे सिर्फ़ दोस्त हो सकते हैं, दोस्त से ज़्यादा नहीं.'' वह तैश में उठ खड़ी हुई और तेज़ कदमों से अपनी साइकिल की तरफ बढ़ गयी. मैं उसे आवाज़ देता रह गया पर वह रुकी नहीं. जाते-जाते बोल गयी, ''पर मैं इतनी जल्दी हार मानने वाली नहीं हूं.''

"मैं अवाक् रह गया और भीतर-ही-भीतर डर भी गया. दो दिन बाद ही उसका रूख सामने आ गया. उस दिन हम गार्डन से निकल रहे थे कि वह सामने पड़ गयी. मैंने उसे देखकर हलो कहा पर उसका ज़वाब न देकर वह तेज़ी से मेरी ओर बढ़ आयी. आते ही बोली, "तुम मुझे पिछले साल के नोट्स देने वाले थे, लाये क्या?"

मैं स्तम्भित-क्योंकि उसने कभी मुझसे नोट्स लाने को कहा ही न था.

इसके बाद जब भी मैं कुसुम के साथ होता तो वह न जाने कहां से अक्सर अवतरित हो जाती और किसी भी सच्ची-झूठी बात पर उलाहना देती. इस तरह वह कुसुम के सामने मुझे झूठा साबित करना चाहती, या कुछ और, यह मैं आज तक न जान पाया. यह अब अकसर होने लगा था.

उम्मीद नहीं की थी कि वीना इस तरह की हरकतें भी कर सकती है. उसके लिए हमेशा मेरे मन में बड़ा कोमल-सा मुकाम बना हुआ था, इसलिए मुझे दुख भी हुआ कि उसका प्रतिशोध दिन-पर-दिन उग्र से उग्रतर होता जा रहा था. बाद में तो उसने हद ही कर दी, जब उसकी आक्रामकता की आंच कुसुम तक पहुंचने लगी. यहां तक कि उसने प्रोक्टर से शिकायत तक कर दी कि वह क्लास बंक करती है और गार्डन में बैठी रहती है.

मेरा बी. एस्सी. पूरा हो गया था. इच्छा थी कि एम.एस्सी.करूं पर इस बीच कुछ बातें ऐसी हो गयीं कि मनचाहा कुछ हो न पाया. कुसुम ने तंग आ कर कॉलेज बदल लिया और पापा की ज़िद के आगे मुझे झुकना पड़ा. वे चाहते थे कि मैं कानपुर जाकर एचबीटीआई से कैमिकल टेक्नालॉजी की डिग्री लूं. यों भी मेरा मन उस कॉलेज़ में अब लगने वाला नहीं था.

तीन साल बाद जब लौटा तो न कुसुम का कोई पता लगा और न वीना का.

फिर तो मैंने वह शहर ही छोड़ दिया और एक बड़ी मल्टीनेशनल में नौकरी कर ली. पर वहां भी एक भयंकर हादसा हो गया. ज़हरीली गैस के रिसाव से शहर के सैंकड़ों लोग मारे गये और गैस प्रभाव से हज़ारों तरह-तरह की बीमारियों से ग्रस्त हो गये. उस रात मैं प्लांट की देखरेख पर था, इसलिए मेरे फेफड़ों में वह ज़हर घुस गया. कम्पनी ने मुझे इलाज़ के लिए अमेरिका भेजा. साथ ही मुआवजे के बतौर बड़ी रकम दी गयी. इसलिए भी कि उस हादसे की वजह और मैनेजमेंट की लापरवाही का मैं ही चश्मदीद गवाह था और यह इस रहस्य को छिपाये रखने की कीमत भी थी.

"अरे, तुम यहां हो?' मीता ने हड़बड़ा कर कहा." "तुम्हें तो डॉक्टर ने बिस्तर से उठने को मना कर रखा है और तुम बालकनी में खड़े हो. कहीं बरसात की हवा से इनफेक्शन हो गया तो?"

"सॉरी मीता! पर क्या करता भीतर मन नहीं लग रहा था."

सचमुच मन तो अब लगता ही नहीं. खासकर तब, जब सब पुरानी बातें याद आ जायें. ☐

वेदोऽखिलो धर्ममूलम् । वेदो नित्यमधीयताम्
वेदाः वयं वः शरणं प्रपन्नाः । वेदा ये नः परं धनम् ॥

अद्वैत विद्याचार्य महाराज साहेब

श्री गोविन्द दीक्षितर पुण्य स्मरण समिति (पंजीकृत)

'श्री गोविंद दीक्षिता घटिका स्थानम' 29-30, ईस्ट अयन स्ट्रीट,४ कुम्बकोणम्, थंजावुर जिला, तमिलनाडु-612001 भारत. टेली नं. (0435) 2425948, 2401789, पाठशालाः 2422866, 2401788, Email: rajavedapatasala@dataone.in, Website: www.rajavedapatasala.org

वेद और शास्त्र निहित धरोहर को प्राचीन पारम्परिक गुरुकुल प्रणाली द्वारा सुरक्षित रखने के लिये निवेदन

राज वेद काव्य पाठशाला, कुम्बकोणम् की स्थापना ई.स. 1542 में तीन नायक राजाओं के प्रधानमंत्री **संत अद्वैत विद्याचार्य महाराजा साहेब भगवान श्री गोविन्द दीक्षितर** ने की। यह थंजावुर स्थित पवित्र कावेरी नदी के दक्षिणी तट पर स्थित है। जिसका उद्देश्य है वेदों और शास्त्रों का प्रचार-प्रसार। यह तमिलनाडु क्या पूरे भारत वर्ष में एकमात्र पाठशाला है, जो बिना किसी रुकावट 470 वर्षों से कार्यरत है. यहां निर्धारित पाठ्यक्रम के तहत तीनों वेद-ऋग्, यजु (शुक्ल और कृष्ण) तथा सामवेद की शिक्षा एक ही संकुत के नीचे 8-10 वर्ष के बाल-विद्यार्थियों को दी जाती है। यहां 170 विद्यार्थियों को छह से दस वर्ष तक प्रशिक्षण दिया जाता है। आवास-निवास, खान-पान, यात्रा व शिक्षा की सुविधा आदि समिति अपनी ओर से मुफ्त में करती है। इन विद्यार्थीओं को पाठशाला के 20 वरिष्ठ अध्यापकों के सान्निध्य में वेद-शास्त्रों की शिक्षा दी जाती है. वैदिक शिक्षा की सफल समाप्ति पर उन्हें वेद व शास्त्रों की उच्चतर शिक्षा के लिए पाठशाला के विद्वान अध्यापकों द्वारा प्रोत्साहित किया जाता है.

पाठशाला की इन सब गतिविधियों पर होने वाले बढ़ते व्यय के निरूपण हेतु कांची के कामकोटि मठ के श्री जयेंद्र सरस्वती स्वामिगल द्वारा दि. 21-6-2004 को नवनिर्मित पाठशाला भवन श्री गोविंद दीक्षितर घटिका स्थानम् (13,500 वर्ग फीट) को वैदिक विद्यार्थियों हेतु समर्पित किया गया।

पाठशाला के बढ़ते हुए खर्च की समस्या कम करने हेतु निम्नलिखित योजनाओं के अंतर्गत अनुदान का स्वागत है, कृपया अपना फ़ोन नंः(STD कोड के साथ) मोबाइल नम्बर / इ-मेल पता व पिन कोड अवश्य लिखें.

योजना का नाम	अनुदान (आंशिक व्यय)	स्थाई अनुदान
वैदिक विद्यार्थी भोज (समाराधना)		
घरेलू भोजन	रु. 700/-	रु. 9000/-
विशेष समाराधना	रु. 2500/-	रु. 30,000/-
चावल और दाल हेतु - (75 किलोग्राम)	रु. 1600/-	रु. 20,000/-
वेद (शिक्षा एवं संक्षण हेतु) प्रति विद्यार्थी	रु. 12,000/- प्रतिवर्ष	रु. 1,50,000/-

अनुदान क्रास चेक, डी.डी. **'ए.वी.एम.एस.जी.डी.पी.एस. समिति'** के पक्ष में 'कुम्बकोणम्' पर देय होना चाहिए। पत्राचार हेतु उपरोक्त पते पर अध्यक्ष एवं कोषाध्यक्ष से सम्पर्क करें।

प्रज्ञापिता धर्मवीर भारती

• प्रेमकुमार

4 सितम्बर 1997 अर्थात आज से पंद्रह साल पहले हमारे समय के शीर्षस्थ रचनाकारों में से एक डॉ. धर्मवीर भारती का देहावसान हुआ था. साहित्य और पत्रकारिता के नये प्रतिमान गढ़ने वाले भारतीजी को समझने का एक आयाम यह भी है– उनकी बेटी से उनके बारे में जानना.

डॉ. धर्मवीर भारती का स्टडी रूम. उनके बैठने-काम करने वाली कुर्सी पर बैठा मैं. मेरे साथ सामने बैठी उनकी गुड़िया- प्रज्ञा भारती. तन्वंगी, चुस्त-फुर्तीली. विनम्र, सौम्य, शांत-सी! सफ़ेद चूड़ीदार के साथ प्रिंटिड कुर्ता. चश्मे के शीशों के पीछे से खूब बतियाती-हंसती-सी बड़ी-बड़ी आंखें. मैं असहज था, चमत्कृत भी. प्रज्ञा अपने पांच साल के प्यारे, चंचल-से बेटे अक्षत को नानी के साथ दूसरे कमरे में जाकर खेलने के लिए मनाने समझाने में लगी थीं. मैं तय नहीं कर पा रहा था कि प्रज्ञा से बातचीत की शुरूआत किस सवाल से की जाए. तलाश के क्रम में मुझे ज़रा पहले कहे गये पुष्पा भारती जी के कुछ वाक्य ही बार-बार ध्यान आये जा रहे थे– 'मेरी हालत उस समय अच्छी नहीं थी. कैसे वो सब व्यवस्था हुई मुझे कुछ नहीं मालूम. यही उचित समझा गया कि किंशुक के अमेरिका से आने तक का इंतज़ार न किया जाए. मेरी मां के व्यक्तित्व में एक लौहतत्त्व था. शायद वही तत्त्व जींस के द्वारा मेरी पुत्री में भी आया होगा. उसने अभूतपूर्व साहस का परिचय दिया और अपने पिता को मुखाग्नि दी.'

लेकिन हुआ यह कि सोचे-विचारे या तलाशे-तय किये ने तब ज़रा-सा-भी तो सहारा नहीं दिया. बातचीत की शुरूआत प्रज्ञा भारती के सवालों से हुई, उनके बताने से हुई. अभी तक की उनकी बातचीत में आटे बराबर अंग्रेज़ी और नमक बराबर हिंदी को देख-सुनकर मैं पूछना चाहता था– पर उन्होंने पहले ही बता दिया कि उन्हें अंग्रेज़ी प्रिय रही है– और वो अंग्रेज़ी की ही पत्रकार-सम्पादक हैं. बातचीत की बात आयी तो बड़े सहज-भोले ढंग से पूछा- 'आप क्या जानना चाहते हैं मुझसे?' उनके सवाल ने अचानक एक बड़े से दबाव और अज़ीब-सी एक

दुविधा के बीच ला खड़ा किया था मुझे. ज्यों-त्यों कह पाया- 'मैं भारती जी को उनकी बेटी के माध्यम से जानना चाहता हूं...'

बोलना शुरू करने के पहले का असमंजस मुद्राओं में भी था और वाक्यों में भी– 'जहां तक डैडी का सवाल है तो प्रेक्टिकली भी और इन रीयल भी- मम्मी इज़ माई मदर एंड डैडी बोथ. नहीं- सब फैमिली में ऐसा नहीं होता. हम सब बच्चों को मम्मी ने शुरू में ही समझा दिया था कि तुम्हारे डैडी क्रिएटिव पर्सन हैं. उनका लक्ष्य 'धर्मयुग' है और हमें उन्हें हर तरह से सपोर्ट करना है. मम्मी ने इतना रेस्पेक्टिड बनाकर रखा था डैडी को कि हमारे मन में किसी तरह का कोई रिसेंटमेंट कभी आया ही नहीं. आज के बच्चों को देखती हूं– अपनों को भी- हर बात पर सवाल कि डैडी अवेलेबिल क्यों नहीं हैं. हमारे कामों में डैडी ने अपना रोल बहुत अच्छी तरह पूरा किया. ज़रा बड़े होते ही कह दिया था– आप कुछ भी करना, मेरा सपोर्ट हमेशा तुम्हारे साथ रहेगा. उनका ये नहीं था कि हम लड़कियां हैं तो पहले हमारी शादी के बारे में सोचें. उनके मन में लड़का-लड़की का डिस्क्रिमिनेशन नहीं था. जब कपड़ों की बात आती तो मम्मी कहती कि इसके लिए चूड़ीदार खरीदेंगे- तो वो कहते, अरे, ये क्या पहनाओगी इसे. ये टॉम ब्वॉय है, जींस टॉप पहनाओ! खुद जाकर ले आते और कहते- बेटा मैं ये ले आया हूं.'

'खाने-पहनने में ही नहीं वैसे भी कभी फ़र्क करके नहीं देखा. मेरी सिस्टर ने टीचर की ट्रेनिंग की– टीच किया. मैंने 'फेमिना' ज्वाइन किया. अगर हम और भी आगे वर्षों तक पढ़ते रहने की कहते तो डैडी हमें रोकते नहीं. उन्होंने हमेशा यही कहा– 'आगे जो करना है करो! हम साथ हैं! खुश रहो!' हम लोगों ने अपनी ज़िंदगी में आगे का जो कुछ भी तय किया, वह नौकरी के बाद किया. अपना कहा डैडी ने हमेशा निभाया और मम्मी तो आजतक निभा रही हैं. आपको तो यह पता है कि मैंने डैडी को मुखाग्नि दी थी...? जी- मुखाग्नि मैंने ही दी थी.

डैडी का यह एक बहुत अच्छा पक्ष था कि कभी ऐसा नहीं लगता था कि वो कुछ सिखा रहे हैं या उपदेश दे रहे हैं. हमारे बचपन में उन्होंने हम बच्चों के लिये अलग-अलग कैरेक्टर्स क्रिएट कर लिये थे. मेरे लिए दुलदुल का कैरेक्टर तय किया था. जब कुछ कहना-बताना होता तो कहते- 'चलो भई, आज दुलदुल के साथ सवारी करेंगे तारों की. ये तारा ऐसा होता है... वो ऐसा... इसका ये नाम... उसका वो. इसी तरह तमाम दुनिया की बातें... नॉलिज...' सच में यूनीक थे मेरे डैडी. यस-यूनीकनेस एवरी वे. वैरी हम्बल पर्सन! हमेशा ज़मीन पर पैर! हमसे कहते– अपना अस्तित्व हम बनाते हैं बेटा, कितनी भी बड़ी हो जाओ- काम पर तुम होगी चीफ़ एडीटर, पर घर में अक्षत की मम्मी हो. अंशुमान की मम्मी हो. ये सब सिखाया उन्होंने हमें. पैसे का उन्हें ज़रा भी कुछ नहीं था. क्या नहीं था तब हमारे पास-सबकुछ था. पर उन्हें देखकर हम सब आम ज़िंदगी जीते थे. बचपन की वह सीख, वह अभ्यास ही तो वह कारण है कि हम सब

तरह से रह सकते हैं, जी सकते हैं. मैं ट्रेन, कार, बस, रिक्शा, ए.सी. गाड़ी- किसी में भी चल सकती हूं. ब्रांड या स्टेटस कांशियसनेस- नहीं, मुझे फ़र्क नहीं...

कुछ अटकती-मंद होती सी वह आवाज़ अब मौन हो गयी थी. वजह जानने को निगाह उठी तो दिखा कि प्रज्ञा आंखें बंद किये स्थिर हुई सी बैठी हैं. दिपदिप करता-सा चेहरा. ओंठ बाआवाज़ हिल पड़ने को बेताब-से. अब प्रज्ञा की वह बच्चों जैसी दूधिया, खिलखिलाती हंसी साफ़-साफ़ सुनाई देने लगी थी— '...डैडी वाज़ ए रीअल लाफ्टर... दिल खोलकर हंसते थे. इस समय जब आंख बंद कर उन्हें याद कर रही हूं तो यही तस्वीर बन रही है उनकी, उंगलियों के बीच दबा सिगार और बहुत प्यारी हंसी हंसते हुए वे... हंसते थे तो पूरा शरीर हिलता था. जी-दिल से-जिसे अंदर की हंसी कहते हैं न... यह और कि दूसरों को भी हंसाना.

आवाज़ ज़रा-ज़रा भारी और काफ़ी कुछ मंद हो चली है— 'दूसरों को— जब वो गुज़रे तो यहां की लोकेल्टी के सब्जी, पान, फल आदि बेचने वाले आकर पैर छू-छूकर गये थे. वे लोग कह रहे थे कि हमें मालूम नहीं था कि वो इतने बड़े आदमी थे. डैडी अक्सर उन लोगों के पास जाते थे. उन्हीं की भाषा में उनके दुख-दर्द की बात करते थे. उनके जीने के अंदाज़ की भाषा में उनके दुख-दर्द की बाते करते थे. उनके जीने का अंदाज़ था यह! हैप्पी-हैप्पीनेस बटोरते थे, बांटते थे. बहुत पॉजीटिविटी थी उनमें...

'क्या कभी उदास-बहुत उदास भी देखा था अपने डैडी को?

लम्बी चुप्पी. बौद्धिक-सी गम्भीरता. दीर्घ-सी एक सांस. आहिस्ता-आहिस्ता कहना शुरू हुआ— 'हां, देखा है. अनेक बार देखा है. आज लगता है कि डैडी जब लिखते होते थे... तो वो जो प्रोसिस होता है... लेबर पेन जिसे कहते हैं... तो शायद वैसा कुछ होता होगा वो. बिल्कुल ठीक कह रहे हैं आप. सच है कि मेरे बहन-भाई डरते थे पर मैं ही एक सिर्फ़ दबंग, महादबंग थी जो उनके स्टडी रूम में घुस आती थी. मैंने उन्हें लिखते देखा— कभी उदास, कभी मौन, कभी टहलते रहते, कभी बाहर देखते, कभी गाना गुनगुनाते. डायनिंग टेबिल पर भी बैठे होते तो मालूम हो जाता था कि दिमाग में कुछ चल रहा है. जे. पी. की मृत्यु के बाद काफी हिले दिखे थे... और बहुत दिनों तक उदास रहे थे. वैसे भी जब कोई बड़ा इश्यू होता या पोलिटिकल अथवा इकोनॉमिकल सीन में कुछ ऐसा-वैसा कुछ होता तो बहुत अपसेट होते.

कब जाना कि आपके डैडी एक बड़े रचनाकार हैं? जब जाना तो कैसा क्या किया?

प्रसन्नता व्यक्त करती-सी मुस्कान! आह्लादित से शब्द! कूकती-सी आवाज़ और खुद पर अचम्भित होती-सी वह दृष्टि- 'बहुत दिनों तक हमें पता ही नहीं था कि डैडी की लिटरेचर में क्या हैसियत है या वो इतने बड़े एडीटर हैं. घर में मम्मी-पापा से ऐसा कुछ कभी सुना नहीं था! और सबके पापा की तरह हमारे पापा भी आते-जाते. घर में लोगों का आना-जाना लगा रहता था. हमें

पता नहीं होता था कि आने वालों में कौन क्या है या कितना बड़ा नाम है उसका. अब जैसे रजनीश जी घर आये तो बस हमसे इतना कहा जायेगा, नमस्ते करो बेटा, अंकल हैं.' इससे आगे कुछ नहीं. हां, जब उनके बड़े लेखक होने को जाना-तब करीब सोलह वर्ष की थी मैं. ग्याहरवीं क्लास में. एक दिन हिंदी टीचर ने आवर ऑथर का इंट्रोडेक्शन देना शुरू किया तो देखा अरे, यह तो डैडी का चैप्टर है! तब मेरी आंखें फटी की फटी रह गयी थीं कि अरे, डैडी इतने बड़े ऑथर हैं...

बेटी एवं नाती के साथ भारतीजी

धर्मवीर भारती जैसे लेखक की बेटी होने के लाभ...? आठ-दस सैकिंड तक कुछ नहीं कहा गया. माथे पर एक लकीर-सी खिंचती दिखी. चांदी के वरक की मानिंद अंगुली भर मुस्कान ओढ़े हूंऽऽ की लम्बी-सी एक आवाज़ सुनाई दी. नहीं मालूम क्यों- पर लगा कि जैसे उस 'हूं, में यह अर्थ भी सन्निहित था कि अगर आपने मेरे डैडी को जाना होता तो ऐसा यह सवाल पूछा ही न होता. मेरे सवाल में के कुछ शब्दों को दोहराते हुए शुरूआत की है बोलने की- 'उनकी बेटी होने के लाभ...? डैडी इतने प्रिंसिपल वाले थे...' बोलना पूर्व की भांति सहज प्रवाही नहीं हो पा रहा है शायद— 'उनके सेक्रेटरी की बहन टेंथ में मेरी ही क्लास में थी. जब कॉलेज में एडमीशन की बात आयी तो डैडी ने उसका नाम रिकमेंड किया. मेरे लिए कहा कि तुम्हारे जैसे मार्क्स आयें, उस आधार पर देखना. हममें उन्होंने यही संस्कार डाला था कि तुम अपनी योग्यता के बल पर आगे बढ़ो.'

कितने हो लेखकों के साथ यह हुआ कि उनकी संतानों ने उनका लिखा नहीं पढ़ा. आपकी यह पृष्ठभूमि, अंग्रेज़ी में ऐसी रुचि, अंग्रेज़ी की यह पत्रकारिता. लगता नहीं है फिर भी पूछ रहा हूं— 'आपने भारती जी का लिखा क्या उतना पढ़ा है?'

अद्‌भुत-सा जोश, अनुपम-सा गर्व आ मिला था बोलने के अंदाज़ में— 'मैंने... उनकी मोस्ट ऑफ द बुक्स... जी— अंधायुग, ठंडा लोहा, कनुप्रिया... और भी...'

इसका मतलब भारती जी का कवि आपको अधिक पसंद है?

'जी-पोयट्री बहुत पसंद है... इसलिए कि उसमें बहुत जोश है, टैलेंट है. उन्होंने रोमांस

को जिस तरह ब्यूटीफुली इंटलेक्चुलाइज़ किया है— वो मुझे बहुत पसंद है.'

उम्मीद थी कि पहले आप 'गुनाहों का देवता' की बात कहेंगी... पर... आपने उसे पढ़ा तो होगा ही?

क्यों नहीं पढ़ा? पढ़ा है न. पोयट्री पसंद होने का अर्थ यह नहीं कि... हमपर बचपन में अपनी पसंद का पढ़ना नहीं थोपा मम्मी या डैडी ने! छोटी थी मैं तो 'चंदा मामा', 'नंदन' जैसी मैग्ज़ींस चाट जाया करती थी. बड़ी हुई तो अंग्रेज़ी के नॉविल्स पढ़ने लगी. डैडी ने जब देखा कि मेरी रुचि अंग्रेज़ी में है तो अपनी लायब्रेरी से मुझे अंग्रेज़ी की बुक्स देने लगे. बिल्कुल... 'गुनाहों का देवता' को पढ़ने से पहले इतना तो हम जानते ही थे कि इस नॉविल और डैडी का नाम एक दूसरे से बेहद जुड़ा है. ...याद आता है कि मम्मी ने दिया होगा... पर यह अच्छी तरह याद है कि तब मैं उन्नीस बरस की थी. एक दिन हुआ यह कि मैं खाने के समय मेज़ पर नहीं पहुंची. मम्मी तलाशती हुईं मेरे पास तक आयीं. उन्होंने देखा कि मैं किताब पढ़े जा रही हूं... रोये जा रही हूं.. रोये जा रही हूं. जी— 'गुनाहों का देवता' ही तो था तब हाथ में. शुरू में तो बोरिंग...'

बोरिंग-गुनाहों का देवता. यह बात भारती जी की बेटी कह रही है! अलग-अलग उम्र और पीढ़ी के अनगिन लोगों से इस उपन्यास के बारे में न जाने क्या क्या सुना है पर बोरिंग, ऐसा यह तो पहली बार ही सुन रहा हूं. चकित हुई-सी मेरी दृष्टि ने प्रज्ञा के चेहरे पर के भावों को बांचने भांपने की एक कोशिश की- [illegible] उस चेहरे पर केवल एक सरल हंसी थी तब- 'जी, पहले पांच-छह पेज पढ़े तो लगा कि जैसे एकदम बोरिंग. मैंने सोचा- अरे यार, ये नॉविल आखिर जा कहां रहा है? लेकिन आगे बढ़े तो बांध लिया उसने. क्यों....? तो आप यूं देखिए... मैं सिटीगर्ल हूं. इलाहाबाद-लखनऊ का मैं कुछ नहीं जानती. उधर की भाषा या जीवन का जो भी एक्सपोजर है वो मम्मी के साथ ननिहाल जाने की वज़ह से है. जब मैं 'गुनाहों का देवता' पढ़ रही थी तो लगा ही नहीं कि आइ डोंट बिलांग टु दैट इरा, लैंग्वेज़, कल्चर... यस, एब्सोल्यूटली वैसी सिंपल लव स्टोरी. वैरी सिंपल यूनीवर्सल अपील— मास अपील है उसमें. पढ़ते समय लगता है कि हम उसके परिवेश या पात्रों के साथ केवल चल भर नहीं रहे हैं— बल्कि इतने एसोशिएटेड हो जाते हैं कि या तो सुधा बन जाते हैं या बिनती बन जाते हैं. बिल्कुल- अगर मुझसे कोई पूछे कि मुझे हिंदी का नॉविल पढ़ना है तो आज इतने वर्षों बाद भी मैं उसे कहूंगी कि 'गुनाहों का देवता' पढ़ो...'

'कनुप्रिया' का पढ़ना कब हो पाया? कैसी लगी थी वो...?

चेहरे पर अध्यापक की तरह की खास एक गम्भीरता उतर आयी थी. वाणी में किसी धारा का तरल तेज़-सा एक प्रवाह- 'कनुप्रिया- मैंने बहुत लेट पढ़ी. पहले पढ़ती तो शायद समझ भी न आती. जी रोमेंटिक है... पर इतनी गहराई... ऐसी छिपी ध्वनियां, बातें... रोमांस को इतने कलात्मक ढंग से इंटरलेक्चुलाइज करना, औरों के लेखन में

तो नहीं दिखता ना! जी- मैं पढ़ती हूं... हां, इंग्लिश लिटरेचर. नहीं- इस तरह की चीज़ें वहां नहीं हैं. नहीं मैं उस रोमेंटिक ऐज के क्लासिक्स की बात नहीं कर रही, समकालीन लेखन की बात कर रही हूं. 'कनुप्रिया' में तो सभी कुछ अपील करता है. यह कम बड़ी बात है कि कोई मेल राइटर एक वुमैन को इतना स्ट्रांग बनाकर पेश करे कि वो चेलैंज करे. जी हां- कनु चेलैंज करती है कृष्ण को कि तुम्हारा अस्तित्व विदाउट लव इज़ नथिंग. और यह सब मेरे पापा के साथ की रियलिटी है... उन्होंने जितना लव किया है, रिस्पेक्ट दिया है मम्मी को- वो अद्‌भुत है, एकदम अनोखा. पति-पत्नी में प्यार देखा है पर डैडी जितनी रेस्पेक्ट, उन जैसा प्यार सचमुच ऐज चिल्ड्रेन हमारे लिए वो बहुत बड़ा लेसन था.'

आलोक भरा-सा चेहरा. विहंलती-दमकती-सी तृप्त प्रफुल्ल आंखें. मोम-मोम होकर पिघलती-बहती-सी मक्खन जैसी धवल मासूम मुस्कान. नहीं रुका गया तो पूछ ही लिया— 'कनुप्रिया' की छिपी एक बात- क्या आपको मालूम है कि उसमें कनु कौन है?

रोम-रोम से व्यक्त होता अद्‌भुत किसी गौरव को जिये जाने जैसा हर्ष! पहले बताने को आकुल आंखों, होठों, हाथों और गर्दन को मुखर-चंचल-सी बदाबदी. एक नज़र ऐसे देखा जैसे कहना चाहा हो कि यह राज़ मुझे नहीं तो और किसे मालूम होगा. मेरी मम्मी ही तो हैं कनु! जो 'कनुप्रिया' में है राधा-कृष्ण के बीच वो केवल मेरी मां और डैडी में हो सकता है. जो भी डैडी लिखते थे उसमें मम्मी होती थीं— ज़रूर होती थीं. किससे सुनती? कौन बताता? जी- मैंने उनका रिलेशन ग्रोअप होते देखा है. मेरा और मम्मी का जो रिलेशन है— तो शी इज नाट ओनली माई मदर बट... केका, किंशुक ने पापा का लिखा उतना नहीं पढ़ा. नहीं, उनकी वैसी रुचि नहीं रही है. नहीं, डैडी ने कभी फोर्स नहीं किया अपना लिखा कुछ भी पढ़ने को. हां, हां हिंदी में पढ़ती हूं- पोयट्री. गुलज़ार की फैन हूं. जावेद अख्तर, निदा फाज़ली, दुष्यंत कुमार...

लिखना भी लिया है आपने अपने डैडी से?

हां, लिखती हूं— अंग्रेज़ी में पोयट्री-डायरी. नहीं छपा नहीं है. अपने पास सुरक्षित है. मम्मी और डैडी ने पढ़ा है वह सब. नहीं- ये करो, वो करो तो वो कभी कहते ही नहीं थे हम लोगों से, पर यह ज़रूर कहा था कि बहुत बढ़िया है. मैं खुद क्या बताऊं? पर हां, मैं क्रिएटिव हूं- अच्छा लिखती हूं. यह बात मैं आज पैंतालीस साल होने के बाद कह पा रही हूं कि मैं अपना काम अच्छा करती हूं. फॉर्मल ट्रेनिंग मेरी नहीं है पर डैडी का पत्रकारिता व सम्पादन वाला टैलेंट मुझमें कुछ आ गया है. कोई पूछता है तो बताती हूं वरना अपनी तरफ से कभी कुछ नहीं. मैं इस मामले में भी डैडीज़ डॉटर हूं. अपनी तरफ से मैं कह ही नहीं पाती. एक झिझक है— बचपन का एक संस्कार!

डैडी की तरह का और कुछ? हां- जैसे भावुकता, प्रतिभा...? आज एक आत्मविश्वास है मेरे पास इसलिए इतना

यह सब कह पा रही हूं. मैं प्रैक्टीकल ज़्यादा हूं. मम्मी की तरह इमोशनल तो बिल्कुल नहीं हूं. वो तो गऊ हैं. मैं वो नहीं. उनकी भानवाएं, मेहनत, अनुशासन, घर का संचालन, कर्त्ता-धर्त्ता- बहुत सारे आस्पेक्टस देखे हैं मैंने. उतने ज़्यादा डैडी के नहीं देखे. इतनी इन्नोसेंट हैं कि मैं बोलती रहती हूं कि आप लोगों पर इतना भरोसा मत किया करो- पर वो हैं कि... उनका वश चले तो बैठ जायें और बादलों में आकृतियां देखती रहें. शेप्स देखते रहने में ही पूरी उम्र बिता दें. चाइल्ड लाइक इन्नोसेंस. फूल देखकर एक्साइटिड. अच्छी कविता दे दो– उन्हीं में खोई रहेंगी. उनकी लाइफ बेसिकली रोमेंटिक है- अच्छे शब्द, अच्छी कविताएं, अच्छी कहानियां, अच्छे थॉट्स. बस- ये खुराक और खुशी है उनकी!

डैडी की कुछ खराबियां...?

ना, ना करने के अंदाज़ में झटके से गर्दन इधर-उधर घूमी. अचानक किसी बहुत छोटे शरारती बच्चे की तरह कंधे झटके-मुंह बिचकाया– 'बोथ-माई पेरेंटस... वैरीगुड! उन्हें किस बात पर क्रिटिसाइज करूं- मुझे नहीं पता.

भारती जी को कविता पढ़ते तो सुना ही होगा आपने? कैसा लगता था आपको उनका कविता पढ़ना?

शब्दों में की पूरी चहक और खुशी को बोलने के लहज़े और भाव-भंगिमाओं के माध्यम से सम्भवतः प्रदर्शित नहीं किया जा पा रहा है. लगता है कि जैसे किसी बहुत प्रिय व मूल्यवान के छिन खो जाने का मलाल भी खुशी के साथ रला-मिला साथ-साथ चल रहा है. 'उस कमरे में कितनी ही बार सुना है डैडी को कविताएं पढ़ते हुए. घर में लोग इकट्ठा होते- बैठकें, गोष्ठियां होतीं- पूरा घर शामिल रहता था उनमें. बाहर भी कई कार्यक्रमों में सुना है उन्हें. क्या बतायें आपको? क्या-क्या जमावड़े नहीं हुए यहां. बहुत बढ़िया लगता था वह सब! डैडी-बहुत अच्छा पढ़ते थे.' संवाद का सिलसिला चलाये रखने के लिए मैंने नन्हा-सा एक और कदम आगे बढ़ाया– 'डैडी की ऐसी-खास-सी कोई याद-बात...?

> **एक दिन जब डैडी ड्राइव कर रहे थे तो एक लड़की गुज़री पर डैडी ने ध्यान नहीं दिया. चुप बैठी केका ने पीछे से कहा- 'अरे डैडी देखो, आपकी जान जा रही है.**

प्रज्ञा चुप, मैं निःशब्द. कमरे भर में खामोशी आकर जैसे जमी-सी बैठ गयी थी. होंठ हिले-कम्पन-सा दिखा उनमें. आवाज़ नहीं सुनाई दी तो लगा कि जैसे डैडी की उन कुछ यादों-बातों की बस्ती में प्रवेश से पहले की हिचक-झिझक जैसे डैडी की उन कुछ का प्रभाव है यह! और तभी चुप-चुप धीरे-धीरे हमारे आस-पास का काफ़ी कुछ बदलता-सा लगा. बर्फ के पिघलने लगने की तरह, किसी जल के नदी होकर बहने

लगने की तरह, तपाते-तपाते किसी मौसम में ठंडी-सी हवा के चलने लगने की तरह. अपनी भावनाओं के प्रवाह में मोहाविष्ट-सी बही-बही प्रज्ञा ने तब जिस तरह अनवरत बोलना शुरू किया तो लगा कि जैसे वो अपने डैडी की यादों को पहली बार मिल रहे किसी व्यक्ति से नहीं, केका किंशुक अथवा बचपन के अपने किसी दोस्त के साथ दोहरा-बांट रही हैं. जिस भाव बिंदु और मनः स्थिति में तब जो कुछ भी कहा-सुना जा रहा था, वहां सवालों-जवाबों की बाड़ें-सीमाएं असंगत-अर्थहीन हो जाती हैं! तब तो और भी जब प्रज्ञा जैसी पुत्री धर्मवीर भारती जैसे अपने पिता के साथ के अतीत के कुछ पन्नों को पलट-पढ़ सुना रही हो— 'मैंने डैडी का ममतालु स्वरूप अपने बड़े बेटे अंशुमान के साथ देखा! अंशुमान इसी घर में पैदा हुआ-पला-बढ़ा है. जब वो छोटा था तो हम अक्सर देखते कि कभी वह डैडी की पीठ पर चढ़ा खेल रहा है या कभी उनके बाल नोंच रहा है. हम बहन-भाइयों में से किसी की अपने बचपन में इतनी हिम्मत हो ही नहीं सकती थी. डैडी ने उसके लिए ठड्डू प्रसाद नाम का एक कैरेक्टर बना लिया था. उसी के माध्यम से उसे कहानियां सुनाते. सच में वॉकिंग एन साइक्लोपीडिया थे मेरे डैडी. मैं तब वर्किंग सिंगिल मदर थी. अंशुमान को खेलने के लिए तरह-तरह के, खिलौने लाती रहती. डैडी, को यह ठीक नहीं लगता था. मम्मी से अक्सर कहा करते— 'देखो, यह बच्चा केवल खिलौनों को ही जानता-पहचानता है.' नीचे जाते- फूल-पत्तियां तोड़कर लाते. अंशुमान को उन्हें दिखाते, उनके नाम बताते. कभी कबूतर का तो कभी मोर का पंख ले आते. उसे गार्डेन में ले जाते. पेड़ दिखाते- ये पेड़ इसका, वो पेड़... बेलैंस करने का रहता उनके दिमाग में. खिलौने से कहीं यह बच्चा मटेरियलिस्टिक न हो जाये...

डैडी का ये था कि हमें सब चीज़ों के लिए एनकरेज़ करते थे. अज़ीब-सी एक मज़ाक जैसी बात याद आ रही है. क्रिकेट मैच चल रहा था. हम सब बैठे देख रहे थे. अपनी स्टडी में बैठे-बैठे पार्टिसिपेट करने को यह ज़रूर पूछते— 'कितने गोल बने है बेटा?' हमारी हंसी नहीं रुकती. मज़ाक-सा बनाते हम कहते— 'गोल नहीं, रन पापा. आप 'धर्मयुग' के एडीटर हैं और आप को यह भी नहीं पता कि...'

भवों पर बल हैं. शायद स्मृतियों के समूह में से कुछ खास छांटा अलग किया जा रहा है. चेहरे पर दीप्ति दिखी, होठों पर हंसती-सी मुस्कान— 'आपको बताऊं- हमारे डैडी बहुत एडवेंचरस थे. एकबार आर्मी के साथ वे अकेले ही रोहतांग पास गये और वहां पर फंस गये थे. आर्मी वालों के पास माचिस थीं तो तीलियां जला-जलाकर नीचे आ रहे थे. उनके साथ एक कुत्ता भी था जो उनके पीछे-पीछे आ रहा था. मम्मी और हम बच्चे गेस्ट हाउस में थे. जब ज़्यादा देर हो गयी तो मम्मी की तो जैसे जान ही निकलने लगी. बहुत देर बाद फायनली जब डैडी आये तो मम्मी ने उनसे कहा था— इतने एडवेंचरस नहीं बनो प्लीज़, मेरी तो जान जाती है.'

वाक्य पूरा होने से पहले ही हंसने की आवाज़ सुनाई देना शुरू हो गयी थी. उस हंसी की वजह जानने-तलाशने की कोशिश के उस बहुत छोटे से समयांश में मेरा ध्यान एक बड़े और खास-से परिवर्तन की ओर गया था. प्रज्ञा का उस समय का अपने बचपन को याद करना, उन यादों का बताना-सुनाना साफ़-साफ़ कह रहा था कि अनुपस्थित के अतीत की चर्चाओं- स्मृतियों के समय हम जो जैसे हो जाते हैं, वो वैसे उपस्थित की यादों-बातों के समय हो ही नहीं सकते. हंसी है कि थम ही नहीं रही है-

''जान जाने पर एक वाकया याद आया. डैडी जब भी ड्राइव पर जाते तो जैसे ही कोई सुंदर-सी लड़की दिखती तो अक्सर कहते- 'हाय मेरी जान.' मेरी बहन केका पीछे बैठी यह सुनती थी. एक दिन जब डैडी ड्राइव कर रहे थे तो एक लड़की गुज़री पर डैडी ने ध्यान नहीं दिया. चुप बैठी केका ने पीछे से कहा- 'अरे डैडी देखो, आपकी जान जा रही है. सुनकर मम्मी और डैडी खूब हंसे थे तब...

...सिगार? मिठाई? ओ हो होऽ... सांताक्रूज़ जाते थे सिगार के लिए. और हां, बनारसी की दुकान की मिठाई बहुत पसंद थी. उन्हें मालूम था कि हमें क्या पसंद है. सबकी अपनी-अपनी पसंद वहां से आती-

'डैडी को जानवरों और पेड़ों से बहुत प्रेम था.' अरे इतनी जल्दी अचानक से यह क्या? क्यों? इरादतन गौर से सुना. नहीं- यह केवल भ्रम नहीं है. शब्दों को जैसे अनमने-से बोझिल कदमों उन्हें किसी कंकरीली-पथरीली ऊंचाई की ओर चलना पड़ रहा था- 'पेड़ों का उनसे मैंने ज़्यादा नहीं लिया, पर हां, जानवरों से मुझे भी लगाव रहा है. तब हमारे घर में कुत्ते थे, कछुवा, सफेद चूहे, खरगोश, बिल्लियां, मछलियां... इसी घर में रहते थे सब! वैसे मम्मी हाय, हाय करती थीं, पर उनके सब काम वही करती थीं. नहीं, उन्हें पसंद नहीं था. पापा और मुझे पसंद था उनको रखना. दो-दो कुत्ते थे...

यकायक हम दोनों के बीच जैसे बहुत मोटी-मज़बूत-सी खामोशी की एक वार उग आयी थी. सामने देखा- प्रज्ञा की आंखें ऐसे बंद हैं जैसे खास किसी क्षण या मुद्रा की तस्वीर देख रही हों वे. अब होंठ हिले- फिर खुले. लरपिश करते-से वे कुछ शब्द-शब्द और थरथराता-सा उनके बीच का लम्बा-सा वह अंतराल. शब्द-शब्द जैसे कागज़ की फूल-सी एक गेंद. ऐसी गेंद-जिन्हें कोई बच्चा अचानक सामने आ खड़ी हुई किसी दीवार को दरकाने ढहाने के इरादे और भरोसे से बार-बार लगातार उस पर फेंके मारे जा रहा हो. 'डैडी की एक बहुत प्यारी कुतिया थी- टॉफी. उसके साथ बैठे प्यार करते रहते थे उसे. दोनों एक-दूसरे पर जान देते थे. ...डैडी की डेथ के बाद- ऐसा कोई व्यक्ति घर आता जिसे वो पहचानती थी- तो ...तो उसका कपड़ा दांतों से पकड़े-पकड़े उसे खींचकर डैडी की स्टडी में ले आतीं... जैसे पूछती थी उससे कि वो कहां हैं... जैसे कहती थी उससे कि उन्हें ढूंढो... जी-दो साल बाद वो भी खत्म हो गयी.' □

जब हार जायें तो हार मान लें...

● डॉ. नरेश

यदि आप भगवान को नहीं मानते, तो मेरा आग्रह है कि मान लें. मैं यह आग्रह आपको आस्तिक बनाने के उद्देश्य से नहीं कर रहा हूं. आपके जीवन की जटिलताएं कम करने के उद्देश्य से कर रहा हूं. आप अपने घर में एक खूंटी गाड़ लें. घर में खूंटी गड़ी होगी तो बहुत कुछ व्यवस्थित रहेगा. आप अपना कपड़ा, टोपी, छड़ी सब इसी खूंटी पर टांगते रहेंगे तो आवश्यकता पड़ने पर कोई चीज़ ढूंढ़नी नहीं पड़ेगी कि कहां रख बैठे.

इसी प्रकार की एक खूंटी आप अपने मन में गाड़ लें. उसका नाम भगवान रख लें. इस खूंटी पर अपने दुख, अपनी चिंताएं, अपनी परेशानियां टांगते रहिए ताकि बहुत देर तक उनका बोझ आपको न ढोना पड़े. अन्यथा बोझ ढोते-ढोते थक जाएंगे आप. अपने सुख भी टांगते रहिए इसी खूंटी पर क्योंकि ज़्यादा देर तक सुख को ढोना भी उबाऊ हो जाता है.

जो बात आपको बहुत परेशान कर रही है, जिस बात की चिंता आपको खाये जा रही है. उसे जब आप मन में गड़ी भगवान नाम की खूंटी पर टांग देंगे तो उसका बोझ आपके सिर पर से उतर जाएगा. ऐसा करते समय जो भाव आपके भीतर जागेगा वह यह होगा कि इस समस्या को सुलझाना अपने बस की बात तो नहीं है, देखें यदि ईश्वर कुछ कर सकता है भले ही आपको ईश्वर पर विश्वास नहीं है लेकिन आपने मन में उसके नाम की खूंटी गाड़कर उसका अस्तित्व बना लिया है. यह अस्तित्व आस्तिकों जैसी श्रद्धा का केंद्र बने, न बने, आपके दुख को स्थानांतरित तो करता ही है.

व्यक्ति जब हार जाता है तो उसे अपनी हार के साथ समझौता करने में बहुत समय लगता है. श्रम भी बहुत करना पड़ता है स्थिति के साथ समझौता करने में. अचानक घर में मृत्यु हो जाती है. महीनों पछतावा लगा रहता है मन को कि यदि उन्हें तभी अस्पताल ले गये होते जब नाक में ज़रा-सा खून निकला था या जब रात में पसीने से सराबोर जागे थे, तो शायद उनकी बीमारी तभी पकड़ में आ गयी होती. तभी ढंग से इलाज करा लिया होता इत्यादि-इत्यादि. इस स्थिति में या इस प्रकार की अन्य स्थितियों में करना व्यक्ति को समझौता ही होता है. आस्तिक आदमी मृत्यु को भगवान की इच्छा मानकर जल्दी-से स्थिति के साथ समझौता कर लेता है जबकि नास्तिक व्यक्ति महीनों,

कई बार वर्षों, [illegible] रहता है. व्यक्ति आस्तिक हो या नास्तिक अंततः उसको अपनी विवशता, अपनी पराजय को स्वीकार करना होता है कि वह किसी प्रकार भी मरने वाले को मरने से नहीं रोक सका और मरने के बाद उसे किसी प्रकार से भी पुनः जीवित नहीं कर सका. जो व्यक्ति इस विवशता को, इस पराजय को जितना जल्दी स्वीकार कर लेता है, वह उतना जल्दी मानसिक ऊहापोह से बाहर आकर अपनी ज़िंदगी को उसके प्राकृतिक ढेर पर ले आता है.

अब अगर आप यह मानते हों कि मन में गड़ी भगवान नाम की खूंटी आपके जीवन को सहज-सरल बनाने में सार्थक एवं सहायक सिद्ध हो रही है तो यह भी मान लें कि व्यक्ति जहां जाकर हारता है, वहीं से किसी दूसरी सत्ता के मौजूद होने का अहसास शुरू होता है. इस दूसरी सत्ता को आप कोई नाम न दें. भगवान, ईश्वर, गॉड, अल्लाह कुछ न कहें. बस सत्ता मान लें. सत्ता भी ऐसी जिसके सामने हर व्यक्ति की अपनी सत्ता बहुत छोटी पड़ जाती है. जिसके सामने हर व्यक्ति की सत्ता को एक न एक दिन धराशायी होना पड़ता है. उस सत्ता से बड़ी अन्य किसी सत्ता की कल्पना भी नहीं कर सकते आप क्योंकि आपने तो अभी अपने से बड़ी सत्ता को ही नहीं जाना है तो उसकी तुलना किससे करेंगे आप, मुकाबला किसके साथ करेंगे?

जहां पहुंचकर आपके तमाम तर्क समाप्त हो जाएंगे, आपकी बुद्धि की सारी दौड़ खत्म हो जाएगी, वहां जाकर आप हार जाएंगे. जब तर्क समाप्त हो जाएंगे, तब आप हार जाएंगे. यह हारना ही वास्तविक ज्ञान है.

थोड़ा विचार करेंगे तो आप जानेंगे कि जिस सत्ता की काल्पनिक खूंटी आपने मन में गाड़ रखी है, वह मात्र कल्पना नहीं, वास्तविकता है. इसकी वास्तविकता के बोध में से ही एक अन्य अनुभूति निकलेगी कि जिसे मैं अपनी सत्ता मान रहा हूं, वह भी इस दूसरी या बड़ी सत्ता से भिन्न नहीं है. अंतर बस सामर्थ्य भर का है. अधिकार-क्षेत्र का फ़र्क है बस. आपके अधिकार में थोड़ा-सा है, उसके अधिकार में बहुत-सा है, ढेरों है.

यदि आपके भीतर की सत्ता और बाहर की अदृश्य-अलख सत्ता एक ही है तो भीतर की सत्ता को जानने-पहचानने का प्रयत्न करना चाहिए आपको. बाहरी सत्ता को जानना-समझना तो बाद की बात है, पहले यह जानना ज़रूरी है कि मैं क्या हूं, कौन हूं, कहां से आया हूं, कहां जाऊंगा, सृष्टि के इस विशाल-विस्तृत तामझाम में मेरी हैसियत क्या है, मेरे हाथ में क्या है इत्यादि-इत्यादि.

यही सब जानने को आत्म-ज्ञान कहते हैं. आत्म-ज्ञान ही ब्रह्म-ज्ञान का प्रथम चरण है.

हम सब स्वयं को 'मैं' कहते हैं. यह 'मैं' क्या है? 'मैं' यह शरीर है या इसके भीतर

की वह सत्ता, जो इसको जीवित रखे हुए है? यदि आप इस शरीर को अंतिम सत्य मानते हैं तो इसका तो भरोसा ही कुछ नहीं है. शरीर तो श्वास से चल रहा है. अलग श्वास आयेगा भी, इसका भरोसा तो किसी को भी नहीं है. किस शरीर को कब धराशायी हो जाना है, यह तो कोई भी नहीं जानता. तो फिर इस शरीर को अंतिम सत्य कैसे माना जा सकता है? हमारा ज्ञान-विज्ञान कितनी ही उन्नति क्यों न कर ले, उसकी पकड़ में तो यह नाशवान शरीर ही पूरी तरह से नहीं आ पायेगा. आपको सिर-दर्द रहता है. सब टेस्ट करा लिए, सब डॉक्टरों को, वैद्यों को दिखा लिया. सबकी दवाएं लेकर देख लीं. सिर-दर्द नहीं जा रहा है. किसी रिपोर्ट में कुछ नहीं निकल रहा है. हार जाता है ज्ञान-विज्ञान, शरीर ही पकड़ में नहीं आता है.

इसी प्रकार जब किसी की मृत्यु होती है तो हम जानना चाहते हैं कि मृत्यु क्यों हुई. मृत्यु को कारण चाहिए, ऐसा हमारा मानना है. कारण खोजे बगैर हमारी तसल्ली नहीं होती. कारण जब डाक्टरों की समझ में नहीं आता तो वे कहते हैं कि कार्डिएटिक अरेस्ट के कारण मृत्यु हो गयी. कैसा भोंडा तर्क है यह. कार्डिएटिक अरेस्ट के बिना किसी की मृत्यु हो ही नहीं सकती. कार्डिएटिक अरेस्ट का अर्थ है दिल ने धड़कना बंद कर दिया. जब तक दिल धड़क रहा है, कोई मरता ही नहीं है. मरता ही तब है जब दिल का धड़कना बंद हो जाता है. कार्डिएटिक अरेस्ट तो तब भी होता है जब मृत्यु का कोई दूसरा कारण सामने रहा होता है. भुलावा भी देता रहता है हमारा यह भौतिक ज्ञान. पांचवीं मंज़िल से कूदकर आत्महत्या करने वाले की मृत्यु गिरने से हो गयी थी, ऐसा सभी मानते हैं. वास्तव में गिरता तो वह बाद में है, मर पहले जाता है. पांचवीं मंज़िल से धरती पर आने से पहले ही उसका कार्डिएटिक अरेस्ट हो जाता है. अधिकतर लोगों के साथ यही होता है. यहां मृत्यु का कारण चोट नहीं होता, भय की स्थिति में दिल का धड़कना बंद हो जाता है.

जब हम नाशवान पंचभूता शरीर को ही पूर्णरूपेण नहीं जान सकते तो इसके भीतर पड़े उस चेतन अनश्वर तत्त्व को कैसे जान लेंगे, जिसका न कोई रूप है, न आकार. वह तत्त्व तो वायवी दिव्य तत्त्व है. वायु को देखना, पकड़ना, रोकना, चलाना, थमाना- यह सब हमारे वश में है कहां.

जब तक किसी एक सत्ता से बड़ी सत्ता आपको मिलती जाएगी, आप उसका निराकरण करके बड़ी सत्ता को अंतिम सत्य मानते चलते जाएंगे. लेकिन जहां पहुंचकर आपके तमाम तर्क समाप्त हो जाएंगे, आपकी बुद्धि की सारी दौड़ खत्म हो जाएगी, वहां जाकर आप हार जाएंगे. जब तक तर्क मिल रहे हैं, आप हारे नहीं हैं. जब तर्क समाप्त हो जाएंगे, तब आप हार जाएंगे. यह हारना ही वास्तविक ज्ञान है. मेरा सुझाव है कि एक बार जी भरके दौड़ लें, जहां तक जा सकते हों, जा लें लेकिन जब हार जाएं तब तुरंत अपनी हार स्वीकार कर लें, आपको अपनी दिव्यता का बोध हो जाएगा. ❑

मणिपुर का राज्यवृक्ष 'महोगनी'

● डॉ. परशुराम शुक्ल

महोगनी उप उष्णकटिबंधीय और समशीतोष्ण भागों से लेकर वर्षा वनों तक गर्म और नमी वाले भागों में पाया जाता है. यह नदियों के किनारे के झाड़ी वाले क्षेत्रों में अधिक मिलता है. प्राकृतिक स्थानों पर जंगली रूप में पाये जाने वाले महोगनी के वृक्ष बहुत बड़े और ऊंचे होते हैं. इसके विपरीत कृत्रिम रूप से उगाये गये महोगनी के वृक्ष काफी छोटे होते हैं. दक्षिण की ओर के अप्राकृतिक स्थानों पर रोपे गये महोगनी वृक्ष बहुत छोटे होते हैं. जैसे दक्षिण की ओर बढ़ते हैं, इनका आकार अधिक छोटा होता जाता है.

वैसे यह सभी प्रकार की मिट्टी वाले भागों में लगाया जा सकता है, किंतु यह कठोर ज़मीन पर नहीं उगता. उपजाऊ मिट्टी और अधिक पानी वाले स्थानों पर इसका विकास बहुत अच्छा होता है. भारत में यह नमी वाले लगभग सभी गर्म भागों में सरलता से विकास करता है. यहां इसे जंगली और सप्रयास रोपे गये, दोनों रूपों में देखा जा सकता है. भारत के साथ ही यह पपुआ तथा एशिया के कुछ अन्य भागों में भी बहुत बड़ी संख्या में जंगली रूप में पाया जाता है. ऑस्ट्रेलिया के न्यूसाउथ वेल्स और क्वींसलैंड तथा इसी प्रकार के सागर तट के निकट के वर्षा वनों में इसके जंगली वृक्षों की संख्या बहुत अधिक थी. किंतु बहुत अधिक कटाई के कारण अब इसके जंगली वृक्ष बहुत कम बचे हैं.

महोगनी के मूल स्थान के विषय में विद्वानों में मतभेद है. एक मत के अनुसार इसका मूल स्थान ऑस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड है. एक लम्बे समय बाद यह भारत एवं एशिया के अन्य भागों में पहुंचा. वास्तव में महोगनी भारत सहित एशिया के अनेक भागों और ऑस्ट्रेलिया तथा हिंद और प्रशांत महासागर के कुछ द्वीपों का मूल वृक्ष है. यहां के अलग-अलग भागों में इसकी अलग-अलग जातियों का विकास हुआ. वर्तमान समय में यह कुकद्वीप समूह, माइक्रोनेशिया, हवाई, पापुआ, न्यूगिनी, समोआ, सोलोमन, टोंगा,

प्लूटोरिको, इंडोनेशिया, मलेशिया, फिलीपीन्स, थाईलैंड, चीन, ऑस्ट्रेलिया और अफ्रीका के बहुत बड़े भाग में फैल चुका है.

यह मेलियासी परिवार के टूना वंश का वृक्ष है. विश्व में टूना वंश की 6 जातियां पायी जाती हैं. टूना सिलिआटा, 2-टूना ऑस्ट्रेलिया, 3-टूना कालंटास, 4-टूना फेबिफ्यूजा, 5-टूनासिनेन्सिस और 6-टूना सुरेनी. कुछ विद्वान टूना सिलिआटा और टूना ऑस्ट्रेलिस को एक ही मानते हैं. वास्तव में ये एक ही वंश के महोगनी वृक्ष की दो अलग-अलग जातियां हैं.

भारत में पाये जाने वाले महोगनी वृक्ष का वैज्ञानिक नाम 'टूना सिलिआटा' है. यह रंगबिरंगा, छायादार, सुंदर, सुगंधित वृक्ष है. नदियों के किनारे, नम जलवायु में उपजाऊ मिट्टी मिल जाने पर यह सरलता से लग जाता है और बड़ी तेज़ी से विकसित होता है. पहाड़ी ढलानों पर इसका विकास अधिक तेज़ी से होता है. महोगनी को पानी और उपजाऊ मिट्टी के साथ ही नमी वाली गरम जलवायु की भी आवश्यकता होती है. सूर्य के प्रकाश वाला कम गर्म स्थान, जहां तेज़ हवाएं न हों, इसके लिए अच्छा माना जाता है. अधिक गर्म और सूखे के समय इस वृक्ष के लिए सिंचाई आवश्यक है किंतु एक बार वृद्धि प्राप्त कर लेने के बाद इस वृक्ष को देखभाल की आवश्यकता नहीं रहती.

इसकी ऊंचाई 55 मीटर तक हो सकती है. महोगनी का वृक्ष लगभग 30 मीटर ऊंचा उठने के बाद सुंदर शाखाओं वाली वृक्ष बन जाता है. महोगनी का तना लम्बा और चिकना होता है तथा तने और शाखाओं की लकड़ी हल्की, मज़बूत और भीतर से गहरे लाल रंग की होती है. महोगनी के तने का घेरा लगभग 6-7 मीटर का होता है तथा इसकी लकड़ी का घनत्व 450 किलोग्राम प्रति घन मीटर होता है. महोगनी के बेलनाकार और दरारों वाले तने की छाल आरम्भ में लाली लिये हुए चमकदार कत्थई रंग की होती है. वृक्ष के बड़े हो जाने पर इसकी छाल का रंग गहरा कत्थई अथवा गहरा धूसर हो जाता है. महोगनी के बड़े वृक्षों की छाल पर लम्बी-लम्बी अनियमित दरारें पड़ जाती है. इससे इसकी छाल पर शल्क से बन जाते हैं. इस वृक्ष की शाखाएं मज़बूत और मोटी होती हैं तथा तने के समान इनका रंग भी कत्थई होता है, किंतु पत्तियों वाले भाग की शाखाओं का रंग लाल होता है एवं वे चिकनी होती हैं.

इस विशाल, छायादार और फैली हुई शाखाओं वाले वृक्ष का ऊपरी भाग (क्राउन) खुला और फैला हुआ होता है. इस पर वसंत के आगमन के साथ ही नयी-नयी पत्तियां निकलती हैं. महोगनी वृक्ष की नयी पत्तियां हल्की लाली लिये हुए छोटी होती हैं. परिपक्व होने पर इनका रंग चमकीला हरा हो जाता है, किंतु पत्तियों के नीचे वाले भाग पर हल्का पीलापन होता है और इस भाग पर चमक भी बहुत कम होती है.

महोगनी की पत्तियां बड़ी सुंदर, आकर्षक और शानदार होती हैं. इसकी पत्तियां चौड़ी और रसदार तथा इनका सिरा नुकीला होता है. इसके वृक्ष पर छोटे-छोटे झुंड में पत्तियों की संख्या प्रायः 5 से 7 तक होती है, किंतु

कभी-कभी एक झुंड में 14 तक पत्तियां निकलती हैं. महोगनी की प्रत्येक पत्ती दो भागों में विभक्त होती है तथा ये दोनों भाग असमान होते हैं. इसके प्रत्येक भाग में लगभग 10 छोटी-छोटी पत्तियां होती हैं. इन्हें उपपत्तियां कहा जा सकता है. अर्थात महोगनी की प्रत्येक पत्ती में 20 उपपत्तियां होती हैं. इनकी लम्बाई 5 सेंटीमीटर से लेकर 14 सेंटीमीटर तक हो सकती है तथा ये सभी बाहर की ओर थोड़ी-सी मुड़ी हुई और घुमावदार होती हैं. सर्दियों के मौसम में महोगनी का वृक्ष पर्णविहीन हो जाता है, किंतु यह स्थिति अधिक समय तक नहीं रहती और वसंत के आगमन के साथ ही यह पुनः हरा-भरा हो जाता है. महोगनी का वृक्ष बहुत कम समय के लिए पर्णविहीन होता है, अतः कुछ लोगों ने इसे सदाबहार वृक्ष मान लिया है. वास्तव में यह पतझड़ वाला वृक्ष है.

महोगनी की पत्तियां बड़ी सुंदर और आकर्षक होती हैं. किंतु ये पूरी तरह अनुपयोगी होती हैं. इन्हें न तो पालतू पशु खाते हैं और न ही इनकी सहायता से कोई औषधि का निर्माण होता है अथवा कोई अन्य वस्तु भी तैयार नहीं की जा सकती.

इस वृक्ष पर फ़रवरी मार्च के महीने में फूल आते हैं. वसंत ऋतु में वृक्ष पर नयी पत्तियों के आगमन के तुरंत बाद शाखाओं के सिरों पर गुच्छों में फूल निकलते हैं. इसके फूल सफेद अथवा गुलाबी रंग के होते हैं और इनका मध्य भाग गोल होता है तथा इस भाग का रंग नारंगी होता है. इसी भाग से सफेद अथवा गुलाबी रंग की पंखुड़ियां निकलती हैं. महोगनी के फूल बहुत छोटे होते हैं, पर होते बड़े सुगंधित हैं. इनमें शहद जैसी भीनी-भीनी खुशबू होती है. इसके फूलों की गंध सूख जाने के बाद भी समाप्त नहीं होती और मधुर गंध बनी रहती है. प्राचीन काल में स्त्रियां महोगनी के गुलाबी फूलों से अपने वस्त्र रंगती थीं. इससे वस्त्र हल्के गुलाबी रंग के और सुगंधित हो जाते थे.

प्राचीन काल में स्त्रियां महोगनी के गुलाबी फूलों से अपने वस्त्र रंगती थीं. इससे वस्त्र हल्के गुलाबी रंग के और सुगंधित हो जाते थे.

वसंत ऋतु में इस वृक्ष पर पत्तियों और फूलों के साथ ही फल भी आते हैं. इसके फल गोलाई लिये हुए लम्बे बेलनाकार होते है तथा ये देखने में कैप्सूल जैसे लगते हैं. इनकी लम्बाई लगभग 2 सेंटीमीटर होती है और इनका रंग हल्के कत्थई बादामी से लेकर गहरा कत्थई तक होता है.

महोगनी का बीज शीघ्र उगने वाले और तेज़ी से बढ़ने वाले वृक्ष के बीज के रूप में विख्यात है. यह पतला और सूखा होता है तथा इसका रंग कत्थई होता है. इसके बीज की लम्बाई एक मिलीमीटर से लेकर दो मिलीमीटर तक हो सकती है. किंतु कभी-कभी इसके कुछ बड़े बीज भी देखने को मिल जाते

हैं. महोगनी का बीज बहुत हल्का होता है अतः हवा के द्वारा यह शीघ्र ही एक विशाल क्षेत्र में फैल जाता है. इसके हल्केपन का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि एक किलोग्राम में लगभग तीन लाख बीज आ जाते हैं. इसके बीजों को लम्बे समय तक सुरक्षित रखा जा सकता है.

महोगनी के ताजे और भीगे हुए बीजों की अंकुरण क्षमता बहुत अधिक होती है तथा इनका बड़ी तेज़ी से विकास होता है. इसके ताजे बीजों का सात दिनों में ही अंकुरण हो जाता है और विकास आरम्भ हो जाता है तथा एक माह में ये छोटे-से वृक्ष के समान दिखाई देने लगते हैं.

महोगनी के वृक्ष में फल, फूल, बीज, पत्ती आदि में से कुछ भी खाने योग्य नहीं होता है. फिर भी इसे विश्व का एक महत्त्वपूर्ण वृक्ष माना जाता है. महोगनी का वृक्ष बड़ा और छायादार होता है तथा इसे बाग-बगीचों और पार्कों में एवं सड़कों के किनारे लगाते हैं. यह वृक्ष सरलता से लग जाता है तथा बड़ी तेज़ी से बढ़ता है. इससे इसकी उपयोगिता और अधिक बढ़ जाती है.

यह वृक्ष मुख्य रूप से अपनी शानदार लकड़ी के कारण जाना जाता है. इसकी लकड़ी हल्की और मुलायम होते हुए भी मज़बूत एवं टिकाऊ होती है. इसकी कच्ची अथवा पक्की लकड़ी ऐंठती नहीं है एवं इस पर दीमक का प्रभाव भी नहीं पड़ता. महोगनी की लकड़ी कोमल होती है अतः इस पर जाली बनाने का काम सरलता से किया जा सकता है. इसकी लकड़ी लाल रंग की होती है एवं इस पर लाल रंग की शानदार पॉलिश की जा सकती है. धीरे-धीरे समय के साथ इसकी पॉलिश में निखार आता है. अतः इससे बनी वस्तुएं लम्बे समय तक आकर्षक बनी रहती हैं. महोगनी की लकड़ी मज़बूत होने के साथ ही साथ बहुत हल्की होती है. यही कारण है कि वाद्ययंत्रों के निर्माण में इसका बहुत उपयोग किया जाता है. भारत में सितार, वीणा, तानपूरा आदि महोगनी की लकड़ी के ही बनाये जाते हैं. इन वाद्ययंत्रों का नीचे वाला गोल भाग महोगनी की लकड़ी से ही तैयार किया जाता है. इसके साथ ही महोगनी की लकड़ी से सिंगारदानी, सिगार केस, विभिन्न प्रकार के बक्से और खिलौने तथा फर्नीचर आदि भी तैयार किया जाता है. ग्रामीण क्षेत्रों में इसकी लकड़ी का उपयोग जलाने के लिए किया जाता है.

विश्व में ऑस्ट्रेलिया एक ऐसा देश है, जिसने महोगनी का सर्वाधिक उपयोग करने के साथ ही साथ इसके महत्त्व को समझा है और इस पर अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर शोधकार्य आरम्भ किये हैं. ऑस्ट्रेलिया के वैज्ञानिकों ने महोगनी की कुछ जातियों का पता लगाया है एवं उन पर अनुसंधान कर रहे हैं. महोगनी भारत से लेकर दक्षिणी चीन तक दक्षिण-पूर्व एशिया और ऑस्ट्रेलिया के समुद्री किनारों तक फैला हुआ मानसूनी जंगली वृक्ष है. ऑस्ट्रेलिया के वैज्ञानिक यह मालूम करने की कोशिश कर रहे हैं कि विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों का महोगनी की अलग-अलग जातियों से क्या सम्बंध है तथा किन भौगोलिक परिस्थितियों में महोगनी की सर्वोत्तम जाति प्राप्त की जा सकती है? ❑

नकबेसर कागा ले भागा...

● कृष्णा वल्लभ सिन्हा

खाकसार को कौवों से इतनी चिढ़ क्यूंकर और कब से है, पता नहीं. यादों को कुरेदता हूं– आखिर इस गरीब ने मेरा क्या बिगाड़ा है? स्मृतियों की परतें क्रमशः उघड़ती हैं, और घटनाओं का एक सिलसिला बनता चला जाता है. एक के बाद दूसरा सीन नज़र आने लगता है... मेरी नन्हीं-सी बिटिया आंगन में बैठकर तली हुई पूड़ियां खा रही है. इसी बीच मुंडेर से कौवा उतरता है, चारों ओर उचक-उचककर देखता है, फिर झटके से बेबी के हाथ से पूड़ियां छीन कर पलक झपकते हवा. सीन दो- वही आंगन. पत्नी नया कीमती साबुन लेकर स्नानार्थ वहां आती हैं कुछ कपड़े शायद कमरे में ही रह गये, लाने जाती हैं. मुंडेर से पक्षीराज उतरते हैं. चोंच में साबुन की बट्टी, नयी बट्टी लेकर चम्पत! पत्नी पीछे-पीछे दौड़ती हैं. फायदा? सीन तीसरा- स्थान किचेन. गर्म किया दूध देगची में रखा है. ढंका. अबतक ठंडा भी हो चुका है. पक्षीराज को दूध के बारे में पूरी जानकारी है. दबे पांव किचन में घुसता है, चोंच से ढक्कन सरकाता है और सफाई से मलाई की पतली परत खींचकर ले उड़ता है. पानी मिले दूध में वैसे भी मलाई की परत बमुश्किल जम पाती है... तो ये सारे इग्जाम्पल्स खाकसार की पर्सनल ट्रेजेडीज हैं. ...और मुझे काकराज से चिढ़ हो जाती है.

मैं अपने आप को समझाता हूं, व्यर्थ ही प्रिज्युडिस पालना ठीक नहीं. इस पक्षी के आजतक किये गये रिसर्च से यह उद्घाटित होता है कि सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में, विभिन्न परिस्थितियों में, जितनी चर्चा इस पक्षी की हुई है, उतनी किसी और की नहीं. हितोपदेश में यह सूरज के जागने के पहले ही जाग जाता है. तुलसी के बालक राम के नन्हें हाथों से मोदक झपट लेता है. इंद्र-पुत्र जयंत कौवे के रूप में पति-सेवा में संलग्न सीता को चोंच मारकर घायल करता है आदि, आदि. तुलसी की रामायण में ही आध्यात्मिक विषयों पर गूढ़ विवेचन भी करता है. मध्ययुगीन कवियों के अनुसार नौकरी या व्यापार के लिए विदेश गये पतियों के लौटने का संदेशा भी वह विरहिणी नायिकाओं को दिया करता है. विरह-विदग्धा पत्नियां घर की छत पर बैठकर काकराज द्वारा संदेशा पाने के इंतज़ार में व्यग्र रहती हैं. हमारे अपने ज़माने की ही कितनी फ़िल्मी नायिकाएं इसकी बहुमूल्य बोली की कायल

रही हैं. एक ने एक पुरानी फिल्म में तो यहां तक कह दिया- 'मोरी अटरिया पे कागा बोले, मेरा जिया डोले कोई आ रहा है.'

आज भी गांवों एवं कस्बों में कौवे को पाहुन का संदेशा लाने वाला मानते हैं. यही नहीं, रात्रि के अवसान होने की सूचना भी वह देता है नैचुरल क्लॉक बनकर. न केवल पूरे का पूरा साहित्यकार ग्रुप, वरन हमारा वैज्ञानिक समाज भी मुक्त कंठ से इसकी महत्ता स्वीकार करता है, क्योंकि प्रकृति में फैली हुई गंदगी को चुस्ती के साथ, बेझिझक होकर वह साफ़ करता है. अंग्रेज़ीदां इसे स्कैवेंजर बर्ड कहते हैं तो संस्कृतज्ञ सर्वग्राही. "किं न खादंति वायसाः?" "अन्न, फल, मल, शव सभी इसे ग्राह्य हैं. काकराज की इतनी पोपुलरिटी युग युगांत तक होने से प्रभावित होकर, मैं अपना व्यक्तिगत आक्रोश एवं चिढ़ इग्नोर करने को तैयार हो जाता हूं.

अस्तु, नाचीज़, यानी मैं, अपने प्रतिपाद्य विषय से काफी दूर हो गया था. विषय था कौवे द्वारा नकबेसर लेकर भागना, वह भी बिचारी नयी– नवेली नायिका का. पाठकगण, प्रारम्भ में एकदम टुच्ची एवं हास्यास्पद प्रतीत होने वाली यह उक्ति विभिन्न कोणों से विचार करने पर वाकई गम्भीर लगती है. आखिर कौवा नकबेसर लेकर क्यों भागा? क्या करता इसका? खाता भी तो नहीं इसे.

तो मैं एक घुटे हुए पुलिस इंसपेक्टर की तरह मौका-ए-वारदात का मन ही मन जायजा लेता हूं. यह तो तय है कि कौवे ने नकबेसर खुद नायिका की नाक से नहीं निकाला होगा, चाहे वह कितनी ही अल्हड़ रही हो या खुले में बेसुध होकर सो रही हो. लगता है आंगन में जाड़े की खिली धूप में नायिका ने सविस्तार स्नान करने का मन बनाया होगा. एक-एक कर सारे आभूषण उतार कर अलग रखे होंगे. यद्यपि उतने छोटे आभूषण को उतारना कोई ज़रूरी नहीं था. अचानक याद आता है तौलिया तो कमरे में ही रह गया. जबतक वह कमरे से वापस आती, पापी कागा, जो सारी गतिविधियों को क्लोजली वाच कर रहा था, झपट्टा मारकर नकबेसर ले भागता है. नायिका चीखती चिल्लाती है– 'नकबेसर कागा ले भागा.'

इस पर मेरा मिलियन डॉलर क्वेश्चन है, आखिर ऐसा क्यों? लाख सोचने के बाद भी इसका संतोषप्रद उत्तर नहीं मिलता. घूम-फिर कर बात फिर वहीं पहुंच जाती है. मृत्ति महदाकाश में ठहरे कहां पर, शून्य है सब. फिर वही पृच्छा चिरंतन, फिर वही उद्विग्न चिंतन– 'उर्वशी' में दिनकर के शब्द.

जैसा कह चुका हूं काकराज की यह हरकत सरसरे तौर पर देखने से रहस्यमयी तथा पहेली जैसी लगती है. दिमाग पर बहुत ज़ोर डालने पर सम्भावनाओं का एक खाका उभरता है. कहीं ऐसा तो नहीं कि हमारी नायिका ने विरह के दिनों में कौवे से मनुहार की हो, प्रार्थनाएं की हों कि प्रियतम के आने का संदेशा ला दो. इच्छा पूरी होने पर चमकते सोने से तुम्हारी चोंच मढ़वा दूंगी. और एक दिन सचमुच पक्षीराज शुभ सूचना

लाते हैं– "अरी बावरी, देखती क्या है? प्रियतम गांव के सिवाने (सीमा) पर आ गया है. स्वागत की तैयारी कर." हठात उसे विश्वास ही नहीं होता. "वारी जाऊं कागा!" आनंदातिरेक में वह कह उठती है. पर उसने अपना वादा निभाया या नहीं, यह कोई भी गेस कर सकता है. आत्मविस्मृत होकर वह सब कुछ भूल बैठी होगी.

उधर चोंच में सोना मढ़ाने की बात काकराज को अविश्वसनीय लगी होगी. काले शरीर पर चमकते, पीले सोने की चोंच!! कितनी शानदार लगेगी देखने में!! सारा पक्षी–समाज उसके अभूतपूर्व अलंकरण एवं तज्जनित सौंदर्य पर अनायास ही उसे पक्षी जगत का सिरमौर मान लेगा. अपनी पत्नी एवं अपने चुग्गों से ही नहीं, अन्यान्य पक्षियों से भी इस असाधारण उपलब्धि की चर्चा की होगी. परंतु सुखों में डोलती नायिका दगाबाज़ी कर गयी. चोंच को स्वर्ण जटित नहीं ही करवाया. शायद उसने सोचा होगा, "मुआ दिन भर तो टर-टर करता ही रहता है. सोने का क्या करेगा? उधर वादा स्मरण कराने के लिए कौवे ने मुंडेरों पर बैठकर कितनी बार कांव-कांव किया. पर अब सुने भी कोई क्यों? काम तो निकल गया था न?

इस संदर्भ में दर्जा छह में संस्कृत पंडितजी वाली पढ़ायी कथा याद आती है. एक कंजूस व्यापारी माल के साथ बरसाती नदी पार कर रहा था. उफनाती लहरों में नाव हिचकोले खा रही थी. उलटने का भय बराबर बना हुआ था. वह भगवान से प्रार्थना करता है, और सकुशल पार उतरने पर हजार लड्डू चढ़ाने का वादा करता है. खुशकिस्मती से नाव किनारे पर आती दिखती है. परंतु जैसे-जैसे नाव किनारे आती गयी, लड्डुओं की संख्या कम होती गयी और अंततः शून्य! सोचा, "भगवान को भला किस चीज़ की कमी है? सारी सृष्टि तो उसी की रचना है. दो-चार लड्डुओं से क्या? भगवान स्वयं तो खाते नहीं. ये तो ब्राह्मणों के चोंचले हैं, तर माल खाने के."

अस्तु, नायिका द्वारा 'चीट' किये जाने से काकराज का दिल टूट गया होगा. उसने भी भीष्म-प्रतिज्ञा की होगी कि वंचिका को पाठ पढ़ाये बिना वह चैन नहीं लेगा. और बदला लेने की ताक में बराबर रहकर, अवसर पाकर, वह आंगन में रखे बहुमूल्य नकबेसर ही ले उड़ता है. वह जानता है कि वजन में हल्का होने पर भी मूल्य में भारी है वह छोटा-सा आभूषण. वजनी आभूषण तो अफरा-तफरी में चोंच से छिटककर गिर भी सकता है. पर यह नहीं.

यदि इस वंचना-प्रकरण को सुटेबल शीर्षक देने को मुझसे कहा जाय, तो बतर्ज प्रेमचंद 'आदर्श बदला' न देकर 'बदले की आग' देता. कहानी से यही शिक्षा मिलती है कि नायिकाओं पर भरोसा नहीं करना चाहिए. जो वादा करेंगी, कभी पूरा नहीं करेंगी.

इस प्रकाण के सम्बंध में मेरी चिंतन-प्रक्रिया बदस्तूर जारी है. यदि कोई अन्य गूढ़ार्थ निकले तो आपको अवश्य अवगत कराऊंगा. □

धारावाहिक उपन्यास (सत्ताईसवीं किस्त)

महाकवि जयशंकर प्रसाद के जीवन और युग पर केंद्रित कथा

कंथा

□ श्याम बिहारी श्यामल
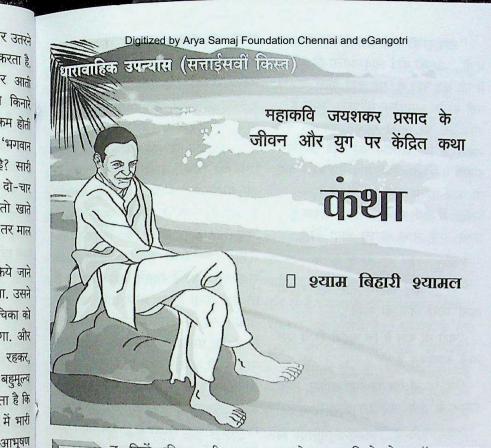
तीन दिनों की अपनी गहन जांच-पड़ताल के बाद यही निष्कर्ष निकला कि प्रसाद को क्षय रोग है. एक फेफड़ा पूरी तरह आक्रांत हो चुका है. कैप्टन चौधरी ने रोगी को तो कुछ नहीं बताया किंतु दास के सामने पूरी स्थिति रख दी.

दास अवसन्न. काटो तो खून नहीं! यह क्या! प्रकृति की यह कैसी लीला है! जो व्यक्ति स्वास्थ्य के प्रति ऐसा सजग और खानपान में इतना वैष्णव, उसे यह कैसा रोग! वह कुछ पल जैसे पत्थर बने रहे. डॉक्टर ने उनकी मनःस्थिति का अंदाज़ा लगाते हुए आहिस्ते टोका, ''आप बहुत अवसाद में आ गये हैं क्या! ...तो मैं आपको आश्वस्त कर दूं कि क्षय रोग है तो घातक किंतु यह पहले की तरह लाइलाज रोग नहीं रहा... अब उसका समुचित इलाज सम्भव हो रहा है... बेशक वह भी एक समय था जब कई राजे-महाराजे तक उसका शिकार बने और इलाज पर पानी की तरह धन बहाकर भी अपनी जान नहीं बचा सके किंतु अब स्थिति बदल गयी है... अब उसका विधिवत् इलाज उपलब्ध है...''

''मैं दूसरी बात सोचकर चिंतित हो रहा हूं...'' आवाज़ में भर्राहट थी.

"आप दूसरी कोई बात सोचकर परेशान न हों... उसकी कोई आवश्यकता ही नहीं... मैं जो कह रहा हूं, यह कोई कोरा ढाढ़स नहीं बल्कि प्रामाणिक मेडिकल फैक्ट है... आप इस पर आंख मूंदकर विश्वास कर सकते हैं कि क्षयरोग का यदि नियमित इलाज चले और अपेक्षित परहेज बरते जाएं तो कोई कारण नहीं कि इससे मुक्ति न मिले... मैं अभी खाने की दवाएं दे रहा हूं... उनसे उन्हें लाभ अवश्य होगा किंतु..."

"किंतु... ?"

"हां... किंतु अंतिम तौर पर सूइयों वाला कोर्स लेना ही होगा..."

"यही तो बात है कि सूइयों से वे पूरी तरह आतंकित हैं..."

"आतंक तो रोग का होना चाहिए, भला इलाज से क्या आतंकित होना!"

"भई, कवि हैं... कल्पनानुभूतियों से असम्भव और अलभ्य तक का प्रत्यक्ष अनुभव-संस्पर्श कर लेने वाले..."

"मैं कुछ समझा नहीं..."

"यहां हमारे-आपके सिवा कोई तीसरा व्यक्ति नहीं है इसलिए मैं अपनी आत्मा की एक अनुभूति आपको बता दूं..."

"अच्छा! क्या भला?"

"कोई विश्वास करे या नहीं, हमारे जयशंकर प्रसाद वस्तुतः उस कोटि के मनुष्य हैं जिन का अनुभूति-तंत्र अत्यंत सूक्ष्म प्रभाव-ग्राहक है... उनकी काया अद्भुत है... अथाह जल-तल जैसी प्रतिबिम्ब-[illegible]... आप सामान्य तौर पर, कम से कम चिकित्सकीय सिद्धांतों के तर्कालोक में तो ऐसी व्यक्ति-संरचना की कल्पना भी नहीं कर सकते... वे बोलते या महसूसते हुए जिस शब्द को धारण करते हैं, वह अपने पूरे प्राणपण के साथ उनके रोम-रोम में व्याप्त हो उठता है... सम्पूर्ण द्रष्टव्यता के साथ... उसकी जीवंत उपस्थिति-अनुभूति उनके अंग-अंग से बिच्छुरित होने लगती है, विद्युत-कणों-जैसी... हम लोग यह तो जानते हैं कि सामान्यतः आंखें सामने आये दृश्य को ही तो देख पाती हैं या अन्य ज्ञानेंद्रियां अपने ग्राह्यता-सूत्र के अनुरूप प्रभाव ग्रहण करती हैं जबकि प्रसाद जी क्षण भर की कल्पना मात्र से ही लक्षित वस्तु या पात्र की समस्त ज्ञानेंद्रियों वाली समग्र अनुभूति एक साथ और अपेक्षया अधिक प्रभविष्णुता-प्रखरता से धारण कर सकते हैं... हम लोग यदि हिमालय की धवलता-उच्चता-शीतलता का अनुभव पाना चाहें तो हमें- आपको बर्फीले हवा-बवंडरों से जूझते हुए झुक-झुक व सम्भल-सम्भलकर चढ़ाइयां नापते-लांघते हुए वहां पहले सदेह पहुंचना होगा और इतना करने के बावजूद वहां की कितनी सूक्ष्म अनुभूतियां हम लोग धारण कर सकेंगे, यह भी फिलहाल संदिग्ध ही होगा... किंतु यदि प्रसाद जी चाहें तो उसका ध्यान आने मात्र से ही इसके समग्र भावबोध से शत-प्रतिशत से भी अधिक प्रत्यक्षता-पूर्वक लबालब भर सकते हैं... वह यदि आंखें मूंदते हुए मन बनाकर एक बार आत्मा-

कंठ से उच्चरित [illegible] दूसरे ही पल वे अनंत नील विस्तार के बीच स्वयं को खड़ा साक्षात देख सकते हैं... जहां चिंघाड़ती हुई उठती-उछलती फेनिल श्वेताभ नीलिमा लहरें उन्हें सामने पा शांत होकर नीचे उतरती-लौटती हुई अपने भीगे होंठों से क्रमशः उनके कंधे-बाहें-चरण चूमती हुई भी साक्षात प्रतीत होने लगेंगी!''

''माई गॉड! आप यह सब क्या-क्या कहे-बोले चले जा रहे हैं, मैं ज़रा भी कुछ नहीं समझ पा रहा... एकदम मेरे सिर के ऊपर से गुजर गयी आपकी यह पूरी बात...''

''निस्संदेह मैं जान रहा हूं कि ऐसे बता देने मात्र से आपको मेरी यह बात समझ में नहीं आने वाली हैं... मुझे अपनी बात सप्रसंग उदाहरण देकर स्पष्ट करनी होगी... अन्यथा आप ही क्यों, यह सब सुनकर कोई अन्य व्यक्ति भी मुझे प्रसाद जी का मित्र नहीं बल्कि अंधभक्त ही समझकर चुपचाप आगे बढ़ जायेगा... जबकि व्यक्ति तौर पर तो बेशक मैं उनका मित्र ही हूं किंतु उनकी कवि-प्रतिभा का सचमुच भक्त... आपको सच बता रहा हूं, मैं यह मान चुका हूं कि उनके कवि ने जो 'कामायनी' रची है, उसे आगामी सैकड़ों पीढ़ियां अगले कम से कम दो हजार वर्ष तक तो एकदम समान जिज्ञासा व मग्नशीलता के साथ पढ़ेंगी ही पढ़ेंगी... और ऐसा रचने वाला रचनाकार असाधारण ही हो सकता है!'' दास की आवाज के घनत्व में तथ्य-[illegible] झलकती रही.

''बताइए... बताइए... अब मैं यह सब पूरा सुनना चाहता हूं... उदाहरण क्या...''

''आप तो बीएचयू वाले बीएल साहनी को जानते ही हैं न...?''

''कौन, वो अंग्रेज़ी वाले प्रोफेसर साहब न! हां-हां...''

''हां! हां! ...तो यह घटना मुझे उन्होंने ही सुनायी है... एकदम आंखों-देखी... आप तो जान ही रहे हैं कि प्रो. साहनी अंग्रेजी साहित्य के विद्वान हैं किंतु पड़ोसी होने के नाते उन्हें प्रसाद जी की निकटता व मैत्री-व्यवहार भी सुलभ है... सम्भव है कि उन्होंने समय-समय पर उन्हें 'कामायनी' के अंश सुनाये हों.. तो 'कामायनी' का जादू प्रोफेसर साहनी के सिर चढ़कर कुछ यों बोलने लगा कि वे उसका अंग्रेजी अनुवाद करने की धुन में डूब गये... इसी सिलसिले में वे प्रसाद जी के साथ सुबह-शाम कुछ अधिक ही समय गुजारने लगे... कभी किसी छंद को लेकर तो कभी किसी शब्द-बिम्ब के भाव-बोध के संदर्भ पर वे अक्सर उनसे ज्ञान-घर्षण करने लगते... इसी क्रम में एक दिन एक खास घटना हो गयी... प्रो. साहनी के अनुसार एक दिन सुबह-सुबह गंगा-स्नान के लिए वे प्रसाद जी के साथ दशाश्वमेध घाट के लिए निकले... उन्होंने तो हमेशा की तरह घर में रात भर लेखन-कार्य किया था और पौ फटते ही प्रो. साहनी के साथ निकल पड़े... दोनों ने नहान-सामग्री ले ली और तय कार्यक्रम

के अनुसार बेनियाबाग में घुस गये जहां कुछ देर टहलने का दैनिक कार्य करने के बाद उन्हें घाट की ओर बढ़ना था... संयोग से मुंशी प्रेमचंद मिल गये... बाग में चक्कर लगाते हुए तो दोनों में एक-एक कर कई विषयों पर चर्चाएं होती रहीं... प्रो. साहनी के लिए यह सब लाभप्रद बन गया... सुबह का बाग में टहलना तो इसी तरह हमेशा से लाभप्रद रहा है... कभी मुंशी जी, कभी गौड़ जी, कभी श्यामसुदंर दास, कभी रामचंद्र शुक्ल तो कभी सीताराम चतुर्वेदी- प्रसाद से इन सज्जनों की होने वाली हर चर्चा कुछ न कुछ खास दे ही जाती है... जबकि घाट की ओर निकल जाने के बाद तो घाट व स्नानादि के ही संदर्भ तनने लग जाते हैं, उधर कोई काम लायक उपयोगी चर्चा कम ही हो पाती है! ...''

प्रसाद जी जब दशाश्वमेधघाट पर पानी में उतरे तो एक अजीब घटना हुई... उन्होंने डुबकी लगाने के बाद बालों को हल्के झटकते सिर जब बाहर निकाला तो एक विचित्र दृश्य दिखा...

''हां! तो?''

''तो प्रो. साहनी के अनुसार प्रसाद जी जब दशाश्वमेधघाट पर पानी में उतरे तो एक अजीब घटना हुई... उन्होंने डुबकी लगाने के बाद बालों को हल्के झटकते सिर जब बाहर निकाला तो एक विचित्र दृश्य दिखा... उनका भीगा हुआ चेहरा लाल भभूका होकर दमक रहा था... सामने खिल रहे बाल-सूर्य की तरह... लगा जैसे उन्होंने काशी-गंगा में नहीं बल्कि अग्नि- गंगा में गोता लगाया हो... बालों और त्वचा से टघरती हुई जैसे तरल आग झड़ रही हो... छिटकती-टघरती लाल-लाल बूंदें-लकीरें सर्वथा रोमांचक सौंदर्य यह देख साहनी न केवल स्तब्ध बल्कि किसी हद तक भयभीत भी हो उठे- ऐसा भला कैसे हो सकता है! मन की मथनी घरघराने लगी... उन्हें स्वयं की इस अनुभूति पर संदेह हुआ, कहीं यह भ्रम तो नहीं... इसके लिए मन ने तर्क भी जुटाया- लगा, यह भ्रम इसलिए हुआ होगा क्योंकि दिलो-दिमाग में तो 'कामायनी' का विरल अनुवाद करने का जुनून मचल रहा है... एक ही भूत सवार है कि सही भावालोक छानना है... इसलिए मस्तिष्क में हर समय 'कामायनी' का काव्यालोक ही तो छाया रह रहा है... दूसरे, प्रसाद जी का व्यक्तित्व इतना सम्मोहक है कि यह रह-रहकर अपने प्रभाव- परिधि में कस ही ले रहा है... ऐसे में आखिर ऐसे दिवा-स्वप्न ही तो दिखेंगे!...''

''अच्छा! ऐसा ?''

''यही नहीं... असली प्रसंग जो प्रो. साहनी ने बताया उसके अनुसार दोनों जब घाट की सीढ़ियां चढ़ते हुए ऊपर आने लगे तो एक दूसरी विचित्र घटना हो गयी...''

''अच्छा! क्या हुआ ?''

"प्रो. साहनी के अनुसार प्रसाद जिस सरल-रेखा में सीढ़ियां चढ़ रहे थे उसी दिशा में सामने से एक कुष्ठ-पीड़ित भिक्षुक आता दिख गया... आश्चर्य कि उसे देख लेने के बाद भी वे बगैर दायें-बायें हुए सीधे कुछ इस कदर सोपान-दर-सोपान चढ़ते रहे गोया उससे टकरा ही जाना चाहते हों... साहनी चौंके, कुछ कहते इससे पहले भिक्षुक और वे एकदम आमने-सामने खड़े थे... बीच में एक हाथ से भी कम दूरी, यानी लगभग सटकर... प्रसाद ने पहले कुछ पल उसकी आंखों में आंखें डालकर ताका, तत्पश्चात उसके टिढुयाये गलित उंगलियों वाले हाथ को एकटक देखने लगे... इसके बाद तो यह बाजाप्ता प्रत्यक्ष दिखाई पड़ा कि उसे ताकते हुए तीव्र गति के साथ प्रसाद का हाव-भाव बदलने लगा... पास ही भौंचक खड़े साहनी मामले को समझने का प्रयास करने लगे... तभी दूसरे ही क्षण उनका ध्यान प्रसाद के हाथों पर गया... सामने एकटक ताकते हुए वे पत्ते की तरह प्रकम्पित हो रहे थे... उन्होंने भिक्षुक के गलित उंगलियों वाले हाथों की तरह ही अपने हाथ भी सामने कर लिये थे और दहलाने वाली बात तो यह कि उसी की तरह उनके हाथों की उंगलियां भी ऐंठने और टिढुआने लगीं... साहनी जितने ही हतप्रभ, उससे अधिक परेशान... अब क्या करें! तभी उन्हें लगा कि अब मूकदर्शक बना रहना कदापि उचित नहीं होगा... उन्होंने सीने में पूरी ताकत बटोरकर ज़ोर से आवाज़ लगायी... प्रसाद की तंद्रा टूट गयी, वे सिर झटकारते हुए अचकचाये से मुड़े और ताकने लगे... भिक्षुक कांपता हुआ सामने से हट गया.. अब उन्होंने लगभग धकेलते हुए प्रसाद को आगे बढ़ा दिया... वे कच्ची नींद से जागने की तरह आंखें मलकाते हुए कदम घसीटने लगे..."

भौंहों से ललाट पर जिज्ञासाएं भींचे और होंठ गोलियाये कैप्टन चौधरी मुंह ताकते रहे.

दास आगे बोले, "तो, हमारे मित्र का तन-मन ऐसा सूक्ष्म संवेदन-ग्राही है..."

कुछ पल दोनों मौन रहे.

चुप्पी को कैप्टन चौधरी ने तोड़ा, "...आप एक काम करें..."

"क्या ?"

"ऐसी कोई व्यवस्था बनाइये कि प्रसाद जी को किसी खुले बगीचे में रहने की सुविधा मिल सके... ऐसी जगह में रहने पर कम समय में अधिक लाभ मिल सकता है..."

"तो ऐसे में उनकी दवाएं यही होंगी न! खाने वाली ही न ?..."

"बंधु, एक बात ठीक से समझ लीजिये... इस रोग का फिलहाल तो असली इलाज वही सुई वाला कोर्स ही है... खाने की दवाएं अकेले काम नहीं करेंगी..."

"यही तो पेंच है... असल में सूई के नाम से उनको भारी आपत्ति है... किसी ने उन्हें टीबी के उपलब्ध इलाज की पूरी प्रक्रिया ही समझा डाली है... और यह बता दिया है कि लम्बी वाली सुई छाती में

अनिवार्यतः घुसेड़ा जाता है... [illegible] तो वे इससे घनघोर आतंकित हो गये हैं...''

व्यास छत पर टहलते-टहलते रुक गये हैं. गंगाभिमुख हो सीधे खड़े हुए और सामने ताकने लगे. अपने में डूबे, स्व से निकलकर. सामने बहती धाराएं और पसरी हुई अगाध बालुका-राशि. ध्यान जाते ही चमत्कृत रह जाना पड़ा- तीसरे तल्ले की इस ऊंचाई पर हवा के संस्पर्श का शारदीय आवेग-आस्वाद तो आज गजब बदला-बदला हुआ है! पल भर में एकदम शिशु बना दे रही है, ऊपर से ममत्वपूर्ण स्नेहिल आंचल डाल बेतहाशा माथा-गाल चूमती हुई! दूसरे ही क्षण शरारती बालक करार देकर कान ऐंठने से लेकर पीठ पर धब्ब-धब्ब रखने में भी देर नहीं! हृदय ने हंकाकर स्मारित कराया- सृष्टि में प्राण तत्त्व प्रवाहित करने वाली यही तो जीवन-जगत की मां है! और, तिस पर विरल सौभाग्य यह कि उसे गंगा से अभिमंत्रित होने का अनोखा अवसर मिल रहा है! ऐसे में तो अमरत्व के मर्म-स्पर्श-सुख की धारा बनी यह साक्षात महादेवी है!

संगुआ ने नीचे से आकर बताया, ''सरायगोवर्द्धन से गंगाराम भइया आयल हउवन!''

व्यास हड़बड़ा गये- प्रसाद जी का यह आदमी तो झंझट का पक्का प्रतीक है. जब कभी कचहरी जाइये, यह मिल ही जायेगा- दोनों कांखों में मुकदमों की मोटी-मोटी फाइलें दबाये, बाज जैसा मुंह ऐंठते इधर से उधर [illegible] हुआ! तो उसे यह उन्होंने क्यों भेजा! सोचते-सोचते माथा चकरा गया. पांव में जैसे पंख लग गये हों. दौड़ते हुए-से तुरंत सीढ़ियों की ओर लपके.

पीछे-पीछे साथ चल रहे उसने आगे बताया, ''...हाथे में एक ठे झोरा लटकउले हउवन... वोह में कौनो पोथा बुझात है... हम मंगली तऽ कहलन कि पण्डित जी के हाथे में देवेके हौ!''

माथा ठनका- पोथा! यह पोथा कौन-सा लेकर आया है वह? अनजाने ही 'तितली' तिक्त प्रसंग कौंध गया. दिल में कसक-सी उठी- इस 'तितली' ने तो बिच्छू को भी मात दे दी है... ऐसी डंक लगायी है, जिसे इस जीवन में तो शायद ही कभी विस्मृत किया जा सके! इसके चक्कर में कैसा संत्रास झेलना पड़ा! चौतरफा नुकसान भी. उन जैसे तेजस्वी-ओजस्वी-मनस्वी रचनाकार, जो अतीत-इतिहास की शताब्दियां खंगालने-निचोड़ने और पुराण-उपनिषदों का सागर-मंथन करने में ही लगातार जुटा रहता हो, से गंगा-वरुणा के तटों के गांव-गली-कस्बों की मौजूदा ज़िंदगी पर उपन्यास लिखवा लेना क्या कोई हंसी-खेल की बात थी! इसके लिए उन्हें साधने का काम किसी बाघिन को दुहने से कम दुष्कर कहां था! लेकिन, खैर... उन्होंने इस नाचीज़ की ज़िद रखी और यह लेखन-कार्य शुरू भी किया किंतु ऐन इसके पूरा होने से ज़रा-सा पहले भंडोल हो गया. रायकृष्ण दास की तिजारती नज़र लग गयी! मेरे 'पुस्तक मंदिर' से

खींचकर उसे अपने 'भारती भण्डार' की पुस्तक-सूची में सजाने के लिए उन्होंने कैसी अचूक चाल चली! मेरा सारा श्रम बेकार चला गया! घाटा लगा सो अलग! पाक्षिक जागरण के बारह अंकों में छपे अंशों के समांतर पुस्तक के मुद्रित फर्मे बेकार हो गये.

सीढ़ियों से उतरकर बरामदे में आते ही गंगाराम ऐन सामने पड़ गया, झोला लटकाये, ''काऽ हो गंगा! हमार गुरूजी तऽ ठीक-ठाक हउवन नऽ...'' बोलते हुए व्यास ने झोले को तजबीजना जारी रखा. लग गया कि कुछ और नहीं, पुस्तकें ही हैं!

वह झोले को आगे किये हुए तेजी से बढ़ता हुआ पास आ गया, ''...बाऊसाहेब इहे भेजले हउवन... आपके हाथे में देवेके रहल, इहे बदे संगु भाई के हम ना देली...''

कलेजा धक से करके रह गया व्यास का- इसमें ऐसा क्या है जो सिर्फ मेरे ही हाथ में थमाना है! बात खटक गयी, यह प्रसाद जी की हिदायत है, जरूर कोई गहरी बात है!

गंगाराम ने हाथ बढ़ाया और झोला पकड़ा दिया. संशय-संदेह से भरी जिज्ञासा असह्य हो उठी, व्यास ने तत्काल उसके भीतर हाथ डाल दिया. अंदाजा सही निकला, दो किताबें! बाहर निकालते ही माथा सनसना गया- यह तो 'प्लूटाकर्सः पैरेलल लाइव्स' की वही दोनों जिल्दें हैं, जो उनकी पसंदीदा किताबें रहीं! कलेजे को धक्का लगा- यानी वे अपने देने-पावने का हिसाब बराबर कर रहे हैं!

''...वेल मिस्टर डॉक्टर! टेक केयर... बाहर खतरा है... बहुत सम्भल के निकलना... बच-बचाकर निकल जाओ... अंगरेज लोग बौखला गये हैं... दरअसल, एक गोरे का खून हो गया है नऽ...''

दिमाग में बातें कौंधने लगीं. यही दो पुस्तकें रहीं जिन्हें वे अपनी आलमारी में वर्षों सजाये-संजोये रहे. उनके अलावा जब भी कोई पुस्तक यहां से मंगायी उसे पढ़कर अनिवार्यतः लौटाते रहे किंतु उन्हें नहीं. लम्बे समय के बाद अंततः यह मान लेना पड़ा कि अब शायद ये पुस्तकें उन्हीं के पास रह जायें! यों तो यहां उनका कभी कोई खास प्रयोग-प्रयोजन नहीं बना कि उनसे मांगने का बहाना बनता. हां, पूज्य पिताश्री के अनमोल पुस्तक-संग्रह का अंग होने के चलते स्मृति-चिह्न के रूप में आलमारी में उनकी कमी हमेशा अलग से टीस जाती. उसे यही अहसास उत्पन्न कर सहते रहना पड़ा कि पिताश्री की यह विरासत गुरु समान अग्रज रचनाकार के पास ही तो संरक्षित है! वे बीच-बीच में उसकी चर्चा अवश्य करते- यथा : '...यह प्लूटाकर्स : पैरेलल लाइव्स बहुत पुराना ग्रंथ है'... 'उसका बहुत ऐतिहासिक महत्त्व है'... 'स्वयं शेक्सपीयर ने इस ग्रंथ का प्रयोग स्रोत के तौर पर

किया है'... 'प्लूटार्क जब एथेंस के दार्शनिक ऐमोनियस और काय चिकित्सक ओनिसाक्रिटीज से शिक्षा ग्रहण कर रहा था तब यानी 66 ईसवी में नीरो सम्राट पहली बार ग्रीस आया था... प्लूटार्क को रोम-प्रवास के अनेक अवसर मिले थे, जिनसे वहां के भूगोल, इतिहास और जनजीवन का उसे पर्याप्त ज्ञान हो गया... इसलिए 'प्लूटाकर्स पैरेलल लाइव्स' में वह रोम और ग्रीस के अपने समकालीन महान व्यक्तित्वों का अधिकतम प्रामाणिक पैरेलल जीवनवृत्त प्रस्तुत कर सका'... आदि-आदि! यह सब सुनते हुए लगता कि इस तरह वे शायद यह बताना चाह रहे हों कि इन पुस्तकों को उन्होंने प्रयोजनपूर्वक अभी अपने पास रख छोड़ा है अर्थात् उनका अभी इस्तेमाल बाकी है!

बाद में लम्बा समय बीत गया किंतु पुस्तकें वापस नहीं आयीं. बात आयी-गयी हो गयी. किंतु अब उन्होंने इतनी संजीदगी के साथ उन्हें वापस कर दिया! इससे आखिर वे क्या जताना चाह रहे हैं! यही न कि उनके ऊपर कुछ भी बकाया नहीं रहा!

कैप्टन चौधरी की दवा का असर हुआ. स्वयं प्रसाद ने अगले किसी दिन दास को बताया, ''मित्र, मैं भीतर से स्वयं को अपेक्षाकृत काफी स्वस्थ और क्रमशः संकट-मुक्त होता हुआ महसूस कर रहा हूं... लगता है यह चौधरी महाशय मुझे बचा ही ले जायेंगे...''

''बचाने का काम किसी और से नहीं बल्कि तुम्हारे स्वयं के हाथों ही सम्भव है...''

''अच्छा! तुम कहना क्या चाहते हो?''

''चौधरी साहब ने यह सलाह दी है कि तुम किसी खुले बगीचे वाली जगह में रहो तो अधिक लाभ होगा.. वहीं इलाज भी चलता रहेगा.. तुम कहो तो मैं ऐसी व्यवस्था करवा दूं...''

''अगर ऐसा आवश्यक हो, तो पूछने की भला क्या बात! देख लो कहीं कोई ऐसा स्थान जंचे तो किराये पर लिया जा सकता है...''

दास ने सिर खुजलाते हुए कहा, ''मैंने व्यवस्था देख ली है... सारनाथ में ऐसी एक जगह पता चल गयी है... तुमने सहमति दे दी है तो अब मैं आज ही जाकर उसे देख आता हूं... यह अच्छी बात है कि तुम घर छोड़कर कहीं और रहने पर एक ही बार में सहमत हो गये... वरना, मैं तो डर रहा था...''

''डर क्यों रहे थे भई!''

''क्योंकि मुझे यह बात ठीक से पता है कि तुम ऑरिजनल नाटककार हो!''

प्रसाद के चेहरे पर मद्धिम मुस्कान आ गयी.

देर शाम आकर दास ने सारनाथ वाले प्रस्तावित बगीचे पर अपनी सहमति की मुहर लगा दी. प्रसाद ने टोका, ''लेकिन मुझे एक बात समझ में नहीं आ रही कि

यहां अपने परिसर [illegible] ही हरियाली और खुली हवा है... फिर तुम क्यों मुझे रहने के लिए खामख्वाह सारनाथ भेजना चाहते हो!''

दास की आंखों में संदेह चमका, ''यह क्या! सुबह तो तुमने अपनी उन्मुक्त सहमति दी थी, बिना किसी किंतु-परंतु के... अब यह अचानक कैसी बातें करने लगे?...''

''अचानक या अकस्मात् की बात नहीं! तुम स्वयं सोचकर देखो कि मैं भला गलत क्या कह रहा हूं...''

''अरे भई, यहीं रहते हुए तो तुम्हें यह रोग लगा है... इसीलिए तो स्थान-परिवर्तन की चिकित्सकीय सलाह मिली है...''

लखरानी देवी पता नहीं कब से आकर खड़ी थीं. बरामदे में, दरवाजे के उस तरफ. दोनों का ध्यान तब गया जब उन्होंने तेज स्वर में हस्तक्षेप किया, ''बच्चा, तू अब पैंतरेबाजी मत शुरू कराऽ... चुपचाप डाक्टर के सलाह पर अमल होखे के चाहीं...''

प्रसाद ने किसी बच्चे की तरह ठिठककर चुप्पी ओढ़ ली. वह समीप आ गयीं. दास से उन्होंने डाक्टर की सलाह और सारनाथ के प्रस्तावित बगीचे की पूरी जानकारी ली. प्रसाद होंठ सिले बैठे रहे. भाभीश्री और दास के बीच लम्बी चर्चाओं के बाद अंततः सारनाथ का कार्यक्रम तय हुआ. निश्चय हुआ कि दूसरे दिन बगीचे वाले को अग्रिम किराया भेज दिया जायेगा और वहां के लिए [illegible] प्रस्थान. साथ में कमला देवी भी जायेंगी और गंगाराम भी.

बस आ गयी. संतु और गंगाराम बंधे हुए सामान लादने लगे.

दास आये तो गंगाराम आग्रह के साथ हंसा, ''आप बीच-बीच में सारनाथ आयेंगे न?''

''हां! क्यों नहीं! बिना जयशंकर के मुझे यहां चैन कहां मिलने वाला! कोशिश में हूं कि अपना अधिकतम समय मैं वहीं बिता सकूं...'' दास संजीदा हो गये, ''जितनी देर नहीं आ सकूंगा, यहां मेरी काया भर अटकी होगी, आत्मा तो वहीं मंडराती रहेगी जहां मेरा मित्र होगा..''

दास भीतर जाते इससे पहले गौड़ आ गये. दोनों बातें करने लगे. गौड़ को आश्चर्य हुआ, ''मैं अब भी यह विश्वास नहीं कर पा रहा कि प्रसाद जी यहां से हटने और कहीं अन्यत्र प्रवास करने पर राजी भी हो सकते हैं... लेकिन आपके चलते यह असम्भव सम्भव हो रहा है...''

बस पर सामान का बंडल चढ़ाकर लौट रहा संतु आया और पास ही रखी कुर्सियों करीब खिसका दी. यह देख गौड़ मुस्कुराये. उन्होंने सिर हिलाकर उसे जाने और अपने काम में लगे रहने का संकेत दिया. वह चला गया. दास ने आंखें मूंदकर भरपूर संतोष व्यक्त किया, ''खैर, किसी तरह उन्हें राजी तो कर लिया गया है... अब कामना यही है कि इस रोग से यथाशीघ्र मुक्ति मिल जाये...''

गौड़ ने दास को भी संकेत किया और कुर्सी पर बैठ गये. दोनों इधर-उधर की बातें करने लगे. अचानक भीतर से संतु घबराया-सा आया, ''बाबूसाहेब के तऽ तबीयत फिर बिगड़ गल हौ... आपलोग जल्दी चल के देक्खाऽ... रजाई के ऊपर कम्बल ओढ़ावल गल हौ तब्बो उनके थरथरी कम ना होत हौ...''

दोनों हड़बड़ाकर उठे. दनदनाकर भीतर गये. प्रसाद बिस्तर पर रजाई-कम्बल में ढंके हुए हैं. भाभीश्री सिरहाने खड़ी हैं. आंखें डबाडब, सिर झुका हुआ. कमला देवी गोरतारी बैठी तलवों पर कपड़ा रगड़ रही हैं. दोनों को देखकर बैठे-बैठे ही उन्होंने सिर पर आंचल थोड़ा आगे खींच लिया. सिर को थोड़ा और अलोत कर अपना काम करती रहीं. भाभीश्री ने दृष्टि उठाकर दोनों की ओर देखा फिर पूर्ववत् हो गयीं. दास ने निकट जाकर धीमे पूछा, ''इधर कुछ समय से तो बुखार आना बंद हो गया था, फिर अचानक यह क्या हो गया!''

''बुखार आना तो कभी बंद नहीं हुआ... हां, उसका समय अवश्य बदल गया है... कल तक यह शाम में आता रहा... लेकिन पता नहीं कैसे आज पूर्वाह्न में ही उसका प्रकोप हो गया... वह भी ऐन इसी समय जबकि सारनाथ की रवानगी हो[ने] वाली है...''

''देखिये, मैं बीमार होकर बिस्तर पर गिरा हुआ हूं... पता नहीं आगे की क्या होगा... यदि आपको भविष्य के कुछ गड़बड़ संकेत मिलें तो यह सब कृपया हमें मत बताइयेगा... ताकि बचे हुए क्षण अतिरिक्त तिक्तता में न डूब जायें...

दास ने सहमति में सिर हिलाया, ''हां, उसे तो एक संयोग ही कहा जा सकता है ...वैसे, कहीं ऐसा तो नहीं कि प्रवास के लिए सारनाथ जाने के नाम पर यह [मन] से उत्पन्न ताप है!''

कमला देवी ने विनम्रतापूर्वक उनकार [में] सिर हिलाया और संकेत किया कि उनके हाथ तो तलवों को छू रहे हैं, यह बहुत अधिक जल रहे हैं!

गौड़ ने धीमे-धीमे सलाह दी, ''अ[भी] उन्हें आराम करने दि[या] जाये... सारनाथ जाने [का] कार्यक्रम तो कुछ दिन टा[ल] ही देना पड़ेगा...''

''डाक्टर साहेब, बब[आ] के न कौनो दोसर डाक्टर पर विश्वास हौ न अंगरेजी दवाई पर... कृष्णदा[स] जी एक ठे दोसर डाक्टर के लग्गे इन्ने ले ग[इल] रउन... ओकर दवइयो चलल... कु[छ] फायदो बुझाल लेकिन अब दसन दिन [से] रोज संझा के उनके बोखार हो जात हौ... कंपकंपी तऽ उनके अइसन छूटत हौ कि कुछ मत पूछाऽ... रजाई पर रजाई ओढ़ा देलो के बाद भी ई कांपत रहऽलन! य[हां] पर बच्चा दू-तीन दिन से आपके नाम रटऽ[त] हउवन- हम्मर दस हजारी मंसबदार डाक्टर हूबदार के बोलावाऽ! बिना हूबदार के लगले

हमार बीमारी ना खतम होई!...'' लखरानी ने डाक्टर का गेट पर ही स्वागत किया और बताती हुईं साथ लिये हुए कमरे में आ गयीं.

रजाई के नीचे प्रसाद गहरी नींद में हैं. डाक्टर ने सिर उघार कर देखा, ''...दवा तो हम दे दे रहे है लेकिन उन्हें अभी सोने ही दीजियेगा... रात भर सोये रह जायें तब भी कोई बात नहीं, जगाइयेगा मत! ...यह दवा सुबह से भी शुरू हो सकती है... लेकिन यदि कुछ घंटों बाद जग जायें तो दवा तत्काल शुरू करा दीजियेगा...''

रत्नशंकर ने आकर अभिवादन किया. डाक्टर ने आशीषते हुए उसके सिर पर हाथ रखा. भीतर के कमरे से कमला निकलीं, डाक्टर ने हाथ जोड़ लिये, ''भाभीश्री, प्रणाम!''

आंचल सम्भालते हुए उन्होंने अभिवादन का उत्तर दिया. आगे बताने लगीं, ''... बोखार जब बढ़ जात हौ तऽ ई बड़बड़ाये लागत हउवन... अजीब-अजीब हवा-हवाई बात बोले लागत हउवन... येह से मन बहुत घबरा जात हौ... डर लागे लागत हौ... डाक्टर साहेब, आप उनके जल्दी ठीक कराऽ... उनके स्वस्थ भल बहुत जरूरी हौ...''

रजाई पर रजाई. इतना के बावजूद थरथर कांप रहे हैं ढंके लेटे प्रसाद. कभी कट्-कट् कट्-कट् दांत बज रहे हैं तो कभी कुछ मद्धिम-सी बड़बड़ाहट. डाक्टर ने भीतर हाथ डाल कांख से थर्मामीटर निकाल लिया. उसे आंखों के सामने किया और नजरें गड़ायी, ''...एक सौ चार डिग्री! ओफ... बहुत अधिक बुखार है...''

दवा बनाकर उनका मुंह उघारा और कागज के टुकड़े को वी-आकार में मोड़े एक खुराक डाल दिया. उन्होंने जल्दी-जल्दी स्वयं ही रजाई मुंह पर खींच ली. डाक्टर ने कुछ पुड़िया सौंपते हुए लखरानी को समझाया, ''...चार-चार घंटे पर खुराक उन्हें देते रहें... बुखार कम हो जायेगा लेकिन रोज सांयकाल में बुखार बढ़ क्यों जा रहा है, यही स्पष्ट नहीं हो पा रहा...''

''इहै तऽ चिंता के बात हौ...'' लखरानी की व्यग्रता व्यक्त.

''अच्छा... तो मैं कुछ घंटे के लिए यहां से अनुपस्थित होता हूं... निकलूं?''

लखरानी कुछ बोलतीं इससे पहले ही रजाई के नीचे बड़बड़ाहट थोड़ी तीव्र हो गयी ''...वेल मिस्टर डॉक्टर! टेक केयर... बाहर खतरा है... बहुत सम्भल के निकलना... बच-बचाकर निकल जाओ... अंगरेज लोग बौखला गये हैं... दरअसल, एक गोरे का खून हो गया है नऽ...''

''ठीक है... ठीक है... थैंक्यूं... प्रसाद जी, आपने अच्छा किया कि मुझे सतर्क कर दिया...'' डाक्टर ने उन्हें आश्वस्त किया और बाहर निकल गये.

प्रसाद ने हांक लगायी, रतनशंकर आकर सामने खड़ा हो गया. मुंह से रजाई का कोर हटाते हुए उन्होंने आंखें नचायी.

आवाज एकदम महीन, "...देखो, बाहर गली में जाकर मामिला जल्दी सम्भालो नहीं तो बहुत दिक्कत हो जायेगी..." पास ही खड़ी लखरानी के ललाट पर बल, आंखें डबाडब. वे बड़बड़ाते हुए बोलते चले जा रहे हैं, "...नीचे एक लम्बी नीले रंग की कार से उतर रहा एक गोरा जनाक्रोश का शिकार हो गया है... उसे गोली मार दी गयी है ...तुम जाकर देखो कि कोई पकड़ा तो नहीं गया... उसकी लाश का क्या हुआ... कहीं प्रमाण न रह जाये! ... खड़े-खड़े मेरा मुंह क्या ताक रहे हो! जाओ, जल्दी जाओ... तुरंत व्यवस्था करो..."

लखरानी का संकेत पाकर रत्नशंकर बोला, "मैं तुरंत सब व्यवस्था करके लौटता हूं!..."

वह मुंह उघारे स्वगत बोलते चले जा रहे हैं, "मैंने भी बलंडर कर दिया! खमख्वाह बच्चा को गलत जगह भेज डाला... कहीं कुछ परेशानी न पैदा हो जाये... क्यों जल्दी नहीं लौटकर आ रहा वह!"

थोड़ी देर बाद आकर रत्नशंकर तो उन्होंने व्यग्रतापूर्वक प्रश्न किया, "क्या हुआ? "

"...आपने सही बताया था... काण्ड सचमुच हुआ है... लाश उसी कार में रखकर हटा दी गयी है... कोई गिरफ्तार नहीं हुआ है... खून के निशान भी धो डाले गये हैं..."

उनके चेहरे पर ही नहीं आवाज में भी संतोष के भाव मुखर हो उठे हैं, "ठीक! बहुत सही किया बेटा!" दूसरे ही पल आगाह करने लगे, "...किंतु अभी भी सीआईडी वाले आयेंगे... सावधान!" रत्नशंकर ने सहमति में सिर हिला दिया.

दास सुबह-सुबह पहुंचे. बिस्तर के पास ही कुर्सी पर बैठे हैं प्रसाद. चेहरा मुरझाया हुआ. झोलंग कुर्ते में शरीर झुरझुराया-सा. बैठने के अंदाज़ से शारीरिक कमजोरी व्यक्त हो रही है, किंतु आंखों की चमक में जरा भी कोई अंतर नहीं. मित्र को सामने देखकर वे खुश हुए. मुस्कुराये, किंतु एक अशक्तता के साथ.

दास अपने चेहरे पर मुस्कान लगाये गति-पूर्वक निकट गये और उनके दोनों हाथों को आहिस्ते पकड़ लिया, "मित्र, आज अभी मैं कैप्टन चौधरी के यहां से होता हुआ आ रहा हूं... उनका कहना है कि तुम्हारा केस अभी नियंत्रण की स्थिति के भीतर ही है... चिकित्सा नियमित चलती रहनी चाहिए... हर हाल में इस रोग से मुक्ति मिलेगी..."

प्रसाद ने हाथ उठाकर अनिश्चय व्यक्त किया, "अब चाहे जो हो! चिकित्सा तो हम लोग चला ही रहे हैं और उसे आगे रोकने भी नहीं जा रहे... लेकिन वही है कि मुझे सीने में सूई नहीं घोंपवानी है... इसके अभाव में चाहे जो हो जाये... दवा जितनी कहें खाने को तैयार हूं... कहें तो चने-चबेने की तरह एकाध सेर भी फांक लिया करूं लेकिन सूई नहीं लूंगा... बाप

रे बाप! बित्ते भर की सूई सीने में! न बाबा ना! इसके बदले दूसरा कुछ भी स्वीकार्य होगा... लेकिन सूई...''

गंगाराम आकर कोने में खड़ा है. चुप और उदास. दास भी चुप. जैसे उनके मन के ऊपर विशालकाय चट्टान आ गिरी हो. प्रसाद ने संदिग्ध चुप्पी को ताड़ लिया, ''क्यों, क्या बात हुई ? क्यों अचानक चुप हो गये ? क्या कहा है कैप्टन चौधरी ने ? मुझे सूई तो नहीं लेनी पड़ेगी न ?''

दास की चुप्पी कठोर होती जा रही है. स्याह और अभेद्य. इस पर प्रसाद की बेचैन जिज्ञासा जैसे अपना सिर पटकने को बेताब, ''खुले बगीचे वाले स्थान में प्रवास करने पर केवल खानेवाली दवा से तो काम चल जायेगा न ?''

दास की आंखें छलछला आयीं, ''मेरे मित्र, मैं कैसे झूठ कह दूं... जिस रोग ने तुम्हें दबोच लिया है, उसकी फिलहाल इकलौती चिकित्सा वही सूइयों वाला इलाज ही है... खुले स्थान में रहने से इतना भर सम्भव होगा कि स्वास्थ्य-लाभ जल्दी होने की सम्भावना बढ़ जायेगी... किंतु सूइयां तो लेनी ही होंगी...''

प्रसाद के मुखमण्डल पर वेदना के काले-काले गुच्छे झुक आये. गंगाराम डबडबा गया. वह बहुत आहिस्ते वहां से चला गया.

वे एक-दूसरे को रह-रहकर ध्यान से देख लेते किंतु दोनों ओर व्यथित मौन प्रवाहित होता रहा. बेचैन धारा की तरह.

सूर्यनारायण व्यास उज्जैन से काशी आये हैं. मिलने सरायगोवर्द्धन पहुंचे. बिस्तर पर पड़े प्रसाद को देखकर वे दुखद आश्चर्य से भर गये. चिंता से बेचैन. देर तक निर्वाक् खड़े ताकते रहे. अशक्त प्रसाद लेटे-लेटे उनकी मानसिक अवस्था का अंदाजा लगाते रहे. बहुत आहिस्ते किंतु ठोस निश्चयता से बोले, ''पण्डित जी, स्थान ग्रहण कीजिये...''

वे बैठ गये, ''प्रसाद जी, अचानक आपको मैं आज यह किस रूप में देख रहा हूं... कहां तो मैंने यह आशा की थी कि यहां पहुंचूंगा तो आप अखाड़े में मुगदर भांजते हुए या उद्यान में पत्थर की चौकी पर लेटे शरीर में तेल की मालिश कराते मिलेंगे लेकिन यहां आकर आपको इस दशा में देख रहा हूं...''

प्रसाद टुकुर-टुकुर ताकते रहे. चुपचाप. अशक्तता और अवशता के साथ. सूर्य नारायण की वाणी में संशय, भय और क्लेश के मिले-जुले भाव ध्वनित हो रहे थे, ''अवश्य ही यह ग्रह-दशा के हेरफेर का परिणाम हो सकता है... आप यदि अन्यथा न लें तो मैं आपकी जन्मपत्री देखना चाहूंगा...''

परदे के उस ओर कमला देवी ने बात सुन ली. तुरंत भीतर के कमरे में चली गयीं. प्रसाद ने हंसकर हवा में हाथ लहराया, ''देखिये, भई! ...ज्योतिष में मेरा विश्वास नहीं जम पाता!''

सूर्य नारायण हंसे, ''अच्छा! ऐसा!!

...आप जैसा शास्त्रों का गहन अध्येता यदि किसी भी कारण अविश्वास पाल रहा है, तो यह हमारे लिए एक गम्भीर विचारणीय पहलू है... खैर, उसका विधिवत् विश्लेषण होना चाहिए...''

प्रसाद बिस्तर पर उठने का उपक्रम करने लगे. सूर्यनारायण लपक कर पास आ गये. दोनों हाथों से कंधों के पास पकड़कर उठने में उन्हें मदद देने लगे. प्रसाद बायें हाथ की कुहनी के बल अधलेटे-से होकर थोड़े उठ गये. तकिये के सहारे. वाणी में पर्याप्त दृढ़ता ''मेरा यह दृष्टिकोण किसी आकस्मिक विचार-बहस से नहीं बना है... बचपन में स्वयं के साथ एक ऐसी घटना ही हो गयी जिसकी घर में लगातार उपहासात्मक चर्चाएं जारी रहीं लिहाजा मेरी यह मनोवृत्ति निर्मित हो गयी! उसे फिर बदलने वाली कोई घटना नहीं हुई...''

''...घटना... क्या घटना हुई थी?''

''बात तब की है जब मैं बहुत छोटा था. इतना कि बाद में लगातार घर में उसकी चर्चा न होती रहती तो उसे याद रख पाना भी सर्वथा असम्भव था. ...कुल की प्रथा के अनुसार काशी के केदार-क्षेत्र और विंध्य के मातृ-प्रक्षेत्र में तो मेरा मुण्डन-संस्कार हो चुका था किंतु माता-पिता द्वारा कुछ अन्य तीर्थों के लिए संकल्पित चूड़ा-कर्म के अवसर की प्रतीक्षा में शीश जटाजूट से भर गये थे. तो केश बड़े-बड़े और नाक में झूलती हुई पारम्परिक बुलाक. कमर में रुनझुन बजने वाला नन्हें घुंघरुओं वाला डांड़ा भी! बालक ठुमुक-ठुमुक चलता. मृगछौनी दौड़ लगाता रहता. केश हवा से खेलते हुए हिलते-डुलते रहते. घर-आंगन में रुनझुन-रुनझुन गूंजती रहती. उन्हीं दिनों शृंगेरी मठ के एक भविष्य-वाचक आचार्य आये. मठ के साथ मेरे कुल का पुराना भावात्मक जुड़ाव रहा, इसलिए आचार्य का खूब स्वागत हुआ. मेरे पिताश्री उनकी सेवा में स्वयं जुट गये. ऐन उसी समय सामने रुनझुन-रुनझुन खेलते बालक पर आचार्य का ध्यान स्वाभावतः चला गया. उन्होंने अपनी ओर से उत्सुकता दिखायी और दोनों हाथ फैलाये बालक को पुकारने लगे. पिताश्री ने आगे बढ़कर भागते बालक को पकड़ लिया और आचार्य के समक्ष लेकर खड़े हो गये. आचार्य बालक के बालों को प्यार से सहलाने लगे- भाई देवीप्रसाद, तुम्हारी यह बिटिया तो प्रतिभा और प्रसिद्धि का शीर्ष छूकर रहेगी.. उसका भाग्य पूर्णिमा की चांदनी से भरी

> **...काया हमेशा कांच की होती है... चाहे जैसी चटक-चमकीली दिख रही हो... यह तो हर क्षण छीजती ही जाती है... काल का जरा-सा प्रतिकूल आघात पड़ा नहीं कि पल भर में टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर जाने वाली.**

नदी की तरह है... यह जिस कुल में जायेगी उसे और अपने पितृ-कुल, दोनों को ऐसा यश-विस्तार देगी कि उसकी हमलोग अभी सही-सही कल्पना भी नहीं कर सकते... सचमुच अनोखी और अपूर्व... -वे बोलते हुए बालक के शीश पर कुछ इस तरह हाथ फिरा रहे थे जैसे भविष्यत् सौभाग्य के शुभ अक्षर-बीजों को आशीष-सिक्त कर रहे हों. पिताश्री लगातार मुस्कुराते चले गये. आचार्य को जब यह मुस्कान अर्थपूर्ण लगी तो रुककर उन्होंने जिज्ञासा-दृष्टि स्थिर की. पिताश्री हंस पड़े- "पण्डित जी, लेकिन यह बिटिया नहीं, बच्चा है! आचार्य एक पल के लिए स्तब्ध, किंतु दूसरे ही पल फिर गम्भीर वाचक-मुद्रा में आ गये- भाई, यों तो तुम स्वयं देवी के प्रसाद स्वरूप हो... मैं इसमें उस महामाया भगवती की स्पष्ट आकृति देख रहा हूं जो मूलतः और सम्पूर्णतः ब्रह्माण्ड इकाई है... सर्वथा इकाई-सत्य, देशकाल-मुक्त और लिंगातीत! जो अपनी ही लीला के सौरभ में डूबकर पुरुष-विग्रह भी धारण कर लेती है... स्मरण करो- कदाचिदाद्या ललिता पुरुषां कृष्ण विग्रहा!"

"यानी कि चूक हो गयी तो बाद में कलाबाजी और लीपापोती भी!" सूर्य नारायण हंसे.

"...तो यह घटना बाद में लगातार घर में हास्य-प्रसंग के रूप में सुनाई जाने लगी! मैं जब बड़ा हुआ तो इस घटना की बार-बार होने वाली हास्यपूर्ण चर्चाएं मेरे मन में भविष्य-वाचन के प्रति संदेह का कठोर पहाड़ स्थापित कर चुकी थीं! मुझे लगा कि जो सामने खड़े प्रत्यक्ष वर्तमान को सही-सही देख-समझ पाने में विफल हो, उसका बांचा हुआ भविष्य भला कितना सही होगा!... इसलिए मैं उसे क्षीण-संकल्प-बल वाली एक हीनवीर्य जाति की उपज मानता हूं...मुझे यह भी लगता है कि फलित ज्योतिष में आसक्ति वस्तुतः अनात्मवाद का समर्थन है और एक प्रच्छन्न नास्तिकता भी..."

सूर्यनारायण चुप रहे. न टिप्पणी पर प्रतिक्रया, न सुनाये गये प्रसंग पर कोई प्रश्न-प्रतिप्रश्न, या न अपेक्षा या औपचारिकतावश कोई हंसी-मुस्कान ही. प्रसाद चुप हुए तो वे धीरे-से बोले, "...राह चलता व्यक्ति यदि बीच में पड़ने वाले किसी विशाल वटवृक्ष तक को अनदेखा कर आगे निकल जाये तो उसका अर्थ यह कदापि नहीं कि वह अंधा ही हो या उसे देखने-समझने का शऊर ही न हो... उसी तरह, क्या आप ही यह बता सकते हैं कि आज आप जब सुबह सोकर उठे तो सबसे पहले आपके मन-मस्तिष्क में कौन-सी बात आयी थी? या, बिस्तर से उतरकर आप जब आंगन में निकले तो फर्श पर और आसपास क्या-क्या गिरा-पड़ा देखा? अवश्य ही यह सब बताने में कोई भी चूक सकता है, उसका अर्थ यह कदापि नहीं कि आपको देखने-समझने या स्मरण संचित

करने ही नहीं [illegible] उसे मानवीय भूल भर कह सकते हैं, अन्यथा यह है सामान्य मानवीय असावधानी! उसे आप महत्त्व-हीन के प्रति स्वाभाविक उपेक्षा-भाव भर भी कह सकते हैं!...वैसे आपके बचपन वाली घटना में उपलब्ध आचार्य की असावधानी ही मुझे दिखी... वैसे, मैं आपको यह बता दूं कि आधार-तथ्य यदि सही-सही उपलब्ध करा दिये जाये तो ज्योतिषीय गणन-फल अंक-गणितीय उत्तरों की तरह ऐसे सटीक हो सकते हैं कि शब्द-शब्द सर्वथा सच साबित हो जाए...''

''चलिये... मैं अपने विचारों को बिना उलटे-पलटे भी आपकी बात को एक विचार-पक्ष के रूप में तो स्वीकार कर ही सकता हूं...'' सामने भाभीश्री आकर खड़ी हो गयीं तो प्रसाद का कथन बाधित हुआ. उन्होंने हाथ बढ़ाकर लाल कपड़े में गोलियायी हुई जन्म-पत्री सूर्यनारायण की ओर बढ़ा दी, ''पण्डित जी, ठीक से देखाऽ.. अउर बतावाऽ कि हम्मर बच्चा पर कौन ग्रह के गलत छाया पड़त हौ... काहे अइसन होत हौ! येके कइसे शांत कइल जाये!'' वह पास ही नीचे बैठ गयीं.

सूर्यनारायण कमज़ोर कागज़ का खयाल करते हुए जन्म-पत्री को सावधानी से खोलने लगे. प्रसाद मुस्कुराये, ''आपसे एक अनुरोध है...''

भाभीश्री और सूर्यनारायण ने एक साथ उनकी ओर दृष्टि उठायी. प्रसाद की वाणी तरल हो गयी, ''देखिये, मैं बीमार होकर बिस्तर पर गिरा हुआ हूं... पता नहीं आगे की क्या होगा... यदि आपको भविष्य के कुछ गड़बड़ संकेत मिलें तो यह सब कृपया हमें मत बताइयेगा... ताकि बचे हुए क्षण अतिरिक्त तिक्तता में न डूब जायें... इसके विपरीत यदि थोड़ा-बहुत भी अच्छे संकेत दिखें तो यह सब जरूर कह दीजियेगा, ताकि इससे बीमारी के साथ इस संघर्ष में हमें शक्ति मिल सके!...''

भाभीश्री ने आंचल के कोरों से आंखें ढंक रखी है. संतप्त माहौल मोम की तरह पिघल चला है. सूर्यनारायण ध्यान से जन्म-पत्री को देखने लगे. काफी देर तक आंखें गड़ाये रहने के बाद जेब से कलम निकाल कागज़ पर कुछ लिखने लगे.

प्रसाद मुस्कुराये, ''गणितीय उद्यम शुरू कर रहे हैं क्या?''

''नहीं! यहां गणना करना सम्भव नहीं है... इसमें कुछ पुराने पंचांग की आवश्यकता पड़ेगी... कुछ समय भी लगेगा... इसलिए फिलहाल मैं इससे आवश्यक सूचनाएं नोट कर ले रहा हूं... उसकी गणना अब उज्जैन पहुंचकर ही करूंगा और आपको विधिवत् सूचित कर दूंगा.... मुझे अगले माह योरोप जाना है, इससे पहले यह काम कर लूंगा...''वे सिर झुकाये लिखते हुए बोलते चले गये, ''...बस एक मिनट में यह हो जाये तो आपसे कुछ चर्चा करूंगा, आखिर आपसे मिलने ही तो आया हूं... गणना

तो कभी भी कहीं हो सकती है, आपसे प्रत्यक्ष बातचीत का सुख तो अभी सिर्फ यहीं मिलना सम्भव है! ...वैसे प्राथमिक तौर पर जन्म-पत्री देखकर कोई चिंताजनक संकेत नहीं मिल रहे... सब ठीक-ठाक है...'' सूर्यनारायण ने दृष्टि उठायी, प्रसाद मुस्कुराते दिखे. विदेह तटस्थता के साथ. भाभीश्री की आंखें डबडबा गयी हैं.

गंगाराम ने आकर धीरे-से बताया, ''...बाहर दो युवक आये हैं... नाम बताया है कुंवर चंद्रप्रकाश और जानकीवल्लभ... दोनों ने आपको अपना प्रणाम निवेदित किया है...''

प्रसाद हड़बड़ाये किंतु दूसरे ही पल शारीरिक अशक्तता ने गति तोड़ दी. बिस्तर से जैसे स्वयं को बटोरकर तकिये पर अधिकतम ले गये और केहुनी के बल पर कंधा उठाते हुए सिर ऊंचा किया, ''अरे... भैये! बुला लो दोनों को... दोनों बहुत होनहार युवक हैं... बीएचयू के छात्र हैं... लंका से चलकर आये होंगे... बुला लाओ... जल्दी बुला लाओ...''

कुछ ही देर में गंगाराम के साथ वे भीतर आ गये.

उन्हें बिस्तर पर पड़ा देख दोनों दुखद आश्चर्य-भाव से कातर हो उठे. प्रसाद तकिये पर कुछ और सम्भले, ''... युवा मित्रो, और क्या चल रहा है ? बिछावन पर इस तरह पड़े रहना बहुत ऊब पैदा करता है, ऐसे में कोई साहित्यिक साथी आ जाता है तो राहत मिलती है... अब जैसे मैं देर से कष्ट में था किंतु अभी बहुत अच्छा महसूस कर रहा हूं...''

महाकवि, आपको रोग ने अशक्त और कृशकाय बना दिया है... किंतु आपके रचनाकार-मानस की सर्जनात्मक सक्रियता तो गजब बेमिसाल है...

जानकीवल्लभ शास्त्री की वाणी में पीड़ा छलछला आयी, ''महाकवि, आपको यह क्या हो गया है ? आपको इस रूप में देखकर बहुत पीड़ा हो रही है...''

''मैं बीमार तो पड़ गया हूं किंतु जल्दी ही ठीक हो जाऊंगा... चिंता की कोई बात नहीं... और क्या चल रहा है? क्या-क्या लिखना-पढ़ना चल रहा है? पढ़ाई कैसी चल रही है ?''

चंद्रप्रकाश पीड़ा में जैसे डूबता-उतराता रहा. हक्का-बक्का उन्हें ताकते हुए. जानकी वल्लभ शास्त्री ने एक नजर में चंद्रप्रकाश की हालत समझ ली, दूसरे ही क्षण प्रसाद की ओर मुखातिब, '''आपकी यह दशा देख अभी मस्तिष्क में कुछ सूझ ही नहीं रहा, सिवाये बुक्का फाड़कर रोने की एक आपात् इच्छा के... मैं जानना चाहता हूं, आपको बीमारी कौन-सी हुई है? आपकी वह कसरती कंचन काया अब भी आंखों के

सामने खिंच खिंच जा रही है...''

प्रसाद थोड़े उदास हो गये किंतु स्वयं को सम्भालने का प्रयास जारी. जानकीवल्लभ की वाग्धारा में ज़रा भी हिचक-ठिठक नहीं, ''...कहां तो हम लोग आपस में यह चर्चा करते नहीं थकते रहे कि छायावाद के चार में से दो उत्तर-हस्ताक्षर अर्थात् आदरणीय पंत और महीयसी महादेवी जहां किसी शस्य-रहस्य या कुंद-कोमल 'छाया' मात्र के चितेरे हैं, वहीं आप और श्रद्धेय निरालाजी यानी दोनों अगड़े बेशक किसी झाईं-परछाईं जैसी 'छाया'-वाया नहीं, बल्कि दर्शन-दमक से दीप्त विरल-विराट विचार-आकार की पुंगव-पुष्ट 'काया' के विशालकाय प्रतिनिधि!... लेकिन आज तो आपको इस रूप में देखकर हमें चिंता हो रही है.. कहां आपकी वह विशिष्ट विश्रुत सुदर्शन कंचन काया और कहां यह...''

प्रसाद की आंखें चमक उठीं. चेहरा उत्फुल्ल. हंसी धारा-गति से ही फूटी, किंतु अशक्तता ने प्रवाह को अधिक मचलने नहीं दिया. अधलेटे वे तकिये पर केहुनी से संतुलन बनाते रहे. वाणी में परिस्थितिजन्य गाम्भीर्य, ''...यही तो बात है कि काया समय-समय पर कभी कंचन तो कभी कमनीय लगती भर है, असल में यह ऐसी होती कदापि नहीं है...'' नहीं लग रहा था कि यह एक किसी अशक्त व्यक्ति का यह स्वर है, ''...काया हमेशा-हमेशा कांच की होती है... चाहे जैसी चटक-चमकीली दिख रही हो... यह तो हर क्षण छीजती ही जाती है... काल का जरा-सा प्रतिकूल आघात पड़ा नहीं कि पल भर में टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर जाने वाली, टन्न् की एक संक्षिप्त विदा-ध्वनि के साथ! ... उसे कब हवा का कौन छोटा-सा थपेड़ा भी धराशायी कर दे, कोई नहीं जानता...''

इंद्र पर एक नाटक लिखना चाहता हूं... 'इरावती' का काम अधूरा पड़ा है... स्वस्थ हो लूं तो पहले तो 'इरावती' को पूरा करूंगा, तत्पश्चात इंद्र पर नाटक लिखूंगा...

चंद्रप्रकाश ने आहिस्ते स्मरण कराया, ''महाकवि, अभी नीचे हमें बताया गया कि डाक्टर ने आपके लिए ढेरों परहेज तय कर दिये हैं ताकि आप शीघ्र स्वास्थ्य-लाभ कर सकें... लोगों से मिलना-जुलना और अधिक बातें करना मना है...''

''लोगों से मिलना-जुलना न हो... बोलना-बतियाना भी नहीं, तब तो बीमारी की ही जय हो गयी न! इसलिए मैं उसे मानने को तैयार नहीं हूं... कहां हम लोग आल्हा-बिरहा की तान छेड़ रहे हैं!'' कहकर उन्होंने फिर एक ऊंची हंसी तानी, स्वर-शरीर पुनः उसी तरह खड़खड़ाये! उसे बीच में ही समेट लेना पड़ा. तकिये पर केहुनी

लड़खड़ाने लगी. संतुलन बनाते हुए टिके रहने में सफल हो गये तो मुस्कुराये, ''तुम नवयुवक रचनाकारों पर बहुत बड़ा दायित्व है... भाषा को लेकर जो राजनीति चली जा रही है, यह बहुत घातक है... हिंदुस्तानी के नाम पर जो अवधारणा प्रस्तुत की गयी है वह आने वाले समय में हिंदी की राह में रोड़े अटकायेगी... हिंदी-हिंदुस्तानी के इस विवाद के चलते ऐसा भी हो सकता है कि स्वतंत्रता मिल जाने के बाद भी हिंदी को राष्ट्रभाषा का आसन प्राप्त होने में बाधाएं उत्पन्न होती रहें...'' आग उनकी आंखों में चमकी किंतु ताप वाणी से फूटता रहा. जानकीवल्लभ और चंद्रप्रकाश ने एक-दूसरे की ओर देखा फिर उनकी ओर ताकने लगे.

प्रसाद सप्रयास उठे. सम्भलकर बैठने लगे तो कष्ट चेहरे पर उभरा. रत्नशंकर दिखा तो संकेत देकर निकट बुलाया. उससे आहिस्ता कुछ कहा. उसने तुरंत तकिये के नीचे से कुछ छपे पृष्ठ निकाले और उन्हें थमा दिये. प्रसाद ने दोनों की ओर पृष्ठों के एक-एक गुच्छ बढ़ाये, ''तुमलोग उसे पढ़ना... यह 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में हाल ही प्रकाशित मेरे एक नये लेख का प्रिंट है... इंद्र पर है यह लेख...''

दोनों पन्ने पलट रहे थे. प्रसाद ने धीमे-धीमे बताना शुरू किया, ''इंद्र पर एक नाटक लिखना चाहता हूं... 'इरावती' का काम अधूरा पड़ा है... स्वस्थ हो लूं तो पहले तो 'इरावती' को पूरा करूंगा, तत्पश्चात इंद्र पर नाटक लिखूंगा... इसके बाद कुछ छोटे-छोटे उपन्यास लिखने की योजना मेरे दिमाग में है... काम तो अभी बहुत बाकी है, जिनका पूरा-पूरा खाका मेरे मस्तिष्क में लगभग तैयार है... अब देखें कब तक उनमें हाथ लगा पाता हूं...''

चंद्रप्रकाश ससंकोच मुस्कुराये, ''महाकवि, रोग ने आप जैसे कसरती व्यक्ति को भी कैसा अशक्त और कृशकाय बना दिया है... आपको तो हठात् देखने पर पहचानना तक कठिन हो रहा है! किंतु आपके रचनाकार-मानस की सर्जनात्मक सक्रियता तो गजब बेमिसाल है... आपको क्या बीमारी की सचमुच कोई चिंता नहीं?''

प्रसाद ने ठहाका लगाना चाहा, किंतु दूसरे ही पल सम्भल गये. जानकीवल्लभ ने हाथ जोड़ लिये, ''आपका हास किसी भी रोग-शोक या मृत्यु का नाश करने वाला है! यही मृत्युंजय हास तो वस्तुतः कामायनीकार का विराट् जीवनालाप है...''

(क्रमशः)

अंतिम किस्त

प्रसाद के पास ढेरों योजनाएं हैं भविष्य के लिए. क्या ये सफल हो पायेंगी? क्या प्रसाद इस महाव्याधि से छुटकारा पा जायेंगे? प्रसाद जीवन कथा का यह अंतिम अध्याय अवश्य पढ़ें.

वाल्मीकि रामायण

एकोनषष्टितमः सर्गः

यदुस्तद्वचनं श्रुत्वा प्रत्युवाच नरर्षभम्।
पुत्रस्ते दयितः पूरुः प्रतिगृह्णातु वै जराम्।।4।।

उनकी यह बात सुनकर यदु ने नरश्रेष्ठ ययाति को उत्तर दिया— 'आपके लाड़ले बेटे पूरु ही इस वृद्धावस्था को ग्रहण करें.

बहिष्कृतोऽहमर्थेषु संनिकर्षाश्च पार्थिव।
प्रतिगृह्णातु वै राजन् यैः सहाश्नासि भोजनम्।।5।।

'पृथ्वीनाथ! मुझे तो आपने धन से तथा पास रहकर लाड़-प्यार पाने के अधिकार से भी वंचित कर दिया है; अतः जिनके साथ बैठकर आप भोजन करते हैं, उन्हीं लोगों से युवावस्था ग्रहण कीजिये.'

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राजा पूरुमथाब्रवीत्।
इयं जरा महाबाहो मदर्थं प्रतिगृह्यताम्।।6।।

यदु की यह बात सुनकर राजा ने पूरु से कहा— 'महाबाहो! मेरी सुख-सुविधा के लिए तुम इस वृद्धावस्था को ग्रहण कर लो.'

नाहुषेणैवमुक्तस्तु पूरुः प्राञ्जलिरब्रवीत्।
धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि शासनेऽस्मि तव स्थितः ।।7।।

नहुष-पुत्र ययाति के ऐसा कहने पर पूरु हाथ जोड़कर बोले– 'पिताजी! आपकी सेवा का अवसर पाकर मैं धन्य हो गया. यह आपका मेरे ऊपर महान अनुग्रह है. आपकी आज्ञा का पालन करने के लिए मैं हर तरह से तैयार हूं.'

पूरोर्वचनमाज्ञाय नाहुषः परया मुदा।
प्रहर्षमतुलं लेभे जरां संक्रामयच्च ताम् ।।8।।

पूरु का यह स्वीकार सूचक वचन सुनकर नहुषकुमार ययाति को बड़ी प्रसन्नता हुई. उन्हें अनुपम हर्ष प्राप्त हुआ और उन्होंने अपनी वृद्धावस्था पूरु के शरीर में संचारित कर दी.

ततः स राजा तरुणः प्राप्य यज्ञान् सहस्रशः।
बहुवर्षसहस्राणि पालयामास मेदिनीम् ।।9।।

तदनंतर तरुण हुए राजा ययाति ने सहस्त्रों यज्ञों का अनुष्ठान करते हुए कई हजार वर्षों तक इस पृथ्वी का पालन किया.

अथ दीर्घस्य कालस्य राजा पूरुमथाब्रवीत्।
आनयस्व जरां पुत्र न्यासं निर्यातयस्व मे ।।10।।

इसके बाद दीर्घकाल व्यतीत होने पर राजा ने पूरु से कहा– 'बेटा! तुम्हारे पास धरोहर के रूप में रखी हुई मेरी वृद्धावस्था को मुझे लौटा दो.

न्यासभूता मया पुत्र त्वयि संक्रामिता जरा।
तस्मात् प्रतिगृहीष्यामि तां जरां माव्यथां कृथाः ।।11।।

'पुत्र! मैंने वृद्धावस्था को धरोहर के रूप में ही तुम्हारे शरीर में संचारित किया था; इसलिए उसे वापस ले लूंगा. तुम अपने मन में दुःख न मानना.

प्रीतश्चास्मि महाबाहो शासनस्य प्रतिग्रहात्।
त्वां चाहमभिषेक्ष्यामि प्रीतियुक्तो नराधिपम् ।।12।।

'महाबाहो! तुमने मेरी आज्ञा मान ली, इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई. अब मैं बड़े प्रेम से राजा के पद पर तुम्हारा अभिषेक करूंगा.'

एवमुक्त्वा सुतं पुरुं ययातिर्नहुषात्मजः।
देवयानीसुतं क्रुद्धो राजा वाक्यमुवाच ह ।।13।।

अपने पुत्र पुरु से ऐसा कहकर नहुषकुमार राजा ययाति देवयानी के बेटे से कुपित होकर बोले–

राक्षसस्त्वं मया जातः क्षत्ररूपो दुरासदः।
प्रतिहंसि ममाज्ञां त्वं प्रजार्थे विफलो भव ।।14।।

'यदो! मैंने दुर्जय क्षत्रिय के रूप में तुम-जैसे राक्षस को जन्म दिया. तुमने मेरी आज्ञा का उल्लन किया है, अतः तुम अपनी संतानों को राज्याधिकारी बनाने के विषय में विफलमनोरथ हो जाओ.

पितरं गुरुभूतं मां यस्मात् त्वमवमन्यसे।
राक्षसान्यातुधानांस्त्वं जनयिष्यसि दारुणान् ।।15।।

'मैं पिता हूं, गुरु हूं; फिर भी तुम मेरा अपमान करते हो, इसलिए भयंकर राक्षसों और यातुधानों को तुम जन्म दोगे.

न तु सोमकुलोत्पन्ने वंशे स्थास्यति दुर्मतेः।
वंशोऽपि भवतस्तुल्यो दुर्विनीतो भविष्यति ।।16।।

'तुम्हारी बुद्धि बहुत खोटी है. अतः तुम्हारी संतान सोमकुल में उत्पन्न वंशपरम्पराओं में राजा के रूप से प्रतिष्ठित नहीं होगी. तुम्हारी संतति भी तुम्हारे ही समान उद्दंड होगी.'

तमेवमुक्त्वा राजर्षिः पूरुं राज्यविवर्धनम्।
अभिषेकेण सम्पूज्य आश्रमं प्रविवेश ह ।।17।।

यदु से ऐसा कहकर राजर्षि ययाति ने राज्य की वृद्धि करने वाले पूरु को अभिषेक के द्वारा सम्मानित कर के वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश किया.

ततः कालेन महता दिष्टान्तमुपजग्मिवान्।
त्रिदिवं स गतो राजा ययातिर्नहुषात्मजः ।।18।।

तदनंतर दीर्घकाल के पश्चात् प्रारब्ध-भोग का क्षय होने पर नहुषपुत्र राजा ययाति ने शरीर को त्याग दिया और स्वर्ग लोक को प्रस्थान किया.

पूरुश्चकार तद् राज्यं धर्मेण महता वृतः।
प्रतिष्ठाने पुरवरे काशिराज्ये महायशाः ।।19।।

उसके बाद महायशस्वी पूरू ने महान् धर्म से संयुक्त हो काशिराज की श्रेष्ठ राजधानी प्रतिष्ठानपुर में रहकर उस राज्य का पालन किया.

यदुस्तु जनयामास यातुधानान् सहस्रशः।
पुरे क्रौञ्चवने दुर्गे राजवंशबहिष्कृतः ।।20।।

राजकुल से बहिष्कृत यदु ने नगर में तथा दुर्गम क्रौञ्चवन में सहस्त्रों यातुधानों को जन्म दिया.

एष तूशनसा मुक्तः शापोत्सर्गो ययातिना।
धारितः क्षत्रधर्मेण यं निमिश्चक्षमे न च ।।21।।

शुक्राचार्य के दिये हुए इस शाप को राजा ययाति ने क्षत्रिय धर्म के अनुसार धारण कर लिया. परंतु राजा निमि ने वसिष्ठजी के शाप को नहीं सहन किया.

एतत् ते सर्वमाख्यातं दर्शनं सर्वकारिणाम्।
अनुवर्तामहे सौम्य दोषो न स्याद् यथा नृगे।।22।।

सौम्य! यह सारा प्रसंग मैंने तुम्हें सुना दिया. समस्त कृत्यों का पालन करनेवाले सत्पुरुषों की दृष्टि (विचार) का ही हम अनुसरण करते हैं, जिससे राजा नृग की भांति हमें भी दोष न प्राप्त हो.

इति कथयति रामे चन्द्रतुल्याननेन
प्रविरलतरतारं व्योम यज्ञे तदानीम्।
अरुणकिरणरक्ता दिग् बभौ चैव पूर्वा
कुसुमरसविमुक्तं वस्त्रमागुण्ठितेव ।।23।।

चंद्रमा के समान मनोहर मुखवाले श्रीराम जब इस प्रकार कथा कह रहे थे, उस समय आकाश में दो-रञ्जित एक तारे ही रह गये. पूर्व दिशा अरुण किरणों से रञ्जित हो लाल दिखायी देने लगी, मानो कुसुमरंग में रंगे हुए अरुण वस्त्र से उसने अपने अंगों को ढक लिया हो.

सहजानंद संग्रहालय में 'समग्र शमशेर'

● प्रकाश चंद्रायन
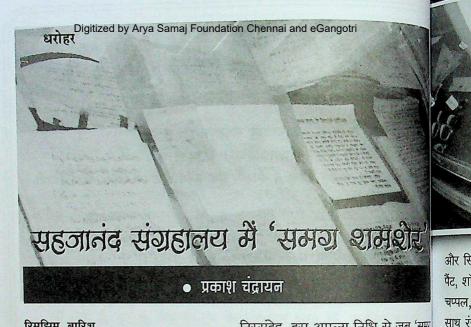
रिमझिम बारिश
पेड़ मगन हैं
झूम रहे हैं
बादल भी मस्त
हवाएं नाच रही हैं
लगातार एक राग बज रहा है
धीरे-धीरे वह कुछ
मद्धम होता जा रहा है
वह बारिश का राग

यह 1952 में कवि शमशेर बहादुर सिंह द्वारा लिखित कविता का अंश है, जो उनकी विपुल अप्रकाशित पांडुलिपियों में से एक हैं. हिंदी-उर्दू में लिखित, लेकिन अप्रकाशित ये प्रचुर पांडुलिपियां अब वर्धा स्थित महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय की धरोहर हैं. हिंदी-उर्दू की इन पांडुलिपियों को देखकर लगता है कि शमशेर जितने प्रकाशित हैं उतने ही अप्रकाशित भी हैं. निस्संदेह, दस अमूल्य निधि से जब 'समग्र शमशेर' बाहर आयेंगे तो हिंदी रचनाशीलता समृद्ध होगी. अब यह रचनात्मक दायित्व विश्वविद्यालय का है. गत 12 मई को प्रसिद्ध लेखिका रंजना अरगड़े ने कवि शमशेर बहादुर सिंह की उन्नीसवीं पुण्यतिथि के अवसर पर शमशेर की प्रकाशित-अप्रकाशित पांडुलिपियों के अलावा आत्मचित्र सहित समस्त पेंटिंग, उनके दैनिक उपयोग में आनेवाला सामान आदि संग्रहलाय को सौंप दिया है.

शमशेर की जन्मशती के समापन के अवसर पर सम्पूर्ण शमशेर को अपने विशाल संग्रह में समाहित करना संग्रहालय की उपलब्धि है. इस धरोहर में शमशेर को लिखे और शमशेर द्वारा लिखित सैकड़ों पत्र भी हैं. शमशेर द्वारा दैनिक उपयोग के सामान भी कम दर्शनीय नहीं है. इनमें खादी
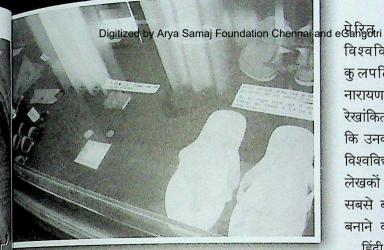
और सिल्क के मोटे कुरते, मोजे, टी शर्ट, पैंट, शॉल, टूटी और धागे से लिपटी हवाई चप्पल, नीला टूथ ब्रश, काली कंघी के साथ रंजना अरगड़े के पिता द्वारा भेंट की गयी गांठदार छड़ी और मित्र प्रेमलता वर्मा द्वारा भेंट की गयी कवर सहित माचिस की डिब्बी भी हैं. इनके अलावा शमशेरजी का वंशवृक्ष, मैट्रिक और बीए का सर्टिफिकेट, मृत्यु प्रमाणपत्र, कबीर और मैथिलीशरण गुप्त सम्मान के स्मृति चिह्न भी इस संग्रह में हैं. उल्लेखनीय है कि विश्वविद्यालय और रंजना अरगड़े के बीच हस्तांतरित समझौता-ज्ञापन के अनुसार अब शमशेर के जीवन और सृजन से सम्बद्ध सम्पूर्ण सामग्री के प्रकाशन का अधिकार और कॉपीराइट विश्वविद्यालय का होगा. प्रकाशन से प्राप्त आय का उपयोग भी शमशेर से सम्बद्ध व्याख्यान, शोध वृत्तियों और पुरस्कारों पर खर्च किया जाएगा. निस्संदेह रंजना अरगड़े की पहलकदमी अन्य रचनाकारों के परिजनों को भी संग्रहालय को समृद्ध करने के लिए प्रेरित करेंगी विश्वविद्यालय के कुलपति विभूति नारायण राय ने इसे रेखांकित भी किया है कि उनका स्वप्न हिंदी विश्वविद्यालय में हिंदी लेखकों की सामग्री का सबसे बड़ा संग्रहालय बनाने का है.

हिंदी की बौद्धिक थाती को सहेजने और संरक्षित करने के लिए स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय की स्थापना एक अनूठा प्रयास है. विश्वविद्यालय परिसर के समता भवन में 30 दिसम्बर 2011 को उद्घाटित इस संग्रहालय में दुर्लभ पांडुलिपियां, चित्र पत्र, पत्रिकाएं संगृहीत हैं. शोध और संरक्षण की दृष्टि से इन धरोहरों की उपयोगिता असंदिग्ध है. कम समय में ही संग्रहालय ने महत्त्वपूर्ण सामग्री एकत्रित की है. इनमें 116 पत्रिकाओं के प्रवेशांक और पांच सौ से अधिक चिट्ठियां हैं. निराला, नागार्जुन और महादेवी की अप्राप्य तस्वीरें हैं. निराला, प्रेमचंद, राहुल, सांकृत्यायन, नागार्जुन, रघुवीर सहाय, मुक्तिबोध आदि की हस्तालिखित सामग्री हैं. 1880 में प्रकाशित 'उचितवक्ता' का अंक है. जाहिर है कि संग्रहालय बड़े उद्देश्य के साथ सक्रिय है और बड़े प्रतिसाद की उम्मीद भी संजोए हुए है.

❑

शमशेर बहादुर सिंह की तीन अप्रकाशित कविताएं

ए उदास बाती

ए उसाद बाती!
हाथों पर लिये रहा जो
यह तेरी स्वर्ण धुली लौ
मैं... नहीं वो!

इसीलिए... पलकों ही पलकों
तुझे पूजता हूं मैं;
हृदय को जुड़ाता हूं तुझसे;
होठों ही होठों, इसीलिए
तुझे चूमता हूं मैं...
अंतर में
इसीलिए...
ए उदास बाती!
अंतर में
ए उदास बाती!

चट्टानी शिला यह

वह जो तुम्हें प्रिय है–
उन कगारों का गिरना
तुमने आसान कर दिया है:
उन संध्याओं का ढलकर सरक जाना
तुम्हारे चांदनी पथ से ओझल हो जाना
तुमने आसान कर दिया है, मेरा तुम्हारे लिए गुम-
अदृश्य अज्ञात किंतु एक दूर देश हो जाना;
जहां तुम्हारी दिलचस्पी का कोई स्मृति-फूल भी न खिले;
वो तुम्हारे अपनों के भी नाना संगमों से दूर
किसी चट्टानी शिला यह

कीर्तिस्तंभ

सूर्य जो कि पश्चिम की चटानों में उड़ गया था
एक बसन्ती-से-गेरुआ-गुलाबी होता लिफ़ाफ़ा-सा कुछ
अपने दाँतों में दबाए हुए है। मगर क्यों?
कीर्तिस्तम्भ तो लगभग पारदर्शी है
युगों के बीच उसकी शीशे-सी छाया तड़क-तड़क जाती रही है
मगर जन्तर-मन्तर की विशाल शलाका सी
खड़ी तो रहती आयी।

पता नहीं यह सब तुम हो कि मैं
या हमारे तुम्हारे और सब के बीच की
कोई संज्ञा।

कीर्तिस्तंभ

सूर्य जो कि पश्चिम की चट्टानों में उड़ गया था
एक बसंती-से गेरुआ-गुलाबी होता लिफाफा-सा कुछ
अपने दांतों में दबाये हुए है. मगर क्यों?
कीर्तिस्तम्भ तो लगभग है पारदर्शी
युगों के बीच उसकी शीशे-सी छाया तड़क-तड़क जाती रही है
मगर जंतर-मंतर की विशाल शलाका-सी खड़ी तो रहती आयी.
पता नहीं यह सब तुम हो कि मैं
या हमारे-तुम्हारे और सब के, बीच की कोई संज्ञा.

('महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय' वर्धा के 'स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय' के सौजन्य से)

अंत्योदय नहीं, सर्वोदय

• इंदु रायज़ादा

सर्वोदय और भूदान के मंत्रों से आचार्य विनोबा भावे ने एक नये समाज की संकल्पना को आकार दिया था. विनोबा-जंयती (11 सितम्बर) के अवसर पर कनाडा से लेखिका का एक आकलन.

जोहान्सबर्ग स्टेशन पर, मिस्टर पोलक ने, रस्किन की 'अन टू द लास्ट' पुस्तक गांधी जी के हाथ में रखते हुए कहा- यह पुस्तक रास्ते में पढ़ने लायक है.

इस पुस्तक ने गांधी जी की जीवन धारा पलट दी. उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा- इसे हाथ में लेने के बाद मैं छोड़ नहीं सका, इसने मुझे जकड़ लिया. ट्रेन शाम को डर्बन पहुंची. सारी रात मुझे नींद नहीं आयी. पुस्तक में दिये गये आदर्शों के समान अपने जीवन को ढालने का मैंने निश्चय कर लिया. इस पुस्तक ने मुझ पर तत्काल असर डाला और कि मेरे हृदय के गहनतम स्तर में जो भावनाएं छिपी पड़ी हैं, उनका समावेश मैंने इस पुस्तक में देखा है और इसलिए उन्होंने मुझे अभिभूत कर जीवन परिवर्तित करने के लिए विवश किया रस्किन ने इस पुस्तक में मुख्यतः तीन बातें बतायी हैं:

1. व्यक्ति का श्रेय, समष्टि के श्रेय में ही निहित है
2. वकील का काम हो, चाहे नाई का, दोनों का मूल्य समान ही है. कारण, प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यवसाय द्वारा अपनी जीविका चलाने का अधिकार है.
3. मजदूर, किसान, कारीगर का जीवन ही श्रेष्ठ जीवन है.

पहली बात मैं जानता था, दूसरी बात मेरे सामने थी और तीसरी बात पर तो मैंने विचार ही नहीं किया था.

'अन टू द लास्ट' पुस्तक ने सूर्य के प्रकाश की भांति मेरे समक्ष यह स्पष्ट कर दिया कि पहली बात में ही दूसरी और तीसरी बात समायी हुई है.

महात्मा गांधी ने अंत्योदय के बजाय, सर्वोदय की कल्पना की. इस कल्पना का आधार बाईबिल की एक कहानी है- अंगूरों के बगीचे के मालिक ने एक दिन अपने यहां

काम करने के लिए मजदूर रखे. एक रोज दोपहर को वह मज़दूरों के अड्डे पर गया और देखा कि वहां अब भी कुछ मज़दूर खड़े हैं, उसने उन्हें भी काम पर लगा लिया. काम समाप्त होने पर उसने मुनीम से कहा कि इन सब मज़दूरों को मज़दूरी दे दो. जो लोग सबसे अंत में आये हैं, उन्हीं से मज़दूरी बांटना शुरू करो. मुनीम ने सबको को एक-एक पैनी दी. सुबह से आने वाले मजदूर सोच रहे थे कि शाम को आने वालों को एक-एक पैनी मिल रही है, तो उन्हें दो पैनी मिलेंगी. लेकिन जब उन्हें भी एक ही पैनी मिली तो वे मज़दूर बोले ऐसा क्यों, हम दिन भर धूप में काम करते रहे. हमें भी एक ही पैनी क्यों?

मालिक बोला- हमने तुम्हारे प्रति कोई अन्याय नहीं किया. तुमने एक पैनी रोज़ पर काम करना आरम्भ किया था तो एक पैनी लो और जाओ. मैं अंत वाले को भी उतनी ही मज़दूरी दूंगा, जितनी तुम्हें. मुझे अपनी चीज़ अपनी इच्छा के अनुसार खर्च करने का अधिकार है तो तुम्हें दुःख क्यों हो रहा है?'

इस कहानी में, सुबह वाले को भी उतना, शाम वाले को भी उतना, वाली बात विचित्र लगती है, पर इसमें मानवता, समानता अद्वैत का तत्त्व निहित है और इन्हीं तत्त्वों की बुनियाद पर सर्वोदय का विशाल भवन खड़ा है. प्रश्न उठता है, सर्वोदय क्या है, सर्वोदय का अर्थ है, सबका उत्कर्ष, सबका विकास. हमारे ग्रंथों में कहा गया है:

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग भवेत॥

जैन आचार्य समंत भद्र कहते हैं- 'सर्वापदामंतकरं निरंतर सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव' अर्थात सबका उदय हो. कुछ विद्वानों को भ्रम होता है कि सबका उदय सम्भव नहीं है. उनका मानना है कि सर्वोदय आदर्श हो सकता है, व्यवहार में उसका विनियोग सम्भव नहीं है.

यहीं पर सर्वोदय विचारकों और सिद्धांतवादियों का विरोध है. सर्वोदय मानता है कि सर्वोदय कोरा स्वप्न या कोरा आदर्श नहीं है. यह आदर्श व्यावहारिक है. प्रयोग में लाया जा सकता है. यह सत्य है कि सर्वोदय का आदर्श ऊंचा है, लेकिन यह न तो अप्राप्य है, न असाध्य, यह प्रयत्न साध्य है. सर्वोदय का आदर्श है अद्वैत व उनकी नीति का समन्वय. यह मानव-कृत विषमता का निराकरण और प्राकृतिक विषमता को कम करना चाहता है. सर्वोदय की दृष्टि में जीवन एक विधा है, एक कला है. प्राणी मात्र के लिए समादर और सहानुभूति ही सर्वोदय का मार्ग है. जीव मात्र के लिए सहानुभूति का यह अमृत जब जीवन में प्रवाहित होता है तो जीवन-सर्वोदय की लता में सुरभिपूर्ण सुमन खिल उठते हैं.

सर्वोदय की पृष्ठभूमि आध्यात्मिक है. विज्ञान में ऐसी बात नहीं है. विज्ञान सुविधाओं के द्वारा भौतिक सुखों की व्यवस्था करा सकता है, वह जीवन का बाह्य नक्शा बदल सकता है, लेकिन भीतरी नक्शा बदलना उसके बस की बात नहीं है.

राज्य-सत्ता, शास्त्र-सत्ता और धन सत्ता से हिंसा, भय और लोभ का विकास होता

है. दूसरे मानवीय गुणों की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती. इसलिए सर्वोदय, लोकनीति का सम्पर्क है. राजनीति में जहां शासन मुख्य है, लोकनीति में अनुशासन. राजनीति में जहां सत्ता मुख्य है, वहां लोकनीति में स्वतंत्रता. राजनीति में जहां नियंत्रण मुख्य है वहां लोकनीति में संयम. राजनीति में जहां सत्ता और अधिकारों की स्पर्धा मुख्य है वहां लोकनीति में कर्तव्यों का आचरण.

सर्वोदय का क्रम यही है, शासन से अनुशासन की ओर, सत्ता से स्वतंत्रता की ओर, नियंत्रण से संयम की ओर और अधिकारों की स्पर्धा से परे कर्तव्यों के आचरण की ओर बढ़ो.

मूल सिद्धांत रस्किन एवं गांधी द्वारा प्रणीत 'अन टू द लास्ट', 'अंत्योदय' और कालांतर में 'सर्वोदय' के माध्यम से अहिंसक क्रांति की वैश्विक विचारधारा के रूप में व्यक्त हुए. विनोबा के शब्दों में- 'सर्वोदय एक नवीन विचार है, यह जीवन की वैयक्तिकता को स्वीकार करता है. यह जीवन को संकीर्ण बंधनों में बांधने का विरोध करता है. यह जीवन को व्यक्ति तथा समाज, समाज बनाम राज्य, राष्ट्रीय बनाम अंतर्राष्ट्रीय, लोकतंत्र बनाम धर्म, वैयक्तिक मुक्ति बनाम सामाजिक प्रगति में विभाजित नहीं करता. ये विभाजन कृत्रिम एवं शरारत पूर्ण हैं. इन्होंने वर्तमान को संकट में डाला है. सार्वभौम रूप से केवल एक नियम वैध है- जो व्यक्ति के लिए उचित है, वही समाज के लिए भी उचित है. कहीं स्वार्थों का संघर्ष नहीं है. कल्याण अविभाज्य है.'
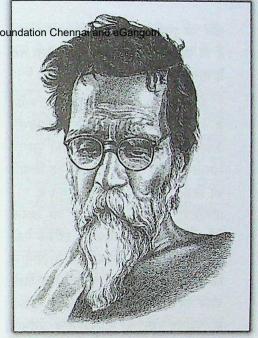
सर्वोदय दोहरे मानदंडों में विश्वास नहीं रखता. इसकी मान्यता है कि व्यक्ति तथा समाज के कल्याण के मध्य कोई भी संघर्ष नहीं है. प्रगति का अर्थ है सभी की प्रगति. एक व्यक्ति की हानि, दूसरे का लाभ कभी नहीं बन सकती. हम सभी इस प्रकार बंधे हैं कि किसी का कोई निजी संसार नहीं है. हम व्यक्तिगत या निजी अस्तित्व की रचना तो कर लेते हैं किंतु अस्तित्व एक ही है.

अल्पसंख्यक तथा बहुसंख्यक की समस्या के मूल में अधिक लोगों का अधिक कल्याण है. सर्वोदय का विचार, जैसा कि गीता में कहा गया है कि सभी के सुख में एक का सुख है. इसके मूल में अहिंसा एवं सत्य है.

सर्वोदय का दृष्टिकोण है- हम सभी के साथ-साथ अपने कल्याण की भी कामना करते हैं. प्रश्न है- हम प्राथमिकता किसे दें?

यदि हम दूसरों के कल्याण की कामना करते हैं तो यह सर्वोदयी दृष्टि है. यदि ऐसा नहीं है तो वह सर्वोदयी दृष्टि नहीं है.

सर्वोदय का आध्यात्मिक आधार अद्वैत है, अर्थात द्वैत की समाप्ति, यह विचार केवल मानसिक नहीं है. यह दर्शन सम्पूर्ण समन्वयवादी है और सभी दार्शनिक विचारों को निकट लाता है. यह किसी वाद के प्रति प्रतिक्रिया नहीं है. यह भारत का अपना विचार है, अपनी व्यवस्था है, लेकिन ऐसी भी नहीं कि इसको अन्य देशों में लागू न किया जा सके. इसका बाह्य रूप देश, काल एवं परिस्थिति के अनुरूप हो सकता है, सर्वोदय दर्शन का मौलिक तत्त्व अनाग्रह है किंतु आंतरिक स्वरूप वैश्विक है. जयप्रकाश नारायण ने लिखा- एकाकी विचार धाराएं जो अपनी पूर्णता का बखान करती है, अंततः सर्वोदय में विलीन हो जायेंगी.

इस विचार में निजी स्वार्थ, दूसरों के स्वार्थ एवं अनंत स्वार्थ, सभी एक हो जाते हैं. किसी प्रकार की विसंगति नहीं रहती. सभी आंतरिक तथा बाह्य संघर्ष समाप्त हो जाते हैं. यहां नायकों तथा संतों की दो धाराएं एक हो जाती हैं. उनके बीच का अंतर समाप्त हो जाता है. नायक संत हो जाता है, संत नायक हो जाता है. समाज का संरक्षक सामाजिक क्रांतिकारी की भूमिका का निर्वाह करता है और सामाजिक क्रांति का संरक्षण करता है. सर्वोदय जीवन का दर्शन है, इसीलिए पर्याप्त गहरायी है. इसके आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं नैतिक आदि अनेक पक्ष हैं.

सर्वोदय व्यवस्था के चार स्तम्भ हैं. विनोबा लिखते हैं- मुझे यह स्पष्ट रूप से कहना है कि सर्वोदय व्यवस्था में हम सभी को शारीरिक श्रम करना है. हमारी इच्छा सर्वोदय को क्रियान्वित करने की है. किंतु यह क्रियान्वयन कृषकों के हाथों में रहना चाहिए और उन्हीं के द्वारा सम्पादित होना चाहिए. उत्पादन, श्रम की सर्वोपरि आवश्यकता है. इसमें वर्ष भर रोजगार उपलब्ध होता है. ग्राम में उत्पन्न शुद्ध उत्पादन गांव में अंतिम उत्पाद के रूप में बदल जाता है. गांव के बच्चों को दूध मक्खन मिलना चाहिए. सभी उत्पाद स्थानीय उपभोग के लिए हों. केवल बचत उत्पादों को नगरों में भेजा जा सकता है.

दूसरे, सर्वोदय, भूमि के निजी स्वामित्व में विश्वास नहीं करता. वही व्यक्ति जो भूमि जोतने-बोने की इच्छा रखता है, उसे भूमि प्राप्त करने का अधिकार है. गांव को एक परिवार की तरह जीना सीखना है.

तीसरे, सर्वोदय गांव के सभी बच्चों के लिए नयी तालीम देने में विश्वास करता है. चौथे, सर्वोदय का अर्थ है- वर्ग एवं जातिविहीन समाज.

सर्वोदय आंदोलन का लक्ष्य है- दया का राज्य. क्राइस्ट ने 'ईश्वर का राज्य' कहा. ईश्वर शब्द हम सबसे परे है. वर्तमान समाज में कुछ दया भाव है. इसलिए हम दया का राज्य चाहते हैं. हम चाहते हैं- करुणा ही समाज की मूल ऊर्जा बने. हमें यह भी

ध्यान रखना चाहिए कि हम समाज का सम्पूर्ण उत्थान चाहते हैं.

अनेक का विश्वास है कि सर्वोदय, विज्ञान के संदर्भ कालातीत विचारधारा है. किंतु यह पूर्णतः असत्य है. विनोबा के अनुसार सर्वोदय ही वह विचारधारा है जिसका विज्ञान पर दावा है. यदि अन्य, विज्ञान की शक्ति को प्राप्त करेंगे तो वह मनुष्य को लील जायेंगे. यदि विज्ञान की शक्ति सर्वोदय से जुड़ेगी तो इससे मानवीय भावनाएं विकसित होंगी और मानव मात्र का कल्याण होगा. सर्वोदय की योजना में ही विज्ञान का अधिकतम उपयोग सम्भव है.

प्रत्येक प्राणी का जीवन उसके अपने जीवनदर्शन के अनुसार अनुप्राणित होता है. युग की आकांक्षाएं भले ही बाह्य स्वरूप में कुछ बदलाव लायें परंतु कालजयी जीवन दर्शन को बदलने का साहस केवल समय में ही होता है. समय भी केवल परत ढांकने का काम करता है. 'बर्ट्रेंड रसेल' का कथन है- 'आज की दुनिया की सभी समस्याओं को हल करने के लिए भारतवर्ष को ही आगे आना चाहिए.' उन्होंने नैतिक उद्देश्यों की बात कही. भारत के शास्त्रकारों ने इसे परमार्थिक कहा. शंकराचार्य ने कहा है- एक रूपेण अवस्थितः यः अर्थः सपरमार्थः अर्थात पुरुष के लिए प्राप्तव्य है. परम का अर्थ है प्राप्त वस्तु, जो एक रूप में अवस्थित रहती है. इस दृष्टि से सर्वोदय का अर्थ है- सबका जीवन सम्पन्न हो, विकास हो, अभ्युदय हो, उन्नति हो अर्थात सर्वोदय हो. सर्वोदय के समानांतर अभ्युदय शब्द ऐहिक वैभव के अर्थ में प्रयोग में लाया जाता था. गांधी ने उदय शब्द का प्रयोग एक साथ, सबका समान रूप से उदय हो के अर्थ में सर्वोदय का उद्देश्य निर्धारित किया. सब लोग जियें और एक दूसरे के साथ-साथ जियें. इसका अर्थ है- जीवन का विकास और जीवन का अधिकाधिक विस्तार. इस बात से किसी को भी कोई एतराज नहीं हो सकता.

सर्वोदय का बुनियादी सिद्धांत है- 'सर्वेअपि सुखिनः सन्तु,' सब का जीवन सम्पन्न हो. जीवन की सम्पन्नता दर्शन नीति के साथ-साथ व्यवहार नीति पर भी आधारित है. सम्पन्नता मिलती है किसी विशेष दिशा में कदम बढ़ाने से अर्थात गंतव्य की ओर बढ़ने से. गंतव्य का अर्थ है- उद्देश्य, आदर्श, मंज़िल. सर्वोदय की परिभाषा के संदर्भ में गांधी जी ने कहा- मैं परिभाषा तो नहीं कर सकता पर तुलना कर सकता हूं युक्लिड के बिंदु से. बिंदु की स्थिति है, लम्बाई चौड़ाई नहीं है. परिभाषा के अनुसार ऐसा बिंदु तो बनाया नहीं जा सकता पर परिभाषा के बिना बिंदु ही नहीं बन सकता. सर्वोदय का संकल्प अल्प नहीं, महान है; महान नहीं, समग्र है.

सर्वोदय में व्यापकता है. किसी समाज में दो परिवार दुखी और सौ परिवार सुखी हैं, वहां सर्वोदय नहीं है. एक सौ दो परिवार सुखी हों, तभी सर्वोदय है. सर्वोदय में व्यापकता का अर्थ ही यह है कि उसमें सबका समावेश हो केवल बहुसंख्य का नहीं

आध्यात्मिक रूप से यह अद्वैत की स्थापना है. यही हमारा आदर्श है. समन्वय हमारी नीति और साधन है और अद्वैत हमारा साध्य है. समन्वय का आधार है विरोध का परिहार, यही क्रांति का मूलाधार है. विनोबा ने इसे साम्ययोग कहा है.

कुल मिलाकर निष्कर्ष यह है- सर्वोदय समाज, निरपेक्ष, शाश्वत और व्यापक मूल्यों की स्थापना करना चाहता है. सबके लिए समान रूप में जो नहीं है, वह आशाश्वत है. मूल्यों का नाम लें या न लें. यह बिल्कुल अलग चीज़ है. इसीलिए कहा है- सर्वोदय दर्शन का अर्थ यह है कि जितनी वस्तुएं हैं, वे सब हमारे जीवन की विभूतियां बनेंगी. ऐसा नहीं होगा तो सभी जगह संघर्ष होगा.

पत्थर का जवाब पत्थर से देने में, अत्याचार का प्रतिकार अत्याचार से करने में कौन-सी क्रांति है, दुश्मन को गले लगाने में, क्रांति है गिरे को ऊपर उठाने में और इस क्रांति का साधन है— हृदय परिवर्तन-जीवन-शुद्धि और प्रेम का अधिकार विस्तार.

सर्वोदय दर्शन जीवन मूल्यों में परिवर्तन द्वारा क्रांति चाहता है— द्वैत से अद्वैत की ओर, भेद से अभेद की ओर इस अनुभूति को विकसित कर भीतर एकत्व की ओर बढ़ता है. जगत के कण-कण में एक तत्त्व के दर्शन करता है.

सर्वोदय मानवीय-विभूति के विज्ञान में विश्वास करता है. मनुष्य भी उसके लिए विभूति है. वह सृष्टि भी है, और देशकाल भी.

फल-निरपेक्ष, कर्त्तव्य हमारा धर्म है. सर्वोदय की मान्यता है- 'मेहनत इंसान की और दौलत भगवान की. 'त्येन त्यक्तेन भुंजिता'- मेहनत करना हमारा कर्त्तव्य है और फल देना समाज का.'

सर्वोदय पड़ोसी के लिए भी जीने, उत्पादन करने और सुख बांटने की बात सिखाता है. उसका कहना है, हर बुरे आदर्श में अच्छाई होती है. कोई बड़ा नहीं, छोटा नहीं, ऊंचा नहीं, नीचा नहीं, सबका सर्वांगीण विकास उसका लक्ष्य है. उससे सत्य और अहिंसा, अस्तेय और अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य और अस्वाद, सर्व-धर्म समन्वय, ज्ञान की प्रतिष्ठा और स्वदेशी एकादश व्रत स्फूर्त होते हैं. ये सामाजिक मूल्य, विकास की परम्परा में सर्वोदय का मार्ग प्रशस्त करते हैं.

किसी भी विचारधारा के सार्वकालिक होने के लिए आवश्यक है कि उसके सिद्धांत सार्थक न होकर पारमार्थिक हों. इस संदर्भ में रसेल ने भारतीय चिंतन से अपेक्षा की है. उसने कहा है कि समाज के आदर्श व उद्देश्य नैतिक होने चाहिए. भारतीय मनीषियों ने इन उद्देश्यों को पारमार्थिक कहा है. इनकी विशेषता है- समाज के सिद्धांत त्रिकालाती, सार्वभौम व सार्वजनिक होने के कारण पारमार्थिक होते हैं. सर्वोदय का अर्थ है- सबका जीवन सम्पन्न हो, जीवन का अर्थ है विकास व उन्नति. इसलिए गांधी जी ने 'उदय' शब्द का प्रयोग किया- एक साथ सबका समान रूप से उदय हो, यही सर्वोदय है. □

कहानी

सांझ का सम्बल

• डॉ. सत्येंद्र चतुर्वेदी

अखबार में वाजपेयी जी के निधन का दुःसंवाद पढ़कर अप्रिय तो महसूस हुआ पर मैं अवसन्न या शोकातुर नहीं हुआ. असल में इस दुखांत के लिए मैं नितांत अप्रस्तुत भी नहीं था. उनका जीवन-तंतु तो श्रीमती वाजपेयी की एक सप्ताह पूर्व मृत्यु के बाद से ही विच्छिन्न हो गया था. तभी मुझे उनके पड़ोसी ने श्रीमती वाजपेयी के अकस्मात चल बसने की बात बता दी थी. मगर आज की आपाधापी और उलझनों से भरी ज़िंदगी में हम, निकट के प्रियजन से ही मनचाहे सम्बंध कहां निभा पाते हैं. और यह भी क्या कम विडम्बना नहीं कि आज किसी के यहां कभी कोई अहैतुक भाव से पहुंच भी जाता है, तो लोग उसमें कोई न कोई विशेष प्रयोजन अथवा स्वार्थ-गंध सूंघने की कोशिश करते हैं. आत्मीयता, हार्दिकता, सामाजिकता अब सब अर्थहीन व्यापार मात्र रह गये हैं. किंतु वाजपेयीजी से मेरा नाता इस तरह का न था. मुलाकात उनसे 'महाराष्ट्रीय समाज' में एक उत्सव में हुई थी- वो वाकया आज भी ताज़ातरीन लगता है. पुणे से स्थानांतरित होकर मैं इस नगर में कुछ दिन पूर्व ही आया था. नये कार्यभार की विशेष व्यवस्था के बावजूद परिजनों के बिछोह का दंश जब-तब सालता रहता था. अवकाश का समय पुस्तकालय, पिक्चरों में बिता लेता था. तभी अचानक मुझे इस उत्सव का निमंत्रण प्राप्त हुआ. मेरी 'महाराष्ट्रीय समाज' में जान-पहचान अभी बहुत सीमित थी. बस 'चेंज' के लिए वहां मन लगाने चला जाता था. पर आज का यहां का 'सांस्कृतिक कार्यक्रम' मुझे स्तरीय नहीं लग रहा था, जी उचाट हो रहा था और बस उठकर जाने ही वाला था कि उत्सव का अंतिम कार्यक्रम- 'सितार वादन' प्रस्तुत करने के लिए श्रीमती वाजपेयी का नाम पुकारा गया. उस शुभ्रवसना, सम्भ्रांतदर्शिनी महिला के मंच पर आसीन होते ही सबका ध्यान बरबस उस ओर आकृष्ट हो गया. ध्यानावस्थित मुद्रा में उन्होंने 'राग यमन' से गायकी प्रारम्भ की. इसी बीच 'राग देस' कब छेड़ दिया, पता ही नहीं चला– जैसे संगीत और सुरसाधना के मोहक जादू ने सबको आवेष्टित कर दिया हो, सचमुच जैसे क्षण थम गया हो– सब आत्मलीन हो गये थे. राग 'मालकोस' से उन्होंने सितार-वादन का समापन किया. अब पारस्परिक परिचय और रात्रिभोज के लिए हम सब बड़े हॉल में आ गये. मेरे समीप की खाली सीट पर श्रीमती वाजपेयी आ बैठीं. उन्होंने अपने

पार्श्वस्थ व्यक्ति का परिचय अपने पति– श्रीमान वाजपेयीजी कहकर कराया, एक बारगी तो मैं अवाक ही रह गया. कमर पर चमड़े की कसी बेल्ट और कृत्रिम टांगें- जिनको वो दुर्बल काया ठीक से सम्भाल नहीं पा रही थी और जिन्हें ठीक से व्यवस्थित करने के लिए श्रीमती वाजपेयी को बार-बार उठना पड़ रहा था– पर माथे पर बिना तनिक भी बल लाये... उधर, सौम्य, शालीन वाजपेयीजी मुस्कराकर मेरा अभिवादन कर रहे थे– अजाने मन, करुण विषाद से घिर आया... मैं उन्हें नमस्कार करते कुछ अचकचा-सा गया पर वे दोनों नितांत सहज, अविचलित थे. श्रीमती वाजपेयीजी ने कंधे पर लटके बैग से शीशी निकालकर अपने पति को दवा पिलायी. उन्हें जब पता चला कि मैं उनके पास के सेक्टर में रहता हूं तो वे बड़े प्रसन्न हुए और आगे भी मिलते रहने का वादा लेकर चलने लगे– मैंने देखा श्रीमती वाजपेयी एक खास तरह की बनवायी गाड़ी को पास से ठेलकर, वहां ले आयीं और पति को हाथ का सहारा देकर उसमें बिठा दिया. मुझे शालीन अभिवादन कर वे स्वयं भी उसी में बैठ गयीं और गाड़ी स्टार्ट कर दी...

पर मुझे, चिंतनचक्र भू-चाल गति से, झकझोरने लगा. मैं अपने को, वस्तुस्थिति से सामंजस्य बिठा पाने में, असमर्थ पा रहा था. पर क्यों ये सब तो एक साक्षात सचाई थी, किसी असमंजस के लिए कोई गुंजाइश न थी और दम्पत्ति के प्रति मन में अनायास सम्भ्रम भाव आ गया– यह थी हमारी पहली भेंट. शायद किसी [illegible] के निवारणार्थ अयोजित, यज्ञ के संदर्भ, वाजपेयी दम्पति ने, कुछ ही दिनों बाद, मुझे घर पर आमंत्रित किया और फिर तो यह सिलसिला ही चल पड़ा. मैं यहां एकाकी हूं– यह जानकर वे अवकाश के या विशेष पर्व के दिन, किसी न किसी के माध्यम से, संदेश भिजवा दिया करते थे. उनकी इस ममत्व-ऊष्मा से मैं सचमुच स्नेहतरल था. परदेश में अपनत्व के ऐसे सरल, सहज व्यवहार ने हमारे बीच की संकोच, झिझक की सब पर्तों को, न जाने कब झटक दिया-पता ही न चला. वैसे श्रीमती वाजपेयी अपेक्षाकृत गम्भीर, अंतर्मुखी प्रकृति की थीं और यदा-कदा कला, संगीत अथवा रंगकर्म का प्रसंग आने पर ही वे हमारी चर्चाओं में भाग लेती थीं. घर, रुग्ण पति की भारी ज़िम्मेदारियों से, यों भी वे क्या भाराक्रांत रहती होंगी. वाजपेयी के खानपान दवा के समय में वे-कहीं भी हों, कुछ भी कर रहीं हों– कभी चूक नहीं होने देती थी. वाजपेयीजी पुराने पत्रकार थे, स्वभावतः देश की ज्वलंत समस्याओं में उनकी गहरी दिलचस्पी थी. आज के गिरते जीवनमूल्यों पर भी, हमारे बीच विचारों का खूब आदान-प्रदान होता था. कभी-कभी मैं पिछवाड़े के पार्क में उन्हें गाड़ी से आते-जाते देखता था. कोई गड्ढा या पथरीली ज़मीन आने पर श्रीमती वाजपेयी पति को स्टीयरिंग व्हील थमा, स्वयं नीचे उतर जातीं और गाड़ी को हाथों से आगे ठेलकर, समतल आने पर, गाड़ी फिर चलाने लगती थीं.

इन दिनों मैं दौरों पर ज़्यादा बाहर रहने लगा था. वाजपेयी दम्पति को कुछ दिनों से कहीं आते-जाते नहीं देखा था और न उनके बारे में कोई समाचार सुना था. अतः उस दिन मैं उद्विग्नतावश उनके घर जाने की सोच ही रहा था कि तभी दिगंतबाबू ने, श्रीमती वाजपेयी के बिजली के तेज़ झटके से प्राणांत हो जाने का अप्रत्याशित समाचार सुनाया... हुआ यों था कि तेज़ बरसात से उनके घर की बिजली गुल हो गयी. उस दिन गर्मी, उमस कुछ ज़्यादा ही थी, पति की आकुलता उनसे सहन नहीं हो पा रही थी. वे बिजली ठीक करने की कोशिश कर रही थीं कि स्टूल से पैर फिसल गया, वे अंधेरे में किसी नंगे तार पर जा गिरीं और करंट से प्राण पखेरू उड़ गये. सुनकर मैं तो अवसन्न रह गया. श्रीमती वाजपेयी-विहीन उस घर की ओर मेरे पैर नहीं पड़ रहे थे. क्लांतभाव से किसी तरह उनके यहां पहुंचने पर मैं शोक निमग्न, निशब्द वाजपेयी जी को आंख भर ठीक से देख भी न सका... कुछ समझ न पा रहा था, जैसे उनका सारा जीवन-रस ही निचोड़ लिया गया हो- निस्पंद, निःसत्व वे सचमुच बिल्कुल टूट गये थे. वह बोझिल माहौल, मेरे लिए दुस्सह हो उठा- जैसे मुझे चीरते पलों के सलीब पर लटका दिया गया हो... अंततः वाजपेयी जी ने ही मौन संकेत से मुझसे बैठने के लिए कहा. पर फिर वही चुप्पी, स्तब्धता का संत्रासदायी अंतराल लगा मानों उस क्षण हम निपट बेगाने हो गये थे. मैं अवश था, आंखें आर्द्र... अरे, मुझे तो वाजपेयी जी को सम्भालना था, सांत्वना देनी थी और इधर मैं अविरल अश्रु प्रवाह से, श्रीमती वाजपेयी की पावनस्मृति को बस अर्घ्य दिये जा रहा था. कुछेक क्षण तक अंतस्थ रहने के अनंतर वाजपेयी जी ने मेरी ओर देखा- कितना हृदयद्रावक पल था वह... कैसी करुणार्द्र दृष्टि थी वह! ..अपनी हल्की-फुल्की, चुटीली टिप्पणियों से हर विषय को रोचक, जीवंत बना देने वाले वाजयेयी जी, अब वे कहां रहे थे... मानो, शून्य से शब्द लेकर, शेष समस्त सामर्थ्य जुटाते हुए वे मंद स्वर में कहने लगे... "सभी कुछ सापेक्षिक है यहां, शुभेंदु... सब कुछ ...तुम अभी छोटे हो, ये ज़िंदगी जैसे अमृत झर रहा हो- कभी इतनी मधुर लगती है और दूसरे ही क्षण क्यों जैसे विषधर व्याल, सहस्रों फ़नों से काटने को दौड़ पड़ रहा हो- इतनी त्रासद, प्राणशोषी हो उठती हैं... शुभेंदु, सब कुछ तो वही होता है- बस, आपकी अपनी दुनिया, आपकी ज़िंदगी ही पटरी से उतर जाती है. ...यह भी सच है कि किसी की ज़िंदगी से अपेक्षाएं बेशुमार होती हैं, किसी की बित्ते भर... पर शुभेंदु, मेरा ब्रह्म साक्षी है, मुझे कभी किसी के हिस्से का सौभाग्य नहीं चाहिए था. मैंने अपनी ज़िंदगी से कभी कुछ और मांगा ही नहीं था... मैं तो अपने प्राप्त में ही संतुष्ट था, न मेरी कोई लालसा थी न कोई महत्त्वाकांक्षा... बस मेरी नीरू और मैं... उसके आगे न कभी कुछ देखा था, न ज़रूरत ही महसूस करता था... शुभेंदु, सचमुच मेरा सारा संसार बस उसी में

सिमट कर रह गया था..."

मैं बराबर लक्ष्य कर रहा था– वे अशक्तता और गहरी पीड़ा से कांपने लगे थे. उन्हें बोलने में कष्ट हो रहा था, पर जानकर भी मैंने उन्हें टोका नहीं... उन्हें भार हल्का होने से जैसे राहत मिल रही हो. उनके एक-एक शब्द आज जैसे ज़िंदगी के अलाव से पककर निकल रहे थे– ...ट्रिब्यून के युद्ध संवाददाता के रूप में, ड्यूटी अंजाम देते, सन् 1971 के 'भारत-पाक युद्ध' में मैं बम वर्षा से बुरी तरह ध्वस्त हो गया, पर जाने कैसे, क्यों बच गया– सब इसे चमत्कार ही बताते थे. नीरू उस समय दिल्ली 'टाइम्स' के कला विभाग में रिपोर्टर थी. सुनते ही वो ढाका जा पहुंची- अगली फ्लाइट से और न जाने कितनी दौड़-धूप कर, 'रेडक्रॉस' की सहायता से मुझे अपने साथ यहां ले आयी. मेरा नीचे का पूरा अर्धांग इतनी बुरी तरह क्षतिग्रस्त हो गया था कि ऑपरेशन कर उसे काटना पड़ा. मिलिटरी सिविल अस्पताल और जहां भी अच्छी चिकित्सा सुलभ हो सकती थी, वह हर जगह– मुझे, मांस के लोथड़े को लेकर, चक्कर लगाती रही. कितना कष्टसाध्य-व्ययसाध्य भी रहा होगा वो सब कुछ. पर उसने मुझे कभी किसी बात की भनक तक न लगने दी. वो तो बाद में मुझे मालूम पड़ा कि उसने अपना पूरा पी. एफ. का पैसा कार्यालय से निकलवा लिया था. लम्बी अनुपस्थिति के कारण उसका, 'टाइम्स' से त्यागपत्र देना तो लाजिमी था ही. उधर अक्षमता से, मेरी सर्विस भी समाप्त हो गयी– क्षतिपूर्ति की कुछ राशि ज़रूर मिली थी और अनुकम्पावश प्रतिमाह बंधी पेंशन. इस नगर में, उसके हिस्से का पुराना पैतृक मकान था, इसी कारण हम यहां आ गये. मेरी दशा तो शिशु जैसी– जो पूरी तरह मां पर अवलम्बित हो– बिल्कुल वैसी ही हो गयी थी. घर पर पड़े-पड़े मन ऊबता था- उसने ये गाड़ी भी इसीलिए बनवायी थी- वो ड्राइविंग तो पहले से जानती थी. मुझे अथवा प्रारब्ध से, कभी भी किसी प्रकार की शिकवा-शिकायत किये बिना वह इस विकलांग गृहस्थी को पूरे सहजभाव से सम्भाल रही थी. सगे-सम्बंधियों की संवेदना तो तात्कालिक-ज़्यादातर औपचारिकता मात्र होती है. हमारी कोई संतान न थी– सब तरह की विषम समस्याओं और परेशानियों को हमें स्वयं ही झेलना था..."

पर वाजपेयी जी की यों अपने को ठेलकर बोलते जाने से– पेशानी पर पसीने और चेहरे पर थकान के चिह्न अब साफ़ तैरने लगे थे. वे तेज़ी से हांफने लगे थे. इसी बीच पड़ोसी की बच्ची दवा की टेबलेट और पानी, टेबिल पर रखते हुए उन्हें कुछ खिलाने-पिलाने और दवा देने का मुझसे अनुरोध कर गयी. पर पहले की ही सारी सामग्री वहां कब से अनछुई पड़ी थी– वे अब भी कुछ लेने को तैयार नहीं हुए. मेरे बहुत कहने पर बड़ी मुश्किल से दवा ली और फिर लुढ़क गये... अंदर की दुनिया में ही सिमट गये... ज़रूर गहरे विषाद की मनःस्थिति में संतरण कर रहे होंगे तब कि फिर अतीत ने दर्दीली अंगड़ाई ली "...नहीं,

शुभेंदु, नहीं, मैं उसे देवी, एक किताबी देवी नहीं कहूंगा. एक बार मैंने भावातिरेक में ऐसी ही कुछ बात कह दी थी... बहुत मर्माहत हो गयी थी वो, आंखें नम हो गयीं... परिताप से मैं भी स्तब्ध, अवाक् हो गया था... वह तमतमाई बोली– "नहीं, मैं कुछ भी तो नहीं... मैं बस आपकी वही, हर समय बक-बक करने वाली, बातूनी नीरू हूं... पूरी सौ फीसदी मानवी ...शरारती नीरू..." ये कहते-कहते बेसुध प्राय वाजपेयी जी के गले में कहीं कुछ अटका, आंखें झरने लगी, –मानो पुरानी, अंतरंग सुधियां, अब उन्हें शिद्दत से कचोट रही थीं. पर वे मानों आज किसी भी पड़ाव पर ज़्यादा देर ठहरना नहीं चाहते थे... सुधियों की 'सुनामी' को थामे रखना उनके वश के बाहर था... वे सब कुछ कहकर, मानो आज निष्कृति पा जाना चाहते थे... वे उसी रौ में कहते गये"

...शुभेंदु, नीरू, पहले उदास माहौल को भी, हल्का-फुल्का, खुशनुमा बना देनेवाली बहुत खुशमिज़ाज़ थी... ये तो, बाद की विषम परिस्थितियों ने उसे इतना संज़ीदा, मितभाषी बना दिया था... शुभेंदु, हमारी वैसी अपंग ज़िंदगी को जिन बीहड़ रास्तों से गुज़रना था, उस सबके लिए कितने धैर्य, कितनी समझदारी और संवेदनशीलता की ज़रूरत होती है. पर मैंने नीरू को, कभी हताश या झुंझलाता नहीं देखा. उसके लिए मेरे पास सिवाय कष्टों, कठिनाइयों का अम्बार लगा देने के और क्या था... पर कहां से ग्रहण की थी उसने शुभेंदु, इतनी अपार ऊर्जा, सहने का माद्दा. जिससे एक नाकारा इंसान की दृढ़ता से अपने स्नेहतंतु से बांधकर, उसकी निरर्थक ज़िंदगी को एक मकसद दिया, भला अब उसके बिना जीने की कोई तुक... शुभेंदु, नीरू पाथेय थी– उस अभावों से लदी-फदी हमारी ज़िंदगी की. मेरे जीवन की वो सचमुच सांझ का सम्बल थी... तुम्हीं बताओ, शुभेंदु, अब कहीं कोई उसके बिना जी सकता है..." कहते-कहते उनकी सांस बुरी तरह फूल गयी, वे पसीने-पसीने हो एकदम मूर्छित हो गये. फोन कर पड़ोसी ने तत्काल समीप के डॉक्टर को बुला लिया, पर उनका रक्तचाप बहुत गिर गया था. गहरे सदमे और जिजीविषा बिल्कुल चुक जाने से उनमें, जीवन के लक्षण बहुत क्षीण हो गये थे. डॉक्टर ने मुझे एक तरफ़ ले जाकर बताया- "कोई भी औषधि, उपचार ऐसी हालत में कारगर नहीं हो सकता. आखिरी समय आ गया है..." कुछ देर में संज्ञा आने पर भावावेश में उन्होंने मेरे हाथ अपनी मुट्ठी में कसकर पकड़ लिये. मैं बहुत उद्वेलित था... मन को झंझावात के थपेड़े बुरी तरह मथ रहे थे... किसी कदर साहस जुटा, अगले दिन मिलने की बात कह, बड़े खिन्न, अवसन्न मन से मैं वहां से चला आया– वैसे भी अब किसी को भी कुछ कहने करने के लिए शेष भी क्या था... अब सब बेमानी थी...

और इसीलिए अगले दिन– वाजपेयी जी की मृत्यु के समाचार से मन पर छाया वह अवसाद भार– सच है– घनीभूत नहीं हुआ... असल में तो वे नीरू के साथ ही चल गये थे... ❑

यस नो थैंक्यू

संतोष खरे

मेधा बुक्स, एक्स-11, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 मूल्य- 150 ₹

पुस्तक में संग्रहीत इन व्यंग्य लेखों में पुरस्कार को लेकर चल रही राजनीति और साहित्यिक राजनीति में पुरस्कार के खेल को कुशलतापूर्वक उघाड़ा गया है. मीडिया और अफसरशाही में फैले भ्रष्टाचार और गुटवाद किस तरह हर चीज़ के वास्तविक स्वरूप को विकृत कर रहे हैं तथा उनका दुष्परिणाम आमजन, जो कि स्वयं इसका एक हिस्सा है, को भुगतने पड़ रहे हैं, व्यंग्यों में व्यक्त हुआ है.

विज्ञान लोकप्रियकरण तथा पत्रकारिता

डॉ. शिवगोपाल मिश्र

विज्ञान परिषद प्रयाग, महर्षि दयानंद मार्ग, इलाहाबाद मूल्य-200 ₹

यह पुस्तक हिंदी में विज्ञान लेखन को बढ़ावा देने तथा मार्गदर्शन करने वाली विरल पुस्तकों में से एक है. हिंदी में विज्ञान लेखन की स्थिति, बदलते स्वरूप, उपयोगिता, साहित्यिक पत्रिकाओं का योगदान, विज्ञान पत्रकारिता, बाल विज्ञान, विज्ञान कथा तथा हिंदी में विज्ञान लेखन की लोकप्रियता आदि विषयों को इस पुस्तक में समाहित किया गया है.

सोलह कहानियां

हरीश पाठक

ग्रंथ अकादमी, 1659 पुराना दरियागंज, नयी दिल्ली-02 मूल्य- 200 ₹

हरीश पाठक का यह तीसरा कहानी संग्रह है. सैंतीस वर्षों के दरम्यान लिखी उनकी कुल कहानियों में से 16 प्रिय कहानियों को यहां संकलित किया गया है. इन कहानियों में ग्रामीण जीवन की वंचना, विस्थापन, गरीबी तथा विकास के कारण आये संत्रास की कचोट और महानगरीय जीवन की दैनंदिनी में भस्म होते चरित्रों की ऊहापोह और मजबूरियां दर्ज हुई हैं.

अनहदनादी बच्चे

सुशील राकेश

जे एम डी पब्लिकेशन, एल-51, द्वितीय तल, गली नं. 22, न्यू महावीर नगर, नयी दिल्ली -18 मूल्य- 200₹

लेखक के इस चौथे काव्य-संग्रह में कुल 45 कविताएं संकलित की गयी हैं. इनमें बच्चों की उमंग, चंचलता, सरलता और बालसुलभ क्रीड़ाओं के साथ ही संस्कृति और शिक्षा व्यवस्था में बच्चों की दयनीय स्थिति को दर्शाया गया है. समाज की तमाम बुराइयों के बीच पलते-बढ़ते ये बच्चे किस तरह व्यसन और बुराइयों की लत में फंसकर असामाजिक तत्त्व बन जाते हैं, कविताओं में साफ़ झलकता है.

मधुमती

राजस्थान साहित्य अकादमी
सेक्टर-4, हिरण मगरी,
उदयपुर, राजस्थान
मूल्य- 20 ₹

हिंदी की मासिक पत्रिका मधुमती का यह मार्च-अप्रैल का संयुक्तांक है. समकालीन कथा पर केंद्रित इस विशेषांक में 41 कहानीकारों की कहानियां प्रकाशित की गयी हैं. अकादमी के अध्यक्ष वेद व्यास इसके सम्पादक तथा वरिष्ठ कथाकार श्री प्रफुल्ल प्रभाकर इसके अतिथि सम्पादक हैं. पिछले 52 वर्षों से प्रकाशित हो रही पत्रिका का यह विशेषांक राजस्थान के कथा-लेखकों से हिंदी साहित्य के पाठकों को परिचित कराने का सराहनीय प्रयास है.

गुर्ज़िएफ़

विलक्षण मनुष्यों के संग
अनु.-अवधकिशोर पाठक
गुर्ज़िएफ़ फ़ाउंडेशन ऑफ़ इंडिया, सेक्टर-32, प्लॉट-42, इंस्टीट्यूशनल एरिया, गुड़गांव, हरियाणा मूल्य- 395 ₹

रूसी भाषा में सन् 1927 तथा अंग्रेज़ी में सन् 1963 में यह पुस्तक प्रकाशित हुई थी. पीटर ब्रुक्स ने 1979 में इस पुस्तक के आधार पर एक फ़िल्म भी बनायी. निधन के साठ साल बाद किसी भारतीय भाषा में प्रकाशित यह पहली पुस्तक है. गुर्ज़िएफ़ किसी नये सत्य के उद्घाटन का दावा नहीं करते बल्कि 'सनातन सत्य' को अपने जीवनानुभवों के माध्यम से पेश करते हैं.

कुछ और किताबें

❖ **सुहाना सफ़र और ये मौसम हसीं**
संकलन - नलिन सराफ
शैलेंद्र प्रशंसक परिवार
जीवन प्रभात प्रकाशन, ए-209,
साईं श्रा, वीरा देसाई मार्ग, मुंबई- 58
रुपये- 200

❖ **हरे पेड़ की सूखी टहनी** (गीत-संग्रह)
माणिक विश्वकर्मा 'नवरंग'
वैभव प्रकाशन, अमीन पारा,
पुरानी बस्ती, रायपुर, छत्तीसगढ
मूल्य - 100 रू

❖ **कैलाश मानसरोवर** (यात्रा कथा)
डॉ. शशि गोयल
नवसाक्षर संस्थान, 9, महिला ग्राम कालोनी, सूबेदारगंज, इलाहाबाद
मूल्य- 125

❖ **ताना मारे ज़िंदगी** (दोहे, ग़ज़ल,गीत)
ओम द्विवेदी
पार्वती प्रकाशन, 73 (ए), द्वारिकापुरी,
इंदौर-09 मध्य प्रदेश. मूल्य- 100

❖ **विरासत** (काव्य संग्रह)
महेंद्र श्रीवास्तव
शब्द-प्रवाह साहित्य मंच
ए-99, वी.डी. मार्केट, उज्जैन,
मध्य प्रदेश 456006 मूल्य- 100

❖ **पहचान** (लघुकथा संग्रह)
राधेश्याम पाठक 'उत्तम'
शब्द-प्रवाह साहित्य मंच
ए-99, वी.डी. मार्केट, उज्जैन,
मध्य प्रदेश 456006 मूल्य- 150

भवन-समाचार

तिरुपति केंद्र ने मनायी चित्रा पूर्णिमा

भवन के तिरुपति केंद्र ने चित्रा पूर्णिमा के उपलक्ष्य में तिरमाला पहाड़ियों की 'हराती' कर नमन किया. इस अवसर पर तिरुपति, नेल्लौर तथा चेन्नई के श्रद्धालुओं के अलावा देहरादून व कोलकाता से ऑल इंडिया प्राणिक हीलिंग असोसिएशन के सदस्यों ने भी भाग लिया. इस अवसर पर नवग्रह होम तथा विष्णु सहस्त्रनाम का जाप भी किया गया तथा भवन के निदेशक, श्री एन. सत्यनारायणन राजू ने सम्बोधित किया.

मुरली देवड़ा ने किया लंदन केंद्र का दौरा

भारतीय विद्या भवन अंतरराष्ट्रीय के वरिष्ठ उपाध्यक्ष श्री मुरली देवड़ा, ने लंदन केंद्र के अध्यक्ष श्री जोगिंदर संगेर के निमंत्रण पर भवन के लंदन केंद्र का दौरा किया. उन्होंने केंद्र की मासिक कार्यकारिणी बैठक में भी भाग लिया.

इस अवसर पर श्री मानेक दलाल, यू.के. केंद्र के संस्थापक-संरक्षक, श्री शांतु रुपारेल, भवन के संयुक्त अध्यक्ष तथा भवन के उपाध्यक्ष श्री मोता सिंह एवं पदमश्री डॉ. जॉन मार उपस्थित थे. कार्यकारिणी की बैठक में देवड़ा जी ने सभी केंद्रों की गतिविधियों पर प्रकाश डाला तथा लंदन केंद्र को बेहतरीन कार्य के लिए बधाई दी.

संस्कृत दिवस का आयोजन

भारतीय विद्या भवन द्वारा आयोजित संस्कृत दिवस के अवसर पर पं. प्रभाकर भातखडे ने 'आधुनिक शिक्षा में संस्कृत का योगदान' विषय पर व्याख्यान दिया. उन्होंने कहा- ''संस्कृत की शिक्षा, साहित्य, धर्म, संस्कृति तथा वेदों को बहेतर समझने में व भारतीय भाषाओं को सहजने में सहायक होती है.'' भवन के कर्मचारी शिक्षक तथा संस्कृत प्रेमी व अन्य गणमान्य समारोह में उपस्थित थे.

चित्र में- पं. प्रभाकर भातखडे (बाएं से) डॉ. मनमोहन तिवारी, व्याख्याता, भवन्स मुम्बादेवी आदर्श संस्कृत महाविद्यालय, प्रो. जी. बी. जानी, अतिरिक्त निदेशक, भवन्स स्नातकोत्तर एवं शोध-विभाग.

भवन्स निबंध प्रतियोगिता-2011 के परिणाम घोषित

हर वर्ष की तरह सन 2011 में आयोजित की गयी भवन्स निबंध स्पर्धा के परिणाम इस प्रकार हैं.

1. भवन्स भागवत स्वरूप अग्रवाल स्मारक निबंध स्पर्धा (अंग्रेज़ी)

विषय : 'मॉरेल्टी एंड प्रॉब्लम ऑफ करप्शन' (अठारह निबंध)

1. श्री निज़ार पी नज़ीर, केरल (प्रथम पुरस्कार) 2. श्री नितिन राजन, गुजरात (द्वितीय पुरस्कार) 3. कु. थम्मुना सिद्दिकी, केरल (तृतीय पुरस्कार)

2. भवन्स स्वामी शिवानंद मेमोरियल निबंध स्पर्धा (हिंदी)

विषय : वर्तमान शिक्षा प्रणाली और मानवीय उत्कर्ष

1. श्री मनोज कुमार, वाराणसी (प्रथम पुरस्कार) 2. श्री राहुल तिवारी, जोगेश्वरी, मुम्बई (द्वितीय पुरस्कार) 3. कु. लिपि जोशी, बोरीवली, मुम्बई (तृतीय पुरस्कार)

3. भवन्स पंडित नीलकंठ दास स्मारक निबंध प्रतियोगिता (अंग्रेज़ी)

विषय : पंडित नीलकंठ दास : जीवन व दृष्टि 1. श्री कृष्णचंद्र दास, उड़िसा (प्रथम पुरस्कार) 2. श्री कालीप्रसाद पांडा, उड़ीसा (द्वितीय पुरस्कार)

4. भवन्स संत रामालिंगा स्वामीगल स्मारक निबंध प्रतियोगिता (अंग्रेज़ी)

विषयः 'डिवाइन मैसेज ऑफ संत रामालिंगा स्वामीगल'

1. कुमारी कीर्ति अग्रवाल, नागपुर (प्रथम पुरस्कार) 2. कुमारी अश्वथी कृष्णा, केरल (द्वितीय पुरस्कार)

5. भवन्स ए.वी. तिलक मेमोरियल निबंध प्रतियोगिता

विषय : रोल ऑफ साइन्स इन सोश्यल वेलफेअर

1. कुमारी वैष्णवी सत्यनारायण, वरली, मुंबई (प्रथम पुरस्कार)

श्री रामकृष्णन जी को श्रद्धांजलि

भारतीय विद्या भवन ने भवन के पूर्व कार्यकारी सचिव व महानिदेशक श्री रामकृष्णन की 90वीं जयंती पर उन्हें भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की. इस अवसर पर भवन के कर्मचारियों ने भजन गायन का कार्यक्रम कर उन्हें श्रद्धाफूल अर्पित किये. ❑
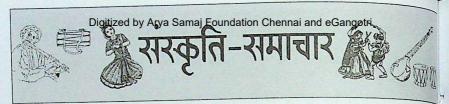
गीता का हिंदी काव्य अनुवाद विमोचित

गीताधाम, ग्वारीघाट जबलपुर में प्रो. चित्रभूषण श्रीवास्तव 'विदग्ध' द्वारा श्रीमद्भागवत गीता के श्लोकों का हिंदी काव्यानुवाद ग्रंथ का विमोचन स्वामी रामदास जी महाराज, जबलपुर तथा स्वामी अखिलेश्वरानंद गिरि, अध्यक्ष, समन्वय परिवार ट्रस्ट के हाथों हुआ. साहित्य तथा समाज के कई प्रतिष्ठित व्यक्ति इस कार्यक्रम में शामिल हुए.

वनमाली सृजन पीठ का 'रचना प्रसंग'

वनमाली सृजन पीठ द्वारा कविता केंद्रित दो दिवसीय 'रचना प्रसंग' और प्रस्तावों की आहट लिए सम्पन्न हुआ. स्वराज सभागार में आयोजित इस समारोह में समकालीन कविता के दो महत्वूपर्ण हस्ताक्षर राघवेंद्र तिवारी और निरंजन श्रोत्रिय की रचनाधर्मिता ने नयी वैचारिक कौंध जगायी. वहीं इन कृतिकारों के बहाने आलोचक वक्ताओं की बेलौस टिप्पणियों ने महत्वपूर्ण सूत्र दिये. कवि और रेखा चित्रकार राघवेंद्र तिवारी के कविता संग्रह 'स्थापित होता है शब्द हर बार' का लोकार्पण किया गया. दूसरी शाम निरंजन श्रोत्रिय के एकल रचना पाठ ने विचार और अनुभव की नयी ऊर्जा प्रदान की.

राष्ट्रीय बालसाहित्य संगोष्ठी का आयोजन

बच्चों की पत्रिका 'बालप्रहरी' एवं 'बालसाहित्य संस्थान', उत्तराखंड के संयुक्त तत्वावधान से 'रैमजे इंटर कालेज', अल्मोड़ा में 'बालसाहित्य में लोकसाहित्य का अवदान' विषय पर राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया. संगोष्ठी के मुख्य सत्र की अध्यक्षता प्रसिद्ध बालसाहित्यकार डॉ. राष्ट्रबंधु ने की. इस अवसर पर बालप्रहरी की वेबसाइट www.balprahri.com का लोकार्पण किया गया. संगोष्ठी में विभिन्न राज्यों के 115 बालसाहित्य रचनाकारों ने भाग लिया.

हिंदीरत्न सम्मान

पत्रकार भीमसेन विद्यालंकार की स्मृति में प्रतिवर्ष 'हिंदी भवन' द्वारा दिया जाने वाला 'हिंदीरत्न सम्मान', इस वर्ष राष्ट्रभाषा के प्रबल पक्षधर एवं वरिष्ठ लेखक श्री विश्वनाथ जी को प्रदान किया गया. इस अवसर पर भारतीय ज्ञानपीठ के निदेशक, श्री रवींद्र कालिया, उत्तर प्रदेश के राज्यपाल श्री बनवारीलाल जोशी व साहित्यकार बिशननारायण टंडन जैसी कई हस्तियां उपस्थित थीं.

'समावर्तन' के आवर्त में दमोह

साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक सरोकार-संवाहक पत्रिका 'समावर्तन' के जुलाई अंक का लोकर्पण कवि-रंगकर्मी-शिक्षाविद् श्री सत्यमोहन वर्मा के गृह नगर 'दमोह' में गरिमापूर्ण समारोह में सम्पन्न हुआ. समावर्तन का यह अंक प्रसिद्ध कथाकार श्री अमरकांत एवं कवि श्री सत्यमोहन वर्मा पर केंद्रित है.

समारोह की अध्यक्षता मुक्तिबोध सृजन पीठ, सागर के निदेशक डॉ. श्यामसुंदर दुबे ने की. समावर्तन के सम्पादक श्री मुकेश वर्मा ने 'दमोह' की साहित्यिक-सांस्कृतिक संस्था 'नवोदित' की स्थापना के स्वर्ण जयंती वर्ष में उसके पुनर्जीवन के विचार का समर्थन किया.

गणेश शंकर विद्यार्थी पुरस्कार

कथाकार-पत्रकार और 'लोकायत' के सम्पादक 'बलराम' को रचनात्मक लेखन व पत्रकारिता के क्षेत्र में उनकी सेवाओं के लिए मानव संसाधन मंत्रालय की स्वायत्त इकाई 'केंद्रीय हिंदी संस्थान' द्वारा 'गणेश शंकर विद्यार्थी पुरस्कार' से सम्मानित किया गया. साथ ही गिरीश कर्नाड, श्याम बेनेगल, नंदकिशोर आचार्य तथा अन्य को इस पुरस्कार से सम्मानित किया गया. राष्ट्रपति भवन में आयोजित सम्मान समारोह में 'केंद्रीय हिंदी संस्थान' के अध्यक्ष तथा मानव संसाधन मंत्री कपिल सिब्बल, उपाध्यक्ष प्रो. अशोक चक्रधर तथा अन्य सैकड़ों गणमान्य उपस्थित थे.

श्री जीतूभाई त्रिवेदी 'नटपुर गौरव पुरस्कार' से सम्मानित

श्रीमती मणीबेन काशीबेन पटेल स्कूल, नादियाड के माननीय सचिव श्री जीतूभाई त्रिवेदी को जे.सी.आई. नादियाड संस्था द्वारा 'नटपुर गौरव पुरस्कार' से सम्मानित किया गया. यह पुरस्कार शिक्षा के क्षेत्र में उनके योगदान के लिए प्रदान किया गया.

लघुकथा

पुण्य किसका

जेठ की दोपहर, दीनी राहगीरों को ठंडा पानी पिला रही है. सुबह आठ बजे से लगभग पांच किलोमीटर दूर अपनी बस्ती से वह रोज़ यहां आती है. दिन भर प्यासों को पानी पिलाती है. घड़े खाली हो जाने पर दोपहर में नंगे पांव दौड़कर वह थोड़ी दूर के हैंडपंप से पानी लाकर फिर घड़े भर देती है. साल भर का छोटा बच्चा भी उसके साथ चिपका रहता है. कुछ पत्थर, कुछ टीकरी, कुछ ढक्कनों से वह खेलता रहता है. सारा दिन पानी पिलाने के बदले सेठ जी उसे दस रुपये पारिश्रमिक देते हैं. मंदिर के ओटले पर बांस और टाट से एक झोंपड़ी-सी बना दी गयी है. इसी में दीनी का बच्चा गहरी नींद सोता भी है, खेलता भी है, कभी-कभार दीनी भी अपनी कमर सीधी कर लेती है.

पानी पीकर जाने वाला प्रत्येक व्यक्ति सेठ सीताराम को भरपूर आशीर्वाद देकर जाता है. आज एक राहगीर पानी पीकर तृप्त हुआ. भरी दोपहर थी, बहुत देर से उसे पानी भी नहीं मिला था. उसने सेठ जी पर आशीर्वादों की वर्षा कर दी- ''सेठ, तुम सात जन्मों तक धन दौलत से भरे रहो, तुम्हारा पुण्य कभी कम न हो''.

दीनी ने उस आदमी को रोककर पूछा- ''भैया एक बात तो बताओ, कुछ पुन हमहुं के पल्ले में गिरतो होयगो की नाहीं?''

– उर्मि कृष्ण

पी. वी. शंकरनुकुट्टी द्वारा भारतीय विद्या भवन, क. मा. मुनशी मार्ग, मुंबई - 400 007 के लिए प्रकाशित तथा सिद्धि प्रिंटर्स, 13/14, भाभा बिल्डिंग, खेतवाड़ी, 13 लेन, मुंबई 400 004 में मुद्रित.
ले-आउट एवं डिज़ाइनिंग : समीर पारेख - क्रिएटिव पेज सेटर्स, गोरेगांव, मुंबई-104 फ़ोन: 98690 08907
सम्पादक : विश्वनाथ सचदेव

अक्टूबर, 2012

20 रुपये

नवनीत

हिन्दी डाइजेस्ट

- बापू भारत की 'लोकवादी सूरत' गढ़ते
- 'अब आप सब गांधी हैं...'
- शायद उन्हें निकालकर पछता रहे हैं हम
- आज का एक ठीक कदम पर्याप्त है
- ...और गांधी-जिन्ना की आंखें नम हो गयीं
- गांधीवाद रहे न रहे

आज अगर गांधीजी होते...

आपके लिए नवनीत की
उपहार योजना

यदि आप अपने पांच प्रियजनों को एक वर्ष की सदस्यता दिलवाते हैं तो आपको **1200** रुपये के बजाय भुगतान करने होंगे केवल **1000** रुपये !

(एक सादे पृष्ठ पर अपने सभी पांच प्रियजनों सहित अपना नाम, पता व फ़ोन नं. साफ़-साफ़ अक्षरों में लिख भेजें.)

पुरानी उपहार-योजना जारी रहेगी, जिसके तहत आप अपने किसी मित्र, परिचित व सम्बंधी को केवल **220** रुपयों में एक वर्ष तथा 430 रुपयों में दो वर्ष की सदस्यता उपहार स्वरूप भिजवा सकते हैं.

अब आप ऑनलाइन *नवनीत* के ग्राहक बन सकते हैं !

लॉग ऑन कीजिए

http://www.bhavans.info/periodical/pay_online.asp

यहां से काटें और आज ही भेजें

मैं इन्हें ***नवनीत*** उपहार में भिजवाना चाहता/चाहती हूं. कृपया विशेष पत्र के साथ इन्हें एक वर्ष /दो वर्ष के लिए मेरी ओर से ***नवनीत*** भिजवा दें. चेक/मनीऑर्डर/ड्राफ़्ट भेज रहा हूं / रही हूं.

मेरा नाम व पता ....

....

.... पिन नं. -...................

फ़ोन नं. - .... ई-मेल ....

उपहार प्राप्तकर्ता का नाम व पता

श्री/श्रीमती ....

....

.... पिन.नं. -...................

फ़ोन नं......................................ई-मेल......................................

(मुंबई से बाहर की चेक राशि में 25/- रुपये अतिरिक्त जोड़ दें.)

(चेक, मनीऑर्डर या ड्राफ़्ट *'भारतीय विद्या भवन'* के नाम से बनायें.)

पाठकनामा

देखिये, जयशंकर प्रसाद की यह सुंदर पंक्तियां कितनी प्रेरक हैं-

हिमालय के प्रांगण में उसे,
प्रथम किरणों का दे उपहार
उषा ने हंस अभिनंदन किया
और पहनाया हीरक-हार
जगे हम, लगे जगाने विश्व,
लोक में फैला फिर आलोक
सप्त स्वर सप्त सिंधु में उठे,
अखिल संसृति हो उठी अशोक

● रामचंद्र मिश्र, ठाणे, (महाराष्ट्र)
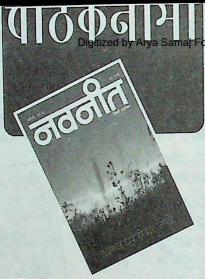
अगस्त 2012 के 'नवनीत' का सम्पादकीय, 'आंगन धूप से भर जाये', इतना विचारपूर्ण लगा कि इससे ऊर्जा प्राप्त कर प्रायः पूरा अंक सद्यः पढ़ गया. विचारणीय विषय 'भारत मेरा देश है...' पर आवरण-कथा के अंतर्गत चुने गये सभी लेख गहन सारगर्भित हैं. जिनमें विद्वान लेखकों ने भारत के हृदय को गहराई से चित्रित किया है. देश को वर्तमान विसंगतियों से उभरने के लिए इसका मूल चरित्र हमें प्रेरणा और बल प्रदान करेगा. भारत पहला देश है जहां ईसा से 700 वर्ष पूर्व सर्वप्रथम विश्वविद्यालय नालंदा में स्थापित हुआ था. पृथ्वी पर फैली हुई तमाम संस्कृतियां जब खानाबदोश थीं, सिंधु घाटी की हड़प्पा संस्कृति विकसित हो चुकी थी. आरम्भ से ही भारतीय जनजीवन नितांत आडम्बरहीन और सादा जीवन, उच्च विचार का पोषक रहा है. ऐसे गौरवशाली अतीत से हम कुछ तो हौसलाअफ़जाई करें.

अगस्त के 'नवनीत' में प्रभाकर श्रोत्रिय की रचना 'आदि विद्रोही' में माधवी के प्रति व्यवहार को उसकी विलक्षण साधना बताया गया है. भारतीय समाज में स्त्री को सम्पदा माना गया है. चूंकि वह सम्पदा है अतः दान में दी जा सकती है. दान की हुई सम्पदा पर दान प्राप्त करने वाले का पूर्ण अधिकार होता है. महाभारत में द्रोपदी का प्रश्न राजसभा में उत्तरित नहीं हुआ. इसका यही कारण है कि स्वयंवर की प्रथा ने सम्पदा स्वरूप पर प्रहार अवश्य किया परंतु वह तत्कालीन समाज में भी अधिक समय तक प्रभावी नहीं रहा. जब तक नारी को सम्पदा स्वरूप दान की अवधारणा से मुक्त नहीं किया जाएगा, तब तक विद्रोही भावना पनपती रहेगी, पर पूर्ण रूप में मुखरित होने में सदियां लगेंगी.

● रतनलाल जैन, जयपुर, राजस्थान

'नवनीत' का अगस्त अंक पढ़ा. आनंद गहलोत की 'शब्द-यात्रा' हमेशा अच्छी लगती है. रवींद्रनाथ ठाकुर की कविता तो

मन को छू गयी. रमेश नैयर का लेख 'मर-मर कर जीता है मेरा देश' बहुत कुछ सोचने पर मज़बूर करता है. कैलाशचंद पंत, विष्णु नागर, सच्चिदानंद जोशी व प्रेम जनमेजय के लेख पठनीय, ज्ञानवर्धक व जानकारियों से युक्त हैं ही साथ ही वर्तमान स्थिति में अधिक प्रासंगिक भी.

रमेशचंद्र शाह ने यात्रा-कथा में खुद का अधिक वर्णन किया है व 'बस्तर' जैसे रमणीय स्थलों का कम. आप यात्रा-कथा लिख रहे हैं या अपने बारे में लिख रहे हैं?

प्रभाकर श्रोत्रिय का 'महाभारत जारी है' के अंतर्गत 'आदि विद्रोही' पढ़कर बहुत बुरा लगा. नवनीत हिंदी की अच्छी डायजेस्ट मानी जाती है उसमें इस तरह की फूहड़ बातें देकर आप समाज व पाठकों के बीच क्या परोस रहे हैं?

● राजेंद्र पटोरिया, नागपुर

अगस्त अंक में डॉ. परशुराम का आलेख 'राजस्थान का राज्यवृक्ष-खेजड़ी' में सम्पूर्ण जानकारी वैज्ञानिक आधार पर है एवं ज्ञानवर्धक है. प्रकाशन हेतु धन्यवाद.

महाभारत के अनुसार अज्ञातवास के समय पांडवों ने अपने अस्त्र इसी वृक्ष में छिपाये थे अतः आज भी अनेक राजस्थानी परिवार विजयादशमी के दिन इसकी पूजा करते हैं. महामृत्युंजय हवन तथा नवग्रह हवन में शनि की आहुति देते समय इसकी लकड़ी का उपयोग होता है. भगवान शिव की पूजा में भी बिल्वपत्र के साथ-साथ शमीपत्र (इसकी पत्तियां) चढ़ाने का विधान है. इसकी हरी फली 'सागर' या 'सांगरी' की सब्जी दीपावली जैसे विशिष्ट त्यौहारों पर एवं विवाह के अवसर पर अवश्य भोजन में परोसी जाती है.

● रामकृष्ण पोद्दार, नागपुर

जुलाई अंक में आवरण-कथा 'संस्कृति का संकट' के अंतर्गत विजयकिशोर मानव, गंगा प्रसाद विमल, रामधारी सिंह 'दिनकर', जवाहरलाल नेहरू, हजारीप्रसाद द्विवेदी, जैसे विद्वानों और प्रतिष्ठित हस्तियों के सारगर्भित एवं चिंतनीय आलेख पढ़े. आज संस्कृति का मसला और अधिक गम्भीर होता जा रहा है. इस संकट से निपटने के लिए ठोस कदम उठाने की आवश्यकता है.

महान कथाकार मुंशी प्रेमचंद पर मुक्तिबोध द्वारा लिखा गया स्मरण बहुत

अच्छा लगा. इस दौर के लेखक-लेखिकाएं महानगरों में बैठकर गांव की कहानियां लिखने का प्रयास करते हैं, तो प्रेमचंदजी जैसी वास्तविकता कहां से आयेगी? प्रेमचंद जी ने कहानियां और उपन्यास लिखे ही नहीं बल्कि गांव में रहकर स्वयं उन्हें जिया है. उनका कालजयी साहित्य काल्पनिक नहीं है.

● **जितेंद्र सिंह, रतलाम, म. प्र.**

'नवनीत' पढ़ने का सुअवसर प्राप्त हुआ. यह पत्रिका वस्तुतः 'यथा नाम, तथा गुण है.' हिंदी साहित्य को 'नवनीत' निरंतर 60 वर्षों से पाठकों तक पहुंचा रही है. बधाई. जुलाई अंक में आवरण-कथा केंद्रित रचनाओं ने इस अंक को विशेष संग्रहणीय बना दिया है. राजनारायण चौधरी का गीत, ममता कालिया की कहानी- 'बाज़ार' तथा सत्यपाल सिंह 'सुष्म' का व्यंग्य- 'अपना व्यंग्य तुलवाइए' विशेष रूप से प्रभावित करते हैं. ● **डॉ रवि शर्मा 'मधुप', दिल्ली**

नवनीत का जून-11 का अंक पढ़कर मन और मस्तिष्क प्रसन्न हो गये. आवरण-कथा पर आपने अच्छी सामग्री प्रस्तुत कर सराहनीय काम किया है. कवितायें भी प्रभावशाली रही. भवानी प्रसाद मिश्र की कविता 'सतपुड़ा के घने जंगल' बहुत ही सरल सादी भाषा में रची गयी बेहद पसंद आयी है. बहुत पहले मैंने भी मिश्रजी की कविता 'गीत फरोश' पढ़ी थी. शब्द यात्रा 'चंद्रकन्या' में आनंद गहलोत के विचार संक्षिप्त होते हुए भी सारगर्भित हैं.

● **वासुदेव सिंह महीप, सुलतानपुर (उ.प्र.)**

मेरी आयु 21 वर्ष है और मैं नवनीत का बड़ा प्रशंसक हूं. हमारे घर के लोग काफ़ी वर्षों से नवनीत पढ़ते आये हैं. परंतु नवनीत को लेकर मेरा मन कहता था कि यह तो बड़े लोगों की किताब है, मेरी उम्र के बच्चे इससे बोर हो जाएंगे. मगर मेरी इस सोच में बदलाव तब आया जब एक दिन मेरी मां मेरे पास आकर बैठीं और मुझे नवनीत के जून 2012 के अंक से 'ये दुनिया अगर जल भी जाए तो...' कहानी सुनायी. मैं स्तब्ध रह गया. मुझे लगता था इस किताब में तो सिर्फ़ भगवान की भक्ति और अन्य ऐसी कहानियां आती होंगी. मुझे यह कहानी बड़ी पसंद आयी.

'नवनीत' और अन्य कुछ हिंदी किताबों में पढ़ते वक्त गौर किया कि इनमें पूर्णविराम न हो कर अंग्रेज़ी का फुल स्टॉप का उपयोग किया जा रहा है. नवनीत अच्छी हिंदी भाषा का पूर्ण स्रोत है. हम और हमारे जैसे अन्य पाठक इस किताब को पूर्ण साहित्य मान कर पढ़ते है ऐसे साहित्य में त्रुटी मुझे ठीक नहीं लगी. अचानक से हिंदी पढ़ने का वो आनंद चूर हो गया. अब मैं तो नहीं जानता कि फुल स्टॉप का उपयोग क्यों किया जाने लगा है, हो सकता है कि पाठकों की सुविधा के लिए ऐसा किया जाने लगा है. परंतु इससे आने वाली पीढ़ी पर प्रभाव होगा और हिंदी पढ़ने का मज़ा भी किरकिरा होगा. क्या आपको भी मेरी तरह यह बात हिंदी का अपमान नहीं लगती?

● **सुदीप द्विवेदी**

आसुरी सम्पत्ति का आकर्षण

पश्चिमवादी मतानुसार ज्ञान का मूल्य उतना ही आंका जा सकता है, जितना वह तात्कालिक, व्यावहारिक ध्येयों की सिद्धि में काम आता हो. पश्चिमवाद के प्रभाव के कारण यह बात भी स्वीकार नहीं की जाती कि मन की अदृश्य शक्तियों की प्रेरणा से प्रगति अथवा कर्म हो सकते हैं. उनके मतानुसार समान चित्त के सिवा कोई चित्त नहीं है, वैसे ही तर्क के सिवा मन की कोई शक्ति भी नहीं है.

उच्चतर सिद्धांत या आदर्श का प्रयोग करके सत्यताओं के एकीकरण करने को, यह विचारवाद, विज्ञान की कसौटी पर खरा उतरने वाला नहीं मानता. विज्ञान कहता है कि या तो ईश्वर है ही नहीं या अज्ञेय है, या जैसा हो तो भी निरर्थक तो है ही. उसके अनुसार देवत्त्व की प्राप्ति मूर्खों का व्यवसाय है. जीवन के क्षेत्रों में शक्ति का अविराम उपयोग ही उसकी दृष्टि में एकमात्र देवत्त्व है. इस प्रकार कर्म बहुत नीची कोटि में उतरकर निरी दौड़-धूप का रूप धारण कर लेता है. कारण कि इसमें एकीकरण करने वाली उच्चतर दृष्टि (बुद्धि) होती ही नहीं.

मनुष्य एक बार भी इस मार्ग पर चलना प्रारम्भ कर देता है तो पश्चिमवाद उसे जीवन के हीनतम तत्त्वों की सतह पर ला छोड़ता है. उसके समक्ष मृगजल की तरह एक ध्येय उपस्थित किया जाता है. इस ध्येय की स्थिति के प्रयत्न से केवल कृत्रिम आवश्यकताएं उत्पन्न होती हैं, जो बढ़ती ही जाती हैं. वे मनुष्य को किसी ओर भी नहीं बढ़ातीं. गीता के शब्दों में 'आसुरी सम्पत्ति' की ओर खींच ले जाती हैं.

(कुलपति के. एम. मुनशी भारतीय विद्या भवन के संस्थापक थे)

नवनीत

हिंदी डाइजेस्ट

समय... साहित्य... संस्कृति... का समग्र संसार

• भारतीय विद्या भवन का मासिक •

भवन की पत्रिका 'भारती' से समन्वित

वर्ष : 60 अंक : 10 • अक्टूबर 2012

सम्पादकीय कार्यालय

भारतीय विद्या भवन

क. मा. मुनशी मार्ग, चौपाटी, मुंबई - 400 007

फ़ोन : 022-23634462/ 1261/ 1554

फ़ैक्स : 022-23630058

प्रसार-विभाग : 022-23514466/ 23530916

ई-मेल : navneet.hindi@gmail.com

bhavan@bhavans.info

एक नज़र में

में

र्षण

' की मां

राज्यवृक्ष

आवरण-कथा

महाभारत जारी है

व्यंग्य

धारावाहिक उपन्यास

कविताएं

कहानियां

समाचार

'मां' के पिताजी और 'पिता' की मां

● आनंद गहलोत

पिता के लिए अरबी शब्द 'अब' वहां 'अबू' में बदल गया. लेकिन उन भारतीय बच्चों ने जिन्हें फ़ारसी और अरबी भाषा के संस्कार मिले, 'अबू' को 'अब्बा' में बदल दिया. अरबी में 'प' ध्वनि है ही नहीं. वह 'प' का काम 'ब' से चलाते हैं. 'अबू', 'अब्बा', उनके लिए वास्तव में 'अपू', 'अप्पा', 'पप्पा', 'पापा' ध्वनि के शब्द हैं.

यूरोप में पिता के लिए 'पापा', 'अप्पा', 'बाबा' शब्द प्रचलित हैं. बांड्ला में पिता के लिए 'बाबा', उड़िया में 'बापा', गुजराती में 'बापा', 'बापु', तमिल में 'अप्पा', कन्नड में 'अप्प', पंजाबी में 'बाप', सिंधी में 'पिड' इन सब में 'प' और 'ब' का ही वर्चस्व है.

मां के लिए 'माताजी' शब्द में संस्कारगत ओढ़ा गया आदर भाव है. मां को खड़ी हिंदी, ब्रज, अवधी, भोजपुरी के विशाल हिंदी-उर्दू क्षेत्र में बच्चों ने अपने ढंग से पुकारा. मां के बहुत रूप बने हैं- 'मा', 'अम्मा', 'अम्मी, 'माइ', 'माई', 'माय', 'माया', 'मातु', 'मइया', 'मैया'. कुछ बड़ों ने 'माताजी' का समांतर शब्द गढ़ा 'अम्मी जान', लेकिन अब 'मम्मी' शब्द से मां के पुराने सभी शब्दों को खतरा पैदा हो गया है.

असमी और मराठी में 'माई' और भी सरल होकर 'आई' हो गया है. तेलुगु, मलयालम, कन्नड में 'अम्म' और तमिल में 'अम्मा', 'मां' के सिंहासन पर विराजमान हैं. गुजराती ने 'मां' के लिए एक ही अक्षरवाचक शब्द 'बा'(अम्बा का लघुरूप) और 'मा' कर दिया. 'अम्बा' शब्द संस्कृत के 'अम्बा' से बना है या माता (मातृ) से अभी तक की खोज से निर्णायक रूप से नहीं कहा जा सकता है. वैदिक शब्द 'मातृ' ईरान की प्राचीनतम भाषा अवेस्ता में 'मातर' हो गया और फ़ारसी में 'मादर' हो गया. यूरोप की ज़्यादातर भाषाओं में 'मदर' या उससे मिलते-जुलते रूप हैं. रूसी में 'मातृ', 'मात्य' बन गया.

वैदिक भाषा का पितृ-पिता-अवेस्ता के 'पितर', फ़ारसी के 'पिदर', अंग्रेज़ी के 'फ़ादर'. पुरानी रूमानियाई भाषा का 'ताता' और पुरानी जर्मन का 'अत्ता' वैदिक 'तात (पिता) का वंशज है. अरब के बच्चों की सबसे बड़ी देन है 'बाबा' शब्द. यह पिता, नाना, दादा सभी के लिए इस्तेमाल होता है. यूरोप में भी यह अरब से गया. अरबी बच्चे 'पापा' बोल ही नहीं पाते हैं.

।। आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः ।।

वस्तु-चेतना

चीज़ें प्रभु हैं
सबमें इनकी ही प्रभुताई,
काया और मन के चिलमन में
अंधकार की ही है खाई.

इतने सारे सूरज,
इतने सारे तारे
इतने ग्रह नक्षत्र-पिंड
उजले हैं सारे -

काला तो
मन का पसार है
वरुण-वृत्र का मेरे भाई.

इस काले के पार
दृश्य में ज्योति समायी
चीज़ों की उद्दीप्त इकाई
लाख हज़ार सैकड़ा दहाई.

चीज़ें प्रभु हैं
चीज़ें विभु हैं
जग में
चीज़ों की गुरुताई.

- प्रकाश परिमल

एक कसौटी... एक चुनौती...

साल डेढ़ साल पहले जब अण्णा हजारे के नेतृत्व में भ्रष्टाचार के खिलाफ़ देश में आंदोलन छिड़ा तो बहुतों को महात्मा गांधी याद आये थे. अनशन शुरू करने से पहले गांधी की समाधि पर जाकर बैठे अण्णा के चित्र जब टी.वी. में दिखे, अखबारों में छपे तो लगा था गांधी का आशीर्वाद आंदोलन की ताकत बनेगा. आज़ादी के बाद शायद पहली बार इतनी बड़ी संख्या में युवाओं गांधी टोपी पहनी थी तब... अण्णा को दूसरा गांधी कहा गया. कहा गया कि यह आंदोलन भ्रष्टाचार के खिलाफ़ जन भावनाओं की अभिव्यक्ति ही नहीं है, गांधी के बताये रास्ते में युवाओं के विश्वास का प्रकटीकरण भी है. यह आकलन कितना सच है यह तो आनेवाला कल ही बतायेगा, लेकिन इतना तो स्पष्ट है कि गांधी जैसे व्यक्तित्व की चमक समय के साथ धुंधलाती नहीं, समय के पत्थर पर घिस-घिस कर और रंग लाती है. आज यदि गांधी प्रासंगिक हैं तो इसलिए कि उन्होंने अपने सत्य के प्रयोगों से समय को एक दिशा दी थी और गति भी. कोई ज़रूरी नहीं कि आज हम गांधी के उन प्रयोगों को दुहराने के बारे में सोचें. ज़रूरी यह है कि हम गांधी के कृतित्व और विचारों की कसौटी पर अपने आज को कसें और यह आकलन करें कि हमारे कल के लिए गांधी-दर्शन कितना सार्थक है. कतई ज़रूरी नहीं कि हम गांधी को समाधान मानकर आगे बढ़ें, पर यह ज़रूरी है कि हम इस बारे में सोचें कि क्या सचमुच गांधी हमारे आज के प्रश्नों का उत्तर हो सकते हैं? सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह, शुचिता आदि का जो संदेश गांधी ने दिया था क्या वह बदलती दुनिया की ज़रूरतों के लिए उपयोगी हो सकता है? इन्हीं सवालों के साथ जुड़ा है यह सवाल भी कि गांधी क्यों जब तब याद आते हैं? ऐसे सवालों के जवाब तलाशने का मतलब है गांधी के विचारों को फिर से तोलना. 'नवनीत' के इस अंक में कुल मिलाकर ऐसी ही एक कोशिश की गयी है. गांधी देवता नहीं थे, मनुष्य थे. उनके कृतित्व या व्यक्तित्व को एक महामानव की दृष्टि से ही आंका जा सकता है. उन्हें देवता बनाना वस्तुत: स्वयं को उस कसौटी पर खरा उतरने की शर्त से बचाना ही है, जो मनुष्यता की एक चुनौती बनकर हमारे सामने खड़ी है. रामशरण जोशी, सुदर्शन आयंगार, अनुपम मिश्र, गिरिराज किशोर, यज्ञ शर्मा आदि ने इस अंक में कुल मिलाकर हमारे आज के संदर्भ में गांधी को समझने और इस प्रक्रिया में स्वयं को आंकने की एक कोशिश की है. वस्तुत: गांधी एक कसौटी भी हैं. और एक चुनौती भी. और इन दोनों का रिश्ता हमारे आनेवाले कल से है- कल जो हमें स्वयं बनाना है.

बापू भारत की 'लोकवादी सूरत' गढ़ते

● रामशरण जोशी

आज विश्व में 20वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से कई हज़ार गुना अधिक हिंसा, अशांति, असुरक्षा और अस्थिरता व्याप्त है. जब तक बापू जीवित (30 जनवरी, 1948) थे तब तक चंद परमाणु बम अमेरिका के पास थे; 1945 में हीरोशिमा-नागासाकी महात्रासदी घटी; दो परमाणु बम विस्फोटों में हज़ारों जापानियों की जानें गयीं और लाखों तबाह हुए; आज अमेरिका व रूस के पास करीब 20 हज़ार परमाणु बम हैं और कुछ सौ चीन, भारत, पाकिस्तान जैसे राष्ट्रों के पास हैं. गांधी के जीवन काल में दो महायुद्ध हुए थे, लेकिन विगत वर्षों में हज़ारों क्षेत्रीय युद्ध भड़क चुके हैं जिसमें लाखों मौत के मुंह में समा चुके हैं और करोड़ों विकलांग व विस्थापित हो चुके हैं. आज भी कई एशियाई व अफ्रीकी क्षेत्रों में राष्ट्रों व समुदायों के बीच हिंसक मुठभेड़ें जारी हैं.

आतंकवाद और कट्टर मज़हबीवाद की गिरफ्त में भारत, पाकिस्तान, अफगानिस्तान, ईरान, अमेरिका, इराक, रूस जैसे अनेक देश हिंसा की कगार पर बैठे हुए हैं. बीती सदी में विश्व में दो ध्रुवीय शक्ति व्यवस्था थी, आज सम्पूर्ण मानवजाति एकल-ध्रुवीय शक्ति व्यवस्था (अमेरिकी ब्लॉक) के जबड़े में फंसी हुई है. तीसरे विश्वयुद्ध की सम्भावनाएं दस्तक देने लगी हैं. अब रोबोट सेनाओं का निर्माण किया जा रहा है. मानव, मशीन का दास बन चुका है.

महात्मा गांधी का जीवन-मंत्र था- सादगी और आवश्यकता आधारित जीवन शैली व आर्थिक-राजनीतिक दर्शन. वे कहा करते थे कि इस प्यारी वसुंधरा के पास मनुष्य की आधारभूत ज़रूरतों की पूर्ति के लिए पर्याप्त है, लेकिन यह उसकी तृष्णा, वासना व लोभ की पूर्ति करने में असमर्थ है. लेकिन आज मनुष्य की बर्बर तृष्णा व वीभत्स वासना का काल शुरू हो चुका है; नव उदारवाद व नव उपनिवेशवाद तथा क्रूर उपभोक्तावाद ने नागरिक और राज्य को निम्न कोटि का 'लालची' बना दिया है. इस आक्रामक लालची प्रवृत्ति ने मनुष्य और प्रकृति के संघर्ष को भी तीव्र व धारदार बना दिया है. मनुष्य, पूंजी, मशीन और राजसत्ता का गठबंधन वसुंधरा की ज्ञात-अज्ञात सम्पदा को डकारने का अश्वमेध चलाये हुए है.

इस अश्वमेघ के कारण ही आज हज़ारों-लाखों करोड़ रुपये के कल्पनातीत महाघोटालों का विस्फोट हो रहा है; संसद और विधानसभाओं के करीब 25 प्रतिशत सदस्य अपराधी पृष्ठभूमि से हैं; बेल्लारी रेड्डी कांड व हरियाणा कांडा कांड शासक वर्ग की शोभा कहलाते हैं; फुटपाथी जनों को सितारा कारों से कुचलना नवउदित धनिक वर्ग की जीवनशैली बन चुका है. और दूसरी तरफ़ है ढाई लाख किसानों द्वारा आत्महत्याएं; 50 करोड़ से अधिक आबादी का 20 रु. रोज़ पर गुज़र-बसर. नगरों-महानगरों में गगनचुम्बी मालों के साये में बढ़ती मलिन बस्तियां और कुपोषण व भूख से होती मौतें. वहीं नेताओं, नौकरशाहों और उद्योगपतियों की देश-विदेश में बिछी अकूत 'काली-मलिन पूंजी'.

विधायिका का तेज़ी से होता विकलांगीकरण, संसद और विधानसभाओं में नितदिन बढ़ती अराजकता, सदनों का लगातार ठप होना, पैसा फेंक-सवाल पूछ

सिर्फ़ फूलों से वंदना नहीं....

और पैसा-पद मार-सरकार बचा-संस्कृति ने लोकतंत्र की भावी सार्थकता को संदेहास्पद बना दिया. संक्षेप में, शासक वर्ग का स्वधर्म ही 'राजधर्म' में रूपांतरित हो चुका है. इसलिए उसने अपने वर्गीय हितों की हिफ़ाज़त के लिए राज्य और उसके तंत्र को पहले से अधिक सुदृढ़ कर लिया है.

ये हैं कुछ सूरतें आज की दुनिया की, आज के भारत की.

आज जब ऐसी सूरतों से सामना महात्मा गांधी का होता तब उनकी क्या प्रतिक्रिया होती, यह सवाल है जो संवेदनशील, चेतनाशील और ईमानदार भारतीय को आंदोलित करेगा. पिछले 60-65 सालों से लगातार दो सवाल स्वतंत्र भारत का प्रेत बन कर पीछा कर रहे हैं. एक, हम गांधी को क्यों याद करें? दो, आज गांधीजी होते तो क्या करते? नेहरू-काल से लेकर मनमोहन सिंह-काल (अर्थात नेहरू युगीन समाजवाद से लेकर मनमोहन सिंह के वैश्वीकृत नवउदारवाद) तक ये सवाल नये-नये रूपों में उभरते हैं और गांधीजी की प्रासंगिकता को पुनर्जीवित कर देते हैं. वैसे ऐसे सोचवालों की कमी नहीं है जो मानते हैं कि आज गांधी अप्रासंगिक हो चुके हैं उनकी भूमिका चुक चुकी है. समय, चुनौतियां, मुद्दे और आवश्यकताएं बदल चुकी हैं. उन्हें 21 वीं सदी के सांचे में फिट करना नामुमकिन है क्योंकि उनका मशीन से हमेशा बैर (दे. हिंद स्वराज) रहा है. उन्हें पश्चिमी आधुनिकता, उद्योगीकरण, उपभोक्तावाद और राज्य से चिढ़ थी. वे संसदीय व्यवस्था को बांझ मानते थे. वे राज्य का विलोप चाहते थे. वे मूलतः अराजकतावादी थे. इसके विपरीत आज राष्ट्र राज्य और उसकी मशीनरी अपेक्षाकृत अधिक मज़बूत हुए हैं, जन का हाशियाकरण हुआ है और मशीन ने आधुनिक मानव को पूरी तरह से दबोच लिया है. मानव, संचार व सूचना उपकरणों के चक्रव्यूह को तोड़ने में असमर्थ है. वह वैश्वीकृत बन चुका है. उसके लिए गांधी के मशीन-पूर्व-युग में लौटना असम्भव ही नहीं, बल्कि 'आत्महंता' बनने के समान है.
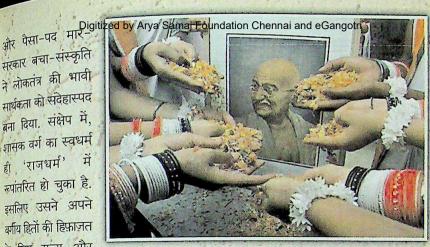
एक बड़ा वर्ग यह भी मानता है कि गांधी की हत्या नाथूराम गोडसे ने नहीं बल्कि

उनके उत्तराधि[illegible] 30 जनवरी को तो दैहिक हत्या हुई थी लेकिन उनकी वैचारिक देह व जीवनदृष्टि की हत्या रोज़ाना की जा रही है. उन्हें 'मूर्तिपूजा' में सीमित कर दिया गया. स्वाधीन भारत के शासक वर्ग ने अपनी हिफ़ाज़त के लिए उनका बहुआयामी (सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनीतिक) दोहन किया है. सत्तापक्ष रहे या विपक्ष, दोनों ही बापू की दुहाई देते हैं और उन्हें संसद के भीतर व बाहर ढाल बनाते हैं. यह कैसी अजीबोगरीब नियति बनायी है बापू की; दोस्त और दुश्मन, दोनों ने ही गांधी को अपनी-अपनी 'कमोडिटी' में तब्दील कर दिया है!

वैश्वीकृत युवा पीढ़ी की सोच में गांधी 'फालतू' का रूप ले चुके हैं क्योंकि उसकी आकांक्षाओं-महत्त्वाकांक्षाओं से बापू का फलसफा कहीं मेल नहीं खाता है. उसे रॉकेट रफ्तारी-हाईटेक 'आईकोन' चाहिए, न कि कोई लंगोटधारी कृशकाया. ऐसे युवाओं की भी कमी नहीं हैं जो गांधी को भारत-विभाजन का अपराधी मानते हैं, जबकि यथार्थ इस प्रायोजित-प्रचारित धारणा के नितांत विपरीत है. एक तरह से बापू को केवल भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के आख्यान-नायक में समेट दिया गया है. पिछले कुछ वर्षों में चंदेक बॉलीवुड फिल्मों (हे राम!, लगे रहो मुन्ना भाई आदि) ने भारतीय मध्यवर्ग की नैतिकता और गांधीदृष्टि के बीच तालमेल बिठाने के

प्रयोग जरूर किये थे. 'गांधीगीरी' शब्द चल पड़ा था. इसी तर्ज़ पर अण्णा हज़ारे-आंदोलन ने भी महात्मा गांधी को राष्ट्रीय व्यवहार में पुनर्जीवित करने की कोशिश की. देश के शासक वर्ग की अंतरात्मा को जगाना चाहा और गांधी मार्ग पर लौटने के लिए दबाव बनाया. लेकिन इन तमाम कोशिशों, अभियानों, सत्याग्रहों का 'दुखांत' साफ़ दिखाई दे रहा है. फिलहाल तो ऐसा ही लगता है.

तब इस परिदृश्य में मोहनदास करमचंद गांधी उर्फ महात्मा गांधी होते तो भारतीय रंगमंच पर उनकी भूमिका कैसी होती? यह काल्पनिक सवाल भी है, यथार्थवादी भी; आदर्शवादी भी है, व्यवहारिक भी. इस घटाटोप में इस सवाल से पलायन करना बेईमानी होगी, अंतिम आदमी के साथ विश्वासघात होगा.

समय-समाज की स्थितियां नायक को जन्म देती हैं, और वह उनमें गुणात्मक परिवर्तन लाता है. वह उनमें नये आयाम जोड़ता है और क्रांति का सूत्रपात होता है. अंततः क्रांति की कोख से नया समाज, नयी व्यवस्था जन्म लेती है. इस बहुआयामी प्रक्रिया का साक्षी इतिहास रहा है.

इस ऐतिहासिक प्रक्रिया के परिप्रेक्ष्य में 20वीं सदी के महानायकों में से एक महात्मा गांधी की कर्म-यात्रा को समझने की ज़रूरत है. गांधीजी जीवनपर्यंत सामाजिक आविष्कारकर्मी, प्रयोगधर्मी और विकासवादी रहे हैं; एक कट्टर वैष्णवी लेकिन धर्मनिरपेक्षता व साम्प्रदायिक अखंडता की अंतिम परिभाषा; दो, धर्म-भीरू वणिक परिवार के सदस्य होने के बावजूद सक्रिय प्रतिरोधी व सत्याग्रही; तीन, प्रथम विश्वयुद्ध में अंग्रेज़ी सेना के लिए भारतीयों की भर्ती लेकिन द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान 1942 में 'अंग्रेज़ो भारत छोड़ो' का नारा; चार, कभी अंग्रेज़ी शासन से सम्मोहित लेकिन अंततः 'पूर्ण स्वाधीनता' का नारा; पांच, अहिंसा के समर्थक लेकिन कायरता 'नामंज़ूर' व 'सक्रिय प्रतिरोध' की स्वीकृति; छह, मध्यमार्गी व मिश्रित पूंजीवादी पार्टी के 'डिक्टेटर' होने के बावजूद धन व राजसत्ता से निर्लिप्तता और अहर्निश उत्सर्गधर्मी. गांधीजी की मानसिक बनावट और कर्म-पथ पर दृष्टिपात किया जाए तो एक स्वाभाविक निष्कर्ष निकलता और वह यह है कि वे सतत 'यथास्थितिवाद और अन्याय विरोधी' रहे हैं. वे अपनी पद्धति से लोकोन्मुखी शक्तियों को मज़बूत करते रहे हैं. वे चाहते तो नेहरू के बजाए पटेल के हाथों में सत्ता सौंप सकते थे. कांग्रेस पार्टी में प्रतिगामी शक्तियों को मज़बूत कर सकते थे और जमींदारों-पूंजीपतियों को स्वतंत्र भारत का सर्वेसर्वा बना सकते थे. लेकिन वे अपने भीतर छिपे 'विद्रोही गांधी' को नज़र-अंदाज़ नहीं कर सके और वस्तुस्थिति को ध्यान में रखकर उन्होंने भविष्य की शक्तियों का ही साथ दिया.

गांधी की इस 'फ़ितरत' को ध्यान में रखा जाए तो शुरू के सवालों का जवाब देना आसान हो जाएगा. मैं समझता हूं यदि वे जीवित होते तो वर्तमान व्यवस्था के चरित्र को तो हरगिज़ बर्दाश्त नहीं करते. वे इसे

बदलने के लिए सम्पूर्ण भारत को 'प्रतिरोधी' में रूपांतरित करने का संकल्प लेते. जब उन्होंने कांग्रेस पार्टी को समाप्त कर नयी पार्टी बनाने की बात कही थी तो इससे अंदाज़ लगाया जा सकता है कि वे वर्तमान शासकों को कैसे सहन करते. वे प्रतिरोध के नये माध्यमों का आविष्कार करते. चूंकि वे परिस्थितियों से सीखते भी रहे हैं और स्वयं को विकसित करते रहे हैं, अतः उन्हें नयी दृष्टि व संचार माध्यमों को अपनाने से कतई परहेज़ नहीं होता. वे अपने उग्ररूप में 'अंतिम व्यक्ति' के साथ खड़े दिखाई देते. इस लड़ाई में वे किसी भी सीमा तक जाने के लिए तत्पर रहते, वे ऐसी शक्तियों के साथ भी जा सकते थे जो कि उत्पीड़क पूंजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध संघर्षरत हैं. गांधीजी मूलतः समतावादी थे. वे अपनी लड़ाई को तार्किक परिणति तक पहुंचाने के लिए भारतीय मिज़ाज की 'क्रांति' का आह्वान करते. नयी आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था का एजेंडा लागू करते. वे परमाणु बमों का विरोध करते. विश्वमंच पर अपना विरोध गुंजित करते. परमाणु राष्ट्रों की जनता के माध्यम से वे सम्बंधित सरकारों पर दबाव बनाते. संयुक्त राष्ट्र के लोकतांत्रीकरण के लिए विश्वव्यापी अभियान चलाते. वे वैश्वीकरण को 'आवश्यकता आधारित' बनाने के लिए प्रगतिशील शक्तियों को गोलबंद करते. वे 'उपयुक्त टेकनोलॉजी' के पक्ष में वैज्ञानिकों को आंदोलित करते. वे 'समान स्कूल शिक्षा' को लागू करवाते. वे 'सार्वजनिक परिवहन व्यवस्था' का विस्तार करते और महंगी कारों का विरोध. उत्पादन व उपभोग को बुनियादी आवश्यकता से जोड़ते. हमेशा जेल-यात्रा के लिए भी कटिबद्ध रहते. 21वीं सदी की इस क्रांति में उनके जीवन का पटाक्षेप 30 जनवरी से अलहदा नहीं रहेगा, इस सम्भावित अंत से भी बापू पलायन नहीं करते. याद रखिए, इतिहास निर्माता और क्रांति-सूत्रधार वे ही हो सकते हैं जिनका जीवन धर्म-कर्म 'निस्पृहता' हो. गांधी इसके 'अवतार' थे. इसलिए हमें बापू को याद करना चाहिए. निस्संदेह इस सदी में भी वे भारत की 'लोकवादी सूरत' गढ़ते. ❑

गांधी का स्वराज

हम अक्सर स्थूल गांधी को ही समझ पाते हैं, उस सूक्ष्म गांधी तक नहीं पहुंचते जिसके लिए स्वराज एक पूरी सभ्यता-दृष्टि था. गांधी जब स्वराज की बात करते थे तो वे नितांत स्थानीय अर्थव्यवस्था की बात भी करते थे जो अपनी ज़रूरतें खुद पूरी कर ले. गांधी का स्वराज मूलतः सबकी सामाजिक बराबरी के सपने में भी निहित था. जिसमें अस्पृश्यता या किसी भी तरह के भेदभाव की जगह नहीं थी. वे देशज सभ्यता पर भरोसा करते थे और पश्चिम की वैचारिकता से अनाक्रांत एक स्वाभिमानी भारत बनाना चाहते थे.

– प्रियदर्शन

शायद उन्हें निकालकर पछता रहे हैं हम

• सुदर्शन आयंगार

आज अगर गांधी ज़िंदा होते तो व्यक्ति, समष्टि और सृष्टि के बीच संवाद साधने के प्रयत्न में नये सिरे से जुड़े होते. वैसे तो उनकी तपस्या ही यही थी. अपनी व्यक्तिगत तपस्या का ताप इतना था कि एक बहुत बड़ा समाज यानी मानव समूह मोहन के सम्मोहन में आ गया था और जिधर वह दो डग चला तो पीछे करोड़ों डग चले. पर यही बात मानव समूह के कुछ लोगों को नहीं सुहायी और उनकी छाती पर तीन गोलियां दाग कर उन कदमों को चलने से रोक दिया गया. वह मोहन अगर हम सभी में थोड़ा-थोड़ा ज़िंदा होता तो जैसा वह कहते थे तो हम उनके बताये मार्ग पर होते. पर ऐसा हुआ नहीं. पंडित जवाहरलाल नेहरू जिन्हें गांधीजी ने अपना वारिस कहा, उन्होंने ही गांधीजी के मार्ग को स्वतंत्र भारत के विकास के लिए उपर्युक्त नहीं समझा.

'हिंद स्वराज' लिखने के 36 साल बाद भी गांधीजी ने नवसमाज निर्माण की अपनी परिकल्पना को बदला नहीं था. जवाहरलाल नेहरू को 1945 में लिखी एक चिट्ठी में उन्होंने इस परिकल्पना को एक बार फिर स्पष्ट किया था. चर्चा के केंद्र में यह विषय था कि स्वराज्य प्राप्ति के बाद भारत में विकास का स्वरूप कैसा होगा. उन्होंने लिखा, 'मैं आधुनिक विज्ञान को मानता हूं परंतु पुरानी बात आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से देखता हूं तो पुरानी बात इस नये परिधान में अच्छी लगती है. आप यदि यह समझते हैं कि मैं आज के गांवों की बात कर रहा हूं, तो आप

मेरी बात नहीं समझ पायेंगे. मेरा आदर्श गांव तो अभी मेरी कल्पना में है. और मनुष्य अपनी कल्पना में ही रहता है. मेरी कल्पना का गांववासी जड़ नहीं होगा, पूर्ण चैतन्ययुक्त होगा. वह गंदगी में, अंधेरे में पशु का जीवन नहीं जीयेगा. स्त्री और पुरुष दोनों स्वतंत्रतापूर्वक जीयेंगे, पूरी दुनिया का सामना करने हेतु सिद्ध होंगे. वहां न कॉलेरा होगा न प्लेग. चेचक भी नहीं होगा. वहां कोई आलसी भी नही रह पायेगा न कोई ऐशो-आराम में भी, सभी को शारीरिक परिश्रम करना पड़ेगा. यह सब होते हुए भी, मैं ऐसी बहुत सारी चीज़ों की कल्पना कर सकता हूं जिनकी व्यवस्था बड़े पैमाने पर करनी पड़ेगी. शायद रेलवे भी होगी और डाक-तार भी. क्या होगा और क्या नहीं होगा यह मैं नहीं जानता हूं. मुझे उसकी चिंता भी नहीं है. मैं अगर मूल बात सिद्ध कर सकता हूं तो शेष बातें समय आने पर आ ही जाएंगी. परंतु अगर मैं मूल बात छोड़ता हूं तो शेष सब कुछ भी छोड़ना ही पड़ेगा.

स्वतंत्रता की लड़ाई जब अपनी चरम सीमा पर थी तब गांधीजी का उत्साह इतना था कि उन्होंने कहा था कि वे अपने सपनों का भारत निर्मित करने के लिए सवा सौ साल जीयेंगे. स्वतंत्रता मिलने के कुछ समय पहले उनके निकट के प्रिय एवं विश्वसनीय सहयोगियों ने ही उन्हें अंधेरे में रख कर निर्णय लेना आरम्भ किया तब गांधीजी ने उदास होकर यह कहना शुरू किया था कि वे ज़्यादा नहीं जीना चाहते. आज वह होते तो 143 साल के होते. अतः यह सम्भावना तो नहीं बनती पर यह ज़रूर सोचा जा सकता है कि अगर गांधीजी पुनः ज़िंदा हो आते तो क्या करते.

उनकी सत्य की खोज जारी रहती और उनके सत्य के प्रयोग भी जारी रहते. नेहरू को लिखे पत्र में जिस कल्पना के गावों की बात लिखी थी उसके निर्माण में वह नये सिरे से जुटते. सबसे पहले तो वो यह देखते की नेहरू और उनके वारिसों ने समाज और देश की दिशा ही बदल दी है. वे महसूस करते कि मूल छूट गया है. वे पाते कि कृषि क्षेत्र में हरित क्रांति आ गयी और छोटे-बड़े सभी किसानों ने कृषि का तरीका ही बदल दिया है. बीज, खाद, पानी, श्रम और हल-बैल सभी खरीद कर इस्तेमाल हो रहे हैं. बीज हाईब्रीड से आगे बढ़कर जनीन परिवर्तित हो चुके हैं. खाद रासायनिक है. कीटनाशक और खर-पतवार नाशक के नाम पर रासायनिक ज़हर छिड़के जा रहे हैं जो खूब महंगे हैं और जिनकी मात्रा निरंतर बढ़ानी पड़ती है. पानी-बिजली सभी खरीदना पड़ता है. पारिवारिक श्रम कम हो गया है और मज़दूर काम पर लगाये जाते हैं. हल-बैलों की जगह ट्रैक्टर ने ले ली है. इन सभी खर्चों को उठाने के लिए सरकार और सहकारी संस्थाएं कर्ज़ देती हैं. सूखा पड़ने पर या वर्षा न होने पर उत्पादन कम होता है और किसी भी हालत में किसान बिना फसल बेचे अपने कर्ज़े चुका नहीं सकता. इसी बीच शहरी और औद्योगिक उत्पादन के चलते उपभोग के इतने साधन हो गये हैं कि घर-परिवार में उपभोग बढ़ गया है

और इसके लिए नकद रुपयों की मांग आसान किश्तों पर माल मिलने के बावजूद अतिशय बढ़ गयी है. गांव के शादी, ब्याह, और सभी संस्कारों में डी.जे. ज़रूरी हो गया है. गांधीजी पाते कि हालात इस कदर बिगड़ गये हैं कि जगत का तात, गोदान का होरी, दो बीघा ज़मीन का नायक, जो पहले गरीब था पर मजबूर नहीं था वही आज उत्पादन और उपभोग दोनों के कर्ज़ के भार से दब कर फांसी पर लटक रहा है.

भ्रष्टाचार के विरुद्ध नारे बुलंद करने वाला आम़ आदमी खुद ही बीसियों तरीके के भ्रष्ट आचरणों में इस कदर लिप्त हो गया है कि उसे यह अहसास ही नहीं होता कि वह भी उतना ही भ्रष्ट है जितना भ्रष्ट वे लोग हैं जिनके खिलाफ़ वह नारे बुलंद कर रहा है.

उद्योग की ओर आते तो पाते कि देश में धड़ल्ले से शहरीकरण हो रहा है. लोग काम की तलाश में छोटे-बड़े सभी शहरों की ओर भाग रहे हैं. शिक्षा भी ऐसी हो गयी है कि गावों में भी बच्चे थोड़ा पढ़ें तो काम छोड़ें और ज़्यादा पढ़ें तो गांव छोड़ें, और आज तो वे यह पाते कि गांव में पढ़ें चाहें न पढ़ें, लोग शहर की ओर तो भागते ही नज़र आते. उद्योगों में भी पहले चालीस सालों में कारखानों में मज़दूर लगाये जाते थे और अब मशीन आधारित स्वचालित उत्पादन प्रक्रियाओं पर ज़ोर है. औद्योगिक उत्पादन आधारित आर्थिक वृद्धि 'जॉबलेस' हो गयी है. आर्थिक सेवाओं का क्षेत्र देख कर तो वे अचम्भे में ही पड़ जाते. पहले जो पारिवारिक और सामाजिक सेवाएं थीं वे सभी आर्थिक सेवाओं में तब्दील हुई पाते. 'इवेंट मैनेजमेंट', 'होम डिलिवरी', 'करियर सर्विस', 'टिफिन सर्विस', 'होम केयर' और न जाने कितने ही प्रकारों की सेवाएं देखकर आश्चर्यचकित हो जाते. उन्हें साफ़ दिखता कि 'हिंद स्वराज' में उन्होंने जो चेतावनी दी थी कि पश्चिमी समाज भौतिक विकास और भोगवाद में फंसकर शरीर केंद्री हो जाएगा वही चेतावनी भारत में लागू हो रही है. शरीर को लाड लड़ाने के लिए हज़ारों प्रकार के सामान से बाज़ार अटा पड़ा है. और इन सभी आकर्षणों के कारण आदमी अपनी नैतिकता तेज़ी से खोता जा रहा है. भ्रष्टाचार के विरुद्ध नारे बुलंद करने वाला आम आदमी खुद ही बीसियों तरीके के भ्रष्ट आचरणों में इस कदर लिप्त हो गया है कि उसे यह अहसास ही नहीं होता कि वह भी उतना ही भ्रष्ट है जितना भ्रष्ट वे लोग हैं जिनके खिलाफ़ वह नारे बुलंद कर रहा है.

स्वतंत्रता मिलने के कुछ समय पश्चात एक विदेशी पत्रकार ने गांधीजी से पूछा था कि उन्हें भारतीय बौद्धिकों के बारे में क्या लगता है. उनका उत्तर था कि देश के बौद्धिकों की संवेदनहीनता उन्हें बहुत भयावह मालूम होती है. गांधीजी ज़िंदा होते तो पाते कि उनकी समझ बिलकुल भी गलत नहीं थी. उनके दिये हुए एकादश व्रतों में से अस्पृश्यता एवं सर्वधर्मसमभाव के बारे में समाज के स्तर

पर गहरी उदासीनता रही. इतना ही नहीं दलितों पर अत्याचार, दलितों-आदिवासियों के साथ पक्षपात और कौमी वैमनस्य गहरा करने की प्रवृत्तियां बढ़ीं. धार्मिक कट्टरता और उस पर पलनेवाला आंतकवाद बढ़ा. अंतरराष्ट्रीय स्तर की गुटीय राजनैतिक गतिविधियों के कारण इन कट्टरवादी गुटों के पास घातक हथियारों का संग्रह और उपयोग शुरू हुआ. समाज में भ्रष्टाचार और उसके कारण भोगवाद बढ़ा. राजनीति में जातिवाद ने पैर पसारे. हिंद स्वराज में उन्होंने ब्रिटेन की पार्लियामेंट को वैश्या एवं बांझ कहा था, वे यह पाते कि हिंदुस्तान की पार्लियामेंट भी राजनैतिक और आर्थिक सत्ता के दलालों का अड्डा बन गयी है. पार्लियामेंट में पारित होनेवाले ज़्यादातर कायदे बांझ हो जाते हैं. सरकारें, फिर वह चाहे किसी भी राजनैतिक दल की हो, गरीबों के लिए स्वाभिमानयुक्त आजीविका के अवसर खड़ा करने की जगह रोटी, कपड़ा और मकान की भीख देने की योजनाएं बनाते हैं और उनके अमल में बाबू से लेकर अफसर और छुटभैया से लेकर नेता तक ऐसी भीख के एक रुपये में से साठ-सत्तर पैसे अपनी कमीशन मार लेते हैं. गांधीजी यह भी देखते कि नेहरू की गलतियों का पश्चाताप करने के लिए और दुनिया को जीतने के लिए निजीकरण, वैश्वीकरण और मुक्त-बाज़ारीकरण की विश्व प्रशंसित त्रयी को आमूलचूल परिवर्तन की दुंदुभियां बजा कर लाने वाली सभी सरकारों ने नेहरू युग को कहीं मात दे दी है और आर्थिक घोटालों की शृंखला सजा दी है.

उपरोक्त परिस्थिति का जायज़ा लेते हुए गांधीजी अपने नेहरू को लिखे उस पत्र को याद करते और सोचते कि मैंने ठीक ही कहा था, मूल छूट गया है. फिर उनकी नज़र जाती अपने सहयोगियों और भक्तों पर कि वे कहां हैं? वे पाते कि उनके विदा होते ही बहुतेरों ने मिट्टी झाड़ दी और चल पड़े जहां दुनिया जा रही थी. कुछ लोग जुटे और विनोबा की ओर देखकर गुहार लगायी. विनोबा ने कहा सर्वोदय समाज ज़मीन मालिकी की विषमता को घटाये. देशभर में भूदान की लहर दौड़ी. नयी चेतना फैली. गांधीजी सोचते कि जाने क्यों उनके द्वारा चुने इस सम्पूर्ण सज्ज प्रथम सत्याग्रही ने भी आंकड़ों को ज़्यादा तवज्जो दी और ग्रामदान, प्रखंडदान और राज्यदान के जाल में उलझे ही नहीं, मानने लग गये. कत्ल और कानून की जगह करुणा के बल पर ज़मीन दिलानेवाले बाबा का मंत्र महसूली प्रशासन के जाले में उलझकर रह गया. गांधीजी आगे देखते कि उनके ही समय का एक क्रांतिवीर जयप्रकाश नारायण राज्य की लोक विरोधी गतिविधियों से त्रस्त होकर लोगों के हक में लड़ने के लिए सड़क पर चल पड़ा और लोकनायक बन गया. गांधीजी देखते कि संघर्ष की इस यात्रा में रचनात्मक कार्यों का पृष्ठबल नहीं था. यह भी सच है कि लोकनायक ज़्यादा जी नहीं पाये. अंततः यह जनसंघर्ष भी सत्ता संघर्ष बनकर रह गया.

गांधीजी आज अगर ज़िंदा होकर आ जाते तो फिर एक बार व्यक्तिगत तपस्या की

अलख जगाते. उनकी समझ में यही तो मूल था. वे पाते कि हर व्यक्ति के लिए उनके एकादश व्रत यानी सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह, अस्वाद, अभय, शरीरश्रम, स्पर्शभावना, सर्वधर्म समभाव और स्वदेशी आज भी उतने ही, बल्कि ज़्यादा आवश्यक हो गये हैं. वे अपनी ही तपस्या और बढ़ाते ताकि लोग प्रेरित हो सकें. दुनिया की इस स्थूल और सूक्ष्म हिंसा के सामने अहिंसक सत्याग्रहों की नये सिरे से शुरूआत करते. अपने व्यवहार से वह फिर यह सिद्ध करते कि एकादश व्रत के पालन करनेवाला सत्याग्रही व्यक्ति और समष्टि के प्रश्नों का हल ही नहीं करेगा परंतु प्रकृति के शोषण का प्रश्न भी स्वमेय हल हो जाएगा क्योंकि मानव समाज की कुल ज़रूरतें ही कम हो जाएंगी. शरीरश्रम को स्थान मिलने से और स्वदेशी और स्वावलम्बी होने से यातायात में खर्च होनेवाली ऊर्जा बचेगी. वह नये सिरे से यह भी समझाते कि खादी तो 'ईको-फेब्रिक' है क्योंकि उसके उत्पादन में कम से कम बिजली लगेगी और इस तरह बिजली के उत्पादन के लिए कोयला कम जलाना पड़ेगा. कार्बन की समस्या कम होगी.

गांधीजी को शायद सानंद आश्चर्य होता कि आज विश्व फिर एक बार नये सिरे से उनकी ओर मुड़ा है. वे पाते कि 2007 की दो अक्टूबर से उनका जन्मदिन अंतरराष्ट्रीय अहिंसा और शांति दिवस के रूप में मनाया जाता है और ये पहल 'युनाइटेड नेशंस' ने की है. दुनियाभर में फैलती हिंसा से पूरा मानव समाज त्रस्त एवं चिंतित है. पर मानव समाज अभी तक ठीक से देख-समझ नहीं पाया है कि आर्थिक विकास तथा भौतिक सुख के ध्येय का सम्बंध बढ़ती हुई प्रकट और परोक्ष और सूक्ष्म हिंसा से है. 'हिंद स्वराज' में परिकल्पित समाज का निर्माण विश्व कर्णधारों की कार्यसूची में नहीं आ पाया है. उनकी विचारधारा में परिवर्तन लाने के लिए सबसे पहले 'हिंद स्वराज' की परिकल्पना के समाज नवनिर्माण के लिए आत्मबल-'सोल फोर्स', को बढ़ाने की ज़रूरत है. अतः वे प्रेमबल से आत्मबल को मज़बूत करते. नयी पीढ़ी को नया संकेत देते. थोड़े में कहूं तो गांधीजी फिर ज़िंदा होकर आते तो बकौल अदम यह कहते,

शायद मुझे निकाल कर पछता रहें हैं आप,
महफिल में इस ख्याल से फिर आ गया हूं मैं.

(लेखक गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद के कुलपति हैं)

चलते रहिए

जापान में बस के लिए इंतज़ार करते समय वहां लिखे इस वाक्य पर निगाह पड़ ही जाती है– यहां सिर्फ़ बसें रुकती हैं, आपका समय नहीं, इसलिए अपने लक्ष्य की ओर चलते रहिए.

'अब आप सब गांधी हैं...'

● गिरिराज किशोर

यह सवाल बेतुका है कि गांधी अब होते तो क्या करते? पहले भी क्या कर पाये. 1945 में उन्होंने प्रधानमंत्री को लिखा कि अब समय आ गया है कि हमें हिंद स्वराज को व्यवहार में लाना चाहिए. गांवों की तरफ़ लौटना चाहिए. गांवों का आर्थिक विकास ही देश के विकास का आधार बन सकता है. प्रधानमंत्री ने अविलम्ब जवाब दिया कि गांव जो स्वयं अंधकार में हैं वे देश को क्या रोशनी देंगे. गांधी यही कह पाये कि तुम्हारा और मेरा रास्ता अलग-अलग है. आजतक गांव उसी अंधकार में जी रहे हैं जिसे नेहरू उनके नाम कर गये थे. सत्ताधारियों की वसीयत दूर तक काम करती है. सत्ता उन लोगों के पास थी जिनके हाथ में नीतियां बनाना था.

गांधी जनता थे. जनता को कभी भी शटअप किया जा सकता था. गांधी चुप नहीं हुए. वे अपने माध्यमों से सचेत करते रहे, प्रेरणा देते रहे. उनकी प्रेरणा सत्ता और जन के दो हिस्सों में बंट जाने के कारण भोथरी हो गयी थी. जब तक सत्ता नहीं थी तब तक मात्र गांधी ही थे.

यही तब हुआ जब देश का विभाजन हुआ. उस बिंदु पर गांधी के पट साथी पटेल और नेहरू साथ मिल गये और बिना गांधी को बताये लॉर्ड माउंटबेटन से

विभाजन को सहमति दे आये. माउंटबेटन ने गांधी को बुलाकर पूछा विभाजन के मुद्दे पर आपको क्या कहना है. वे चुप रहे. वे पहले ही कह चुके थे देश का विभाजन मेरी लाश पर होगा. वायसराय ने कहा विभाजन के लिए नेहरू और पटेल रज़ामंद हैं. गांधी ने सुना और बिना कुछ कहे उठकर चले आये. विभाजन पर अपने दोनों साथियों का मत गांधी की पहली मानसिक मृत्यु थी. जिन्ना साहब से जब माउंटबेटन ने पूछा आपकी क्या राय है तो वे बोले कि मैं अपनी पार्टी से पूछकर बताऊंगा. माउंटबेटन ने उन्हें सख्त आवाज़ में कहा अगर आप इस चक्कर में पड़ेंगे तो इस सुनहरे अवसर को खो देंगे. उसका रास्ता उन्होंने निकाला कि जब बैठक होगी तो मैं कहूंगा कि मि. जिन्ना से भी पूछ लिया गया है. तुम केवल गर्दन हिला देना. जिन्ना ने वैसा ही किया. बटवारा तय हो गया. गांधी पर आक्षेप लगा कि गांधी ने कहा था मेरी लाश पर बंटवारा होगा. गांधी के ज़िंदा होते बटवारा हो रहा है. लेकिन गांधी तब ज़िंदा कहां थे. उनका सत्व तो उनके दो विश्वसनीय साथियों ने उनका विश्वास उलट करके निकाल लिया था.

यही तब हुआ जब गांधी ने कहा था कांग्रेस का काम खत्म हो गया अब इसे विघटित करो या इसका नाम बदल दो. तब भी शीर्ष नेतृत्त्व ने उनकी बात को चलने नहीं दिया. सब जानते थे कांग्रेस एक ऐसी कामधेनु बन गयी है जो मांगोगे वह देगी. गांधी जी यही समझ रहे थे पर दोनों के दृष्टिकोण में फर्क थे. गांधी समझ रहे थे इंद्र के हाथ अगर संन्यासी की नंदनी लग गयी तो इंद्र इसे दुह-दुह कर मार डालेगा. वे नहीं चाहते थे कि इस नंदनी को वे चंद वरेण्य लोगों के हाथों में सौंप कर उनके लिए आरक्षित कर दें. इस नंदनी पर सारे देश का अधिकार हो. वह तभी सम्भव था जब कांग्रेस की बेदखली हो जाए और नयी जनसेवक पार्टी सेवा के लिए सामने आये. जिसके मन में यह अहंकार न हो कि देश की आज़ादी पर उसका हक है. गांधी स्वयं कांग्रेस के चार आने की सदस्यता से भी अपने को पहले ही अलग कर चुके थे. ऐसा लगता है उनके दिमाग में यह बात पहले ही आ चुकी थी कि कांग्रेस के एकाधिकार से अगर वे स्वयं अलग हो जाएंगे तो वे दूसरों से भी कह सकेंगे कि कांग्रेस का काम खत्म हो चुका.

मुझे एक घटना याद है कि मैं 1947 में, मुज़फ़्फ़रनगर में, छठी क्लास में पढ़ता था. गांधी जी दिल्ली से हरिद्वार शरणार्थी कैंप जा रहे थे. उस समय वे बहुत भग्न हृदय थे. हमारे क्लास-टीचर ने बच्चों को ले जा कर सड़क के किनारे लाइन में खड़ा कर दिया था. एक बस आयी. उसमें रामधुन हो रही थी. लोगों ने बस को घेर लिया और नारे लगाने लगे. एक आदमी ने गर्दन बाहर निकाल कर कहा बापू किसी से नहीं मिलेंगे. पर जनता ने रास्ता नहीं छोड़ा. तब पुलिस का भी उतना

जमावड़ा नहीं होता था. आखिर बापू ने खिड़की से गर्दन बाहर निकाली. वे कमज़ोर और उदास थे. मैं ठीक खिड़की के नीचे ही खड़ा था.

वे नीचे ही देख रहे थे. बोले देश आज़ाद हो गया, गांधी को भूल जाइए, आप सब गांधी हैं. देश को बनाइए. उन शब्दों का अर्थ आज भी पूरी तरह समझ नहीं आया. पर वे मेरे दिमाग में उतने ही ताजा हैं. शायद वे कहना चाहते थे, देश को बचाना है तो आप सबको गांधी की तरह बनना होगा...अडिग और अटल. लेकिन उनका संदेश न उनके जीवन में समझा गया और न बाद में. उन्होंने अपनी इच्छा-मृत्यु को 125 वर्ष से घटा कर, पहले ही मरने की इच्छा जाहिर की थी. उन्होंने समझ लिया था कि अब सब स्वतंत्र और अपनी इच्छा के मालिक हैं. शीर्ष पर बैठे लोगों की इच्छा देश के लोगों की इच्छा बनती जा रही थी. किसी को किसी की चिंता नहीं थी. अगर वे अब होते तो स्वतंत्र देश में इतनी भयानक आर्थिक गुलामी को बर्दाश्त करना उनके लिए कठिन हो जाता. वे विरोध करते तो उनकी स्थिति जयप्रकाश नारायण से भी बदतर होती.

महंगाई, उत्पीड़न, भ्रष्टाचार, व्यभिचार, बलात्कार, संवादहीनता और शीर्ष स्तर पर जनता से अलगाव शायद उनसे बर्दाश्त न होता. क्योंकि देश उनमें था और वे देश में थे. वे अगर उम्र को अपनी इच्छा शक्ति से घटाते नहीं तो सब कुछ असहनीय हो जाता. एक ही रास्ता था- राम की तरह सरयू प्रवेश. लेकिन कृष्ण की तरह एक हिंदुवादी की गोली ने उनकी जान ले ली. उन्होंने राम राम की और विदा ली. शायद वे लड़ते पर किन-किन बातों के लिए? अब तो उन्हें पहचानने वाला भी देश में कोई नहीं रहा था. केवल अपने को पहचानने का दौर चालू है!. ❑

दूध से चारे की तरफ़!

एक दिन गांधीजी, सरदार पटेल और श्री कुमारप्पा एक साथ ही भोजन करने बैठे. गांधीजी उन दिनों नीम की चटनी नियमित रूप से सेवन करते थे. खाते-खाते उन्होंने सहज स्नेह और वात्सल्य के वशीभूत हो, एक चम्मच नीम की चटनी श्री कुमारप्पा की थाली में डाल दी. बगल में बैठे सरदार पटेल यह देख रहे थे. वे हास्य के इस सुअवसर का लाभ उठाने से अपने को रोक नहीं सके. गम्भीर बनते हुए उन्होंने श्री कुमारप्पा से कहा- "आपने देखा, बापू अभी तक तो बकरी का दूध ही पीते थे, पर अब तो वे बकरी का चारा भी खाने लगे हैं."

आज का एक ठीक कदम पर्याप्त है

• अनुपम मिश्र

यदि गांधीजी आज होते?... यह सवाल नया नहीं है. शायद गांधीजी के जाते ही अगले दिन से पूछा जाने लगा होगा. सवाल नया नहीं क्योंकि हमारा स्वभाव पुराना ही है. स्वभाव न बदला हो तो परिस्थितियां कितनी भी बदल जाएं, हम बदलते नहीं. इसलिए कहीं भी संकट में हम फंसे नहीं कि एकदम यही सवाल सामने आता है : यदि गांधीजी होते तो क्या करते?

कभी किसी ने सोचा होगा कि सन् 1869 के अक्टूबर से पहले लोगों के सामने यह प्रश्न था क्या? तब तो गांधीजी का जन्म भी नहीं हुआ था. फिर अक्टूबर के दूसरे दिन उस साल गांधीजी ने जन्म लिया. धीरे-धीरे पले-बढ़े, सब सामान्य बच्चों की तरह. फिर स्कूल-कॉलेज में कुछ पढ़े-लिखे, सब सामान्य युवकों की तरह. न जाने कब सब कुछ सामान्य-सा दिखने वाला एकदम असामान्य, असाधारण बन गया. फिर तो पूरे जीवन भर इस देश में ही नहीं, पूरी दुनिया में उनकी उपस्थिति इस कदर बनी रही, ऐसी ऊंची बनी रही कि बाकी सब बौने से हो गये थे. यह ऊंचाई उनके व्यक्तित्व में थी, उनके कामों में थी, उनके विचारों में थी.

उनके जाने के बाद अंधेरा-सा छा गया. सूरज के जाने के बाद भी अंधेरा आता है. लेकिन सूरज अगले दिन फिर उगता है. थोड़े बहुत बादल हों, कोहरा हो, रेतीली या धूल भरी आंधी हो- तब भी सूरज आ गया है- ऐसा भरोसा मन में रहता है. पर गांधीजी गये तो ऐसा नहीं हुआ. उन्हें अगली सुबह नहीं आना था.

आते भी भला क्यों ? हमें उनकी ज़रूरत थी- सिर्फ़ इसलिए क्या? ये 'हम' भी कौन? कहां-कहां नहीं होंगे हम जैसे 'हम!' हमारे

निकम्मेपन की ढाल है यह सर्वनाम 'हम'. यह सब जगह कम-ज़्यादा मिलता है. मिलता ही चला जाता है. बढ़ता ही चला जाता है और इसलिए कोई संकट आया नहीं कि हमें लगता है काश, आज गांधीजी हमारे बीच होते. वे होते तो हमारे बदले हम उनको इस संकट में झोंक देते. यह भी अटूट भरोसा हमें है कि यदि वे होते तो हम क्या उन्हें झोंकते, वे खुद ही अपने को निछावर करने हाथ के काम छोड़ उस संकट की घड़ी के सामने होते. हमारे संकट-मोचक की तरह.

ऐसा भरोसा, कुल मिलाकर, एक निकम्मेपन का ही परिचालक होता है. ऐसा निकम्मापन हमें कहीं का नहीं छोड़ेगा. हम कभी भी अपनी समस्याओं से निपट नहीं पायेंगे. समस्याएं कब नहीं होतीं? दस-पांच हज़ार बरस का इतिहास खंगाल लें. खगोल-भूगोल सब देख डालें. बिल्कुल निरापद कोई भी समय नहीं रहा है. प्राकृतिक आपदाएं, राजनैतिक आपदाएं, सामाजिक आपदाएं. और तो और घर-घर की आपदाएं- भगवान राम के राजतिलक के पुण्य क्षण में भी कैकेयी कोप भवन में चली गयी हैं. समस्याएं बराबर आयेंगी. अच्छे कामों को, अच्छे विचारों को राजाज्ञा से, भले ही मजबूरी में, पर बनवास मिलता रह सकता है.

और ऐसे में ही धीरज, संयम, दृढ़ता और मर्यादा को ध्यान में रख हमसे जितना बने उतना तो करें हम. जो हमसे अभी नहीं बन सकता, उसकी कोशिश अभी नहीं भी करें तो ज़्यादा अच्छा. आज का एक ठीक कदम पर्याप्त है, कल की शक्ति वही देगा- ऐसी प्रार्थना मन में तो करें.

आज गांधीजी होते तो क्या करते? वे जब थे- और वे काफ़ी लम्बे समय तक रहे हैं- तब उन्होंने हर तरह की परिस्थिति में हमेशा ही कुछ न कुछ करके दिखाया था. वे सब उदाहरण आपके-हमारे सामने हैं. फिर वे संघर्ष से लेकर रचना तक के, निर्माण के, नवनिर्माण के कामों में, हर असम्भव-सी दिखने वाली परिस्थिति में अपार सम्भावनाएं तलाश लेते थे. कभी चुटकी भर नमक से वे ब्रितानी राज को हिला देते थे, तो कभी मुट्ठी भर कपास से अंग्रेज़ों की सूती मिलों को ठप कर देते थे. नील के गट्ठर से अन्याय से रंगे यूरोप के बाज़ार को सफ़ेद झक्क, उज्ज्वल बना देते थे.

जब तक वे रहे, उन्होंने यहां इतना कुछ किया जितना एक व्यक्ति कभी नहीं कर सकता. दायें हाथ से किया, दायां हाथ थका तो बाएं हाथ से किया. तन से किया, मन से किया और अंत में अपने प्राण तक से किया.

वे तो इस धरती के लिए इतना कुछ कर गये. अमर हो गये. अब हम मर-मर कर जीयें और अपने हर संकट में उन्हें याद करें, सोचें कि आज यदि वे होते तो क्या करते- यह बिल्कुल ठीक नहीं है. आज वे नहीं हैं. हम और आप हैं. हमसे जितना बने, उतना तो करें. गुरुदेव की एक छोटी-सी कविता न भूलें-

सांध्य रवि ने कहा,
मेरा काम लेगा कौन
रह गया सुनकर जगत
सारा निरुत्तर मौन.
एक माटी के दीये ने
नम्रता के साथ,
कहा, जितना बन सकेगा
मैं करूंगा नाथ. ❑
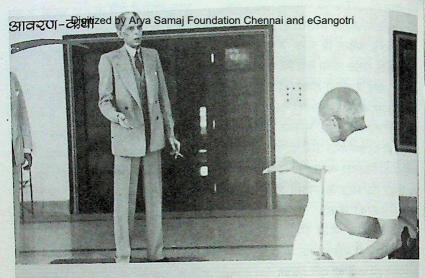
...और गांधी-जिन्ना की आंखें नम हो गयीं

• गोपालकृष्ण गांधी

यह सही है कि अपने जीवन-काल में गांधी और जिन्ना दो विरोधी ध्रुव ही बने रहे, लेकिन उनके पौत्र गोपालकृष्ण गांधी ने गांधी और जिन्ना की एक काल्पनिक बातचीत में दोनों को एक नया अध्याय शुरू करने के लिए मना ही लिया है. 'इंडिया टुडे' में छपी इस काल्पनिक बातचीत का एक अंश

जिन्ना : इस सब में हमारा इतना वक्त, इतनी एनर्जी और ज़िंदगी ही खप गयी, सब कुछ अब कितना फालतू लगता है. हम एक-दूसरे से किस चीज़ के लिए लड़े? प्रधानमंत्रियों... पूर्व प्रधानमंत्रियों... भावी प्रधानमंत्रियों... को कत्ल होते देखने के लिए... आतंकवादियों... घोर भ्रष्टाचार... कुशासन... और एटमी हथियारों को देखने के लिए...

गांधी : पता है मुझे. दोनों मुल्कों में धार्मिक कट्टरता बढ़ रही है... संस्कृति के नाम पर महिलाओं के साथ बर्बरता हो रही है... कभी-कभी तो मुझे लगता है कि हम कहीं मध्य युग की ओर तो नहीं लौट रहे... हमारे

इलाकों में हिंसा हद दर्जे तक बढ़ गयी है... सीधी और छद्म हिंसा, दोनों... शोषण... पैसा सबको चला रहा है... यह समूची मानवीय करुणा को खत्म कर रहा है... हमें इस बारे में कुछ करना होगा.

जिन्ना : मिस्टर गांधी, ध्यान रहे, हम दोनों उस दुनिया के लिए मर चुके हैं. हम सिर्फ़ भूत हैं...

गांधी : परंतु हम मूकदर्शक होकर नहीं देख सकते!

जिन्ना : सिविल नाफरमानी का आपका तरीका तो अब हिंदुस्तान में काफ़ी हो चुका है...एक मजाक बन गया है...

गांधी : क्या आपका 'इस्लाम खतरे में है' वाला नारा अप्रत्याशित रूप से वापस नहीं लौट आया है? परंतु आरोप-प्रत्यारोप से क्या लाभ... हमारे सामने एक नया लक्ष्य है कायदे-आज़म. हमें यह तय करना होगा कि हमारी ज़मीन पर अब कोई निर्दोष न मरने पाए, दंगों में या आतंकवाद से या युद्ध में. हमें भारत, पाकिस्तान और बांग्लादेश को अपराध के खिलाफ जंग में लगाना होगा.

जिन्ना : कश्मीर का क्या होगा?

गांधी : चलो श्रीनगर में बैठते हैं. एक नया अध्याय शुरू करने के लिए वहां 'दाराशुकोह के परी महल में एक सम्मेलन रखा जाए... प्राकृतिक संरक्षण के लिए कश्मीर को दुनिया की राजधानी बनाया जाए... मैं वह शब्द तो नहीं जानता था, जिसे आज पूरी दुनिया इस्तेमाल करती है... 'इकॉलॉजी' ...लेकिन इतना ज़रूर जानता हूं कि हमारे पर्यावरण को मनुष्य के लालच से बचाना होगा. कश्मीर पूरी दुनिया को एक रास्ता दिखा सकता है... न सिर्फ़ हमें... और हम वहां जहांगीर के साथ फिर कहें... पृथ्वी पर कहीं जन्नत है... तो यहीं है... यहीं है...

जिन्ना : बहुत जज़्बाजी मत होइए.

गांधी : और वहां एक सूफी संगीत का समारोह आयोजित हो... कबीर की साखियां... और रामधुन... ईश्वर अल्ला तेरे नाम... भारत और पाकिस्तान पारिस्थितिकीय समझ की उपमहाद्वीपीय योजना बनाने के लिए एक श्रीनगर सम्मेलन की घोषणा करें... जो श्रीनगर कोड कहलाए... परमाणु हथियारों को खत्म करने के एक कार्यक्रम के साथ... कैदियों की परस्पर रिहाई हो... सीमा का उल्लंघन न करने का एक समझौता हो... पाकिस्तान की ओर से हिंदुस्तान को यह जोरदार ऐलान सुनने को मिले कि उसका आतंकियों से कोई लेना-देना न होगा... भारत को मुंबई हमले की सचाई सुनने को मिले... मुंबई तो आपके लिए भी खास था... कायदे-आज़म... मैं दिल्ली के कान में यह बात डालूंगा कि मुंबई में जो आपका सुंदर मकान है, उस पर आपका ही हक है... भारत को आपके बारे में संकुचित सोच नहीं रखनी चाहिए... आपकी आंखें नम हो रही हैं...

जिन्ना : और आपकी सूखी हैं क्या?

❑

मेरे असत्य के प्रयोग

• यज्ञ शर्मा
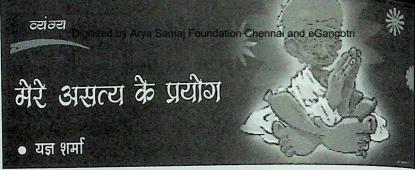
जिन 'हे राम' का नाम लेकर महात्मा गांधी ने देह छोड़ी थी, पिछले दिनों वे उन्हीं 'हे राम' से ज़िद करने लगे, "मुझे भारत वापस जाना है." 'हे राम' ने समझाने की कोशिश की, "बापू, तुम्हें मोक्ष मिल चुका है. तुम आवागमन से मुक्त हो चुके हो." लेकिन महात्मा गांधी ने ज़िद नहीं छोड़ी, "मुझे तो जाना ही है. देखो न, मेरे भारत की क्या दशा हो गयी है. "ऐसे तो तुम यह भी देख सकते हो कि मेरी अयोध्या की क्या दशा हो गयी है. लेकिन, मैंने कभी कहा कि मैं वहां जाना चाहता हूं?" "तुम्हारी माया तुम जानो, तुम ठहरे भगवान. लेकिन, मुझे तो जाना है."

"मगर जाना क्यों है?"

"क्योंकि मुझे लगता है, आज़ादी के बाद मैंने सत्ता में शामिल न हो कर गलती की थी. मुझे लगता था कि मैं सत्ता से बाहर रह कर ही व्यवस्था को सुधार सकता हूं. लेकिन ऐसा हुआ नहीं. इसलिए, अब मैं चाहता हूं कि जा कर सत्ता में शामिल हो जाऊं और व्यवस्था को सुधारूं."

राम की जगह कृष्ण होते, तो महात्मा गांधी की बात सुन कर शायद मुस्कुरा देते. राम बस तटस्थ भाव से महात्मा गांधी को देखते रहे.

जब महात्मा गांधी ने अपना इरादा नहीं बदला, तो संत तुलसीदास के बाद अपने सबसे बड़े भक्त की इच्छा के आगे 'हे राम' झुक गये. उन्होंने चुटकी बजायी और महात्मा गांधी अपने पुराने स्वरूप के साथ भारत आ गये. वे सिर्फ़ भारत में आ ही नहीं गये, सरकार में भी शामिल हो गये. और जैसा कि होना ही था, सरकार में शामिल होते ही घोटालों से घिर गये. महात्मा गांधी के घोटालों से घिरने की बात, बहुत से लोगों को बहुत आपत्तिजनक लग रही होगी. लेकिन, आप कृपया शब्दों को गौर से पढ़िए. यहां 'घोटालों से घिरे होना' कहा गया है, 'घोटालों में लिपटे' होना नहीं. वैसे भी, महात्मा गांधी तो महात्मा गांधी हैं. इतने साल बाद भी उनकी इतनी इज़्ज़त है कि उन पर शक करने से पहले कोई दस बार सोचेगा. कहा जाता है कि नाथूराम गोडसे ने भी महात्मा गांधी की हत्या ज़रूर की थी, लेकिन उनकी ईमानदारी पर शक नहीं किया था.

तो, महात्मा गांधी सरकार में शामिल हो गये. सरकार तमाम घोटालों के आरोपों से घिरी है. सरकार का फ़र्ज़ है कि वह इन आरोपों का खंडन करे. खंडन किसी ऐसे

व्यक्ति से करवाना चाहिए जिसकी विश्वसनीयता पर किसी को शक न हो. इसके लिए महात्मा गांधी से अच्छा आदमी और कौन हो सकता है ! तो, सरकार ने महात्मा गांधी को अपना घोटाला-खंडन प्रवक्ता नियुक्त कर दिया.

घोटाला-खंडन महात्मा गांधी के लिए नया विषय था. इसलिए अपनी टेढ़ी मुस्कान के लिए मशहूर, एक अनुभवी नेता ने उनकी ब्रीफ़िंग की. गांधी को समझाया गया कि ज़्यादातर आरोप विरोधी पक्ष के नेता लगाते हैं. इसलिए, गांधी जी को विरोधी पक्ष के नेताओं को उसी नज़र से देखना चाहिए, जिस नज़र से वे अंग्रेज़ों को देखते थे. महात्मा गांधी को यह तर्क ठीक से समझ नहीं आया, विरोधी नेता भले ही विरोधी सही, पर हैं तो अपने ही लोग, उन्हें अंग्रेज़ कैसे समझा जा सकता है ?'' ब्रीफ़िंग करने वाले नेता ने ब्रीफ़िंग का कोण बदल दिया, ''जब आप स्वतंत्रता आंदोलन चला रहे थे, तो क्या अंग्रेज़ों की बात मानते थे ?'' ''नहीं.''

"बस, हम चाहते हैं कि आप वही रवैया बना कर रखें. विरोधी नेता कुछ भी कहें, आपको किसी हालत में उनकी बात नहीं माननी है.

"सत्य हो तो भी?''

यहां मुद्दा सत्य और असत्य का नहीं है. राजनीति का है.''

"राजनीति में भी तो सत्य और असत्य होता है.''

टेढ़ी मुस्कान वाले नेता ने बड़ी मुश्किल से अपनी टेढ़ी मुस्कान को कायम रखा, 'देखिए, आज हम अंग्रेज़ों के ज़माने में नहीं जी रहे. आज जो राजनीति होती है, वह आज की है. आज की राजनीति में किसी और चीज़ को महत्त्व नहीं दिया जा सकता. आज राजनीति बस राजनीति है और कुछ नहीं.''

''लेकिन राजनीति की दिशा तो सही होनी चाहिए.'' हमारी दिशा गलत नहीं है. आज राजनीति का दिशासूचक बस यही दिशा दिखाता है.''

धीरे-धीरे महात्मा गांधी को राजनीति का वर्तमान सच समझ में आने लगा. वे समझ गये कि प्रवक्ता के तौर पर उनका कर्तव्य है कि वे भ्रष्टाचार को नकारें. पर प्रश्न यह था कि फिर मूल्यों का क्या होगा? ब्रीफ़िंग करने वाले नेता ने मूल्यों का इतिहास बताया, महात्मा गांधी, आप 1948 में गुज़रे थे. आज 2012 है. चौंसठ साल बीत गये. आपके मूल्य चौंसठ साल बूढ़े हो गये हैं. सठिया गये हैं. ज़माना बदल गया है. बेईमानी की टेक्नोलॉजी बदल गयी है. बेईमानी अब एक ऑटोमैटिक मशीन है. ऐसी मशीन जो अपनी मरम्मत खुद कर लेती है. कोई खराब पुर्ज़ा निकालना तो पड़े दूसरा पुर्ज़ा खुद-ब-खुद फिट हो जाता है.

गांधी जी फिर भी संशय में थे. ब्रीफ़िंग करने वाला नेता समझ गया कि अब डायरेक्ट एक्शन का वक्त आ गया है. उसने गांधी जी से पूछा. ''आप तो सत्ता में शामिल हो कर व्यवस्था को बदलने के लिए ही आये हैं न?''

''हां.''

''तो अपना उद्देश्य हासिल करने के लिए, आपको अपनी सत्ता तो बचा कर रखनी ही पड़ेगी न?''

''गांधी जी बोले, ''हां.''

''तो आप बस सत्ता को बचाने पर ध्यान दीजिए!''

''पर कैसे?'' जब बेईमानी साफ़ दिख रही है तो उसे बचाया कैसे जाए?''

''एक तरीका है. कुछ देर के लिए आप अपने महात्मा को ब्रेक दे दीजिए. उसे बकरी का दूध पीने भेज दीजिए. और, अपने अंदर के वकील को जगाइए. यह समझ लीजिए कि सत्ता आपकी मुवक्किल है. आप उसके वकील हैं. अपने मुवक्किल को बचाना हर वकील का फ़र्ज़ होता है. मुवक्किल को बचाने के नये तर्क खोजिए.''

महात्मा गांधी ने बरसों से सोये अपने वकील को जगाया और सत्ता बचाने की खातिर भ्रष्टाचार के पक्ष में एक नया तर्क खोज़ा, ''जिसे भ्रष्टाचार कहा जा रहा है, वह भ्रष्टाचार नहीं है.''

''तो फिर क्या है?''

''एक प्रयोग है.''

''यानी आप प्रयोग कर रहे हैं?''

''हां, मैंने पहले भी प्रयोग किये हैं, जैसे सत्य के प्रयोग.''

''सत्य के प्रयोग तो समझ में आते हैं. उन प्रयोगों से आप सत्य की सीमाएं परखते हैं. लेकिन भ्रष्टाचार के प्रयोग करके आप क्या करेंगे?''

''यह जानेंगे कि इस देश में भ्रष्टाचार किस सीमा तक जा सकता है. एक बार उसकी सामर्थ्य पता चल जाए, तब उसको जड़ से उखाड़ना आसान हो जाएगा.''

महात्मा गांधी के इस बयान ने मीडिया में धूम मचा दी. तमाम चैनलों पर उन्हें बहस के लिए बुलाया जाने लगा. चिल्ला कर बोलने वाला एंकर, टेढ़ा मुंह बना कर बोलने वाला एंकर, आंखें तरेर कर बोलने वाला एंकर, शब्दों को चबा-चबा कर बोलने वाला एंकर, सब महात्मा गांधी से बहस करना चाहते थे. हर घोटाले पर उनकी राय पूछी जाती थी. हर बार गांधी कोई नया तर्क खोज कर लाते ताकि सत्ता बची रहे और वे सत्ता में शामिल रहें ताकि एक दिन व्यवस्था को बदल सकें. बहसों का यह सिलसिला थम ही नहीं रहा था, निरंतर चलता जा रहा था.

कहां तो महात्मा गांधी सत्ता में शामिल हो कर व्यवस्था बदलने आये थे और कहां राजनीति ने उन्हें लगातार चलने वाली बहसों में फंसा दिया. धीमे सुर में बोलने वाले गांधी की आवाज़ चिल्ला कर बहस करने वालों के बीच सुनाई देना बंद हो गयी. उनके विरोधी उन्हें बोलने तक नहीं देते थे. बहस कर-करके गांधी थक गये. तब एक दिन महात्मा गांधी, गांधी की समाधि राजघाट पर गये. वे समाधि के ऊपर पालथी मार कर बैठ गये. फिर उन्होंने आसमान की ओर देखा. 'हे राम' उन पर लगातार नज़र रखे हुए थे. जैसे ही गांधी ने ऊपर देखा, 'हे राम' ने चुटकी बजायी और महात्मा गांधी फिर 'हे राम' के पास पहुंच गये.

'हे राम' ने पूछा, ''क्यों बापू, नये अनुभव से क्या सीखा?''

''यही कि बाहरी लोगों से लड़ना आसान है. अपने लोगों से लड़ना बहुत मुश्किल.''

''तो आगे क्या इरादा है?''

''कुछ कागज़-कलम दिलवा दीजिए. एक नयी पुस्तक लिखनी है- मेरे असत्य के प्रयोग!'' □

गांधीवाद रहे न रहे

• महात्मा गांधी

सन् 1940 मलिकंदा (प. बंगाल) में पदमा नदी के किनारे गांधी सेवा संघ के छठे अधिवेशन में गांधीजी अपने जनों के सम्मेलन में कुल पांच बार विस्तार से बोले- ''यहां तो मैं अपने घर में बैठा हूं'' कहते हुए गांधीजी ने कई बातें बहुत ही खरी-खरी कहीं. इन पांचों भाषणों के सम्पादित अंश.

अगर आप शांति रखेंगे तो मेरी आवाज़ आप तक पहुंच जाएगी. अभी मैंने कई लोगों को 'गांधीवाद ध्वंस हो' चिल्लाते हुए सुना. जो गांधीवाद ध्वंस करना चाहते हैं, उनको ऐसा कहने का पूरा-पूरा अधिकार है. जो लोग मेरा भाषण सुनने आये हैं, वे कृपा करके खामोश रहें. उनको इन विरोधी नारों से चिढ़ना नहीं चाहिए और न 'गांधी की जय' के नारे लगाकर उनका जवाब ही देना चाहिए. अगर आप अहिंसक हैं तो आपको ऐसे नारे चुपचाप सुन लेने चाहिए. अगर गांधीवाद में असत्य की बू है तो उसका अवश्य ध्वंस होना चाहिए. अगर उसमें सत्य है तो उसके नाश के लिए लाखों या करोड़ों आवाज़ें लगायी जाने पर भी उसका नाश नहीं होगा. जो लोग गांधीवाद के विरुद्ध कुछ कहना चाहते हों, उन्हें वैसा कहने की आज़ादी दीजिए. उससे कोई नुकसान नहीं होगा. उनसे किसी प्रकार का द्वेष या वैर न कीजिए. जब तक आप अपने विरोधियों को शांति से निबाह नहीं सकेंगे तब तक अहिंसा को सिद्ध नहीं कर सकेंगे. अगर सच पूछा जाये तो खुद मैं ही नहीं जानता कि गांधीवाद का क्या अर्थ है? मैंने देश को कोई नयी चीज़ नहीं दी है. हिंदुस्तान में जो कुछ पहले ही से मौजूद था उसे केवल एक नया रूप दिया है. इसलिए उसे गांधीवाद कहना गलत होगा.

हम यहां किसी राजनैतिक काम के लिए नहीं आये हैं. गांधी सेवा-संघ का जो प्रधान उद्देश्य है, उसे पूरा करने के तरीकों का विचार करने के लिए हम यहां आये हैं. जो लोग विरोधी नारे लगाने के लिए आये हैं, उनसे मैं प्रेम से कहता हूं कि वे जो कुछ कहना चाहते हैं, अवश्य कहें और अपने विचार प्रकट करें. हम एक दूसरे को शत्रु क्यों समझें? हम दोनों में मतभेद हैं, लेकिन इससे क्या? हम सब हिंदुस्तान को प्यार करते हैं, उसकी आज़ादी चाहते हैं, इसलिए हमें एक दूसरे का मित्र होना चाहिए. एक पक्ष एक रास्ता लेता

है, दूसरा पक्ष दूसरा ही रास्ता पसंद करता है, लेकिन मकसद तो एक ही है? फिर दुश्मनी क्यों रहे?

वे लोग जो यह कहते हैं कि गांधीवाद का ध्वंस हो उसमें अर्थ नहीं है, ऐसा नहीं है. अगर गांधीवाद का अर्थ सिर्फ़ यंत्र की तरह चरखा चलाना ही हो तो उसका ध्वंस होना ही इष्ट है. सिर्फ़ चरखा चलाने से देश का कल्याण नहीं होगा. पुराने जमाने में भी कई पंगु (अपाहिज) और स्त्रियां चरखा चलाती थीं. तो भी वे गुलामी में डूबी हुई थीं. कौटिल्य ने जो लिखा है कि उस जमाने में चरखे चलाये जाते थे, उसी के साथ-साथ उन्होंने यह भी कहा है कि राजदंड के डर से चरखा चलवाया जाता था. चरखा चलाने वाले अपनी इच्छा से नहीं, बल्कि मजबूरी से बेगार के तौर पर चरखा चलाते थे. औरतें चरखा कातने के लिए हारबंद (एक कतार में) बैठती तो थीं, लेकिन वह सब जबरदस्ती का मामला था.

अगर हमारी अहिंसा वीर की अहिंसा न होकर कमजोर की अहिंसा है, अगर वह हिंसा के सामने झुकती है, हिंसा के आगे लज्जित और बेकार हो जाती है, तो ऐसे गांधीवाद का भी ध्वंस होना चाहिए. उसका ध्वंस होने ही वाला है. हम अंग्रेज़ों से लड़े, मगर उसमें हमने अशक्त लोगों के शस्त्र के रूप में अहिंसा का प्रयोग किया. अब हम उसे बुलंद, शक्तिशाली शस्त्र बनाना चाहते हैं. अहिंसा एक हद तक अशक्तों का शस्त्र भी हो सकती है. लेकिन एक हद तक ही. परंतु वह बुजदिलों का, कायरों का शस्त्र तो हरगिज नहीं हो सकती. अगर मुझको नेतागिरी करना है, करोड़ों को रास्ता दिखाना है, उन्हें अपने पीछे दरिया में फेंक देना है, तो मुझे लज्जा के कारण असत्य नहीं करना चाहिए. अगर मैं ऐसा करूंगा तो नेतागिरी के लिए नालायक ठहरूंगा. अहिंसा की नीति का यह आवश्यक अंग है. मैंने चरखे को उस नीति का व्यक्त प्रतीक माना है. आप मुझसे पूछेंगे कि यह सब तुमने कहां से पाया? मैं कहूंगा, सेवा के अनुभव से.

चरखे में जो अर्थ भरे हैं उनको न समझकर अगर आप चरखा चलाते हैं तो या तो उसे पदमा नदी में फेंक दीजिए या जलाकर जाइए. तब सच्चा गांधीवाद सीमित है, इसके लिए तो मैं भी कहूंगा कि 'गांधीवाद का ध्वंस हो.'

इस पर से मेरे दिल में यह विचार आता है कि अगर हम यहां से गांधी सेवा-संघ की पूर्णाहुति करके चले जाएं तो क्या अच्छा नहीं होगा? इसमें खेद की कोई बात नहीं है- शायद हमारा बाह्य रूप लोप हो जाने पर ही सच्चा गांधीवाद प्रकट होगा. सीता के दृष्टांत में यही बात है. जब वह मायामृग आ गया तो रामचंद्रजी ने सीताजी से कहा, तुम्हें तो लोप हो जानां है. वास्तविक सीता लुप्त हो गयीं. उनकी जगह उनकी छाया-मात्र रह गयी. उसी से सारी रामलीला हुई है. क्या हम भी इसी तरह लोप न हो जाएं? फिर जिन्हें सत्य और अहिंसा की साधना करनी होगी, वे करते रहेंगे. शायद इसी से सच्ची शक्ति पैदा होगी. इसलिए क्या यह बेहतर नहीं है कि हम संघ को बंद कर दें?

कल शाम को क्या हुआ? 'गांधीवाद का ध्वंस हो' का घोष हुआ. मारपीट भी हुई. दो चार आदमी पिट गये. मैं आपसे पूछता हूं कि आपके दिल पर क्या असर हुआ? हम दो सौ आदमी यहां इस तरह पिटकर मर जाएं तो आपके दिल में रोष पैदा होगा या दया? सिर्फ़ मर जाने से हम परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं होंगे. हमारे दिल में मारने वालों के लिए दया होनी चाहिए. प्रेम तो वहां ठीक नहीं होगा. जो अत्याचार करते हैं उनको हम यह शाप नहीं देंगे कि उनका सत्यानाश हो जाए. लेकिन उनसे प्रेम भी कैसे कर सकते हैं? उन पर दया करेंगे. वे अज्ञानी हैं इसलिए ईश्वर से प्रार्थना करेंगे कि वह उन्हें ज्ञान दे. हम तितिक्षा से उनके आघात सह लेंगे. हमारे हृदय से दया के उदगार निकलेंगे. सिर्फ़ लोगों को सुनाने के लिए नहीं, बल्कि सच्चे दिल से हम उन पर दया करेंगे. कोई मुझ पर हमला करता है, लेकिन मुझे उस पर गुस्सा नहीं आता. वह मारता जाता है, मैं सहता जाता हूं, मरते-मरते भी मेरे मुख पर दर्द का भाव नहीं बल्कि हास्य है, मेरे दिल में रोष के बदले दया है, तो मैं कहूंगा कि हमने वीर पुरुषों की अहिंसा सिद्ध कर ली. अहिंसा में इतनी ताकत है कि वह विरोधियों को मित्र बना लेती है और उनका प्रेम प्राप्त कर लेती है. मुझे डर है, और मेरे पास ऐसे सबूत हैं कि हम ऐसे नहीं हैं. हममें से जो ऐसे नहीं हैं उन्हें प्रामाणिकता से संघ से हट जाना होगा. सभी एक से हों तो सभी को हट जाना होगा. शायद मुझे भी कहना पड़े कि मैं भी इस लायक नहीं हूं. तब तो यहां से संघ की पूर्णाहूति ही करके जाना अच्छा है.

> **यदि हिंदुस्तान में अहिंसा का एक भी सम्पूर्ण प्रतिनिधि पैदा हो जाए तो भी हमारा काम सिद्ध होगा**

जब हम संस्था का इस बाह्य रूप से अंत कर देंगे तो हमारे अंदर नम्रता की शक्ति पैदा होगी. एक कहावत है 'जो यह जानता है कि मैं कुछ नहीं जानता वही दरअसल ज्ञानी है.' जिस दिन हम इतने नम्र हो जाएंगे कि अपने आपको शून्यवत बना लेंगे उसी दिन हमारी शक्ति बढ़ेगी. फिर तो गांधी सेवा-संघ एक दूसरी ही अनोखी अव्यक्त संस्था बन जाएगी. वह सीता जो लुप्त हो गयी, अमर है. वह सीता ज़िंदा है. छाया की सीता मर गयी. अगर हम दरअसल शक्तिशाली होना चाहते हैं तो संघ का विसर्जन कर दें. यह भी शक्ति का काम है. इसके लिए भी हिम्मत और बल चाहिए.

हमारे अंदर आगे बढ़ने की, नेता बनने की महत्वाकांक्षा रही, लेकिन नेता बनने का असली अर्थ हम समझ सके. 'मैं सबसे बड़ा नेता बन जाऊं.' इसका अर्थ यह है कि 'मैं सबसे बड़ा सेवक बन जाऊं.' सेवा भी उसकी करो जिसे सेवा की ज़रूरत है. जिसे सेवा की ज़रूरत नहीं है उसकी सेवा करना

ढोंग है. वह तो दम्भ है.

इसी तरह हम अधिकार और सत्ता के द्वारा सेवा का दम्भ करते हैं. लोगों को सिर्फ़ दिखाना चाहते हैं कि हम सेवा में लगे हैं. इसलिए हमारा धर्म तो यह है कि हम राज-प्रकरण को भूल जाएं. तब तक भूल जाएं जब तक देश के सभी दल हमसे आकर यह न कहें कि तुम आओ, तुम्हारी ज़रूरत है.

मेरा तो ऐसा विश्वास है कि अगर हमारे में शक्ति भरी है तो वह शक्ति कम न होगी. समाज के जीवन पर हमारी कृतियों का असर भी बराबर पड़ेगा. अब तक हमने संघ बनाकर जिस तरह से प्रयोग किया उससे हमें सफलता नहीं मिलेगी. अहिंसा किस तरह काम करती है इसका पूरा अनुभव इसमें से नहीं मिलता. अहिंसा एक स्वयम्भू शक्ति है. संघ की उपाधि यदि उसकी शक्ति को न रोके तो वह ज़्यादा काम करती है. मैंने जो यह लिखा है कि ''यदि हिंदुस्तान में अहिंसा का एक भी सम्पूर्ण प्रतिनिधि पैदा हो जाए तो भी हमारा काम सिद्ध होगा'' -वह पूर्ण वाक्य है. मेरा मतलब यह नहीं है कि वह अकेला सब-कुछ कर लेगा. अकेला तो ईश्वर भी नहीं कर सकता. उसे भी अनेक रूप लेने पड़ते हैं. मेरा मतलब यह है कि यह अकेला प्रतिनिधि सबको अपनी ओर खींच लेगा. संघ की शक्ति आपको कमज़ोर कर देगी. उसमें आपका जो अपनापन है वह प्रकट नहीं होने पाता. आप केवल संघ का प्रदर्शन करते हैं, अपनी आत्मा की शक्ति का नहीं. संघ में जो शक्ति है वह भी आपकी ही शक्तियों की समुदाय है.

जो अपने-आपको गांधीवादी कहलाता है, उनमें अगर रोष है, बुजदिली है तो वे किसी संघ को सुशोभित नहीं कर सकते. ऐसे गांधीवाद नहीं रहेगा. आध्यात्मिकता ऐसी कोई चीज़ नहीं है कि गांधी की दुकान पर गये ओर उसकी पुड़िया लेकर चले. आप संघ को सत्संग मानते हैं, लेकिन वह सत्संग नहीं रह जाता. हममें भावुकता आ जाती है और एक तरह का पवित्रता का अभिमान भी आ जाता है.

शांति सेना के बारे में मैंने कहा भी और लिखा भी है. यह बात सही है कि कुछ लोगों ने उस दिशा में प्रयत्न भी किया. हकीम हलवाई ने ऐसी एक शांति सेना बनायी थी. मैंने उन्हें धन्यवाद भी दिया था. लेकिन अब उसका नामो-निशान तक नहीं रहा. मैं देखता हूं कि वह चीज़ भी नहीं चल सकती. आप शांति-सेना बनायेंगे. आपकी प्रतिज्ञा पर कई आदमी झूठ-मूठ दस्तखत कर देंगे और उसका पालन नहीं करेंगे. आबोहवा में जब इतना मैल भरा हुआ है, तो अच्छी चीज़ भी गंदी हो जाने का डर है. इसलिए उससे अस्पृश्य (बचकर) ही रहना चाहिए.

शिकारपुर और सक्खर में क्या कांग्रेस वाले नहीं थे? फिर क्यों एक भी आदमी ऐसा नहीं निकला जो बिना रोष के दंगा शांत करने की कोशिश में मरा हो! कानपुर में गणेश शंकर के पुजारी तो काफ़ी भरे हैं? लेकिन उसका सम्प्रदाय क्यों लुप्त हो गया? तो भी मैं यह नहीं मानता कि गणेश शंकर की आत्माहुति व्यर्थ गयी. उसकी आत्मा मेरे दिल पर काम करती रहती है.

मुझे जब उसकी याद आती है तो उससे ईर्ष्या होती है. इस देश में दूसरा गणेश शंकर नहीं हुआ. उसकी परम्परा समाप्त हो गयी, लेकिन वह इतिहास में अमर हो गया. उसकी अहिंसा सिद्ध अहिंसा थी. उसी की तरह कुल्हाड़ी के प्रहार सहते हुए मैं शांतिपूर्वक मरूं तो मेरी अहिंसा भी सिद्ध होगी. मेरा भी यह सुख-स्वप्न है कि मैं उसी की तरह मरूं-एक तरह से एक मनुष्य मुझ पर कुल्हाड़ी चला रहा हो, दूसरा दुसरी तरफ़ से बरछी मार रहा हो, तीसरा लाठी मार रहा हो और चौथा लात और घूंसे बरसाता जाता हो, ऐसी अवस्था में भी मैं खुद शांत रहूं और लोगों से शांत रहने को कहूं और खुद हंसता हुआ मरूं- ऐसा भाग्य मैं चाहता हूं. मैं चाहता हूं कि मुझे ऐसा मौका मिलें और आपको भी मिले.

इसी प्रयोग की वृत्ति से हुदली में मैंने कहा था कि हम राज-प्रकरण की रंगभूमि में उतरें, शौक से उसका अनुभव लें, अपनी सत्य और अहिंसा की शक्ति को आजमाएं. हो सकता है कि ऐसी सलाह देने में मैंने गलती की हो, लेकिन उसका मुझे पश्चाताप नहीं है. अच्छा ही हुआ कि हम राजनीति की रंगभूमि में उतरें. हमने बहुमोल अनुभव ले लिया. अगर हम यह अनुभव नहीं लेते, तो मैं दुविधा में रह जाता. मेरे दिल में यह बात रह जाती कि हमने राज-प्रकरण के क्षेत्र का अनुभव नहीं लिया. अब उस अनुभव के बाद मैं आपको यह निश्चित सलाह दे सकता हूं कि संघ की हैसियत से हम राज-प्रकरण का त्याग कर दें.

अब यह सवाल रह जाता है कि हम राज-प्रकरण में भी सत्य और अहिंसा दाखिल कराने का प्रयत्न क्यों न करें? संघ उस क्षेत्र को अस्पृश्य क्यों छोड़ दे? इसका उत्तर भी मैं दे चुका हूं. जब हममें बुराई को दूर करने की शक्ति न हो तो हमें उससे दूर हो जाना चाहिए, यही अहिंसा का तरीका है. इसी का नाम असहयोग है. असहयोग का बड़ा भारी सिद्धांत मैंने हिंदुस्तान के सामने रखा है. उसी को मैं यहां लागू कर रहा हूं.

मुझे पता नहीं, आपको जापान के कोबे नगर के तीन बंदरों की मूर्ति का हाल मालूम है या नहीं. उसी मूर्ति की एक छोटी-सी प्रतिकृति-एक खिलौना-किसी ने मुझे दे दिया था. उसमें तीन बंदर हैं. एक अपना मुंह बंद किये हुआ, दूसरा आंखें बंद किये हुए और तीसरा कान बंद किये हुए है. वे संसार को यह उपदेश दे रहे हैं कि मुंह से बुरे वचन मत निकालो, आंखों से बुरी बातें मत देखों और कानों से गंदी बातें मत सुनो. असहयोग का यही रहस्य है. यहां यह विरोधी प्रदर्शन हो रहा है. अगर वे इस मंडप में आकर हम पर हमला करें, तो मैं आपसे क़हूंगा कि आप बैठे रहें और उनके प्रहार सहते रहें. लेकिन मैं यह कभी नहीं कहूंगा कि वे लोग जहां प्रदर्शन कर रहे हैं, वहां जाकर आप उनके प्रहार सहें. यह तो उन्हें जान-बूझकर उत्तेजित करना है. इसमें अहिंसा नहीं है. इसमें अहंकार की वृत्ति है.

हम किसी का मुकाबला नहीं करना चाहते. हमारा मार्ग तो यह है कि जो हमारा विरोध करते हैं, उन्हें भी अपनायें. अगर वे विरोध

करते हैं, तो उनकी नासमझी है. लेकिन हम तो जानते हैं कि हम उनके और वे हमारे हैं. इसलिए जब तक लोग हमें राज-प्रकरण में बुलाते नहीं हैं, हम राज-प्रकरण में निश्चेष्ट रहें. अपना रचनात्मक काम चुपचाप करते रहें. इस प्रकार राज-प्रकरण से हटकर अहिंसा को सुशोभित करें. यह एक अनुभवी का वचन है. आप उसके रहस्य को समझ लें और पकड़ लें और उसमें जो भरा है, उस पर ध्यान दें.

जिसे राजनीति कहा जाता है, उसके लिए न तो मैं खुद लायक बनना चाहता हूं और न दूसरों को बनाना चाहता हूं. हुदली में मैंने राजनीति में प्रवेश करने के लिए कहा. अनजांने में मैंने वह भूल की. यह भी कह सकते हैं कि अनजाने में हमने असत्याचरण किया. जिस काम के लिए हम पैदा हुए हैं, उसी को अच्छी तरह करने के बदले हमने दूसरे काम में हाथ डाला. जो हुआ सो ठीक ही हुआ. हमने अनुभव ले लिया. पाया कि हमारी वह ताकत नहीं है. हमें अपनी अयोग्यता का पता लग गया है. अब हम अपना हाथ खींच लेते हैं. हमने गलती तो की, लेकिन अपने दोषों का पता लगते ही हम सम्भल रहे हैं. गलती जब सुधार ली जाती है, तब वह गलती नहीं रहती. अपनी भूल कबूल कर लेने से हमारी शक्ति बढ़ती है.

हिंसा का मार्ग पुराना और रूढ़ है. उसमें खोज करना उतना कठिन नहीं है. अहिंसा का रास्ता नया है. अहिंसा का शास्त्र अभी बन रहा है. इसमें खोज और प्रयोग का विशाल क्षेत्र पड़ा है.

तीसरी बात एक वाक्य में कह दूं. सच बात तो यह है कि आपको 'गांधीवाद' नाम को ही छोड़ देना चाहिए, नहीं तो आप अंध-कूप में जाकर गिरेंगे. गांधीवाद का तो ध्वंस होना ही है. 'गांधीवाद का ध्वंस हो' की आवाज़ मुझे प्यारी लगती है. वाद का तो नाश ही होना उचित चीज़ अहिंसा है. वह अमर है. वह ज़िंदा रहे, इतना मेरे लिए काफ़ी है. गांधीवाद का ध्वंस तो मैं शीघ्र ही देखना चाहता हूं. आप साम्प्रदायिक न बनें. मैं तो किसी का साम्प्रदायिक नहीं बना. कोई सम्प्रदाय कायम करना भी मेरे ख्वाब में भी नहीं आया. मेरे मरने के बाद मेरे नाम पर अगर कोई सम्प्रदाय निकला तो मेरी आत्मा रुदन करेगी. इतने बरसों तक हमने जो चीज़ चलायी, वह कोई वाद नहीं है. हमें किसी वाद में नहीं पड़ना है, मौन धारण करके अपने सिद्धांतों के अनुसार सेवा करते रहना है.

लोग चाहे जो कहें, सेवा का कोई सम्प्रदाय नहीं बन सकता. वह तो सबके लिए है. हम सबको स्वीकार करेंगे. सबके साथ चलने की कोशिश करेंगे. यही अहिंसा का रास्ता है. अगर हमारा कोई वाद है तो वह यही है. गांधीवाद कोई चीज़ नहीं. मेरा कोई अनुयायी नहीं है. मैं ही अपना अनुयायी हूं. नहीं, नहीं, मैं भी अपना पूरा-पूरा अनुयायी कहां बन पाया हूं? अपने विचारों पर मैं भी कहां अमल

करता हूं? दूसरे मेरे साथ चलें, मेरे सहयात्री रहें, यह तो मुझे प्रिय है, लेकिन कौन आगे चले और कौन पीछे चले, इसका मुझे कहां पता है? आप सब मेरे सहाध्यायी, सहकर्मी, सहसेवक, सह-संशोधक हैं. अनुयायी होने की बात आप छोड़ दें. कोई आगे नहीं, कोई पीछे नहीं. कोई नेता नहीं, कोई अनुयायी नहीं. हम सब साथ-साथ हारबंद (एक कतार में) चल रहे हैं. यह बात कई बार कह चुका हूं, लेकिन आप लोगों को याद दिलाने के लिए फिर से दोहरा दी है.

हमारे यहां जितनी संस्थाएं मेरे नाम से यानी मेरी देखभाल या मार्गदर्शन में चल रही हैं, वे सब रचनात्मक कार्य के लिए ही हैं. चरखा संघ, ग्रामोद्योग संघ, हरिजन सेवक-संघ, तालीमी संघ- इन सबका मार्गदर्शक मैं ही हूं. दक्षिण भारत के हिंदी प्रचार में मेरा हाथ रहा है. सारे भारत के हिंदी प्रचार की नीति पर मेरा अंकुश चलता है. मेरे नजदीक ये सब सच्चे राज-प्रकरण के अविभाज्य अंग हैं. अहमदाबाद में जो मज़दूर-संघ चलता है, उस पर भी मेरा अंकुश है. इन सब संस्थाओं के लिए गांधी सेवा-संघ पोस्ट-ग्रेज्युएट अध्ययन और संशोधन का काफ़ी काम कर सकता है. ये सारी संस्थाएं यह कार्य पर्याप्त मात्रा में नहीं कर सकतीं, क्योंकि उनका कार्यक्षेत्र मर्यादित है. उदाहरणार्थ, चरखा संघ को लीजिए. उसकी नीति तो मैंने बना दी है. वह नीति यह है कि जो लोग भूखे और गरीब हैं, जिनके पास साल में करीब-करीब छह महीने का वक्त खाली रह जाता है, उनके हाथ में जितना पैसा दे सकें, दें और दूसरों को समझा-बुझाकर, उनकी पारमार्थिक बुद्धि को जागृत कर इन गरीबों की बनायी हुई खादी खरीदने को उन्हें प्रेरित करें.

चरखा संघ वाले, ग्रामोद्योग-संघ वाले, अपने-अपने क्षेत्र के सम्बंध में विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिए आपके पास आएंगे. आपको ऐसे कामों में सम्पूर्णता और विशेषज्ञता प्राप्त करनी होगी. एक आदमी सभी बातों का विशेषज्ञ नहीं हो सकता. लेकिन एक-एक आदमी एक-एक काम का विशेष बन सकता है. हमें गरीबों की सेवा और उन्नति के लिए विशेषज्ञ बनना है. भविष्य में गांधी सेवा-संघ यह कार्य करेगा तभी उसका अस्तित्व सार्थक होगा.

गांधी चरखे के द्वारा ईश्वर का दर्शन कर सकता है या उसमें से स्वराज्य पाने की आशा रखता है, यह उसकी व्यक्तिगत बात भी हो सकती है. आपको इस बात की खोज करनी होगी कि क्या यह सिद्धांत सार्वत्रिक हो सकता है. काम तो आप ही से करना है.

आपको सोचना होगा कि क्या ये सब चीज़ें हो सकती हैं? आप देखते हैं कि हिंसा के आधार पर बना हुआ समाज भी विशारदों द्वारा ही चलता है. हम एक नये समाज का निर्माण सत्य और अहिंसा के आधार पर करना चाहते हैं. उसका शास्त्र बनाने के लिए हमें विशारदों की ज़रूरत है. जिस तरह से आज जगत चल रहा है, वह हिंसा और अहिंसा का मिश्रण है. जगत का बाह्य रूप उसकी भीतरी हालत का प्रतीक है. जर्मनी जैसा मुल्क तो हिंसा को ही ईश्वर मानता है, रात-दिन उसी के विकास में लगा है, उसी

को सुशोभित करने की कोशिश में लगा हुआ है. हिंसा के पुजारी जो-जो उद्योग कर रहे हैं, हम देख रहे हैं. हमें भी यह समझ लेना चाहिए कि हिंसा वाले हमारी प्रवृत्तियां देख रहे हैं. वे देख रहे हैं कि हम अपने शास्त्र के विकास के लिए क्या कर रहे हैं.

लेकिन हिंसा का मार्ग पुराना और रूढ़ है. उसमें खोज करना उतना कठिन नहीं है. अहिंसा का रास्ता नया है. अहिंसा का शास्त्र अभी बन रहा है. हम उसके सारे अंग नहीं जानते. इसमें खोज और प्रयोग का विशाल क्षेत्र पड़ा है. आप अपनी सारी बुद्धि लगा सकते हैं.

अहिंसा अगर व्यक्तिगत गुण है तो वह मेरे लिए त्याज्य वस्तु है. मेरी अहिंसा की कल्पना व्यापक है. वह करोड़ों की है. मैं तो उनका सेवक हूं. जो चीज़ करोड़ों की नहीं हो सकती, वह मेरे लिए त्याज्य ही होना चाहिए. हम तो यह सिद्ध करने के लिए पैदा हुए हैं कि सत्य और अहिंसा केवल व्यक्तिगत आचार के नियम नहीं हैं. वह समुदाय, जाति और राष्ट्र की नीति हो सकती है. अभी हमने यह सिद्ध नहीं कर दिया है, लेकिन यह हमारे जीवन का उद्देश्य हो सकता है. जिनका यह विश्वास न हो या जिनसे यह न बन सके, वे कृपा करके हट जाएं. लेकिन मेरा तो यही स्वप्न है. इसी को मैंने अपना कर्त्तव्य माना है. चाहे सारा जगत मुझे छोड़ दे, तो भी मैं इसे नहीं छोड़ूंगा. मेरी श्रद्धा इतनी गहरी है. इसे सिद्ध करने के लिए मैं जीऊंगा और उसी प्रयत्न में मरूंगा. मेरी श्रद्धा मुझे नित्य नया-नया दर्शन कराती है. मेरी उत्तर अवस्था में अब मुझसे इसके सिवा दूसरा कुछ होने वाला नहीं है. हां, अगर मेरी बुद्धि ही कलुषित हो जाए या मैं दूसरा कोई नया दर्शन कर लूं, तो बात दूसरी है, लेकिन आज तो अहिंसा के नित्य नये-नये चमत्कार मैं देखता हूं. रोज़ नया दर्शन और नया आनंद मुझे मिलता है.

मेरा यह विश्वास है कि अहिंसा हमेशा के लिए है. वह आत्मा का गुण है, इसलिए वह व्यापक है, क्योंकि आत्मा तो सभी की होती है. अहिंसा सबके लिए है, सब जगहों के लिए है, सब समय के लिए है. अगर वह दरअसल आत्मा का गुण है, तो हमारे लिए वह सहज हो जाना चाहिए.

आज कहा जाता है कि सत्य व्यापार में नहीं चलता, राज-प्रकरण में नहीं चलता. तो फिर वह कहां चलता है? अगर सत्य जीवन के सभी क्षेत्रों में और सभी व्यवहारों में नहीं चल सकता, तो वह कौड़ी कीमत की चीज़ नहीं है. जीवन में उसका उपयोग ही क्या रहा? मैं तो जीवन के हर व्यवहार में उसके उपयोग का नित्य नया दर्शन पाता हूं. पचास वर्ष से अधिक से साधना कर रहा हूं. उस साधना का अनुभव अंशतः आप लोगों के सामने रखता जाता हूं. आप भी उसका दर्शन कर सकते हैं.

हमने एक अनोखी नीति को लिया है. उस नीति के प्रयोग के साधन भी अनोखे होंगे. वे क्या होंगे, उसकी मैं खोज करता रहता हूं. मैं प्रयोग कर रहा हूं. बदलती हुई परिस्थिति में मुझे अपने तरीके भी बदलने पड़ते हैं, लेकिन मेरे पास कोई बना-बनाया शास्त्र नहीं है. हमारा प्रयोग एकदम नया है. उसके कदमों का क्रम कहीं निश्चित नहीं है. मैं तो एक जिज्ञासु हूं. □

मेरी पहली कहानी

मानव-जिजीविषा मेरी पहली और अंतिम कहानी है

● यशपाल

आधुनिक कथाकारों की कड़ी में प्रमुख माने जानेवाले यशपाल का जन्म तीन दिसम्बर, 1903 को पंजाब की फिरोज़पुर छावनी में हुआ. वे सिर्फ़ कथाकार न होकर एक क्रांतिकारी भी थे. उन्होंने देश की स्वतंत्रता के लिए भी संघर्ष किया. यशपाल द्वारा लिखा गया 'झूठा सच' उपन्यास हिंदी के बेहतरीन उपन्यासों में गिना जाता है. लेखन कार्य के साथ-साथ उन्होंने 'विप्लव' के लिए सम्पादन का कार्यभार भी सम्भाला.

उनकी प्रमुख रचनाओं में उनके उपन्यास 'वे तूफानी दिन', 'दिव्या', 'झूठा सच', 'मेरी तेरी उसकी बात' तथा 'पिंजरे की उड़ान', 'फूलो का कुर्ता', 'सच' व 'धर्मयुग' कथा संग्रह व अन्य कृतियां शामिल हैं. उन्होंने टीवी के लिए 'गुलदस्ता' तथा 'जीवन के रंग' धारावाहिक भी लिखे. 'मेरी तेरी उसकी बात' उपन्यास के लिए उन्हें 'साहित्य अकादमी पुरस्कार' से सम्मानित किया गया तथा साहित्य व शिक्षा के क्षेत्र में उनके योगदान के लिए सन् 1970 में उन्हें 'पद्म भूषण' से भी पुरस्कृत किया गया.

पहली कहानी कब-कैसे लिखी? सुदूर अतीत, साठ वर्ष पूर्व की घटना, परंतु अमिट स्मृति.

वैदिक धर्म के अनुकूल आर्य संस्कृति की शिक्षा के लिए मुझे गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार में प्रविष्ट करा दिया गया था. गुरुकुल की भावना और वातावरण आश्रम जैसे थे परंतु प्रणाली-प्रबंध दृष्टिकोण और व्यवहार आधुनिक. नियम, अनुशासन सादगी और ब्रह्मचर्य की रक्षा के अनुकूल. पाठ्यक्रम आधुनिक वैज्ञानिक शिक्षाव्यवस्था को ध्यान में रखकर हिंदी के माध्यम से. अंग्रेज़ी भाषा की भी उचित व्यवस्था परंतु संस्कृत को विशेष महत्त्व. विद्यार्थियों या ब्रह्मचारियों के शारीरिक और मानसिक विकास के लिए यथासम्भव अवसर देने के लिए कबड्डी, तैराकी, हॉकी, फुटबॉल, क्रिकेट, ड्रिल द्वारा व्यायाम. बौद्धिक प्रोत्साहन के लिए आयु अनुकूल और

अच्छे स्तर की साहित्यिक तथा सभी विषयों का एक अच्छा पुस्तकालय. सावधानी यह बरती जाती थी कि पुस्तकें शृंगार रस से ब्रह्मचारियों को मानसिक ब्रह्मचर्य से स्खलित करने वाली न हों. विद्यार्थियों को लेखन अथवा भाषण द्वारा उनके अभिव्यक्ति सामर्थ्य को प्रोत्साहन का भी अवसर दिया जाता था.

लेखन और साहित्यिक अभिव्यक्ति के अभ्यास-विकास के लिए कॉलेज विभाग के विद्यार्थी एक हस्तलिखित पत्रिका 'हंस' प्रकाशित करते थे. कॉलेज विभाग के अनुकरण में हाई स्कूल की कक्षाओं के विद्यार्थी भी अपनी पत्रिका प्रकाशित करते. उनकी सफलता और सराहना से आठवीं, सातवीं और छठी कक्षा के विद्यार्थियों ने भी प्रेरणा अनुभव की.

मैं छठी कक्षा में था और इस आयोजन में सहयोग के लिए बहुत उत्साहित. पत्रिका को क्या नाम दिया था, याद नहीं. कक्षा छः से कक्षा आठ (तेरह से पंद्रह तक आयु) के विद्यार्थी निर्देश-सहायता से भी मौलिक रचनाएं तो क्या तैयार कर पाते. अपनी पत्रिका तैयार कर सकने की उमंग में हमारी कल्पना थी, यथासम्भव अन्यों के लिए अपरिचित वर्णन, कविताएं, कहानियां या उपन्यास के अंश सुलेख में पत्रिका के रूप-आकार में प्रस्तुत कर दिये जाएं.

गुरुकुल में विद्यार्थियों के लिए समान सात्विक भोजन तथा वस्त्र का नियम था. सम्पन्न विद्यार्थियों के अभिभावक अपने लड़कों के लिए विशिष्ट स्वादिष्ट पदार्थ, वस्त्र अथवा प्रसाधन सामग्री नहीं ला सकते थे अलबत्ता अच्छी पुस्तकें, इतिहास, यात्रावर्णन, जीवनियां, कहानी, उपन्यास, यथेष्ट दिये जा सकते थे. मेरा परिवार सम्पन्न न था. मुझे अपने परिवार से ऐसी पुस्तकें बहुत कम, कभी ही मिल पातीं, परंतु इस प्रकार आयी पुस्तकों को सभी विद्यार्थी ले-देकर पढ़ लेते थे. मुझे कहानी, उपन्यास व यात्रा आदि पढ़ने का चाव खेल-कूद से भी अधिक था. इतना कि कई बार खेल और व्यायाम के समय छिप-छिप कर पढ़ते रहने के लिए सजा भी पायी.

हमारी पत्रिका की योजना में सहयोगियों ने ऐसी पुस्तकों से प्रतिलिपियां तैयार कर लीं. मेरा विचार भी ऐसी किसी पुस्तक से एक कहानी या उपन्यास का अंश सुलेख प्रस्तुत कर देने का था. मुझे पुस्तकालय या किसी साथी से प्रयोजन योग्य पुस्तक न मिल सकी क्योंकि यह अवसर प्रतियोगिता का था.

अपनी पत्रिका के लिए कहानी प्रस्तुत कर सकना मेरे लिए चुनौती बन गया. निश्चय कर लिया, कोई पुस्तक, पत्रिका न मिलने पर भी अपने मन से एक कहानी लिखूंगा. अपने तत्कालीन सामर्थ्य के अनुसार अपनी कल्पना से एक कहानी लिख भी डाली. बात पूरी करने के लिए उस कहानी का भाव या रूप-रेखा बताना सहायक होगा :-

अंगूठी

'क' और 'ख' नाम के दो मित्रों में परस्पर गूढ़ विश्वास और स्नेह था, आजीवन संगति-सहयोग का प्रण. 'क' ने अपनी भावना और प्रण के चिह्न स्वरूप, अपनी परम्परागत पारिवारिक सम्पत्ति में से एक अंगूठी 'ख' को भेंट कर दी. 'क' ने 'ख' से वचन ले लिया कि 'ख' उसके स्नेह-स्मृति चिह्न को आमरण अपने शरीर से पृथक न करेगा.

दो वर्ष बाद 'क' ने अपना उपहार 'ख' के हाथ से गायब देखा. 'क' ने 'ख' के व्यवहार से अपनी अवज्ञा की गहरी चोट अनुभव की. 'ख' ने मित्र को समझाने का यत्न किया- 'मेरी मित्रता और प्रण के निश्चय पर विश्वास रखो. मुझे असाध्य विवशता में अपने प्राण समान प्यारे तुम्हारे दिये चिह्न को शीघ्रतम लौटा सकने के लिए प्राणपण से यत्न में हूं. 'क' को 'ख' के विश्वासघात ने बेच दिया था. उसे 'ख' की बात सुनना भी असत्य हुआ.

दो-तीन अवसरों पर जहां-जहां 'क' का 'ख' से अनायास सामना हो गया. 'ख' की कंकाल-सी हो गयी अवस्था देखकर 'क' को कौतूहल और दुःखद विस्मय तो हुआ, परंतु उसका मन 'ख' से कुछ पूछने को न हुआ.

कुछ समय बाद 'क' ने अपने अन्य विश्वस्त मित्र 'च' से सुना कि 'ख' रोग दुरावस्था में है. 'च' का परिचय 'ख' से भी था. 'च' ने 'क' को स्वयं ही बता दिया- 'ख' अपने मित्र 'ग' की पत्नी के रोग के कारण संकट में फंस गया है. 'ग' की पत्नी पेट में कष्ट के कारण मरणासन्न थी. 'ग' अपना सर्वस्व बेचकर भी उपचार का खर्च पूरा न कर पा रहा था. 'ख' ने यथाशक्ति 'ग' की सहायता कर रहा था. अंततः 'ख' ने अपने घर के सभी बहुमूल्य पदार्थ सर्राफ के यहां धरोहर रखकर 'ग' के लिए कर्ज़ ले लिया. 'ग' की पत्नी के प्राण बच गये. परंतु 'ख' को सर्राफ को ऋण और सूद चुकाने के लिए प्रतिमास अपने वेतन का आधा भाग सर्राफ को देना पड़ता है. बेचारा, मित्र की खातिर दो वर्ष से भूख और कंगाली की यातना सह रहा है.

'क' ने भेद सुना तो स्तब्ध रह गया. संध्या तक वही बात सोचता रहा. संध्या पर्याप्त धन लेकर 'ख' के यहां पहुंचा. मुख से शब्द न निकल सके. अविरल आंसू बहाते हुए 'ख' को गले से लगा लिया. सम्भल कर बोला- "क्षमा करो मेरी भूल. तुमने मैत्री के दिखावे की अपेक्षा मैत्री की आत्मा की रक्षा की. यदि तुमने 'ग' से वास्तविक मैत्री न निभायी होती तो किसी दिन मेरी उपेक्षा कर सकते थे. सच्ची मैत्री प्रदर्शन में नहीं, हितभाव में रहती है."

पहले तो सातवीं-आठवीं क्या दसवीं कक्षा के विद्यार्थियों को भी विश्वास न हुआ कि कहानी मेरी मौलिक रचना थी. विश्वास हो गया तो मेरी कल्पना की सराहना और साहित्यिक उज्ज्वल भविष्य की चर्चा हो गयी. लड़कपन के उस प्रयत्न का भाग्य वही हुआ जो हस्तलिखित पत्रिका का होना था. स्वीकार करता हूं, उस प्रयत्न में सफलता की सराहना से तत्काल उत्साह, गौरव ही नहीं भविष्य में कथाकार बन सकने के आत्म विश्वास के बीज मेरे मस्तिष्क में रोपित हो गये जो परिस्थितियां पाकर मेरे कथाकार जीवन का अवलम्ब या वृक्ष बन गये.

प्रसंग गुरुकुल के वातावरण से आरम्भ किया था. पाठकों की जिज्ञासा को अधर में छोड़ देने के लिए बता दूं, उसी वर्ष असाध्य रूप से बीमार हो जाने के कारण मेरा परिवार उपचार के लिए मुझे गुरुकुल से लाहौर ले गया. फिर मैं गुरुकुल न लौटा.

पहली कहानी लिखने का तथ्य और घटना तो कह दी. इस कहानी के सम्बंध में कुछ और सचाई या तथ्य उधेड़ लेने में भी क्या संकोच? रचना मेरी है, अन्य को आपत्ति क्या. साहित्यिक रचनाओं के सम्बंध में प्रेरणा के स्रोतों, भावनात्मक उद्वेलनों, अभिव्यक्ति के आवेगों, सृजन पीड़ा आदि अनेक बातों की चर्चा होती है.

पहले इस कहानी के प्रेरणा स्रोत की बात लीजिए. स्मृति को गहरा कुरेदता हूं तो कह सकता हूं कि इस आयु में भी कहानियां, उपन्यास पढ़ने से जो रसात्मक संतोष पाता था, वैसा ही रस या संतोष उत्पन्न या सृजन कर सकने की उमंग या स्पर्धा मेरे में जाग उठी थी.

उस अल्प आयु में सभी प्रकार के सामाजिक अनुभवों से विहीन बना दिये गये वातावरण में मैत्रीभाव से अंतरात्मा के उद्वेलन या उसकी अभिव्यक्ति के आवेश का मुझे क्या व्यावहारिक ज्ञान और अनुभव हो सकता था? कह ही चुका हूं: गुरुकुल के वातावरण में हमें सभी सांसारिक, सामाजिक या गृहस्थ के अनुभवों से दूर रखने की सावधानी बरती जाती थी. इस पर भी यदि मैं अपनी कहानी में समाज का कुछ यथार्थ आभास ला सका तो वह समाज से तथ्य सम्पर्क से नहीं, समाज के वातावरण में श्वास लेने से, उस वातावरण में कान और आंखें खोले रहने की मजबूरी से. अर्थात मेरे अनुभव के सम्प्रेषण के मार्ग भौतिक नहीं, वैचारिक ही थे. जान पड़ता है भौतिक सम्प्रेषण की अपेक्षा वैचारिक भावानात्मक, संवेदनात्मक सम्प्रेषणों के साधन, मार्ग और सीमाएं कहीं ज़्यादा रहती हैं.

इस कहानी की मौलिकता? किसी प्रेरणा का मूल अनुभव या ज्ञान किसी माध्यम से ही होता है तो, गृहस्थ, समाज, संसार के सभी सम्बंधों के कहे मेरे उस किशोर जीवन में मैत्री भाव की गूढ़ अनुमति, स्पंदन और उस स्पंदन में विश्वासघात की वेदना की अनुभूति के लिए कैसे अवसर सम्भव थे? इस कहानी के कथानक की मौलिकता

थी, मेरी उस आयु में पढ़े हुए ऐसे प्रसंगों, कहानियों या घटनाओं की स्मृतियों के अंशों अथवा यात्राओं को संगत यथार्थ आभास के विश्वसनीय क्रम या सूत्र में बांध सकना. उससे पूर्व पठन के माध्यम से समाज में मैत्री सम्बंधी भावनाओं, व्यवहारों का ज्ञान ही मेरा पर अनुभव आश्रित यथार्थ अथवा वैचारिक अनुभव के ज्ञान का आधार था. उपरोक्त उदाहरण से स्वीकार करना होगा कि रचना के लिए अनुभव प्राप्ति और संचय के माध्यम से केवल प्रत्यक्ष-तथ्य, वैयक्तिक भोग या सामूहिक भोग ही नहीं, हमारे ज्ञान के सभी माध्यम हो सकते हैं.

रही सृजन पीड़ा. सृजन श्रम कहूं या सृजन कौशल के प्रयोग का प्रयत्न कहना ठीक रहेगा? मुझे तो कहानी रचने के प्रयत्न में सफलता के लिए उमंग या स्पर्धा से तथ्याभ्यास दे सकने वाले कथाजाल बुन सकने के लिए उत्साह और सफलता की आशा की ही बात याद आती है.

कहानी रूप अपनी प्रथम रचना प्रस्तुत करने के प्रयत्न की पारिस्थितिकीय शब्दशः बता दी. यथार्थ में यह वर्णन कहानी रचना न होकर कहानी रचने के कौशल की ओर प्रवृत्ति का हुआ. उदाहरण के लिए विद्यार्थी स्कूल में अंक गणित की शिक्षा के लिए लाखों रुपये के ब्याज-चक्रवृद्धि, क्षेत्रफल, समय और कार्य के प्रश्नों में हानि-लाभ का हिसाब लगाता है. विद्यार्थी वास्तव में हानि-लाभ का हिसाब करना सीखता है. वैसे ही मैंने कहानी रचना के कौशल की ओर प्रवृत्त होने की पहली घटना बता दी है. गुरुकुल छोड़कर चालू स्केल शिक्षा में भरती हो जाने पर साहित्यिक अभिव्यक्ति को प्रोत्साहन देने वाली परिस्थिति न थी, परंतु कथा-रचना के माध्यम से अभिव्यक्ति की इच्छा के जो अंकुर फूट चुके थे, वे शीघ्र न पनप सकने के दीर्घ व्यवधानों के बावजूद सूखे नहीं.

मैट्रिक की परीक्षा पास की तो प्रथम असहयोग आंदोलन का आवेश शिखर पर था. मैट्रिक की परीक्षा में विशिष्ट सफलता से कालिज में पढ़ सकने के लिए छात्रवृत्ति का अधिकारी था परंतु मैं विदेश दासता से मुक्ति के युद्ध में कांग्रेस का स्वयंसेवक बन गया. उत्तर प्रदेश के 'चौरी-चौरा' के गांव में आंदोलनकारी जनता और पुलिस में भिड़ंत हो गयी. कुछ आंदोलनकारी मारे गये, थाना फूंक दिया गया और अधिकांश सिपाही जलने के लिए थाने में झोंक दिये गये.

गांधी जी ने महान नैतिक साहस से उस हिंसा का उत्तरदायित्व अपने सिर लिया, सार्वजनिक घोषणा कर दी, आंदोलन में ऐसी हिंसक प्रवृत्ति आ जाना मेरी हिमालय के समान बड़ी भूल थी. असहयोग और सत्याग्रह आंदोलन स्थगित हो गये. कांग्रेस का कार्यक्रम रह गया 'चरखा कातना', 'अल्लाह ईश्वर तेरे नाम, सबको सन्मति दे भगवान' गा-गाकर एकता का प्रचार करना. असहयोग-सत्याग्रह द्वारा विदेशी

गुलामी के विरुद्ध संघर्ष स्थगित कर दिया जाना निम्नवित्त मध्यम वर्ग के परिवारों के नौजवानों को वैयक्तिक विश्वासघात जैसा लगा. जिस लक्ष्य के कार्यक्रम में जूझने के लिए वे अपना भविष्य जोखिम में डालकर या न्यौछावर करके आये थे, वही स्थगित! कांग्रेस की पुकार पर सरकारी शिक्षा संस्थाओं से असहयोग करने वाले विद्यार्थियों में से निन्यानबे प्रतिशत अपने भविष्य की चिंता से सरकारी शिक्षा संस्थाओं में लौट गये.

अपनी तत्कालीन बुद्धि से निश्चय किया, ऐसे नेता हमारे लायक नहीं. विदेशी जनता के विरुद्ध संघर्ष हमें ही चलाना होगा. उसके लिए शिक्षा से योग्यता सामर्थ्य आवश्यक. अन्य अनेक असहयोगी विद्यार्थियों की तरह लाहौर में नव स्थापित नेशनल कॉलिज में भर्ती हो गया. वहां भगत सिंह, भगवती चरण और सुखदेव, हम सहपाठी थे. स्वाभाविक ही इस संस्था में सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक चेतना का वातावरण था. शिक्षा का प्रयोजन नौकरी के लिए सर्टिफिकेट नहीं, ज्ञान और मानसिक विकास था. उसमें अभिव्यक्ति अर्थात साहित्यिक प्रवृत्ति भी सम्मिलित है.

कॉलिज के दूसरे वर्ष में पहुंचकर परिस्थितियां और वातावरण में व्याप्त सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक समस्याएं मस्तिष्क और भावनाओं को कचोटने, उद्वेलित करने लगीं. ऐसी परिस्थितियां और समस्याओं की ओर समाज का ध्यान दिलाने या उनके उपचार और परिहार के लिए अभिव्यक्ति का आवेग. इस आवेग की अभिव्यक्ति का माध्यम बना अपने भाव, उद्वेग या बात को उदाहरण (कहानी) के रूप में पेश करने का प्रयत्न. कुछ साथी ऐसे आवेगों की अभिव्यक्ति के लिए कविता का भी प्रयत्न करते थे. उस समय जो पहली कहानी लिखी, उसे ही वास्तव में अपनी पहली कहानी रचना कहना चाहूंगा क्योंकि उस अभिव्यक्ति का अंकुर वैचारिक संवेदना या अनुभूतिजन्य प्रेरणा के बीज से फूटा था. उस कहानी का नाम याद नहीं. उस अभिव्यक्ति का प्रयोजन था और उस श्रम से मैंने रागात्मक सम्बंध और संतोष अनुभव किया था. वह कहानी हमारे हिंदी अध्यापक की नज़र में पड़ गयी. उन्होंने मेरी लिखी, उन दिनों बरेली से प्रकाशित होने वाली मासिक पत्रिका 'भ्रमर' में देखी थी. हमारे वे आदरणीय अध्यापक थे- स्वर्गीय उदयशंकर भट्ट. रचना प्रकाशित हो जाने पर अपने सामर्थ्य पर विश्वास हो गया. उत्साहित होकर कानपुर के साप्ताहिक 'प्रताप', 'प्रभा' तथा लाहौर की कुछ उर्दू पत्रिकाओं में स्फुट लेख लिखने लगा.

ग्रेज़ुएट बनकर कुछ दिन अध्यापक की नौकरी. फिर सशस्त्र क्रांति (हिंदुस्तानी समाजवादी प्रजातंत्र सेना) के गुप्त आंदोलन में सहयोग. अनेक मामलों के गुप्त आंदोलन में सहयोग. अनेक मामलों में वारंटों के कारण तीन वर्ष फरारी और फिर पुलिस से सशस्त्र मुठभेड़ में गिरफ्तारी और चौदह बरस कारावास का दंड. 1937 में

कांग्रेस मंत्रिमंडलों की स्थापना हो जाने के कारण सात बरस ही जेल में रहना पड़ा. जेल में ऊंची श्रेणी का राजनैतिक कैदी होने के कारण लिखने-पढ़ने के लिए नियमित सुविधाएं भी थीं और सोचने और कल्पनाओं के लिए अबाध समय. वास्तव में कहानी-रचना-प्रक्रिया के अभ्यास के लिए सबसे अधिक अवसर मुझे जेल में ही मिला. जेल के अंतिम वर्षों में पच्चीस-तीस कहानियां तो लिखी ही होंगी. जेल में मुक्ति पर, वहां लिखी कहानियों में से एक कहानी 'मक्रील' के प्रकाशन पर समीक्षकों ने एक नये कहानी लेखक के उज्ज्वल उदय की भविष्यवाणी कर दी.

जब भी अपनी अनेक कहानियों के प्रेरणाओं के बीजों, स्रोतों, उनकी उद्वेलक परिस्थितियों या अभिव्यक्ति के लिए विह्वलता के कारणों की यादें आती है तो आजकल साहित्यिक अखाड़ों से उठती अनेक हुंकारें कानों में गूंज जाती हैं. सामान्यतः मुझे यथार्थवादी-प्रगतिवादी लेखक कहा जाता रहा है. उससे मैं संतोष भी अनुभव करता रहा हूं. अब सुनता हूं, वास्तविक यथार्थ लेखन भोगा हुआ जीवन होता है. इधर-उधर से पायी जानकारी से उद्भूत अनुभूतियों के आधार पर कल्पना से गढ़े लेखन का आधार वास्तविक यथार्थ नहीं. ऐसे लेखन में प्रभावोत्पादक ऊर्जा असम्भव.

यह बताकर ख्यातनामा समीक्षकों की परख का उपहास नहीं करना चाहता हूं कि मेरी जिन अनेक रचनाओं को मुक्त या तथ्य जीवन के लेखन का उदाहरण बताकर सराहना की गयी है, वे 99 प्रतिशत पढ़ी या सुनी जानकारी के अद्भुत विचार, संवेदना या अनुभूति के आधार पर कल्पना में ही हैं. प्रश्न है, क्या सद्यः विधवा के शोक-दुख का सम्प्रेषण पाठक को देने के लिए पुरुष लेखक का विधवा बनना ज़रूरी होगा?

मेरे विचार में भावनाओं, विचारों और उद्वेगों के सम्प्रेषण के माध्यम साधन होते हैं 'उदाहरण'. परंतु ऐसे उदाहरणों का सम्प्रेषण सदा स्थूल भौतिक माध्यम से होना ही ज़रूरी नहीं होता. जब यह उदाहरण पूर्व यथार्थभास से सबल और प्रभावी होते हैं तब इन्हें अच्छी कहानी भी कहा जा सकता है. कहानी के रूप में उदाहरण की पहुंच की सीमाएं कहीं विस्तृत और दुर्धर्ष हो जाती हैं, उसी परिणाम में समाज पर उनका प्रभाव. रामायण और महाभारत- कभी घटना रहे होंगे. आज वे कहानी हैं, परंतु उनका प्रभाव देखिए. रामायण और महाभारत जैसे विचारों के सम्प्रेषण के साधन गढ़ सकने का सामर्थ्य ही कहानी रचना का कौशल कहा जाना चाहिए. तेरह वर्ष की आयु में कहानी रचने का कौशल सीखने की इच्छा अनुभव की थी और बीस-इक्कीस की आयु में कहानी के माध्यम द्वारा सामूहिक अनुभूतियों, पीड़ाओं, आवश्यकताओं की छटपटाहट को अभिव्यक्ति देने का यत्न कर रहा हूं. पहली कहानी से लेकर आज तक उनकी आह और हुंकार एक ही रही है. मानव की जिजीविषा मेरी पहली और अंतिम कहानी. ❑

महाभारत जारी है...

पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दो...

• प्रभाकर श्रोत्रिय

जलाशय के किनारे एक बगुला बैठा है जो हर आने वाले को एक चेतावनी देता है. कम-से-कम पानी पीने आये पांडवों को तो उसने दी ही है और उन्होंने अनसुनी कर दी है, तभी तो चार पांडवों के शव वहां पड़े हैं. चेतावनी सिर्फ़ यह थी कि ''पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दो, फिर पानी पियो.''

चारों जल लाने गये भाई नहीं लौटे तो अंत में युधिष्ठिर आये. उन्होंने न तो उसके अधिकार की अवहेलना की (जो पहली मर्यादा है) और न उसके प्रश्नों का उत्तर देने में हिचक दिखायी. वे यह ज़रूर पूछ बैठे कि ''आप वास्तव में हैं कौन?'' ''मैं यक्ष हूं'' - बगुले ने कहा. युधिष्ठिर उसके कथन का विश्वास कर उसके उत्तर देने को तैयार हो गये, परंतु जब बगुले (यक्ष) ने अत्यंत व्यापक और गम्भीर प्रश्नों की निर्बाध झड़ी लगा दी तो सबके उत्तर देकर, उसे संतुष्ट करने के बाद अंत में उन्होंने यह ज़रूर पूछा- ''ऐसे गहन और तात्विक प्रश्न न तो एक पक्षी कर सकता है न कोई यक्ष, बताइए वास्तव में आप कौन हैं?''

वे प्रश्न आखिर हैं क्या जिनसे विस्मित होकर युधिष्ठिर ने यह प्रश्न पूछा?

...अनेक हैं? पूछ रहा है 'यक्ष' जो यहां बगुला बना हुआ है, इसीलिए ये 'यक्ष-प्रश्न' हैं, जिन्होंने अपनी गहनता, विलक्षणता और जटिलता के कारण प्रतीक का रूप ले लिया है.

क्या ये प्रश्न युधिष्ठिर के लिए ही थे? क्या यक्ष को पता था कि इनका सामना केवल युधिष्ठिर ही कर सकेंगे? अभिमान, अधैर्य और उत्तेजना के कारण कोई भी ऐसे संवाद में शामिल नहीं होगा.

क्या यक्ष केवल युधिष्ठिर से ही प्रश्न पूछना चाहता था? क्यों? क्या उसे पता था कि महासमर आसन्न है जिसका नेतृत्व युधिष्ठिर को करना है? इस बीच बहुत से निर्णायक पड़ाव लांघने हैं? क्या हरिण द्वारा ब्राह्मण की अरणि का हरण करने, उसके लिए पांडवों को हरिण के पीछे दौड़ाने और थक कर जलाशय को खोजने आदि की माया यक्ष ने ही रची थी. क्यों? उसे किसी महासमर से क्या वास्ता था? और किसी दायित्व उठाने वाले की योग्यता की परीक्षा

से भी क्या सरोकार था?

होता यह है कि एक ब्राह्मण की अरणि (घर्षण से अग्नि पैदा करने वाला शमी की लकड़ी का टुकड़ा) लेकर जब एक मृग भाग जाता है तो उसका पीछा करते हुए पांडव एक सघन वन में घुस जाते हैं. वह उनके हाथ नहीं लगता. उल्टे वे थके, प्यासे एक स्थान पर बैठ जाते हैं. युधिष्ठिर नकुल को पेड़ पर चढ़ कर पानी का पता लगाने का काम सौंपते हैं. एक स्थान पर हरियाली देखकर वह बताता है कि जलाशय निकट ही प्रतीत होता है. उसे ही पानी लाने भेजा जाता है.

नकुल जलाशय में जैसे ही जल पीने को झुकता है, आकाशवाणी होती है- ''इस जलाशय पर मेरा अधिकार है, अगर तुम पानी पीना या ले जाना चाहो तो पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दो.'' नकुल बहुत प्यासा था वह धैर्य नहीं रख सका. आकाशवाणी की उपेक्षा कर उसने पानी पी लिया और तत्काल अचेत हो गया.

उसके बाद आये सहदेव, अर्जुन और भीम की भी यही गति हुई. अर्जुन ने तो आकाशवाणी को लक्षित कर बाण भी छोड़े, पर व्यर्थ गये. बाकी बिना लड़े ही भूमि पर गिर पड़े.

अंत में चिंतित युधिष्ठिर उस दिशा में चल पड़े. उन्होंने सुंदर जलाशय देखा, फिर भाईयों की मृत देह देखी और यह भी कि वे अक्षत हैं. क्या बिना लड़े ही वे मर गये? उनके मन में भांति-भांति की शंकाएं उठने लगीं. अपने भाइयों का गुणगान करते हुए वे विलाप करने लगे. उन्होंने अनुमान लगाया कि यह कोई माया है. इस पर विचार करने से पहले थके-मांदे, प्यासे युधिष्ठिर ने सोचा कि पानी पी लूं फिर इस पर सोचूंगा.

जैसे ही वे जलाशय की ओर बढ़े, आकाशवाणी हुई- ''मैं बगुला हूं. यह जलाशय मेरा है, इसका पानी पीने से पहले मेरे प्रश्नों के उत्तर दो.'' युधिष्ठिर ने कहा ''मेरे इंद्र जैसे भाइयों का वध करने वाले तुम मात्र पक्षी नहीं हो सकते.'' तब उसने बताया- ''मैं यक्ष हूं''. वह बोला- ''तुम्हारे सब भाइयों को भी मैंने चेतावनी दी थी, पर उन्होंने उपेक्षा की. इसलिए मैंने ही उन्हें मारा है. अगर तुम भी मेरे प्रश्नों का उत्तर दिये बिना पानी पियोगे, तो पांचवां शव तुम्हारा होगा.''

''तुम्हारे अधिकृत जलाशय में तुम्हारी अनुमति के बिना जल नहीं पियूंगा (न चाहं कामये यक्ष तव पूर्व परिग्रहम्). मैं तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर दूंगा.'' भयंकरतम संकट में भी धैर्य न खोना और उसका साहस से सामना करना युधिष्ठिर का गुण था.

यक्ष ने प्रश्न करना शुरू किया.

लगभग सभी प्रश्न-समूह में थे जिनकी संख्या पैंतीस थी. परंतु कुल मिलाकर वे 125 थे. इतनी लम्बी प्रश्नोत्तर शृंखला भारतीय काव्य में ही नहीं, सम्भवत: विश्व काव्य में भी नहीं होगी. इनमें से कुछ प्रश्नों के उत्तर एक से अधिक या भिन्न भी हो सकते हैं; हम सब जगह युधिष्ठिर से सहमत हों यह ज़रूरी भी नहीं है. परंतु

यक्ष का उद्देश्य युधिष्ठिर की ज्ञान-परीक्षा लेने का था भी नहीं, वे उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का आकलन करना चाहते थे, जिसमें उनके स्वानुभव, स्वचिंतन और विवेक की परीक्षा भी थी.

इन्हें देश-काल और परिस्थिति से जोड़कर देखना चाहिए. क्योंकि कुछ प्रश्नोत्तर ऐसे हैं जो हमें प्रासंगिक नहीं जान पड़ेंगे. इन प्रश्नोत्तरों का महत्त्व भी इसी बात में है कि उनमें से अधिकांश ऐसे हैं जिनके उत्तर से हर देश-काल में एक विवेक, विचार और संवदेनशील मनुष्य की पहचान हो सकती है.

अंतिम प्रश्न का उत्तर युधिष्ठिर के युधिष्ठिरत्व की केंद्रीय पहचान बन जाता है. जब यक्ष युधिष्ठिर के उत्तरों से संतुष्ट होता है तो कहता है- ''अपने मृत भाइयों में से एक चुन लो, मैं उसे जीवित कर दूंगा.'' युधिष्ठिर ने कहा- ''आप नकुल को जीवित कर दें.''

यक्ष विस्मित रह गया. उसने पूछा- ''मैंने तुम्हें केवल एक भाई को जीवित होने के लिए चुनने को कहा तो तुमने अर्जुन या भीम में से किसी को न चुन कर अपने सौतेले भाई नकुल को क्यों चुना?''

''यक्ष! मैं धर्म का मतलब समझता हूं- दया और समता. मैं उसके अनुसार, बिना स्वार्थ को आड़े लाये यह मांग कर रहा हूं. मेरे पिता की दो पत्नियां थीं. एक पत्नी का पुत्र मैं जीवित हूं तो दूसरी पत्नी का भी एक पुत्र जीवित रहना चाहिए. मेरे लिए दोनों माताएं समान हैं.''

यहां पूरी प्रश्नोत्तरी दी जा रही है, हालांकि इनमें से दो एक प्रश्नोत्तर इस कारण से निकाले हैं कि वे आज के युग में अर्थहीन हैं, परंतु अधिकांश प्रश्नोत्तर ऐसे हैं जिन्हें सही परिप्रेक्ष्य में सोचा जाए और उनके तात्पर्य का अन्वेषण किया जाए तो वे अत्यंत सार वाही प्रतीत होते हैं. कोष्ठक में ऐसे संकेत दिये गये हैं. इन प्रश्नोत्तरों से भारतीय संस्कृति के एक आधार पुरुष की पहचान उभरती है.

यह ध्यान देना ज़रूरी है कि यह ज्ञान-परीक्षा (क्विज) नहीं है, यह व्यक्तित्व-परीक्षा है.

प्रश्नोत्तर इस प्रकार है:

यक्ष : सूर्योदय कौन करता है? उसके चारों ओर कौन चलते हैं? अस्त कौन करता है? वह किसमें प्रतिष्ठित है?

युधिष्ठिर : ब्रह्म. देवता. धर्म. सत्य में.

यक्ष : मनुष्य श्रोत्रिय किससे होता है? महत्पद को किसके द्वारा प्राप्त करता है? वह किसके द्वारा द्वितीयवान होता है? किससे बुद्धिमान होता है?

युधिष्ठिर : वेदाध्ययन द्वारा. तप से. धैर्य से. वृद्धों की सेवा से.

यक्ष : ब्राह्मणों में देवत्त्व क्या है? उनमें सत्पुरुषों का सा धर्म क्या है? उनका मनुष्य भाव क्या है? उनमें असत पुरुषों का सा आचरण क्या है?

युधिष्ठिर : स्वाध्याय. तप. मरना. निंदा करना.

यक्ष : क्षत्रियों में देवत्व क्या है? उनमें

सत्पुरुषों का सा धर्म क्या है? उनका मनुष्य भाव क्या है? उनमें असत्पुरुषों का-सा आचरण क्या है?

युधिष्ठिर : बाण-विद्या. यज्ञ. भय. शरण में आये दुखियों का परित्याग.

यक्ष : कौन एक वस्तु यज्ञीय साम है? कौन एक वस्तु यज्ञीय यजु है? कौन एक वस्तु यज्ञ का वरण करती है? किस एक का यज्ञ अतिक्रमण नहीं करता?

युधिष्ठिर : प्राण. मन. ऋचा. ऋचा का.

यक्ष : खेती करने वालों के लिए कौन-सी वस्तु श्रेष्ठ है? बोने वालों के लिए क्या श्रेष्ठ है? प्रतिष्ठित धनवानों के लिए कौन-सी वस्तु श्रेष्ठ है? संतानोत्पादन करने वालों के लिए क्या श्रेष्ठ है?

युधिष्ठिर : वर्षा. बीज. गौ. पुत्र.

यक्ष : ऐसा कौन-सा पुरुष है जो बुद्धिमान, लोक में सम्मानित, सब प्राणियों का मान्य होकर एवं इंद्रियों के विषयों के अनुभव करते तथा श्वास लेते हुए भी वास्तव में जीवित नहीं है?

युधिष्ठिर : जो देवता, अतिथि, मरणासन्न कुटुम्बी, पितर और आत्मा इन पांचों का पोषण नहीं करता.

यक्ष : पृथ्वी से भारी क्या है? आकाश से ऊंचा क्या है? वायु से भी तेज़ चलने वाला कौन है? तिनकों से भी अधिसंख्य क्या है?

युधिष्ठिर : माता का गौरव. पिता. मन. चिंता.

यक्ष : कौन सोने पर भी आंख नहीं मूंदता? उत्पन्न होकर भी कोई चेष्टा नहीं करता? किसमें हृदय नहीं है? कौन वेग से बढ़ता है?

युधिष्ठिर : मछली. अंडा. पत्थर में. नदी.

यक्ष : प्रवासी का मित्र कौन है? गृहवासी का मित्र कौन है? रोगी का मित्र कौन है? मरणासन्न का मित्र कौन है?

युधिष्ठिर : सहयात्री. पत्नी. वैद्य. दान.

यक्ष : समस्त प्राणियों का अतिथि कौन है? सनातन धर्म क्या है? अमृत क्या है? यह जगत क्या है?

युधिष्ठिर : अग्नि. अविनाशी नित्य धर्म. गौ का दूध. वायु.

यक्ष : अकेला कौन विचरता है? दुबारा उत्पन्न कौन होता है? शीत की औषधि क्या है? महान क्षेत्र (खेत) क्या है?

युधिष्ठिर : सूर्य. चंद्रमा. अग्नि. पृथ्वी.

यक्ष : धर्म का मुख्य स्थान क्या है? यश का मुख्य स्थान क्या है? स्वर्ग का मुख्य स्थान क्या है? सुख का मुख्य स्थान क्या है?

युधिष्ठिर : दक्षता. दान. सत्य. शील.

यक्ष : मनुष्य (स्त्री-पुरुष) की आत्मा क्या है? देवकृत सखा कौन है? उसका उप जीवन (सहारा) क्या है? परमआश्रय क्या है?

युधिष्ठिर : पुत्र. स्त्री. मेघ. दान.

यक्ष : धन्यवाद के योग्य व्यक्ति में उत्तम गुण क्या है? धनों में उत्तम धन क्या है? लाभों में प्रधान लाभ क्या है? सुखों में

उत्तम सुख क्या है?

युधिष्ठिर : दक्षता. शास्त्र ज्ञान. आरोग्य. संतोष.

यक्ष : लोक में श्रेष्ठ धर्म क्या है? नित्य फल वाला धर्म क्या है? किसको वश में करने से लोग शोक नहीं करते? किनके साथ की गयी मित्रता नष्ट नहीं होती?

युधिष्ठिर : दया. वेदोक्तधर्म. मन को वश में करने से. सत्पुरुषों से की गयी मित्रता.

यक्ष : किस वस्तु को त्याग कर मनुष्य प्रिय होता है? किसको त्याग कर शोक नहीं करता? किसको त्याग कर अर्थवान होता है? किसको त्याग कर सुखी होता है?

युधिष्ठिर : मान को. क्रोध को. काम को. लोभ को.

यक्ष : ब्राह्मण (विद्वान) को किसके लिए दान किया जाता है? नट-नर्तकों को क्यों दान देते हैं? सेवकों को दान का क्या प्रयोजन है? राजाओं को क्यों दान दिया जाता है?

युधिष्ठिर : धर्म के लिए. यश के लिए. भरण-पोषण के लिए. भय के लिए.

यक्ष : जगत किस वस्तु से ढका है? किसके कारण प्रकाशित नहीं होता? मनुष्य मित्रों को क्यों त्याग देता है? स्वर्ग में किस कारण नहीं जाता?

युधिष्ठिर : अज्ञान से. तमोगुण के कारण. लोभ के कारण. आसक्ति के कारण.

यक्ष : मनुष्य किस प्रकार मरा कहा जाता है? राष्ट्र किस प्रकार मर जाता है?

युधिष्ठिर : दरिद्र (मृतो दरिद्रः पुरुषो।) राजा रहित (अराजकता से).

यक्ष : दिशा क्या है? जल क्या है? अन्न क्या है? विष क्या है?

युधिष्ठिर : सत्पुरुष. आकाश. पृथ्वी. याचना.

यक्ष : तप का क्या लक्षण है? दम क्या है? उत्तम क्षमा क्या है? लज्जा किसे कहते हैं?

युधिष्ठिर : अपने धर्म में तत्परता. मन का दमन. सर्दी-गर्मी आदि को सहना. अकरणीय कामों से दूर रहना.

यक्ष : ज्ञान क्या है? शम क्या है? उत्तम दया क्या है? आर्जव (सरलता) क्या है?

युधिष्ठिर : परमात्मा का यथार्थ बोध. चित्त की शांति. सबके सुख की कामना. समचित्त होना.

यक्ष : मनुष्यों का दुर्जयशत्रु कौन है? अनंत व्याधि क्या है? साधु कौन है? असाधु कौन है?

युधिष्ठिर : क्रोध. लोभ. समस्त प्राणियों का हित करने वाला. निर्दयी.

यक्ष : मोह क्या है? मान क्या है? आलस्य क्या है? शोक क्या है?

युधिष्ठिर : धर्म-मूढ़ता. आत्माभिमान. धर्म (कर्तव्य) का पालन न करना. अज्ञान.

यक्ष : स्थिरता क्या है? धैर्य क्या है? परम धर्म क्या है? दान किसे कहते हैं?

युधिष्ठिर : अपने धर्म में स्थित रहना. इंद्रिय-निग्रह. मानसिक मलों का त्याग.

प्राणियों की रक्षा.

यक्ष : पंडित कौन है? नास्तिक कौन है? मूर्ख कौन है? काम क्या है? मत्सर क्या है?

युधिष्ठिर : धर्मज्ञ. मूर्ख. नास्तिक. वासना. हृदय की जलन.

यक्ष : अहंकार किसे कहते हैं? दम्भ क्या है? परमदेव क्या है? पैशुन्य क्या है?

युधिष्ठिर : अज्ञान. अपने को झूठमूठ धर्मात्मा प्रचारित करना. दान का फल. किसी पर दोष लगाना या चुगली करना.

यक्ष : धर्म, अर्थ, काम ये परस्पर विरोधी हैं. इन नित्य विरुद्धों का कैसे संयोग होता है?

युधिष्ठिर : जब धर्म और भार्या दोनों अविरोधी होकर वश में (आत्मीय) हो जाते हैं.

यक्ष : अक्षय नरक किसे मिलता है?

युधिष्ठिर : जो अकिंचन भिक्षु को बुलाकर भिक्षा देने से इंकार कर देता है. जो वेद, धर्मशास्त्र और ब्राह्मण देवता और पितृ में मिथ्या बुद्धि रखता है. धन पास होते हुए भी जो लोभ वश दान और भोग नहीं करता.

यक्ष : कुल, आचार, स्वाध्याय और शास्त्र-श्रवण में से किसके द्वारा ब्राह्मणत्व सिद्ध होता है?

युधिष्ठिर : न तो कुल में ब्राह्मणत्व है, न स्वाध्याय, न शास्त्र श्रवण में. ब्राह्मणत्व का हेतु मात्र आचार है. जिसका आचार अक्षुण्ण है उसमें ब्राह्मणत्व है; जिसका आचार नष्ट हो गया वह स्वयं भी नष्ट हो गया है. पढ़ने वाले, पढ़ाने वाले तथा शास्त्र-विचार करने वाले ये सब तो व्यसनी और मूर्ख हैं. पंडित तो वही है जो कर्तव्य का पालन करता है. चारों वेद पढ़कर भी जो दुराचारी है, वह अधमता में शूद्र से बढ़कर है, जो अग्निहोत्र में तत्पर, जितेंद्रिय है वही ब्राह्मण है :

श्रृणु यक्ष कुलं तात न स्वाध्यायो न च श्रुतम्।
कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशयः।।

(313/108)

यक्ष : मधुर वचन बोलने वाले को क्या मिलता है? सोच-विचार कर काम करने वाला क्या पाता है? जिसके अनके मित्र होते हैं उसे क्या लाभ है? धर्मनिष्ठ को क्या लाभ मिलता है?

युधिष्ठिर : सबका प्रिय. सफलता. सुख. सद्गति.

यक्ष : सुखी कौन है? आश्चर्य क्या है? मार्ग क्या है? वार्ता क्या है?

युधिष्ठिर : जिस पर ऋण नहीं; जो परदेश में नहीं - वह भले चार-छह दिन में साग-पात खाकर जीता हो. संसार में प्रतिदिन प्राणी मरते हैं, किंतु जो बचे हुए हैं वे सदा जीने की इच्छा रखते हैं, इससे बढ़कर आश्चर्य क्या :

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्।
शेषा : स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्य मतः परम्।।

(313/116)

तर्क की कहीं स्थिति नहीं है, श्रुतियां भी भिन्न-भिन्न हैं, एक भी ऋषि ऐसा नहीं है

जिसका मत प्रमाण माना जाए, धर्म का तथ्य गुहा में निहित है. (अत्यंत गूढ़ है). अतः जिससे महापुरुष जाते हैं वही मार्ग है:

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना,
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां।,
महाजनो येन गतः स पन्थाः।।313/117

इस महामोह रूपी कड़ाहे में भगवान काल समस्त प्राणियों को, मास और ऋतुरूपी कड़छी से, उलट पलट कर, सूर्यरूप अग्नि और रात-दिन रूप ईंधन से रांध रहे हैं, यही वार्ता (आजीविका, वृत्ति) है.

अस्मिन् महामोहमये कटाहे, सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन।
मासर्तुदर्वीपरिघट्टनेन, भूतानि कालः पचतीति वार्ता।।

(313/118)

यक्ष : तुमने मेरे प्रश्नों के ठीक-ठीक उत्तर दे दिये. अब पुरुष (मनुष्य) की व्याख्या कर दो और यह बताओ कि सबसे बड़ा धनी कौन है?

युधिष्ठिर : जिस मनुष्य के पुण्य कर्म की कीर्ति भूमि और स्वर्ग का स्पर्श करें, वह पुरुष है. जो व्यक्ति प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख, भूत-भविष्य के द्वंद्वों में सम है वह धनी है, जो भूत, भविष्य, वर्तमान सभी विषयों की ओर से निस्पृह, शांतचित्त और प्रसन्न है, योग युक्त है वही धनियों का स्वामी है.

यक्ष : तुमने धनी व्यक्ति की ठीक व्याख्या कर दी, इसलिए अपने भाइयों में से जिस एक को जीवित करना चाहते हो वह जीवित हो सकता है.

युधिष्ठिर : आप मेरे भाई नकुल को जीवित कर दें.

यक्ष : भीम, अर्जुन जो तुमारे सहयोगी और प्रिय हैं, रक्षक हैं; इन्हें छोड़कर तुम सौतेले भाई को क्यों जिलाना चाहते हो?

युधिष्ठिर : यदि धर्म का नाश किया जाए तो वह नष्ट किया धर्म, कर्ता को नष्ट कर देता है. यदि उसकी रक्षा की जाए तो वही कर्त्ता की रक्षा करता है? मैं धर्म का त्याग नहीं कर सकता. मेरा विचार है कि दया और समता परमधर्म है. इसलिए मैं समान भाव को ध्यान में रखकर अपने कुल को जिलाना चाहता हूं. मैं धर्म से विचलित नहीं होऊंगा. मेरे पिता की कुंती और माद्री दो भार्याएं रहीं. वे दोनों पुत्रवती बनी रहें. यक्ष! मेरे लिए जैसी कुंती वैसी ही माद्री हैं.

यक्ष : तुमने अर्थ और काम से भी अधिक दया और समता का आदर किया है इसलिए तुम्हारे सभी भाई जीवित हो जाएं.

तत्काल पांडव जीवित हो गये.

अंत में युधिष्ठिर यह पूछ ही लेते हैं- ''यक्ष, तुम्हें इन प्रश्नोत्तरों से क्या लाभ हुआ? ऐसे बहुआयामी, तात्विक गहन और उलझन भरे प्रश्न तुमने क्यों पूछे? सच बताओ तुम कौन हो?''

''मैं तुम्हारा पिता धर्म हूं. विदुर भी मेरा ही अंश है. मैं भावी जानता हूं इसीलिए यह जानना चाहता हूं कि तुम आगामी भयावह और दुर्विवार घटनाओं का सामना कैसे करोगे? युद्ध और शांति को नेतृत्व कैसे दोगे?''

जिस व्यक्ति को एक महासमर का संचालन करना है, सम्राट बनना है, संधि-विग्रह का निर्णय लेना है, देश के बौद्धिक मानस का संचालन करना है, कठिन परिस्थितियों में धैर्य और संयम का परिचय देना है, पात्र-अपात्र; धर्म-अधर्म; न्याय-अन्याय; धर्म-दर्शन आदि सब व्यवहारों और ज्ञान-दशाओं से परिचित होना है, नेतृत्व के गुण प्रदर्शित करना है, उसका व्यक्तित्व कितना विराट, कितना गहरा, कितना विवेकशील और परिपक्व है - 'यक्ष प्रश्न' उसी की थाह लेता है.

इससे पहले की सारी कथा का मायाजाल केवल युधिष्ठिर को परीक्षा-केंद्र में लाने का है. 'यक्ष प्रश्न' वास्तव में 'धर्म-प्रश्न' हैं जो स्वयं धर्मराज पूछ रहे हैं. उन्हें एक अत्यंत भयावह समय, युगांतरकारी घटना-चक्र घटित होने का पूर्वज्ञान है. एक दुर्वह समय का दायित्व उठाने वाले पुत्र की व्यक्तित्व-परीक्षा तो करनी ही होगी। इसीलिए ये प्रश्न विविध भी हैं, व्यापक भी और जटिल भी.

युधिष्ठिर के उत्तरों में उनका ज्ञान, विवेक, दक्षता, न्याय प्रियता, स्वार्थ त्याग, उदारता, सौजन्य और ऐसे गुण प्रकट होते हैं जो युधिष्ठिर में ही सम्भव हैं.

पूरे महाभारत में कई जगह युधिष्ठिर की गतिविधियों से हम सहमत नहीं होते या वे हमें भ्रमात्मक लगती हैं. वनपर्व में ही द्रौपदी और भीम उन्हें कितना लताड़ चुके हैं; उनसे कितनी क्रुद्ध असहमति जता चुके हैं! ये प्रश्नोत्तर इस बात के प्रतीक हैं कि युधिष्ठिर से असहमत होने के कई पहलू हैं. परंतु युधिष्ठिर के उक्त उत्तर से यह आभास होता है कि हम अपनी सामान्य बुद्धि से जो सोच पाते हैं युधिष्ठिर कई बार उससे कुछ अलग, विशिष्ट और अद्वितीय सोचते हैं. वे उन पर दृढ़ता से अमल भी करते हैं. यक्ष और युधिष्ठिर के प्रश्नोत्तरों पर इसी दृष्टि से विचार करना सम्भवतः युधिष्ठिर को सही प्ररिप्रेक्ष्य में पहचानना होगा. ❑

अमूल्य टिप

बात उन दिनों की है जब गांधीजी नेटाल (दक्षिण अफ्रीका) में थे. भोजन करने के लिए द्वितीय श्रेणी के एक रेस्तरां में पहुंचे. भोजन करने के उपरांत उन्होंने बैरे से बिल लाने को कहा. बिल चुकाने के बाद उन्होंने बैरे के कंधे पर हाथ रखकर प्रेम भरे स्वर में कहा, "भाई, तुम्हारी सुंदर सेवा के लिए बहुत बहुत धन्यवाद."

यह सुनकर बैरा भाव-विह्वल हो गया और बोला, "सर, मैं आपको कभी नहीं भूलूंगा. 25 वर्ष की सेवा में आज तक की यह सबसे अमूल्य टिप है जो मुझे मिली है.

- श्रीकांत कुलश्रेष्ठ

कुछ कविताएं

• स्नेहमयी चौधरी

घमासान

युद्धस्थल पर गोलियां चल रही थीं
उनकी आवाज़ वह
अपने अंदर सुन रही थी
उस घमासान में उसे पता नहीं चला
वह हारी या जीती?

विरोध

उसका विरोध अपने से था
वह खड़ी दूसरों की पंक्ति में हो गयी
जहां वह जीतकर भी हारी

नृत्य-गान

संगीत की धुन पर उसने गाना गाया,
नृत्य की धुन पर नाची...
पर कहां?
वह तो चूल्हे में लकड़ी लगाकर
आग जलाने का उद्यम कर रही थी
सीली लकडियां जलीं ही नहीं
धुआं आंखों में भर गया
पानी बहेन लगा...
पल्ले से पोंछ रही है.

असलियत

सपने का सच सही नहीं होता
सोचते कुछ हैं, होता और ही है
आंख खुलने पर जो दिखता है
क्या वह असलियत होती है
वास्तविकता क्या है, मैं जान ही नहीं पाती

कोलाहल

'हाथ कटा है तो क्या?
चाय तो बना ही सकती हो'
गृहस्वामी ने निर्देश दिया
औरत हतप्रभ हो उसका मुंह देखने लगी
पैरों से चल कर रसोई में गयी
वहां खड़ी बरतनों को ताकती रही
वे सब उसके सामने कोलाहल करने लगे
उसने घबरा कर कान बंद कर लिए

कहां बची?

उसको एलहाम हुआ- कुछ होगा
और सचमुच भूचाल आ गया...
कुछ मकान ढहे, कुछ पेड़ गिरे,
कई इमारतें ध्वस्त हो गयीं
आंखों के सामने यह दृश्य
देख वह घबरायी...
पड़ी रही बिस्तर पर
लेकिन साबुत कहां बची?

टकटकी

बाढ़ आने पर एक विश्वास था
कि वह तैर कर पार कर लेगी
लेकिन डर कर दुबक गयी
पानी उतरने पर
पहाड़ के कीचड़ टूटे पेड़ों,
गिरे पत्थरों, चिटके पुलों के बीच
हो कैसे मैदान तक आ गयी?
स्वयं आश्चर्य हुआ?
अब दूर-दूर तक फैले खेतों को
टकटकी लगाए ताकती रहती है.

बटो

• कृष्णबिहारी मिश्र

वरिष्ठ साहित्यकार श्री कृष्णबिहारी मिश्र ने रामकृष्ण परमहंस एवं उनके शिष्यों के जीवन-प्रसंगों पर प्रामाणिक सामग्री 'कल्पतरु की उत्सव लीला' नामक पुस्तक में दी है. 'न मेधया' उनकी नयी पुस्तक है और इसमें भी अधिकांश सामग्री रामकृष्ण परमहंस के जीवन से ही सम्बंधित है. प्रस्तुत है इसी पुस्तक का एक रोचक अंश.

बटो के अंग-अंग में थिरकती आस्था चित्त को आलोकित कर देती है. उड़ीसा के गांव में जनमा बटो मेरे कॉलेज में चतुर्थ श्रेणी का कर्मचारी है. तीन बेटियों का बाप है. छोटी तनख्वाह और सुरसा की तरह बढ़ने वाली महंगाई का आतंक. लेकिन बटो का उल्लास म्लान नहीं पड़ता. जागतिक प्रपंच से आहत होकर प्रायः खिन्न रहने वाले मेरे जैसे सुविधाजीवी आदमी को, पता नहीं कैसे, अपनी जाति का मानता है और मुझे गुंडी पान खिलाने के बहाने प्रायः रोज ही माता आनंदमयी का लीला प्रसंग अपनी ऋजु शैली में सुनाया करता है. "पंडीजी, आप से सच कहता है. मां का दर्शन के वास्ते हम अपना नौकरी छोड़ दिया था." "अच्छा." मेरी विस्मित मुद्रा से उत्साहित होकर वह कहने लगा, "बहुत पहले का बात है. तब हम बहुत छोटा था. केमेस्ट्री डिपाट में तब भी काम करता था. लाडली मोहनबाबू बड़ा कड़ा प्रोफेसर था. मां तारापीठ में आया है, हमको एक आदमी बोला. लाडली बाबू से छुट्टी मांगा. वह छुट्टी नहीं देगा, बोला. हमको बड़ा गुस्सा आया. इस्तीफ़ा लिखकर हम तारापीठ चला गया. मगर मां तो सब कुछ समझ जाता है." मुझको बोला, "तुम झगड़ा करके आया है. काम से भागना भगवान को अच्छा नहीं लगता. जाकर अपना काम करो." भक्ति-गदगद कंठ से बटो बोला, "मां सब कुछ समझ जाता है. आपका मन में क्या है, मां बिना बताने से ही समझ जाता है. मां मन का सब कुछ समझ जाता है. बटो की बात मैं धैर्यपूर्वक सुनता हूं, महज इतने से उसकी भावना प्रसन्न हो जाती है और मुझे अपनी जाति का आदमी मान लेता है. मेरे सुख-सौभाग्य की सहज चिंता से वह मुझे माताजी

का अनुग्रह भाजन बनाने को व्याकुल रहता है. आग्रहपूर्वक बटो ने मुझे दो बार माता आनंदमयी के दर्शन कराये. एक बार आगरा पाड़ा आश्रम में, जब मेरी छोटी बहन रमा और मेरी गृहिणी मेरे साथ थीं. और दूसरी बार सियालदह रेलवे स्टेशन पर अपार भीड़ में वह मुझे खींच ले गया था और माताजी के दर्शन कराकर वह इतना खुश हुआ था कि जैसे विशेष पुण्य अर्जित कर लिया हो. एक दिन मुझे कॉलेज में न पाकर वह मेरे घर दौड़ा-दौड़ा आया. मैं अस्वस्थ था. घर में छुट्टी लेकर पड़ा था. माताजी के शुभागमन की सूचना लेकर आया था. मेरी पत्नी और साधु संस्कार वाले मेरे वैरागी मउसेरे भाई दीनबंधु को माताजी के दर्शनार्थ आगरापाड़ा आश्रम में खींच ले गया था.

बहुत वर्षों पहले की घटना है. अपने नियम के मुताबिक वह रोज़ मुझे गुंडी पान खिलाने प्राध्यापक कक्ष में आता है. कहने लगा, "माताजी का बहुत बड़ा सभा हुआ था देशप्रिय पार्क में. माताजी ऐसा बोला कि सब लोगों का मन दूसरा माफिक हो गया.'' मैंने पूछा, "माताजी ने क्या प्रवचन दिया?'' "माताजी के बारे में दूसरा-दूसरा लोग बोला. लोग बहुत प्रार्थना किया तो माताजी बोला, 'राम कृष्ण हरि, एई सत्य कथा, आर सॅब बेया, बेया, बेया' इसके ऊपर और क्या होगा, पंडीजी, मां तो सब कुछ बोल दिया." और बटो की ऋजु मुद्रा ने मुझे चमत्कृत कर दिया था. मैंने लक्ष्य किया. बड़ी-बड़ी मेधा के मालिकों को पोथियों का भंडार जो समाधान नहीं दे पाता वह समाधान-आलोक अल्पमति बटो ने माता आनंदमयी के हृदय से निकले कुछ सरल शब्दों से उपलब्ध कर लिया है. उपाधि-विशिष्टता और पद-विशिष्टता की ग्रंथि से वह मुक्त है. शायद इसलिए तर्कजाल की ठगिनी माया के प्रपंच में उसका मन नहीं उलझता और ऋजुता की ऐसी पूंजी उसके पास है कि सत्य का महंगा सौदा सहज ही कर लेता है. उसका गार्हस्थिक बोझा कम भारी नहीं है, लेकिन 'सत्यकथा' से जुड़ी उसकी आस्था उसे व्यथा-मुक्त रखती है. पंडितों-ज्ञानियों को जो त्रास-संत्रास घेरे रहते हैं, बटो उस विषैली आबोहवा को पहचानता तक नहीं. वह दूसरी लहर के साथ क्रीड़ारत है और अपने उपलब्ध आस्वाद को समाज में बांटने के लिए बेचैन रहता है. उसमें सहज उदारता है. शायद इसीलिए अभाव-बोध की यंत्रणा से उसका मन रिक्त है. बटो के बारे में सोचते मुझे माता टेरेसा का कारुण्य स्मरण हो आता है. पृथ्वी के सर्वाधिक समृद्ध राष्ट्र अमरीका के भाव-दारिद्र्य से करुणाद्र होकर माता टेरेसा ने कहा था, 'रोटी, वस्त्र, आवास की समस्या का समाधान खोज पाना कठिन नहीं है, कठिन है अकेलेपन की यंत्रणा के रोग का उपचार.' बटो इस रोग से मुक्त है. रामकृष्ण परमहंस के आत्मीय शिष्य 'लाटू महाराज' की तरह वह गृहत्यागी परिव्राजक नहीं है, गृहस्थ है. तीन-तीन बेटियों का ऋण है उसके अर्थ-दुर्बल कंधे पर. अनुज-पुत्र को आदमी बनाने की जिम्मेदारी के प्रति सजग-सक्रिय है. लेकिन भाव-सम्पन्नता उसके उल्लास को पोषण देती रहती है, जागतिक बोझ की

गुरुता उसे क्लांत नहीं करती, उसे अकेलेपन की यंत्रणा का स्वाद नहीं मालूम है. [illegible] पढ़वईया बटो की जाति का आदमी कैसे हो सकता है. मगर बटो की बिरादरी क्षीण नहीं है. भारत की माटी हर काल में ऐसी फसल उगाती रही है जो 'सत्यकथा' के खाद-पानी से फूलती-फलती और अपने वंश-प्रवाह को समृद्ध करती रहती है. बटो की जाति के असंख्य चरित्र हैं इस देश में, जिन्हें शिक्षा की औपचारिक सुविधा नहीं उपलब्ध हुई, नाना प्रत्यूह जिनके जागतिक विकास की राह छेंकते रहे हैं और गृहस्थी के पचड़े से जो दिन-रात जूझते रहते हैं, फिर भी भहरा कर गिर नहीं जाते, समस्यावाहिनी से पंजा लड़ाने की कला उन्होंने अर्जित की है और अपनी लोक यात्रा को ऊर्ध्वमुखी आयाम से जोड़ने के लिए सदैव सजग-सचेष्ट रहते हैं. और धवल धरातल के प्रति उनके मन की टान इतनी प्रबल है कि बड़े से बड़े प्रलोभन को वह लात मार सकते हैं. बटो बताता है, माता आनंदमयी के दर्शन के लिए उसने नौकरी छोड़ दी थी और नामी-गिरामी विद्या विशिष्ट लोगों के जीवन का यथार्थ है कि हल्के प्रलोभन से उनके चरित्र की धुरी हिल जाती है. 'वाक्य-ज्ञान की निपुणता' और वाक चातुरी भोग-उपकरणों का सहज ही स्वामी बना देती है, लेकिन चारित्रिक धवलता की हिफ़ाज़त कर पाना किसी-किसी से सम्भव होता है. बटो की जाति के लोग दारित्रिक ढाही की चपेट में आने से बच जाते हैं. बचना कठिन होता है उनके लिए जिन्हें अपने वैदुष्य का गुमान होता है. अपनी विकट ग्रंथि के चलते समाज से भी वे अलग-थलग पड़ जाते हैं.

आर्ष मेधा ने विद्या की परिभाषा रची थी... 'विद्या सा या विमुक्तये'... जो मुक्त करे वही विद्या है. लेकिन विद्या-उपाधि का दर्प मुक्ति नहीं बंधन का कारण बनता रहा है. रामकृष्ण की धारणा ठीक लगती है कि ग्रंथ ग्रंथि का जनक है. इसलिए विकुंठ चित्त से दीपित साधुता के सामने निरुपाय होकर विद्या-विभूति को झुकना पड़ता है. सहज संत तुकाराम के सामने जगन्नाथ भट्ट को झुकना पड़ा था. नमित होने में ही विद्या की कृतार्थता सिद्ध होती है. रामकृष्ण परमहंस और उनके परम भक्त नाग महाशय तथा लाटू महाराज की सामान्य विद्या-पूंजी बहुत क्षीण थी, किंतु उनके आध्यात्मिक उत्कर्ष के सामने बड़ी-बड़ी हस्ती निष्प्रतिभ लगने लगती थी. माता आनंदमयी अपने बारे में भक्तों और विद्या विशिष्ट श्रोताओं से प्रायः कहा करती थीं, 'यह लड़की पढ़ी लिखी नहीं है. यह देह विद्या से रिक्त है.' मगर महामहोपाध्याय पंडित गोपीनाथ कविराज जैसे असाधारण मनीषी और बड़ी-बड़ी विद्या विभूतियां तथा अध्यात्म-लोक के असाधारण पुरुष उनके सामने विनीत थे. रोशनी के संधान में महर्षि रमण के यहां दुनिया के कोने-कोने से 'सॉमरसेट मॉम' जैसे प्रख्यात विद्या विशिष्ट पुरुष और साहित्यकार पहुंचते रहते थे, मगर सत्य-साक्षात्कार के लिए विद्यावैभव को महर्षि अपर्याप्त मानते थे, अध्यात्म ज्योति को उपलब्ध करने की अनुशासन विधि सर्वथा भिन्न होती है.

बटो जैसे ऋजु चरित्रों को करीब से समझने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि अध्यात्म, जो मनुष्यता का ही पर्याय है, से मदरसे की सनद का कुछ लेना-देना नहीं है. यह सनद उस विद्या का प्रमाणपत्र नहीं है जिसे पुराने लोगों ने मुक्त करने वाली ज्योति माना था. यह मुक्त नहीं करती, उलझाती और बोझा बढ़ाती है. बटो विद्या-बोझ से मुक्त है, इसलिए उसकी आस्था अक्षत है और उसकी राह में उलझन कम है. बटो का अध्यात्म सहज स्फूर्त है, अलंकार नहीं है. नये अभिजात वर्ग ने अध्यात्म को और 'योगा' को अपने ढेर सारे शोभा प्रतीकों में सम्मिलित कर लिया है. ड्राइंग रूम में हस्तशिल्प के पदार्थों के साथ छंटाक भर अध्यात्म रखना ज़रूरी हो गया है. इसके अभाव में श्रीमंतों और तथाकथित बुद्धिजीवियों का शोभा-छंद लंगड़ाने लगता है जैसे. और एक यह बटो है जो जीवन की सार्थकता और वास्तविक आस्वाद को पाने के लिए अध्यात्म की सच्ची ऊष्मा से, मानवी संवेदना-छंद से जुड़ा रहना और सहज सद्भाव को क्षत करने वाले बांकपन से बचना ज़रूरी मानता है.

आधुनिक रईसी का तकाज़ा है, लोग अध्यात्म और 'योगा' से जुड़ रहे हैं. योग उनकी प्रकृति के प्रतिकूल पड़ता है, 'योगा' उनकी संस्कृति के अनुरूप बैठता है. नयी भाषा-मुद्रा सभ्यता की अधोगामी यात्रा का संकेत दे रही है. पर आधुनिकता का जोम इसी मुद्रा में चमकता है. इसलिए उनके यहां उसी का मान है. सेठ-साहूकारों में ही नहीं, तथाकथित विद्याव्रतियों में भी 'योगा' की बड़ी-बड़ी दुकानें खुल गयी हैं. और इस व्यापार के बड़े-बड़े सौदागर अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार पर अपना प्रभुत्व जमाते जा रहे हैं. भगवान जगन्नाथ के प्रदेश के ग्रामीण बटो को इस व्यापार की कुछ भी जानकारी नहीं है. वह शायद व्यथा से दूर रहना चाहता है इसलिए 'सत्यकथा' से जुड़ा रहना चाहता है. 'सूधो'-मार्ग का यात्री है. गोपियों की तरह उसे भी उद्धव की राह अच्छी नहीं लगती. नये कांटों से घबड़ाता है, भले ही वे अध्यात्म का हल्ला बोलते रोपे जा रहे हों. नये श्रीमंतों और आधुनिक ज्ञानियों को चाकचिक्य विवर्जित वातावरण रुचता नहीं. उनकी रुचि का चतुर धर्म-व्यवसायियों को पता चल गया है. इसलिए अपना व्यवसाय जमाने के लिए वे उन्हें अपनी मुद्रा-सिद्धि से भरपूर पोषण दे रहे हैं. बटो को पोषण-प्रकाश मिलता है माता आनंदमयी की ऋजु वाणी से. उस अध्यात्मवाणी की व्यंजना वह सहज ही पकड़ लेता है. उसके दीये की बाती जल गयी है. अपनी धुन में मगन रहता है. आधुनिक विद्याव्यापारियों की तरह निर्वासन की पीड़ा से घायल नहीं है. अवसाद के धुएं से धूमायित नहीं है. गांव छोड़कर वर्षों से महानगर में नौकरी करता है, लेकिन निपट देहाती शैली में लोगों से मिलता, बतियाता है. हंसता रहता है और भागवत भाव से अपने पात्र को समृद्ध करने की चिंता-चेष्टा में रहता है. बटो की राशि स्वामी अद्‌भुतानंद से मिलती है. अद्‌भुत आवेग था छपरा के सर्वहारा चरित्र लाटू

में. कलकत्ते के श्रीमंत परिवार के भृत्य लाटू को रामकृष्ण की आध्यात्मिक विभूति ने इतने ज़ोर से खींचा कि आगा-पीछा सोचे बग़ैर उसने नौकरी छोड़ दी और दक्षिणेश्वर की दुनिया में भाग गया. बटो बताता है, माता आनंदमयी के दर्शन के लिए उसने भी नौकरी से इस्तीफ़ा दे दिया. वह भावावेग, वह पागल लहर आज दिखायी नहीं पड़ती. तर्क से तो लोग अपना हर मामला तय करते हैं. सुविधा-सुरक्षा के लिए अनुकूल तर्क रच लेने में विद्या-व्यापार से जुड़े लोग सक्षम हैं. तर्क बुरा नहीं है.

विज्ञान-युग का यही तकाज़ा भी है, मगर अपने आदर्श और आस्था के लिए मर मिटने वाली सनक का कम्प्यूटर-संस्कृति के निकष पर क्या कुछ भी मूल्य नहीं है? हो या न हो, बटो अपनी धुन छोड़ने वाला नहीं है. अपनी आस्था से 'बेथा' यानी व्यथा का सौदा करना उसे पसंद नहीं है जैसे विद्यालोक के पीठाधीश अपनी कूट बुद्धि से निर्मित पैनी रणनीति त्यागने को तैयार नहीं है, भले ही वह विद्यागरिमा की ढाही का कारण बन रही हो, भले ही वह उनके त्रास-संत्रास का बोझा बढ़ाने वाली सिद्ध हो रही हो. ज्ञानमूर्ति शंकराचार्य उन्हें टोकते हैं, 'ज्ञाते तत्त्वे कः संसारः,' टोकते रहें, विद्याव्यापारी आज के तत्त्वज्ञान के कायल हैं. आज का तत्वज्ञान कहता है, गोली मारो धर्म-बुद्धि को, सारे आदर्शों-मूल्यों को. आंख मूंदकर पैसा बटोरो अन्यथा बेचारे बन जाओगे. इसलिए हर मूल्य पर अपनी धनसम्पदा बढ़ाने को लोग आकुल-व्याकुल हैं. मगर बटो न व्याकुल है, न बेचारा. प्रकाश से जुड़ा हुआ है और उल्लसित चित्त से लोगों को प्रकाश बांट रहा है. विनोबा बुद्धिजीवियों पर आरोप लगाते हैं, ये बुद्धिजीवी पर आरोप लगाते हैं, ये बुद्धिजीवी नहीं, इंद्रियजीवी हैं, अपने भौतिक पोषण की चिंता के कायल हैं, इसलिए वाक-चातुरी से सत्य को ढंकने वाला जाल बुन रहे हैं, हिंसा और लोक-शोषण की आबोहवा रच रहे हैं. उर्दू शायर गुलाब रब्बानी तांबा उदास हैं कि पूरी की पूरी पीढ़ी सोने की तलाश में उलझ गयी:

न तो रंज है न मलाल है.
मुझे सिर्फ़ इतना ख्याल है,
वह अजीब दानिशे अस्त्र थी
जो तलाशे ज़र में उलझ गयी.

मगर विद्याव्यापार लोकचक्षु की चिंता छोड़कर युगधर्म के इशारे पर नाच रहा है और अपनी भूमिका के प्रति पूर्ण आश्वस्त है.

बटो की दमकती आस्था-आभा को देखता हूं और विद्यालोक के धुंआते चेहरे तथा रिक्त चरित्रशाला पर नज़र पड़ती है तो अपनी लघुता काटने लगती है. बटो का मन एक बड़ी रोशनी से जुड़ा है. अपने उल्लास की साझेदारी के लिये वह मुझे आग्रहपूर्वक आमंत्रित करता रहता है. बटो न जाने क्यों मुझे अपनी बिरादरी का मानता है और रसायनशास्त्र विभाग जैसी ही प्रहरी-दृष्टि मुझ पर भी रखता है. बटो का अहेतुक छोह चित्त को आलोकित कर देता है. ☐

कहानी

सेल्फ-हीलिंग

• सुधा

एक विदेशवासी युवक के साथ अपनी सर्वगुणसम्पन्ना बिटिया अनुष्का को ब्याह कर परिवार आसमान से गिर पड़ा थाः ओह! वह युवक तो किसी गौरांगी छोरी के साथ तीन वर्षों से पति-पत्नी की तरह रह रहा था! फिर भी भारत आकर उसने अपने मां-बाप की पसंद से इस लड़की से विवाह किया क्योंकि उसे उनके कलेजे पर बाम लगानी थी; बेटे के दुराचरण की खबर से बाप को हार्ट अटैक हो गया था और मां ने 'सुसाइड की धमकी दे डाली'.

वापसी के टिकट के साथ नवविवाहिता अनुष्का को ले जाकर उस बेमुरौवत युवक ने उसी घर में रख दिया जहां उसकी रखेल उसके साथ घर बसा कर रह रही थी; विदेश में पतिगृहप्रवेश ऐसा होगा, इसकी कल्पना भी वह कर सकती थी क्या? किसी-किसी तरह एक माह बिताकर वह भारत लौट आयी. यहां भी छिन्न-भिन्न विवाहित जीवन का सारा दर्द उसे ही सहना था; किसी उपकारी उपाचार की उम्मीद कहीं से नहीं दीख रही थी. इस पर, घर में बड़े भाई के शुभविवाह का माहौल तैयार हो चुका था; लड़का-लड़की देखने की औपचारिकताएं, मंगनी की रस्म, विवाह के तिथि-निर्धारण आदि का उल्लास भरा वातावरण अनुष्का की मनःस्थिति से मेल नहीं खा रहा था. इतना ही नहीं, अनुष्का के पापा इस तरह का बरताव कर रहे थे मानों उसके साथ कोई अनहोनी हुई ही नहीं हो! उनका कड़ियल स्वभाव उसके प्रति और भी कठोर हो उठा था; तभी तो, अपनी जिस सास को उसने यह कह कर अपमानित किया था कि 'परायी बेटियों को आपने क्या सुधारगृह समझ रखा है जो आपके बिगड़ैल बेटों को ठीक कर देंगी?' और यह भी 'अगर आपको अपना सम्मान प्यारा है तो दुबारा यहां मत आइएगा.' पापा ने उसे अपनी उसी सास के पैरों पर गिर कर माफी मांगने के लिए कहा ताकि उसके सास-ससुर उसके भाई के विवाह में आयें और उनकी अनुपस्थिति को लेकर कोई कानाफूसी नहीं हो. इस बात से अनुष्का को मर्मांतक चोट पहुंची; वह आत्महत्या तक की बात सोचने लगी. लेकिन बाद में उसने इसे अपने लिए 'ऑनर किलिंग' मान लिया. नवनीत के फ़रवरी २०१२ अंक में प्रकाशित श्रीमती मालती जोशी की कहानी 'ऑनर किलिंग' में आपने यहां तक पढ़ा. अब देखिए आगे का हाल!

अनुष्का के भाई का विवाहोत्सव सकुशल सम्पन्न हो गया. कोई कमी नहीं रही; उसका पति अपने इकलौते साले के विवाह में क्यों नहीं आ पाया इसके लिए पानी पी-पी कर उसके मम्मी-पापा रिश्तेदारों और मित्रों को रटा-रटाया कारण बताते नहीं थके; उन्होंने एक ऐसे व्यस्त महापुरुष की छवि प्रस्तुत की जो अपना हनीमून भी नहीं मना सका था, जिसे अपनी पत्नी से फोन पर बात तक करने की फुर्सत नहीं मिलती. सहेलियां अनुष्का को छेड़ने लगीं- जीजाजी तो वर्कोलोहिक हैं! तुम अपने को कैसे व्यस्त रखोगी? अनुष्का पर भी झूठ का एक नशा-सा छा गया. अपनी सजधज के पीछे उदासी छिपाने में वह सफल हो गयी. नव परिणीता भाभी सोनी का गृहप्रवेश होते देख कर उसे ईर्ष्या नहीं हुई, बल्कि आनंद हुआ. लेकिन जब उसके भाई ने उसे बुलाकर कहा कि ''अनु! सोनी बहुत थकी हुई है, उसे थोड़ा आराम करने दो'', तो उसका जी धक से रह गया - ऐसा भी होता है!

भाई-भाभी हनीमून पर गये हैं. रिश्तेदार अपने-अपने घर लौट चुके हैं. किराये पर आयी चीज़ें वापस हो गयीं हैं; सारे भुगतान कर दिये गये हैं. घर के माहौल में एक खुशनुमा शांति आ गयी है. अम्मा बहू के साथ आये सामानों को सहेजने में लगी हैं. पापा ने कल तक की ही छुट्टी ले रखी थी, लेकिन पता नहीं क्यों आज भी दफ्तर नहीं गये हैं. घर में उनके होने से एक लक्ष्मण रेखा-सी खिंच जाती है. अनुष्का ने सोचा था, वह मां को बता कर युनिवर्सिटी जाएगी; लेकिन आज नहीं हो सकेगा. पापा इतने सवाल करेंगे कि...

''अनु!'' - पापा उसे ही पुकार रहे हैं.

''जी पापा!''

''आना तो!''

पापा अपने टेबल पर बैठे हैं. वह सहमी-सी गयी; पता नहीं क्या बात है! पापा के कमरे का यह कोना लगभग एक दफ्तर ही है; पुराने पीजनहोल और नवीनतम लैपटॉप में इंटरनेट सुविधाओं के साथ सारी सामग्रियां यहां उपलब्ध हैं; वे सारे संसार से सम्पर्क रखते हैं; लोग कहते हैं कि व्यवस्था में उनका जोड़ नहीं है. उनकी तरक्कियों में उनकी इस दक्षता का भी हाथ है.

उन्होंने पास रखी कुर्सी की ओर इशारा कर उसे बैठने को कहा.

''बेटे! मैंने सारे कागज़ तैयार कर लिये हैं.''

''...''

''थोड़ी देर में बलवीर आयेंगे. तुम्हारे दस्तखत लेंगे. उनके आने के पहले इस कागज़ को अच्छी तरह पढ़ लो. वैसे, इसकी एक कॉपी हमलोगों के पास रहेगी ही....अधिक-से-अधिक दो महीने लगेंगे.''

''किस बात में?''- अनुष्का से पूछते ही नहीं बना.

बलवीर अंकल नामी वकील हैं. पापा के मित्र और सलाहकार हैं.

''मैंने सारे एविडेंस जमा कर लिये हैं. फोटो सहित. उस हरामज़ादे को तो यहां

के कोर्ट में घसीटूंगा ही. उसके मां-बाप को भी नहीं छोड़ूंगा.''

''...''

''और...और अनु!'' - पापा का गला भर आया था. अनुष्का ने घबड़ा कर उनकी ओर ताका. उनकी आंखें भी भरी हुई थीं. - ''बेटे! मैं धोखा खा गया था....'' - उन्होंने अपनी आंखें पोंछ लीं; कुछ देर चुप रहे. शायद प्रकृतिस्थ होना चाहते थे.

''...''

''तुम्हें नये सिरे से अपना जीवन जीना है.''

उन्होंने वे कागज़ उसके हाथों में थमा दिये जिन पर उसके दस्तखत होने थे और कहा कि अपने कमरे में जाकर इत्मीनान से पढ़ ले.

उन कागज़ों में उसके साथ हुए धोखे की दास्तान थी, अपने लिए प्रतिकार और अपराधियों के लिए सज़ा की मांग थी. सावधानी से तैयार किये गये उन कागज़ों का एक-एक शब्द पढ़ते समय उसने अनुमान लगाया कि जिस समय पापा ने उसे सास के पैरों पर गिर कर माफी मांगनी के लिए भेजा था, ये कागज़ उसी समय तैयार किये जा रहे होंगे. बलवीर अंकल आये तो उसने उनके सामने सारे दस्तखत किये और वहां से हट गयी, क्योंकि उसे लगा कि पापा उनसे एकांत में बात करना चाहते हैं.

यह उपचार उसके लिए अप्रत्याशित था. अपने अपराधियों को सज़ा दिलाने की इस कार्रवाई और अपनी मुक्ति की सम्भावना से उसमें जितनी खुशी होनी चाहिए थी, उतनी प्रकट नहीं हो रही थी. कहां छिप गया था उसका स्वाभाविक हंसमुख स्वभाव? भाई के विवाह में उसने अपने जिस दुख को छिपा लिया था उसकी परत क्या इतनी मोटी है कि कभी नहीं हट पायेगी और वह सचमुच कभी खुश नहीं होगी? उसे रुलाई आने लगी. उसे विवाह के लिए पापा ने ही बड़ी मुश्किल से राजी कराया था; आज पापा ही उस विवाह के समापन में लगे हैं.

''अनु...! सो गयीं बेटे.''

''नहीं मम्मी!''

''अनु!... तुम्हारे पापा कह रहे थे...''

''हां मम्मी, मैंने सारे दस्तखत कर दिये, बलवीर अंकल के सामने.''

''नहीं, वह बात नहीं... तुम्हारे पापा मुझे बता रहे थे...''

"..."

"बता रहे थे कि मयंक अभी भी तुम्हें बहुत पसंद करता है...बेटे! वह...लड़का मुझे तो शुरू से पसंद था; तुम्हारे पापा के सामने मेरी एक न चली थी. और, उन अभागों ने सब्जबाग दिखा कर हमें लूट लिया... अब तुम्हारे पापा भी पछता रहे हैं; हीरे को ठुकराने के पाप से ठीकरा हाथ लगा." - मम्मी रोने लगीं.

अपने अपराधियों को सज़ा दिलाने की इस कार्रवाई और अपनी मुक्ति की सम्भावना से उसमें जितनी खुशी होनी चाहिए थी, उतनी प्रकट नहीं हो रही थी. कहां छिप गया था उसका स्वाभाविक हंसमुख स्वभाव?

अनुष्का ने मम्मी की पीठ सहलायी तो उसका हाथ अपने हाथ में लेकर वे लगभग गिड़गिड़ाने लगीं- "बेटा! मयंक को राजी करना अब तुम्हारे हाथ में है." अनुष्का को पापा की आंखों में भरा हुआ पानी याद आ गया; पापा भी शायद यही कहना चाहते थे.

लेकिन उन्हें कैसे पता चला कि मयंक अभी भी उसे चाहता है; यह तो उसके और मयंक के बीच की नितांत गोपनीय बात है!

भाई के ब्याह की तैयारी के दौरान खरीदारी के बहाने वह घर से निकली तो उसके पांव युनिवर्सिटी की ओर बढ़ गये. मयंक के अधीन काम करने वाले लोग बाहर निकल चुके थे, वह भी लैब से निकलने की तैयारी में ही था.

"अनु! कब आयीं...?...आओ...

"तुम जा रहे हो?... कल आ जाऊंगी..."

"नहीं यार, बैठो." - वह खुद बैठ गया और अपने सामने उसके लिए एक कुर्सी खिसका ली.

"कैसे आ गयीं?" - विज्ञानवेत्ता मयंक तटस्थ था.

"मतलब?"

"इंग्लैंड से इतनी जल्दी..."

"बस आ गयी."

"कब तक रुकोगी?"

"अब कभी नहीं जाऊंगी."

"क्या मतलब?" - वह सावधान हो गया.

"मतलब साफ़ है, कभी लौट कर नहीं जाऊंगी."

"पहेली मत बुझाओ... साफ़-साफ़ बताओ..." वह उत्सुक हो गया.

"साफ़-साफ़ सुनना चाहते हो? तो सुनो..." और अनुष्का ने संक्षेप में सारी बातें खोल कर रख दीं; बिना किसी उत्तेजना के, बिना किसी अतिशयोक्ति के. ऐसा, जैसे किसी और की कहानी सुना रही हो.

मयंक के मुंह पर आश्चर्य का भाव उभरता रहा.

"अनु!... काश! यह असत्य होता! बट डोंट बी डिसहार्टेड! सब ठीक हो जायेगा."

"प्लीज! मयंक कम-से-कम तुम तो यह

क्रूर वाक्य मत बोलो; पहले ही दिन से मेरी मां ने यह कहना शुरू कर दिया था कि सब कुछ ठीक हो जायेगा.''

''मैं तुम्हारे मना करने पर भी कह रहा हूं कि सब ठीक हो जायेगा... बिल्कुल ठीक हो जायेगा... तुम मेरा आशय समझो.''

''मैं शायद कुछ भी समझने की हालत में नहीं हूं...''

''मैं केवल यह कहना चाहता हूं कि मैं हूं...और, सब कुछ ठीक हो जायेगा.''

''क्या कर लोगे तुम?''

''मैं? मैं क्या कर लूंगा? यह पूछती हो?... तुम्हारा हाथ थाम लूंगा.'' और उसने आगे झुक कर उसकी ओर अपने हाथ बढ़ाये, इस तरह जैसे उसे गले लगाना चाहता हो.

अनुष्का हतवाक हो गयी. उसके मन के एक कोने में कामना सुगबुगा उठी थी, लेकिन वह मृतप्राय-सी बैठी रही. इतने बड़े आश्वासन के बाद भी उसकी निश्चलता देखकर मयंक तनिक हतप्रभ हो गया. बोला- ''मेरे इस प्रस्ताव के साथ मेरी एक शर्त है: वह यह कि तुम कभी ऐसा अनुभव नहीं करोगी कि मैंने कोई समझौता किया है या तुम्हारी किसी मज़बूरी का फायदा उठाया है या तुम किसी भी माने में मुझसे कम हो.''

''.........''

''बोलो! है मंज़ूर? अब हंस दो, यार!''

अनुष्का रोने लगी. मयंक को उसके आंसुओं के पीछे स्वीकृति की आहट मिल गयी थी.

लेकिन यह तो उनके बीच की एकांत बातें हैं; पापा कैसे जान गये कि मयंक उसे अभी भी चाहता है? - पापा! यू आर ग्रेट! इतने दिनों के बाद वह पहली बार सचमुच मुस्कुरायी. चारों ओर नज़र दौड़ा कर देखा, वहां कोई नहीं था. अगर कोई होता, तो ज़रूर भांप जाता; उसकी मुस्कराहट का राज समझे बिना नहीं रहता. ❑

मातृभाषा का स्नेह

कन्नड भाषा के सुप्रसिद्ध उपन्यास लेखक शिवराम कारंत ने अपने विद्यार्थी काल में अपने अंग्रेज़ी भाषा के प्रेमी और विद्यालय परिसर में अंग्रेज़ी भाषा के सिवाय अन्य भाषा का प्रयोग करने पर बालक को प्रताड़ित या दंडित करने वाले प्राचार्य को सुनाते हुए कहा, ''फूल, वाई डू यू लाफ इन कन्नड. यू आर ए हाइस्कूल स्टूडेंट. लाफ इन इंग्लिश. ***(मूर्ख, कन्नड में क्यों हंसते हो. तुम उच्च कक्षा के विद्यार्थी हो अतः अंग्रेज़ी में ही हंसो.)***

कारंत की बात सुनकर प्राचार्य ने अपने आप को बदल दिया. अब उन्होंने किसी विद्यार्थी को अंग्रेज़ी न बोलने पर भर्त्सना करना, प्रताड़ित करना बंद कर दिया.

- शिवचरण मंत्री

सातवीं थैली

• बर्नड-द-बोतो

धन 'धन' है और 'ऋण' भी; धन गुलामी है और है आज़ादी भी! धन है रोग, अशांति और भय और धन ही है स्वास्थ्य, शांति और अभय! यह है, अप्राप्ति का दुःख और यही है प्राप्ति का सुख! यही है अवगुण और यही है सद्‌गुण, यही है कमज़ोरी और यही है ताकत! यही है भरा-पूरा थाल, यही है सजा-सजाया घर और यही है आपके तन का आभूषण! यह है, कागज़ पर लिखी एक संख्या, एक हिसाब के सिरे पर आप का नाम! किंतु, आप को जानने की ज़रूरत यह है कि इस 'धन' का अपना कोई अस्तित्व नहीं है!

धन है, 'आप जो कुछ करते हैं' उसे 'आप जो कुछ चाहते हैं' में परिवर्तित करने का साधन! आपके जीवन में यह सबसे अधिक महत्त्व की वस्तु है. आपको इसका आदर करना चाहिए, नहीं तो यह आपके लिए तकलीफ़ें खड़ी कर देगा और यदि आप इसका मोह नहीं छोड़ेंगे, तो अपने-आप के लिए आप खुद तकलीफ़ें खड़ी कर लेंगे! यदि आप कंजूस हैं अथवा शाह-खर्च हैं, तो दोनों हालात में ही आप अपना विनाश कर लेंगे और दूसरी ओर बिना एक ही साथ कंजूस व शाह-खर्च दोनों हुए आप जीवन में सुख भी नहीं पा सकेंगे.

क्या मैं आपको भूल-भुलैये में घुमा रहा हूं? नहीं; पारस्परिक विरोधी बातों के समन्वय से ही तो इस धन के मतलब को समझा जा सकता है. चलिए, इसे समझने के लिए उस बुढ़िया दादी के पास चलें, जो हिसाब-किताब नहीं समझती; वह तो रखती है सात थैली, एक में पंसारी के लिए पैसा, एक में गाय-गोरू के लिए, एक में कपड़े-लत्ते और बरतन-भांड़ों के लिए आदि! पंसारी को चुकाने के लिए बीस रुपये चाहिए; एक थैली उसका हिसाब रखती है. वह बेचारी 'बैंक-एकाउंट' को क्या समझती? सातवीं थैली उसके लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है. उसका वह विशेष खयाल रखती है.

पर, हम सब भी तो उसी दादी के समान हैं. हम सब भी तो सातवीं न सही, छह थैलियों को भरी-पूरी रखने में लगे रहते हैं. प्रत्येक थैली एक-दूसरी थैली के अवरोध का काम करती है! सातवीं थैली

की बारी तो मुश्किल से आ पाती है. हम उन थैलियों का पेट भरने, उनका संतुलन बनाये रखने के लिए, रोजमर्रा जुटे रहते हैं. उन थैलियों में हम भरते हैं, अपना वह काम- अपना वह श्रम- जो हम करते हैं. उन थैलियों में 'धन' नाम की कोई चीज़ नहीं है, उनमें तो है सुख-साधन, आमोद-प्रमोद, बंधु-बांधवों का स्नेह, मौज-शौक हमारे सपने!

और, इन सात थैलियों की कहानी में एक अनोखापन है, धन में यह अनोखापन सदा रहता है. कोई बुढ़िया अपनी पांच नम्बर की थैली में अधिक एकत्र करती है, तो कोई तीन नम्बर में! किसी को सुख मिलता है, उम्दा-से-उम्दा पहनने-ओढ़ने में, किसी को पकवान खाने में, तो किसी के मन में जोड़ी घोड़ी की गाड़ी में बैठकर अपनी शान दिखाने में सुख की पराकाष्ठा है! और, इस प्रकार की विभिन्न आकांक्षाओं में कोई अनौचित्य भी नहीं; कोई भी आकांक्षा बुरी नहीं, यदि उसकी 'ज़रूरत' वास्तविक है.

इन आकांक्षाओं और आवश्यकताओं के जाल का अनोखापन यही है कि वह बुढ़िया दादी बिचारी ही, इस विषय में भ्रम में नहीं पड़ जाती कि किस थैली में कितना संचे और कितना खर्चे- सातवीं थैली तक किस प्रकार पहुंचे? देशों के 'फाइनेंस मिनिस्टर' भी अपनी गिनती में लड़खड़ाते देखे गये हैं और यह गलती न छोटे से गृहस्थ को और न बड़े-से-बड़े देश को पोसा सकती है! इस धन की लगाम को साधकर उस पर सवारी कस कर, सही रास्ते पर मध्यम गति से आगे तभी बढ़ा जा सकता है, जब कि हम उस मार्ग को पहचानते हों, अपनी आकांक्षाओं, अपनी आवश्यकताओं को सही-सही जानते हों! रास्ता भूले कि गये, गड्ढे में या किसी झाड़-झंखाड़ में!

बुढ़िया दादी भी अपनी आवश्यकताओं को पहचानने के पशो-पेश में रही होगी, पर वह ज़रूर जानती थी कि एक रुपया दो थैलियों में नहीं रखा जा सकता तथा एक रुपया दो बार नहीं खर्चा जा सकता और न थैलियों में आपस में कम-बेश करने से सब थैलियों का जोड़ बढ़ सकता है.

सीखने में सबसे अधिक कठिनाई है इस बात में कि जिस चीज़ की ज़रूरत है, उसे खरीदना होता है, खरीदने के लिए रुपया-पैसा चाहिए, रुपये-पैसे के लिए काम किया हुआ होना चाहिए! सुजनसिंह को जूते की एक जोड़ी चाहिए, उसके लगते हैं बारह रुपये, वह महीने भर में दो सौ घंटे करके तीन सौ रुपये पाता है- तो उसे चाहिए अपने काम के आठ घंटे उस जूते की जोड़ी के लिए!

अपने कमाऊ पूत की कमायी- उसके श्रम के घंटों को वृद्धा मां अपनी समझबूझ के अनुसार छहों थैलियों में संजोती, उनमें से खर्चती रहती है और सातवीं थैली तक भी पहुंचती ही है. कपड़े-लत्ते की थैली में कभी कमी पड़ गयी, तो पंसारी की थैली में से कुछ निकाल कर उसमें रख लेती है. किंतु, सयानी तो वही है जो ऐसा करते समय सतर्क रहती है. कपड़े की थैली में

कमी है, पर कोट तो चाहिए, मगर किस कीमत का! कोट पंद्रह रुपये में भी खरीदा जा सकता है और तीस में भी. एक के लिए सुजनसिंह को अपनी मेहनत के दस घंटे खर्च करने होंगे तो दूसरे के लिए बीस! यह हिसाब-किताब सबके लिए समझना लाज़मी है.

सुजनसिंह समझदार है या नहीं? अपनी आवश्यकताओं को वह अपनी कमाई से माप सकता है, तब तो वह समझदार है अन्यथा नहीं. एक सुजनसिंह को ही क्यों हम सभी को वास्तविकता के स्तर पर रहना चाहिए. और, यह ऐसी कोई बड़ी कठिन बात भी नहीं है. हमारे पांव धरती पर रखने में हर महीने की तनख्वाह का लिफाफा काफ़ी सहायक होता है. किंतु, उस लिफाफे में जो कुछ है, उसे अलग-अलग थैलियों में समझदारी से बांटने में हम भूल कर सकते हैं- करते हैं- दुःख पाते हैं! गलती के डर के मारे ऐसा भी देखा जाता है कि थैली का मुंह कसकर बंद रखा जाता है. धन को गंवाना मूर्खता है; किंतु उसके व्यय से घबड़ाना भी कम मूर्खता नहीं है.

बुद्धिमत्ता है, अपनी आमदनी को सात थैलियों में से छः में सही-सही बांटना और सातवीं में भी एकत्र करना, जिससे कि उसमें संचित धन वक्त-ज़रूरत पर काम आवे, उससे वैसी सब चीज़ें खरीदी जा सकें, जिनकी ज़रूरत अचानक आ पड़ती है और जिनका दाम भी चुकाना पड़ता है भरपूर!

इस बुद्धिमत्ता की एक परीक्षा है - वर्तमान की एक इच्छा की पूर्ति क्या आप भविष्य की एक ज़रूरत के लिए छोड़ सकते हैं - मितव्ययता के लिए? दूसरा व्यावहारिक कारण होना ही नहीं चाहिए; आगे जाकर जिस बहुत ही ज़रूरी ज़रूरत का सामना करना होगा, उसके लिए अब की कम ज़रूरी चीज़ का त्याग, ऐसा समझ कर के ही पैसा बचाना सही बात है.

मितव्ययता कोई स्वयं एक गुण नहीं है, यह एक अवगुण भी हो सकती है. समझबूझकर भविष्य के हित में मितव्ययी होना बुद्धिमत्ता का विशुद्ध रूप है. किंतु, भय के वशीभूत होकर मुट्ठी कसे रखना बुद्धिहीनता का प्रमाण है. संचय का अभिप्राय ही क्या है, यदि उसका व्यय आज नहीं तो कल भी न हो? भविष्य के किसी काल्पनिक भय से आशंकित होकर आज किसी इच्छापूर्ति के संतोष को छोड़ बैठना तो निरी मूर्खता ही है! त्याग केवल त्याग के लिए- इच्छाओं की पूर्ति का त्याग और उसके द्वारा धन का संचय करके मनुष्य ऊंचा नहीं उठता. ऐसे 'त्याग' से आत्मोन्नति होती है, यह समझना तो और भी भूल है.

धन बचाना, संचय करना, धन बचाना ही है और यदि उसे केवल संचय के लिए ही बचाना है, तो उससे आपकी आत्मा, आपका मन संकुचित होगा- छोटा होगा. हम लोग हैं वृद्धि के लिए न कि इसके लिए! हम हैं अपनी इच्छाओं-आकांक्षाओं को पूर्ण करने के लिए, हम हैं अपने सपने सच करने के लिए, हम हैं अपने जीवन

को उन्नत और उदार बनाने के लिए. अपने-आपको 'ना' कह कर हम जीवन को 'ना' नहीं करना चाहते. धन कोई वस्तु नहीं है. वह तो है उपयोग-उपभोग का साधन और यह तभी सफल है, जब कि वह हमें सुखी बना सके.

आने वाला कल, जब गया हुआ कल हो जाएगा और पीछे की ओर आप दृष्टि पसारेंगे, तो देखेंगे कि ऐसे कामों में आप धन को बिखेर चुके हैं जिनके लिए आपकी बुद्धि ने आपको टोका था और अब जिन कामों के लिए सख्त ज़रूरत है, उनके लिए सातवीं थैली में कुछ नहीं है. अथवा आप देखेंगे कि जब इच्छाओं को पूरी करके सुख-लाभ कर सकते थे, तब कुछ किया नहीं और अब इस सातवीं थैली का पेट फूला हुआ निरर्थक है. जीवनकाल में सातों थैलियों में सोच-समझकर संचय करने और उनमें से व्यय करना सबसे बड़ी समझदारी है- उसमें भूल करना सबसे बड़ी भूल है. जीवन-पथ पर, सही दिशा में, अग्रसर होना हो, तो इस विषय में सतर्क रहिए- जैसे बूढ़ी दादी रहा करती थी. छः थैलियों के बाद की सातवीं थैली पर बराबर अपनी नज़र जमाये रखिए.

(नवनीत, अक्टूबर 1952)

❑

दो ग़ज़लें

● भवेश दिलशाद

(1)

सुकून-अम्न न तब था यहां न ही अब है
निज़ाम पानी गलत हाथ में है बेढब है.

अजीब दौर है ये लोग भी अजीब ही हैं
मैं मानता तो नहीं, सोचता हूं बस, रब है.

मैं खुश नहीं हूं मुझे दिखती हैं कई कमियां
कहां मैं बोलता था यार तू है तो सब है.

मैं कुछ भी कुछ भी नहीं हूं ये मान लूं कैसे
मैं हूं तो कुछ तो वजह है कोई तो मतलब है.

इस आसमां के उधर क्या है कब खुला ये राज़
खुला न मैं भी, सिरा मेरा भी तो गायब है.

(2)

लमहें कुछ अपनी हथेली से फिसल जाते हैं
और कई दिल इसी फिसलन से बहल जाते हैं.

कौन सी आग में जलते हैं बतायें क्या हम
जबकि जलना है, कोई आग हो जल जाते हैं.

झील नीली है गगन नीला ये आंखें नीली
ऐसे शीशों में तमाम आब सम्भल जाते हैं.

रेत पर बैठ के लहरों को गिना मत कीजै
हौसले टूटते हैं रेत में ढल जाते हैं.

चांद मुल्ज़िम है तो शायर है वकीले-सफ़ाई
वो दलीलें हैं कि सब दाग़ निकल जाते हैं.

कलाकार

• हकु शाह

हमारे समय के वरिष्ठ चित्रकार एवं लोकविद्याविद हकु शाह की पहचान एक गांधीवादी चिंतक कलाकार की है. प्रस्तुत है उनकी चर्चित पुस्तक 'मानुष' का एक अंश जो उनकी कथा, उनके सोच और उनके व्यक्तित्व से परिचित कराता है.

कलकत्ता और फिर बाद में मुम्बई में क्रमशः खड़े-खड़े ईज़ल पर काम करने की आदत मुझसे छूट गयी. तब से मैं नीचे ज़मीन पर बैठ कर ही काम करता हूं. कभी कभी स्टूल या सीढ़ी भी लेता हूं, जब इनकी ज़रूरत महसूस होती है. कुदरती रोशनी में काम करना मुझे बहुत पसंद है. चित्र को लेकर ऐसा कभी नहीं होता कि करूं-नहीं करूं, ऐसा कभी नहीं होता. मेरा हाथ कभी भी यह नहीं बोलता कि अब मत करो... करो... करो ही होता है हमेशा. सर्जन का आनंद बहते पानी जैसा है मानो झरना हो!

कोई भी सृजनात्मक कृत्य कभी भी नहीं मरता, वह हमेशा नवोन्मेषित व पल्लवित होता रहता है. कभी पुराना नहीं होता. सम्भवतः यही एक इकलौती चीज़ है जो कभी खत्म नहीं होती. भले ईसापूर्व की कोई कृति हो या उससे पहले की, वह आज भी प्रेरणा का स्रोत है.

कलाकार धन है- समाज व संसार का.

यह कलाकार ही है जो हमें समझाता-सिखाता है कि इंद्रियों को धारदार बनाये रखना चाहिए. यूं पहले से मेरे जीवन में यह अधूरापन रहा है कि मैं एक मोची जैसे कील नहीं डाल सकता. एक स्कूटरवाला जैसे स्कूटर चलाता है, वैसे स्कूटर नहीं चला सकता. एक सुतार रंदा लगाता है और सफाई करता है वैसी सफाई नहीं कर सकता. जब भी कुछ देखता हूं, जैसे चांद या किसी की बनायी हुई बांसुरी या कुछ और, तो लगता है कि मैंने देखा नहीं है. फूल या कुछ भी इतने साल में मैंने देखा नहीं है या कुछ किया नहीं है. मैं कपड़े पहनता हूं, नहाता-धोता हूं, बाहर निकलता हूं- ठीक हूं कि नहीं, यह बार-बार पता नहीं लगता. याद

नहीं पड़ता कि औरों की तरह अपना मुंह आइने में देर तक देखता रहा होऊं. कुछ भी कितना करना चाहिए कितना नहीं, यह भी पता नहीं लगता. पर मन में अनवरत बात चलती रहती है. इसीलिए जब कोई रूपचित्र की बात करता है तो सोचता रहता हूं, जब मैं घर से बाहर निकलूं, मेरा कुर्ता-पाजामा ठीक होना चाहिए, बाल ठीक से बनाये होने चाहिए, कुर्ते पर बटन सही लगे हैं या नहीं- यह पता नहीं लगता कि मैं ठीक हूं कि नहीं! हालांकि यह बात मुझे कुछ बहुत ठीक नहीं जान पड़ती कि ठीक हूं तो सब ठीक है. सामने भी कोई है इसे हिसाब में ले के स्वयं को साफ़-सुथरा व चोखा रखना भी मेरा धर्म होना चाहिए. शरीर की अपनी गंध/बास होती है तो कपड़े भी सामने वाले के लिए ठीक ही होने चाहिए.

मुझे होता है कि मैं थोड़ा पांव ज़्यादा खोल दूं ताकि हवा लगे- लोग कहते हैं कि सामने लोग हैं. तो क्या वे लोग पसीने के ऊपर इत्र छिड़क कर आयेंगे- तो ठीक है?

कभी-कभी सोचता हूं कि जब भी मैं निराश हूं तब पौधे का नया निकला हुआ पत्ता/पान देख लूं या घड़ा देख लूं. प्रकृति किसी भी जीव की सबसे बड़ी व मूल्यवान मित्र है. प्रकृति कलाकार की गोद है. हालांकि कुछ चित्रकारों सहित ऐसी कलाधाराएं भी रही हैं जो प्रकृति के साथ कलाकार के इस तरह के सम्बंध को नकारती हैं. जिस तरह एक कलाकार परम्परा व जीन से संलग्न है ठीक वैसे ही वह प्रकृति से अलग नहीं हो सकता. यूं दिखने में भले कुछ भी हो, चित्र कैसा भी दिखे लेकिन उसमें प्रकृति का अंश आता ही है. प्रकृति और मनुष्य की गति समझना भी एक पाठ है, ज्ञान है.

कभी पत्ती या फूल या किसी चीज़ को जन्म लेते हुए देखना चाहिए. चीज़ें अव्यक्त से व्यक्त में आती हैं और व्यक्त से अव्यक्त में चली जाती हैं: व्यक्त-अव्यक्त के इस संधिस्थल, इस घड़ी का गवाह मनुष्य को होना चाहिए. दुनिया में बहुतों ने यह अनुभव किया होगा और मुझे हमेशा यह लगता रहा है कि मैं क्यों नहीं कर सका. इतनी बड़ी बात हर पल घट रही है और कुछ भी पता नहीं है, तकलीफ़ होती है. यह हर पल को जीने की कोशिश करने जैसा है : जीवन अनमोल है. जीवन धर्म का संदेश है : हमें आनंद लेना व आनंद बांटना चाहिए. अच्छा काम आज व अभी हो जाना चाहिए, बाद के लिए नहीं रखना चाहिए.

जीवन में मैंने जो बोला है वह किया है तो इसलिए कि मुझे लगता है कि हरेक मनुष्य को अपनी लकीर खींचनी चाहिए- कहां तक जाना, कहां तक नहीं जाना. मुझे यह बहुत ज़रूरी लगता है. अपना आपा, अपना पोत निर्मित करना है तो एक लकीर खींचना बहुत ज़रूरी है. हालांकि हम जानते हैं कि बहुत लोग इससे असहमत होंगे क्योंकि लकीर खींची कि शराब नहीं पीऊंगा और एक दिन पी कर अच्छा लगा तो लकीर चली गयी मगर उन क्षणों में लगता

है बहुत मज़ा आया हालांकि यह एक बहुत बड़ी चूक है.

मेरे हिसाब से आत्मानुशासन से ही एक आरोग्यवान जीवन बनता है. लकीर को तोड़ कर चलने में जो मज़ा मिलता दिखता है वह असल में मज़ा नहीं, दुख है. हालांकि गिराने वाले आपको यह बोलने व सुझाने से बाज नहीं आयेंगे कि लकीर को तोड़ दो, यह कुछ काम की नहीं है. निर्बल स्वयं व्यक्ति हो जाता है, अन्यों का इसमें कोई कसूर नहीं. बहुत सम्भव है कि सृजन के लिए उद्दीपन की ज़रूरत महसूस हो लेकिन वह शायद हवा के एक ठंडे झोंके से भी मिल सकती है. पशु, पक्षी, पौधे, किसी को भी भूख की चिंता नहीं होती, मनुष्य ही को होती है, अकेले. मैं बार-बार यह कहता आया हूं कि हममें से हरेक में सौंदर्य की एक नैसर्गिक वृत्ति है और मुझे नहीं लगता कि गरीबी और सौंदर्य का कोई सम्बंध है.

पिछले दिनों में खोजने पर लगता है कि हर दस साल में जीवन जीने का चित्त-सांचा बदल जाता है. हरेक फ्रेम हर दस सालों में भिन्न है. यह बताता-जताता है कि 'मनुष्य' होना-रहना ही एक अमूल्य चीज़ है, लेकिन समय क्षणभंगुर है. हां, स्मृतियां जीवन का अपरिहार्य हिस्सा हैं- हमें उन्हें पूरा मान देना चाहिए- भूल से भी उन्हें भगाने की कोशिश विफल ही होगी. मुझे आज भी ऐसे सपने आते हैं कि मैं मिट्टी के तेल की लाइन में खड़ा हूं या घर में पानी नहीं है. एक बार जब पानी था तो वह भी फेंक दिया था क्योंकि लोगों ने कहा कि इसमें ज़हर है. एक समय वह भी था जब पानी तक नहीं था घर में. कई दफ़ा यादें इतनी तीव्र हो जाती हैं कि हम उन्हें भूल जाने की कोशिश करते हैं लेकिन वे कभी जातीं नहीं, वे वहां बनी रहती हैं. आप उन्हें कितने ही परतदार पत्थरों से दबा लें लेकिन वे उनमें से भी उठ कर ऊपर आ जाती हैं. सुख-दुख की याद सीमित नहीं रहती. यह जो लगता है कि आज कुछ समय अच्छा बीता या कुछ ख़राब; यह हमारी पूरी ज़िंदगी का होता है.

फिर आंसू तो जीवन की एक भेंट है. यह बहुत गहन है. दुख के आंसू, सुख के आंसू. आंसू आत्मा के बहुत करीब हैं, इन्हें विश्लेषित करना बहुत कठिन है, लगभग असम्भव. दुख होगा ही जीवन में लेकिन आनंद भी वहीं बाजू में खड़ा है, उसे हम देखें-जीयें. वे पल जो दुखी करते हैं, गुस्सा लाते हैं, उन्हें जाने देना चाहिए- थोड़ा घूम-

टहल कर आ जाना चाहिए; क्योंकि सुख के पल राह देख रहे हैं.

हमें कभी खालीपन नहीं लगना चाहिए, अकेला लगे वह ठीक है. कर्म ऐसा करें कि समय लगे मानो कम पड़ गया हो. अंतिम सांस तक कर्मलीन रहना चाहिए. चलते रहें, करते रहें; चलते रहें, करते रहें- इसमें कोई अन्य मापदंड आड़े नहीं आने देना चाहिए- भले एक रुपया हो कि एक करोड़, दोनों सरीखे ही तो हैं. क्या हम यह नहीं जानते कि यह 'मैं' अंततः मिट्टी में मिल जाता है- फिर यह पूरी ज़िंदगी 'मैं, मैं' क्यों करना?

समय खुंट (कम हो) जाता है, वही जीवन है. जीवन की अपनी परिभाषा में मुझे लगता है कि जीने के दरमियान समय कम पड़ना ही चाहिए; हमेशा यह रहना चाहिए कि अभी कुछ करना बाकी रह गया है लेकिन हरेक पल रसमय होना चाहिए.

एक व्यक्ति अपनी जीवन-ऊर्जा का तीस प्रतिशत से ज़्यादा उपयोग शायद ही करता है- अधिकतर वह अपनी ऊर्जा का अपव्यय ही करता है. यह जानना बहुत ज़रूरी है कि हम अपनी शक्ति का उपयोग किस तरह से करें. अपने चारों ओर जब नज़र डालता हूं तो पाता हूं कि ज़्यादातर लोग खाने-पीने रहने के अंदर ही खेलते हैं. स्पष्ट तो कबीर जैसे सिद्ध पुरुष ही होंगे जो जीवन को समझ गये; वैसे लोग बहुत ही कम होंगे, बहुत ही कम. जीवन में हम समय बहुत गंवाते हैं- किसके हिसाब से वह पता नहीं है. अब मैं [illegible] साल से ऊपर का हूं मगर लगता है मानो पांच साल का ही हूं. बाकी सारे साल कहां गये सब? अभी मुझे बच्चों की भांति गोल घूमना है, दौड़ना है. किसने यह छीन लिया?

जितनी तह की चीज़ों में एक वक्त में मैं रहता हूं उन्हें कभी एकदम से छोड़ कर कहीं चल दूंगा- पता नहीं किधर.

शरीर के साथ का नाता कितना होगा इसका मुझे इल्म नहीं था. धूप-छांव में देखते-जीते अनुभव करते जीवन चलता चला. सांसें अविरत मेरी बन कर मेरे साथ रहीं. मैं उसे लेकर सुख-वैभव की तलाश में दर-दर घूमा-भटका.

धीरे-धीरे जब मेरे शरीर के अपने पुर्जे हर घड़ी बरत लिये जाने के बाद दुख देने लगे तब मालूम पड़ा कि शरीर की यह कीमत है. जब पहला दांत गया, ऐसा लगा मानो मेरा आपा ही गया- उसे जब मिट्टी में दबाया तो वह मेरा ही एक टुकड़ा था. शरीर चलता है पर हम उस पर उतना ध्यान नहीं देते और धीरे-धीरे एक-एक पुर्जा मिट्टी बन जाता है.

अब मेरी कथा मेरे शरीर ने बहुत सुनीः यह कभी जताता भी है लेकिन एक दिन यह अपने आप चुप हो जाएगा.

और मेरा अपना आपा मुझसे कोई छीन नहीं सकता.

अनुवाद- पीयूष दईया

❑

बिहार और हरियाणा का राज्यवृक्ष 'पीपल'

• डॉ. परशुराम शुक्ल

दक्षिण एशिया के महत्त्वपूर्ण वृक्ष 'पीपल' का वैज्ञानिक नाम 'फाइकस रिलिजिओसा' है. इसे अंग्रेज़ी में 'पीपल', 'सेक्रेड फिग', 'पॉपुलर लीव्ड फिग टी', नेपाली में 'बंगलसिमा', तिब्बती में 'लालचड', अरबी में 'राज़तुल मुर्त्तअश', सिंघली में 'बो' और फारसी में 'दरख्तेलर्जा' कहते हैं. जापानी में 'पीपल' को 'बोदाई ज्यु' कहते हैं. बोदाई का अर्थ होता है- बोधि और ज्यु का अर्थ होता है- वृक्ष. अर्थात बोधि वृक्ष. जापान की जलवायु ऐसी है कि वहां 'पीपल' का वृक्ष नहीं रोपा जा सकता. यही कारण है कि भारत आने वाले जापानी पर्यटक अपने साथ 'पीपल' के पत्ते पवित्र यादगार के रूप में ले जाते हैं. ये लोग अपने घरों के भीतर स्थापित मंदिरों को 'पीपल' के पत्तों की माला से सजाते हैं. जापान में 'पीपल' के फलों की माला भी बनायी जाती है. इस माला में 108 फल होते हैं.

तिब्बत के लोग 'पीपल' के सामने अपनी टोपी उतार कर तथा शोलो-शोलो का उच्चारण कर इस वृक्ष का सम्मान करते हैं. ये लोग 'पीपल' की खुली जड़ों पर सफेद पत्थर रखते हैं तथा इन्हें लाल रंग से रंग देते हैं. तिब्बत के लोगों का विश्वास है कि 'पीपल' का वृक्ष काटने से कोढ़ हो जाता है.

भारत के अलग-अलग भागों में भी इसे अलग-अलग नामों से जाना जाता है.

'पीपल' को मराठी में 'पिंपल', गुजराती में 'पीपलो', बाङ्ला में 'अशोथगाछ', तमिल, तेलुगु और मलयालम में 'अश्वत्थम' और कन्नड में 'अश्वत्थ' कहते हैं. वनस्पति निघुंटुओं में इसके 37 नामों का उल्लेख देखने को मिलता है- 'अच्युतावास', 'अश्वत्थ', 'केशवावास', 'क्षीरद्रुम', 'क्षीर पादप', 'क्षीरवृक्ष', 'गजभक्षक', 'गजाशन', 'गुह्यपुत्र', 'गुह्यपुष्प', 'चंद्रकर', 'चलदल', 'चलपत्र', 'चैत्य', 'चैत्यद्रुम', 'धर्मवृक्ष', 'पवित्रक', 'पिप्पल', 'बोधि', 'बोधिद्रु', 'बोधिपादप बोधिवृक्ष', 'बोधिसत्व', 'मंगल्य', याज्ञिक, लक्ष्मीवान, विप्र, शुचि, 'शुर्चिद्रुम', 'शुभद', 'श्यामल', 'श्यामलच्छद', 'श्रीमान्', 'सत्य', 'सेव्य', 'स्वादुबीजक' और 'हरिवास'. ये सभी नाम 'पीपल' से सम्बंधित धार्मिक किंवदंतियों अथवा इसके गुणों पर आधारित हैं. 'पीपल' के नीचे वासुदेव का देहांत हुआ था अतः इसे वासुदेव भी कहते हैं. साहित्य में 'पीपल' का सर्वाधिक प्रचलित नाम 'अश्वत्थ' है. तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार- एक बार देवताओं से अलग होकर अग्निदेव ने अश्व का रूप धारण किया और इस वृक्ष में रहे. तभी से इसे अश्वत्थ कहा जाने लगा.

सिद्धार्थ को अरूबेला (बोधगया) नामक स्थान पर तत्रस्थ निरंजना नदी के किनारे एक 'पीपल' के नीचे ही ज्ञान प्राप्त हुआ था. अतः बौद्ध धर्म के अनुयायियों के लिए इसका बहुत महत्त्व है. सम्राट अशोक ने सड़कों के किनारे एवं अन्य स्थानों पर बहुत बड़ी संख्या में 'पीपल' के वृक्ष लगवाये थे. उन्होंने श्रीलंका के 'राजा तिष्य' के आग्रह पर अपने बेटे महेंद्र और बेटी संघमित्रा को 'पीपल' रोपने हेतु श्रीलंका भेजा था. इन दोनों के द्वारा 288 ईसा पूर्व में 'अनुराधापुर' (श्रीलंका) में रोपा हुआ 'पीपल' अभी भी अच्छी स्थिति में है. यहां श्रीलंका वासी तथा अन्य देशों के लोग बहुत बड़ी संख्या में आते हैं और इसकी पूजा करते हैं.

हिंदुओं में 'पीपल' का विशेष धार्मिक महत्त्व है. भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है कि- ''मैं वृक्षों में अश्वत्थ ('पीपल') हूं. ऐतेरेय ब्राह्मण में 'पीपल' को सभी वृक्षों का राजा बताया गया है. पद्मपुराण में भी इसे 'वृक्षराज' कहा गया है. 'पीपल' के प्रत्येक भाग में देवताओं का वास होता है. इसके नीचे गंधर्व और अप्सराओं का वास माना जाता है.

'पीपल' के जन्म के सम्बंध में धर्मग्रंथों में एक कथा प्रचलित है- कहते हैं कि एक बार भगवान शिव और पार्वती रतिक्रीड़ा में लीन थे. इसी समय अग्निदेव ने व्यवधान उत्पन्न किया. इससे क्रोधित होकर पार्वती ने सभी देवताओं को वृक्ष हो जाने का शाप दे दिया. इसी शाप के कारण ब्रह्मा 'पीपल' और विष्णु बरगद बन गये. आदिदेवों से सम्बंधित होने के कारण 'पीपल' का धार्मिक महत्त्व बहुत अधिक है. अनेक स्थानों पर 'पीपल' पर दूध चढ़ाने का

प्रचलन है. उत्तर भारत और मध्य भारत में अनेक स्थानों पर स्त्रियां अपने सुहाग और परिवार की खुशहाली के लिए सोमवती अमावस्या के दिन 'पीपल' के 108 फेरे लगाती हैं. कर्नाटक में 'पीपल' के नीचे नागदेवता का स्थान माना जाता है. यहां 'पीपल' के नीचे नागों की प्रतिमाएं स्थापित की जाती हैं. पद्मपुराण के अनुसार 'पीपल' वृक्ष लगाने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है.

सिंधु घाटी की सभ्यता के प्राप्त अवशेषों का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि इस काल में 'पीपल' का बहुत महत्त्व था. इस काल में 'पीपल' पर विराजमान होने वाले देवता का सर्वोच्च स्थान था. सिंधु घाटी की खुदाई से प्राप्त मुद्राओं, बर्तनों आदि में 'पीपल' के पत्तों की आकृतियां पायी गयी हैं. ये आकृतियां उस काल में 'पीपल' के महत्त्व को स्पष्ट करती हैं.

'पीपल' का वृक्ष दक्षिण एशिया के अनेक भागों में पाया जाता है. भारत और म्यामार में यह सभी स्थानों पर मिलता है. इनके साथ ही यह बहुत से अन्य शुष्क भागों में भी देखा जा सकता है. 'पीपल' का वृक्ष बरगद के समान विशाल और छायादार होता है, किंतु यह बरगद के समान घना नहीं होता. अतः इसके नीचे सूर्य का प्रकाश पहुंचता रहता है.

'पीपल' की संरचना अन्य वृक्षों से पूरी तरह भिन्न होती है. अतः इसे सरलता से पहचाना जा सकता है. इसकी ऊंचाई 24 मीटर से लेकर 28 मीटर तक हो सकती है. 'पीपल' के वृक्ष दो प्रकार से लगते हैं- स्वतः और सप्रयास. 'पीपल' के बीज इसके फल के भीतर रहते हैं एवं यह पक्षियों का प्रिय भोजन है. कुछ अन्य जीव भी 'पीपल' के फल खाते हैं. इसके बीजों पर पाचक रसों का प्रभाव नहीं पड़ता अतः ये पक्षियों एवं अन्य जीवों के मल के साथ शरीर के बाहर आ जाते हैं और स्वतः पल्लवित हो जाते हैं. मकानों और कुएं की दीवारों पर एवं इसी तरह के अन्य स्थानों पर उगने वाले 'पीपल' इसी प्रकार के होते हैं.

'पीपल' के वृक्ष सप्रयास भी लगाये जाते हैं. इसके लिए 'पीपल' के पके हुए फलों को लेकर उनमें सूखी रेत मिलाते हैं और हथेली से मसलते हैं. इससे 'पीपल' के फल फट जाते हैं और बीज बाहर आ जाते हैं. अब इन बीजों को गमलों अथवा रोपणी में बो देते हैं. धर्मग्रंथों में 'पीपल' वृक्षारोपण को एक महत्त्वपूर्ण एवं श्रेष्ठ धार्मिक कार्य माना गया है.

'पीपल' का वृक्ष बरगद के समान लम्बी आयु वाला होता है. इसकी आयु बरगद से कुछ कम होती है. इसके प्रमुख भागों में तना, पत्ते, जटा, जड़, दूध आदि आते हैं. 'पीपल' का तना इसका पहला प्रमुख भाग है. नये और छोटे वृक्षों का तना सीधा, समतल, गोल और भीतर से ठोस होता है. 'पीपल' के पुराने वृक्षों का तना फूला हुआ, ऊबड़-खाबड़ और खोखला होता है.

इसमें अनेक स्थानों पर कोटर बन जाते हैं. 'पीपल' के जन्म के बाद 10 से 15 वर्षों तक इसका धीमी गति से विकास होता है. इसके बाद इसके विकास में तेज़ी आती है और यह तीव्र गति से बढ़ता और फैलता है.

'पीपल' की लकड़ी मटमैलापन लिये हुए पीली अथवा सफेदी लिये हुए भूरे रंग की होती है. इस पर रंदा चला कर इसे साफ़, चिकना नहीं किया जा सकता. यही कारण है कि इसका फर्नीचर अथवा खिड़की-दरवाज़े आदि नहीं बनाये जाते. गांव के लोग इससे तखत, कड़ियां, दरवाज़े की चौखट, कठौते, बैलगाड़ी के कुछ भाग तथा इसी प्रकार की अन्य वस्तुएं बना लेते हैं. कहीं-कहीं पर इससे पैकिंग के बक्से और दियासलाई की डिबिया भी तैयार की जाती हैं. 'पीपल' की लकड़ी टिकाऊ नहीं होती, किंतु पानी के भीतर यह लम्बे समय तक सुरक्षित रहती है. अतः कुएं के भीतर नींव चक्र बनाने में इसका बहुत अधिक उपयोग किया जाता है. 'पीपल' की लकड़ी का धार्मिक महत्त्व भी है. स्मृतियों के अनुसार यह हवन की सर्वोत्तम समिधा है. अतः विभिन्न प्रकार के यज्ञों में इसका उपयोग किया जाता है. इसका उपयोग घरों में जलाने के लिए कभी नहीं किया जाता.

'पीपल' की लकड़ी के औषधीय महत्त्व भी है. 'पीपल' की लकड़ी के बने गिलास में पानी पीने से मस्तिष्क में तरावट रहती है, वीर्य पुष्ट होता है और चर्म रोग नष्ट होते हैं. इसके लिए रात में सोते समय 'पीपल' के गिलास में ताजा और साफ़ पानी भर कर रखना चाहिए और अगले दिन प्रातः दैनिक कार्यों से निवृत्त होने के बाद इसका सेवन करना चाहिए.
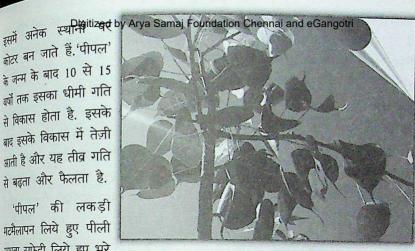
'पीपल' का तना ऊपर उठ कर अनेक शाखाओं और उपशाखाओं में चारों तरफ़ फैल जाता है. इसकी उपशाखाओं से भी अनेक शाखाएं निकलती हैं. इनके सिरे पतले और कोमल होते हैं. इन्हीं पर पत्तों के पुंज लगते हैं, जो नीचे की ओर झुके रहते हैं. 'पीपल' की पत्तियों के डंठल लम्बे और हल्के होते हैं. अतः हल्की-सी भी हवा चलने पर डोलने लगते हैं. 'पीपल' के पत्तों के इसी गुण के आधार पर गोस्वामी तुलसी दास ने लिखा है- ''पीपर पात सरस मन डोला''

इसका पत्ता हृदय के आकार का होता है तथा इसके डंठल का विपरीत दिशा का सिरे वाला भाग लम्बा, पतला, नुकीला और फीते जैसा होता है. हरे रंग का इसका पत्ता एक ओर गहरे रंग का चमकीला और चिकना होता है तथा दूसरी ओर हल्के रंग का फीका और उभरी हुई नसों वाला होता है. 'पीपल' की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसके पत्ते एक साथ न झर कर धीरे-धीरे झरते हैं. इसके पत्ते झरने के पूर्व पीले रंग के हो जाते हैं. 'पीपल' के पत्ते गर्मियों के आरम्भ में मार्च के महीने में झरना आरम्भ हो जाते हैं. इनमें सामान्य घास से दो से तीन गुना अधिक प्रोटीन होता है. अतः चारे के रूप में इनका उपयोग किया जाता है. हाथी का तो ये प्रिय भोजन है. 'पीपल' के पत्तों पर 'लाख' के कीड़े पलते हैं. इनका औषधीय महत्त्व भी बहुत अधिक है.

इसका फल उन पतली-पतली शाखाओं पर लगता है, जिनमें पत्ते निकलते हैं. ये पत्तों के डंठलों के पास छोट-छोटे गुच्छों में निकलते है. किंतु डंठल रहित होने के कारण डाल से चिपके हुए दिखायी देते हैं. इसमें गर्मियों के मौसम में फल आते हैं और वर्षा में पकते हैं. 'पीपल' के फूल इसके फल के भीतर ही छिपे होते हैं. इसमें नर फूल एवं मादा फूल एक ही फल के भीतर होते हैं.

धार्मिक महत्त्व होने के साथ ही साथ 'पीपल' का वैज्ञानिक महत्त्व भी है. 762 घन मीटर क्षेत्र वाला 'पीपल' का वृक्ष एक घंटे में 2252 किलोग्राम कार्बनडाई ऑक्साइड शोषित करता है और 1712 किलोग्राम ऑक्सीजन छोड़ता है.

'पीपल' के प्रायः सभी अंगों से औषधियों का निर्माण किया जाता है. किंतु निम्न अंग प्रमुख हैं- पत्ते, छाल, फल, जटा, जड़, दूध और लाख. 'पीपल' के कोमल पत्तों को दूध में उबाल कर पीने से मूत्र सम्बंधी अनेक विकार दूर हो जाते हैं. स्त्रियों के रक्त स्राव में इसके पत्तों से बनायी गयी औषधियों का उपयोग किया जाता है. 'पीपल' की छाल का काढ़ा सूजाक के रोगियों के लिए वरदान है. छाल का चूर्ण विभिन्न प्रकार के घावों, मुंह के रोगों और भगंदर में लाभ पहुंचाता है. यूनानी हकीम भी कमर दर्द एवं इसी प्रकार के अन्य रोगों को दूर करने के लिए 'पीपल' की छाल से औषधियां तैयार करते हैं. कहते हैं 'पीपल' के फल से स्त्रियों का बांझपन दूर हो सकता है. 'पीपल' की जटाओं का उपयोग विभिन्न प्रकार के घावों की औषधियां तैयार करने के लिए किया जाता है. 'पीपल' का दूध रक्तशोधक होता है. इसकी सहायता से विभिन्न प्रकार के घावों और त्वचा सम्बंधी रोगों की औषधियां बनायी जाती है.. 'पीपल' की लाख मानव के लिए अत्यंत उपयोगी है. इसकी सहायता से टिटनेस और टी.बी. जैसे घातक रोगों की औषधियां भी तैयार की जाती हैं. ☐

दृष्टि

नमस्कार देवदारु

• नारायण दत्त

जुलाई 2012 में हमने एक नयी शृंखला प्रारम्भ की थी- राज्य-वृक्ष. पहला लेख 'देवताओं का वृक्ष-देवदार' था, जिसे हिमाचल प्रदेश ने अपना राज्य-वृक्ष घोषित किया है. देवदार के बारे में श्री नारायण दत्त ने कुछ रोचक जानकारी भेजी है.

हिमालय अगर भारत का मुकुट है तो निस्संदेह देवदारु (देवदार) उस मुकुट का एक अनमोल रत्न है. नयी लेखमाला 'भारत के राज्य-वृक्ष' का पहला लेख देवदारु पर हो, यह उचित है.

हिमालय का वर्णन करते हुए कोई संस्कृत-कवि देवदारु को भूल जाए, यह असम्भव है. कालिदास ने अपने दोनों महाकाव्य 'रघुवंश' और 'कुमारसम्भव' में पाठकों को देवदारु से मिलवाया है और अपने खंड काव्य 'मेघदूत' में भी उसका उल्लेख प्रकारांतर से किया है.

'रघुवंश' का प्रसंग जितना नाटकीय है उतना ही अर्थगर्भ भी है. संतान की कामना से राजा दिलीप अपनी रानी सुदक्षिणा के साथ हिमालय के एक मुनि-आश्रम में रहकर महर्षि वशिष्ठ की गाय नंदिनी की सेवा कर रहे हैं. एक सुबह वन में नंदिनी को चराते समय उनका सामना एक देवदारु के निकट खड़े एक सिंह से होता है. सिंह मनुष्यों की बोली में राजा से कहता है :

अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं
पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन ।
यो हेमकुम्भस्तननिःसृतानां
स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः।।

-सामने जो देवदारु है उसे देखते हो? उसे शिवजी ने अपना पुत्र माना है और वह स्कंद की माता पार्वतीजी के स्वर्णकुम्भ सरीखे स्तनों से निकले दूध का रस जानता है. (अर्थात पार्वतीजी ने उसे अपने स्तनों के दूध से पाला-पोसा है.)

कण्डूयमानेन कटं कदाचिन्
वन्यद्विपेनोन्मथिता त्वगस्य ।
अथैनमद्रेस्तनया शुशोच
सेनान्यमालीढ मिवासुरा स्त्रैः।।

- एक बार किसी बनैले हाथी ने खुजली मिटाने के लिए अपना गाल इस देवदारु के तने से रगड़ दिया था और इसकी छाल छिल गयी थी. पर्वतराज की पुत्री पार्वतीजी इस पर ऐसी शोक-विह्वल हो उठी थीं जैसे (उनका सगा बेटा) देवताओं का सेनापति स्कंद असुरों के अस्त्रों से घायल हो गया हो.

(रघुवंश सर्ग 2, श्लोक 36-37)

सिंह राजा दिलीप से यह भी कहता है कि शिवजी ने तब से मुझे इस देवदारु का पहरेदार नियुक्त कर दिया है और आज्ञा दी है कि जो भी पशु इसके पास फटके वह तुम्हारा आहार होगा और इस आधार पर सिंह नंदिनी पर अपना अधिकार जताता है. आगे की कथा जितनी नाटकीय है उतनी ही अर्थगर्भ भी है. किंतु उसे सुनाना मुझे इस पत्र के उद्देश्य से भटका देगा.

देवदारु या देवदार (वनस्पति शास्त्रीय नाम 'सीड्रस देवदारा') की सही और स्पष्ट पहचान कराने के साथ लेखक ने यह बात बड़े महत्त्व की कही है कि देश के मैदानी हिस्सों में कई अलग ही वृक्षों को देवदारु समझ लिया गया है, जब कि देवदारु मैदानी वृक्ष है ही नहीं. इसके उदाहरण भी उन्होंने दिये हैं.

दो उदाहरण मैं भी प्रस्तुत कर रहा हूं-

1. कन्नड के विख्यात उपन्यासकार श्री यशवंत चित्ताल के बृहत् उपन्यास 'पुरुषोत्तम' का नायक एक शाम को मुम्बई महानगर के माटुंगा इलाके के प्रसिद्ध फाइव गार्डन्स उद्यान में एक देवदारु के नीचे जा बैठता है. असल में जिसे श्री चित्ताल ने 'देवदारु' समझा वह पीले फूलों वाला 'कॉपर पॉड ट्री' है, जो शायद अफ्रीकी मूल का वृक्ष है और भारत में खूब उगता है.

2. बाङ्ला साहित्यकार ताराशंकर बंद्योपाध्याय का उपन्यास 'जलशाघर' बहुत लोकप्रिय है और उस पर सत्यजित राय ने उसी नाम की फ़िल्म भी बनायी है. उस उपन्यास में कोलकाता की एक सड़क के किनारे उगे हुए देवदारु वृक्षों का ज़िक्र है. पढ़कर मुझे अचरज हुआ. एक मित्र के माध्यम से पूछताछ की. स्वर्गीय ताराशंकर बंद्योपाध्याय की पोती उन मित्र की परिचित हैं. उन महिला ने निश्चयात्मक ढंग से कहा कि उस सड़क के किनारे के वे वृक्ष देवदारु ही हैं.

अब इस लेख को पढ़कर मुझे तसल्ली

हुई कि यह नकली 'देवदारु' वही वृक्ष है जिसे 'अशोक' समझने की मूर्खता मैं भी तब तक करता रहा, जब तक मैंने आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का अमर ललित-निबंध 'अशोक के फूल' पढ़ा, जिसमें भ्रम का निराकरण किया गया है. इस लहरदार किनारी वाले पत्तों से युक्त वृक्ष को गुजराती में 'आसोपालो' नाम मुझे 'अशोकपल्लव' का घिसा रूप लगता है.

यह गहरे अफसोस की बात है कि वृक्षों के सम्बंध में ऐसी भ्रामक बातें हमारे यहां शब्दकोशों तक में घुस आती हैं. बहुमुखी प्रतिभा के धनी साहित्यकार डॉ. शिवराम कारंत के रचे छोटे कन्नड-कन्नड कोश 'सिरिगन्नड अर्थकोश' में 'कदम्ब' शब्द का एक अर्थ जंगली खजूर का पेड़ (कन्नड नाम 'ईचलु') बताया गया है. कोशकार ने इतिहास-प्रसिद्ध 'कदम्ब' राजवंश का भी वहां ज़िक्र किया है, जिसने लगभग 345 ई. से 610 ई. तक पश्चिमी कर्नाटक पर शासन किया और जिसका संस्थापक मयूरशर्मा माणव गोत्रीय ब्राह्मण था. अभी दो-तीन साल पहले मैंने कन्नड के सर्वाधिक बिक्री वाले दैनिक में छपा एक लेख पढ़ा, जिसमें यह सिद्ध करने का यत्न कियां गया था कि ये कदम्ब वंशीय राजा असल में 'ईडिग' (जंगली खजूर व ताड़ से शराब चुआने वाली एक जाति) थे. लेखक की मुख्य दलील यह थी कि कारंत के कोश में कदम्ब का अर्थ जंगली खजूर का पेड़ बतलाया गया है.
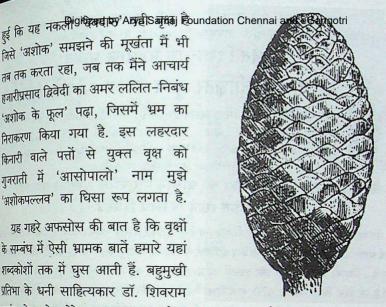
देवदारु का मादा शंकु

कदम्ब राजाओं की जाति से मुझे कुछ लेना-देना नहीं है, लेकिन कल अगर 'ईडिग' समुदाय इतिहास की पाठ्य पुस्तकों में 'संशोधन' की राजनैतिक मांग पेश कर दे तो किसी को अचरज नहीं होना चाहिए. 'जाति' भारतीय समाज का परम सत्य है और विनोबाजी ने 'जाति' की बड़ी सही परिभाषा की है कि 'जो जाती नहीं'.

लेखक के शीर्षक के साथ छपे देवदारु वन के चित्र से इस वृक्ष की आकृति का अंदाज़ा नहीं हो पाता. इस पत्र के साथ समूचे वृक्ष का एक फोटोग्राफ रख रहा हूं, जो एक प्रामाणिक वनस्पति विज्ञानी ने 'विकीपीडिया-फ्री एंसाइक्लोपीडिया' से लेकर भेजा है.

❑

वेदोऽखिलो धर्ममूलम् । वेदो नित्यमधीयताम् ।
वेदाः वयं वः शरणं प्रपन्नाः । वेदा ये नः परं धनम् ॥

अद्वैत विद्याचार्य महाराज साहेब

श्री गोविन्द दीक्षितर पुण्य स्मरण समिति (पंजीकृत)

'श्री गोविंद दीक्षिता घटिका स्थानम' 29-30, ईस्ट अयन स्ट्रीट,४ कुम्बकोणम्, थंजावुर जिला, तमिलनाडु-612001 भारत. टेली नं. (0435) 2425948, 2401789, पाठशालाः 2422866, 2401788, Email: rajavedapatasala@dataone.in, Website: www.rajavedapatasala.org

वेद और शास्त्र निहित धरोहर को प्राचीन पारम्परिक गुरुकुल प्रणाली द्वारा सुरक्षित रखने के लिये निवेदन

राज वेद काव्य पाठशाला, कुम्बकोणम् की स्थापना ई.स. 1542 में तीन नायक राजाओं के प्रधानमंत्री संत अद्वैत **विद्याचार्य महाराजा साहेब भगवान श्री गोविन्द दीक्षितर** ने की। यह थंजावुर स्थित पवित्र कावेरी नदी के दक्षिणी तट पर स्थित है। जिसका उद्देश्य है वेदों और शास्त्रों का प्रचार-प्रसार। यह तमिलनाडु क्या पूरे भारत वर्ष में एकमात्र पाठशाला है, जो बिना किसी रुकावट 470 वर्षों से कार्यरत है. यहां निर्धारित पाठ्यक्रम के तहत तीनों वेद-ऋग्, यजु (शुक्ल और कृष्ण) तथा सामवेद की शिक्षा एक ही संकुत के नीचे 8-10 वर्ष के बाल-विद्यार्थियों को दी जाती है। यहां 170 विद्यार्थियों को छह से दस वर्ष तक प्रशिक्षण दिया जाता है। आवास-निवास, खान-पान, यात्रा व शिक्षा की सुविधा आदि समिति अपनी ओर से मुफ्त में करती है। इन विद्यार्थीओं को पाठशाला के 20 वरिष्ठ अध्यापकों के सान्निध्य में वेद-शास्त्रों की शिक्षा दी जाती है. वैदिक शिक्षा की सफल समाप्ति पर उन्हें वेद व शास्त्रों की उच्चतर शिक्षा के लिए पाठशाला के विद्वान अध्यापकों द्वारा प्रोत्साहित किया जाता है.

पाठशाला की इन सब गतिविधियों पर होने वाले बढ़ते व्यय के निरूपण हेतु कांची के कामकोटि मठ के श्री जयेंद्र सरस्वती स्वामिगल द्वारा दि. 21-6-2004 को नवनिर्मित पाठशाला भवन श्री गोविंद दीक्षितर घटिका स्थानम् (13,500 वर्ग फीट) को वैदिक विद्यार्थियों हेतु समर्पित किया गया।

पाठशाला के बढ़ते हुए खर्च की समस्या कम करने हेतु निम्नलिखित योजनाओं के अंतर्गत अनुदान का स्वागत है, कृपया अपना फ़ोन नं:(STD कोड के साथ) मोबाइल नम्बर / इ-मेल पता व पिन कोड अवश्य लिखें.

योजना का नाम	अनुदान (आंशिक व्यय)	स्थाई अनुदान
वैदिक विद्यार्थी भोज (समाराधना)		
घरेलू भोजन	रु. 700/-	रु. 9000/-
विशेष समाराधना	रु. 2500/-	रु. 30,000/-
चावल और दाल हेतु - (75 किलोग्राम)	रु. 1600/-	रु. 20,000/-
वेद (शिक्षा एवं संक्षण हेतु) प्रति विद्यार्थी	रु. 12,000/- प्रतिवर्ष	रु. 1,50,000/-

अनुदान क्रास चेक, डी.डी. **'ए.वी.एम.एस.जी.डी.पी.एस. समिति'** के पक्ष में 'कुम्बकोणम्' पर देय होना चाहिए। पत्राचार हेतु उपरोक्त पते पर अध्यक्ष एवं कोषाध्यक्ष से सम्पर्क करें।

पंक्ति कभी पूर्णता नहीं देती, घेरा कभी अपूर्ण नहीं होता

● रमेश थानवी

मैं एक महाविद्यालय में हूं. इस महाविद्यालय का आज वार्षिकोत्सव है. मैं मंच पर हूं. सामने नीचे ज़मीन पर छात्राएं 'पंक्ति' में बैठी हैं. 'पंक्ति' आगे-पीछे से और दायें-बायें से भी, एक सिरे से दूसरे सिरे तक, सीधी रेखा में है. महाविद्यालय के संचालक यहां के अनुशासन की तारीफ़ करते हैं.

मैं पंक्तिबद्ध छात्राओं को देख रहा हूं. उनके चेहरों पर कोई किलक-पुलक देखने की कोशिश में लगा हूं. उनकी आंखों में सपनों को तैरते देखने का यत्न कर रहा हूं. इस यत्न में मेरी आशा-अपेक्षा भी जुड़ी हुई है. समारोह जिस उत्साह के साथ एक उत्सव के रूप में आयोजित किया जा रहा है, वह उत्सव और वह उत्साह मेरी आशा-अपेक्षा का सहज आधार बन गया है, मगर चारों तरफ़ टटोलते हुए पाता हूं कि छात्राओं के सारे समूह में खासा ठंडापन है. चेहरों से सुस्मित मुस्कान भी नदारद है. फिर भी मैं उनसे कोई सार्थक संवाद करना चाहता हूं. संवाद सम्भव नहीं दीखता. सिर्फ़ एकालाप होता लगता है. वह भी कहीं हवा में ही नहीं रह जाये और सम्प्रेषित ही न हो; ऐसी आशंका भी साफ़ दिखाई दे रही है.

मैं निरंतर यह महसूस कर रहा हूं कि आयोजकों के उत्साह और प्रबंध कौशल के बावजूद वहां कुछ कमी है, कुछ अधूरापन है. कुछ है जिसे वहां होना चाहिए, मगर वह वहां नहीं है.

तभी मुझे यह अहसास होता है कि यह अधूरापन पूरे समूह पर आरोपित अनुशासन और इस समूह को दी गयी इस

'पंक्तिबद्धता' की देन है. मैं इस अधूरेपन

के उत्स को समझने की कोशिश कर रहा हूं. 'पंक्तिबद्धता' किसी समूह को किस तरह से जड़वत कर सकती है. इस सचाई को पा लेने की कोशिश करता हूं. सचाई यह है कि 'पंक्ति' कभी किसी भी समूह को पूर्णता नहीं देती. वह इधर से भी खुली है और उधर से भी. ओपन एंडेड है. यह खुलापन उसकी खूबी भले हो, मगर उसे पूर्णता से वंचित रखता है.

'पंक्ति' दरअसल एक सीधी रेखा की परिचायक है. वही रेखा उसका आधार है. रेखा का सीधा होना एक ज्यामितिक सचाई है, मगर रेखा का सरल-विरल न होना और नदी की तरह कहीं भी न मुड़ पाना एक दूसरा दुख है. नदी का सौंदर्य और उसकी रचनात्मकता उसके सरल-विरल होने में और इस स्वछंदता में है कि वह लहराती बलखाती कहीं भी मुड़ सके. 'पंक्ति' की पीड़ा यह है कि न तो वह लहरा सकती है और न बलखा सकती है. 'पंक्ति' को सीधा रखने का हमारा आग्रह भी सदा दुराग्रह बना रहता है. हम 'पंक्ति' को तो सीधा रख लेते हैं मगर 'पंक्ति' में खड़ा हर प्राणी उतना सीधा-सादा हो इसे हम सुनिश्चित नहीं कर सकते. करना भी नहीं चाहिए. हमें अमूमन यह खबर ही नहीं होती कि 'पंक्ति' में खड़े छात्र स्वयं एक दूसरे से कितने भिन्न हैं, कितने दूर हैं और कितने आंके-बांके हैं. छात्र अथवा छात्राओं का स्वभावगत बांकपन उनके व्यक्तित्त्व की शोभा है, उनकी खरी निजता है. अनुशासन के दुराग्रह में हम हमारे छात्र समुदाय की यह निजता छीन लेते हैं और कुछ आरोपित होता है वह निरा आडम्बर होता है.

फिलवक्त हम 'पंक्ति' की बात कर रहे हैं. हमें 'पंक्ति' की इस सच्चाई पर गौर करना चाहिए कि इसमें खड़े लोग एक दूसरे के आगे-पीछे और अगल-बगल में तो खड़े रह सकते हैं, मगर कोई किसी को आंख से आंख मिला कर देख नहीं सकता. कोई किसी का चेहरा भी नहीं देख सकता. जबकि इसके विपरीत घेरे में बैठे सभी छात्र-छात्राएं एक दूसरे का चेहरा देख सकते हैं. एक दूसरे की आंख से आंख मिला सकते हैं. मुझे सहसा आदिवासी मेलों की याद आ जाती है, जहां हर उत्सव घेरे में आयोजित होता है. लोग रात-रात भर गोल घेरे में नाचते रहते हैं.

घेरे की बात हम बाद में करेंगे. पहले 'पंक्ति', 'रेखा', 'कतार', 'क्यू' अथवा 'लाइन' पर थोड़ा और विचार करें. देखें कि लाइन अथवा 'पंक्ति' का जन्म किस समाज में हुआ. थोड़ा-सा भी विचार करेंगे तो साफ़ नज़र आयेगा कि लाइन में खड़ा होना अथवा लाइन में चलना फ़ौजी अनुशासन का हिस्सा है. 'पंक्ति' की यह सभ्यता हमें फ़ौज से ही विरासत में मिली है. यही वजह है कि फ़ौज की आक्रामकता 'पंक्ति' का अभिन्न स्वभाव हो गयी है. पुलिस थाने का एक मुहावरा है 'लाइन हाज़िर' करना. इसका मतलब होता है कि सज़ा देने के लिए सामने ला खड़ा करना. जाहिर है कि लाइन बनाना अथवा लाइन

में बने रहना कोई मानवीय गरिमा अथवा गौरव की बात नहीं है. इसके विपरीत घेरे अथवा वृत्त की आंतरिक सम्भावनाएं सर्वथा अलग हैं.

हमें घेरे अथवा वृत्त की सच्चाई पर सोचना चाहिए. इसका दूसरा पर्याय गोला भी है, तीसरा पर्यायवाची शून्य भी है. उससे भी आगे सोचें तो शून्य का असल पर्यायवाची सम्पूर्णता भी है. घेरा बनता ही नहीं जब तक एक सिरे से दूसरा सिरा मिल नहीं जाता. एक ओर से दूसरा छोर जब तक मिल नहीं जाता तब तक घेरा या वृत्त बनता ही नहीं. बहुत सीधी-सी बात है कि रेखा एक ओर को दूसरे छोर से अलग बनाये रखने का नाम है और घेरा ओर छोर को मिलाकर एक दूसरे की शक्ति-सम्पन्नता को अभिव्यक्त कर देने का नाम है. शक्ति-सम्पन्नता से मेरा आशय तेजस्विता एवं आंतरिक ओजस्विता से है. यह कितना सच्चा रूपक है कि ओर-छोर को मिलाये बिना किसी की शक्ति सम्पन्नता व्यक्त ही नहीं होती, उसकी निजी पूर्णता अथवा सम्पूर्णता का ज्यामितिक चित्रण भी नहीं हो सकता.

वर्तमान शिक्षा ने 'पंक्ति' के अपने दुराग्रह को शिक्षा की पूरी प्रक्रिया में रूपायित किया है. वहां पर प्रगति विकास अथवा हर तरह के उत्थान की दिशा भी 'पंक्ति' में ही आबद्ध है. एक खास तरह की 'लीनियर ग्रोथ' को ही सभी सुनिश्चित करना चाहते हैं. वहां सब कुछ एक रेखीय होकर ऊपर अथवा नीचे एक ही दिशा में गतिशील होता है, या तो कोई ऊपर जा सकता है जिसे पास होना कहते हैं और या फिर कोई नीचे जा सकता है, जिसे फेल होना कहते हैं. इस प्रकार चढ़ने और गिरने की धारा में वैसी रचनात्मकता नहीं है जैसी किसी नदी के लहराने में दिखाई देती है. अकेली नदी ही नहीं है जो लहराती-बलखाती है, बल्कि सूर्य का प्रकाश अथवा अग्नि की आंच सदा सर्वतोमुखी होती है. चारों तरफ़ फैलती है अग्नि की आंच और चाहे कितने ही छोटे छेद से कोई प्रकाश आ रहा हो वह पल भर में पूरे आकाश में छा जाता है. ओजस्विता अथवा तेज़ प्रकाश में है. प्रखरता अग्नि में है. ओजस्विता और प्रखरता दोनों ही शिक्षा की मंज़िलें हैं जो आज खो गयी हैं. सिर्फ़ एक 'पंक्ति' के मोह ने हमारी मूल धारा को कितना जकड़ लिया है और कैसे पथ भ्रष्ट कर दिया है! हम सम्पूर्णता को भूल गये हैं, पूर्णता को भूल गये हैं और उस गणित को तो बिलकुल भूल गये हैं जहां पूर्ण में से पूर्ण निकल जाने पर भी पूर्ण ही शेष बचता है.

सोचना हमें यह है कि हमारे शिक्षा समुदाय की सम्पूर्णता अथवा शक्ति-सम्पन्नता क्या है? किसी शैक्षिक समुदाय की आंतरिक एवं स्वभावगत समग्रता क्या है? क्या एक दूजे से अलग-थलग बने रहना कोई शैक्षिक सच्चाई है या कि एक दूजे से मिल कर सबको अपने में समाहित

कर लेने की सामर्थ्य हमारी शैक्षिक सच्चाई है? हम 'बहुत होकर' भी 'एक हो जायें' यह हमारा स्व-धर्म अथवा जन्मजात स्वभाव है. हम एक के एक बने रहें, किसी ठूंठ की तरह खड़े रहें अथवा किसी लट्ठे की तरह पड़े रहें, रहें मगर एक के एक ही. क्या यही हमारी शैक्षिक सच्चाई है? इतने सारे सभी सवाल 'पंक्ति' बद्धता से उपजे हैं. 'पंक्ति' बद्धता आरोपित अनुशासन का नाम है. विचारणीय प्रश्न यह है कि इस आरोपित अनुशासन का शिक्षा में कोई स्थान है या नहीं? 'पंक्ति' तो इस आरोपित अनुशासन की एक अभिव्यक्ति मात्र है. यदि सिर्फ़ 'पंक्ति' ही हमसे हमारी निजता को छीन सकती है तो भला आरोपित अनुशासन का दूरगामी परिणाम छात्रों के दिलो-दिमाग पर कितना होगा और कितना घातक होगा? इसे समझ लेना ज़रूरी है.

तारे कभी 'पंक्ति' में उदय होते नहीं दिखते. फूल कभी 'पंक्ति' में खिलते नहीं दिखते. तितलियां कभी 'पंक्ति' में उड़ती नहीं दिखतीं. चिड़ियां कभी 'पंक्ति' में उड़ती नहीं दीखतीं. केवल वे पक्षी 'पंक्ति' में उड़ते हैं जो बहुत दूर-देश से आते हैं और जिनकी आकाश यात्रा बहुत लम्बी होती है. उनका अपना एक स्वभाव है अथवा उनकी यात्रा की आवश्यकता है कि वे 'पंक्ति' में उड़ें. आवश्यकता हमारी भी है कि हम 'पंक्ति' में खड़े रहकर रेल का अथवा बस का टिकट खरीदें, राशन की दुकान पर 'पंक्ति' में खड़े रहें और डॉक्टर के दरवाज़े पर भी 'पंक्ति' में खड़े रहें. यह सब दरअसल दूसरों के हक को न मारने और अपनी बारी आने पर अपना हक पाने के सामान्य शिष्टाचार हैं. यहां हम अपने लिए भी शिष्ट होते हैं और दूसरों की सुविधा के लिए भी शिष्ट होते हैं. यह हमारे स्वभाव की न्यायप्रियता है जो हमें अराजकता से बचाती है. मगर इसके विपरीत आरोपित अनुशासन के अंतर्गत दी गयी पंक्तिबद्धता चहकते हुए छात्र समुदाय को जड़ता दे जाती है और उनसे उनके सपने, उनकी मुस्कान छीन ले जाती है. बताइए, हम इस पंक्तिबद्धता से कैसे बचें और कैसे अपने उत्सवी समारोहों के उल्लास को बचाये रखें? □

ज्ञान ही वंदनीय है

उन किताबों से प्यार करो जो ज्ञान का स्रोत हों क्योंकि सिर्फ़ ज्ञान ही वंदनीय होता है. ज्ञान ही तुम्हें आत्मिक रूप से मज़बूत, ईमानदार और बुद्धिमान, मनुष्य से सच्चा प्रेम करने लायक, मानवीय श्रम के प्रति आदरभाव सिखाने वाला और मनुष्य के अथक एवं कठोर परिश्रम से बनी भव्य कृतियों को सराहने लायक बना सकता है.

—मैक्सिम गोर्की

दशहरा : संदर्भ देश

● सूर्यभानु गुप्त

(1)

ऐसा माहौल है
गोया
न कभी लौटेंगे!
उम्र भर
कैद से.
छूटेंगी न अब सीताजी;
राम,
लगता है
अयोध्या न कभी लौटेंगे!!

(2)

कुर्सियाने के
नये तौर
निकल आते हैं!
अब तो लगता है,
किसी से न मरेगा रावण;
एक सिर काटिए,
दस और निकल आते हैं!!

(3)

इंतज़ार
और अभी
दोस्तो, करना होगा!
रामलीला, ज़रा कलियुग में,
खिंचेगी लम्बी;
लेकिन,
ये तय है कि
रावण को तो
मरना होगा!!

एक पागल बीमारी का इलाज

• सुधांशु भूषण मिश्र

बहुत कम लोगों को पता होगा कि ज़्यादातर प्रवासी भारतीयों, एन.आर.आई. को बहुत जल्द एक अज़ीबोगरीब बीमारी आ घेरती है. इस रहस्यमय बीमारी का पता बिरलों को ही समय से चल पाता है, वरना ज़्यादातर ता-उम्र भुगतते हैं पर इसे समझ नहीं पाते. आज तक इस बीमारी का न निदान खोजा जा सका है, न इसका नाम ही तय हो सका है. लेकिन इसके लक्षण साफ़ हैं- उमंग, बेचैनी, अकेलापन, उत्साह, व्यग्रता, स्मृतियां- सब साथ-साथ.

विस्तृत जानकारी तो नहीं है पर इतना ज़रूर कहा जा सकता है कि इस बीमारी के शिकार लोग कहें चाहे न कहें, मन की गहराई में 'घर लौटने' की इच्छा रखते हैं. है न अज़ीबोगरीब बीमारी. इसे क्या नाम देंगे आप? फिलहाल हम इसे 'प्रवासी-व्यथा' नाम दे लेते हैं.

इस बीमारी को ठीक से समझने के लिए इसके अतीत में झांक लेना उपयोगी रहेगा. यह प्राय: भारतीय उपमहाद्वीप के सारे देशों, भारत, पाकिस्तान, नेपाल, बांग्लादेश, श्रीलंका के नौजवानों को लगती है. कहीं इसका फैलाव ज़्यादा है तो कहीं कम. अंतर बस संख्या का है, लक्षण एक ही है. इन देशों के उच्च-मध्यमवर्गीय माने गये परिवेश में पले-बढ़े किशोर-किशोरियां ही इसके शिकार ज़्यादा बनते हैं.

हमारे यहां यह बीमारी खासकर मध्यमवर्गीय और उच्च-मध्यवर्गीय परिवेश में पले-बढ़े नौजवानों, नवयुवतियों को ज़्यादा पकड़ती है. इसके लक्षण पहले-पहल पंद्रह या सोलह की उम्र में दिखायी पड़ते हैं जब मन में सात समुंदर पार, विलायत, यूरोप, अमेरिका आदि जाकर किस्मत आज़माने की इच्छा रूप लेना शुरू करती है. किशोर-किशोरियां जब दसवीं या बारहवीं जमात में रहते हैं, तभी किसी दिन उनके मन में किसी एम.आई.टी. कैलटेक या बिजनेस स्कूल अर्थात आई.आई.टी. या आई.आई.एम. में दाखिले की तमन्ना उठती है. घर के बड़े बुज़ुर्ग और नाते-रिश्तेदार उनका उत्साह बढ़ाते हैं.

माता, पिता की आर्थिक सहायता और नाना प्रकार के कोचिंग संस्थानों की मदद से युवक और युवतियां अखिल भारतीय परीक्षाएं पास कर इनमें से किसी कॉलेज में प्रवेश पाने में कामयाब हो जाते हैं. इन विद्यालयों में जैसे-जैसे उनका समय बढ़ता

है, नयी दुनिया में छलांग लगाने की उनकी इच्छा भी प्रबल होती जाती है. पढ़ाई के अंतिम सालों तक दिल्ली, मुंबई, चेन्नई या कोलकाता के अमेरिकी, ब्रिटिश या कनाडाई दूतावासों में उनकी अर्ज़ी पड़ जानी चाहिए- उनका यह संकल्प पक्का हो चलता है.

कागज़ी खानापूरी और हजारों रुपए फीस चुकाने के बाद अधिकांश के भारतीय पासपोर्ट पर उन दूतावासों का कोई अधिकारी बेशकीमती एफ-वन यानी स्टूडेंट वीसा का ठप्पा लगा देता है. वीसा की बाधा-दौड़ पूरी होने पर नौजवानों का सीना गर्व से फूल जाता है और वे शीघ्र ही अपने देश की दुर्दशा का अवसाद मन में दबाये, शिक्षा जगत के स्वर्ग यानी अमेरिका या ब्रिटेन के लिए तैयारी में जुट जाते हैं.

सजल नयनों के साथ रिश्तेदारों और दोस्त-मित्रों से गर्व से विदा लेकर मन में जल्द वापस लौटने की इच्छा के साथ हमारी यह लाड़ली, लाड़ला सात समंदर पार प्रस्थान करता है. कुछ महीनों के भीतर माता-पिता, सगे-सम्बंधियों, दोस्त मित्रों को वह अपने हाई जीपीए, नियाग्रॉफाल, बर्फ, दस्ताने, ओवरकोट वगैरह-वगैरह के बारे में बताना शुरू करता है. इस आपाधापी में प्रवास का पहला एकाध साल बीत जाता है. नौजवान हाई जीपीए के साथ ग्रेजुएट स्कूल की पढ़ाई पूरी कर लेता है. अब उसकी दौड़ किसी ऐसी कम्पनी की खोज में शुरू होती है जो न केवल उसे नौकरी दे बल्कि तीन वर्ग इंच आकार वाला 'ग्रीन-कार्ड' भी दिला दे. कहने की ज़रूरत नहीं कि अमेरिका में ऐसी कम्पनियों की संख्या काफी ज़्यादा है. इन कम्पनियों को ऐसे कर्मचारी बहुत भाते हैं क्योंकि समय ने यह साबित कर दिया है कि ये मेहनती, ईमानदार और वफ़ादार होते हैं.

चार अंकों की रकम वाला पहला चेक पाकर लाड़ला खुशी से फूला नहीं समाता. उसे याद आते हैं तीस साल से कोई साधारण-सी नौकरी बजा रहे अपने पिता या मां. सेवा निवृत्ति के करीब पहुंचने के बाद भी आज उनको इस पहले चैक से शायद तीसवां हिस्सा ही पल्ले पड़ता हो. पहले कुछ महीनों में वह उसे डॉलर से रुपये में बदलता है और पलक झपकते 50 गुना रुपया देखकर उसकी आंखें विस्मय से फटी रह जाती हैं. बाप रे, एक-दो सप्ताह में इतना रुपया!! गैस स्टेशन, ग्रोसरी स्टोर, रेस्टॉरेंट या होटल में काम करने वाले लाड़लों के लिए डालर और रुपए वाला गणित लम्बे समय तक चल सकता है. साल बीतते-बीतते ग्रीन-कार्ड की कार्रवाई भी शुरू हो जाती है. ऐसे में देश लौटने का सपना थोड़ा टाल देना उसे उचित ही लगता है. प्यारा ग्रीन-कार्ड अब साल, सवा साल ही दूर है.

उधर, सात समंदर पार बैठे मां-बाप, दादा-दादी, बुआ, मामा आदि अमेरिका की अनेक छुतही बीमारियों को लेकर परेशान लगते हैं. उन्हें एड्स की चिंता भी सताने लगती है. वे लाड़ले के लिए अब सक्रियता पूर्वक 'उचित' वधू की खोज शुरू करते हैं. अखबारों में विज्ञापन छपते हैं. शादी डॉटकॉम आदि पर नौजवान अपने ब्यौरे पहले ही डाल चुका है. पत्राचार अब पुराने जमाने

की दकियानूसी बात हो गयी है. फोन, वेब कैम, ई-मेल आदि से वर और सम्भावित वधू में आरम्भिक वार्तालाप आरम्भ होता है. उसके बाद शुरू होता है लाड़ले की पहली देश वापसी का इंतज़ार. इधर नौजवान भी कम बेचैन नहीं है, लिहाजा मौका पाते ही वह स्वदेश यात्रा का बंदोबस्त करता है.

संदूक के दिन गये. घर पहुंचने पर वह बड़ी-सी विचित्र चमकीली अटैची से भानुमती का पिटारा निकालता है- चंगू, मंगू, मां-पिता, पप्पू और सिम्मी, यानी सभी के लिए वह कुछ न कुछ सामान लाया है. किस्तों में अमेरिका की अकूत दौलत की चर्चा चलती है. उस देश में कुबेर के खजाने की बात सभी रस लेकर सुनते हैं. एकाध दिन आराम करने के बाद सम्भावित वर-वधुओं, अधिकांश मामालों में वधुओं का फोटो सामने रखना आरम्भ होता है. इनमें से कुछ को छांट कर लाड़ला इंटरव्यू के लिए तैयार होता है. यदि सब कुछ समय से चलता रहा तो उम्मीद की जा सकती है कि वह इनमें से किसी सम्भावित वधू को अमेरिकी चोला पहनाने की सहमति देगा.

इस गठजोड़ की मुख्य वजह अमेरिका में बसने की सम्भावना रहती है. इससे साफ़ होता है कि नवयुवक की फिलहाल स्वदेश वापसी की सम्भावना गौण है. कोई न इस बारे में बात करता है, न इसे उठाने में दिलचस्पी ही दिखाता है. अगर जीवट वाला कोई दोस्त-मित्र या रिश्तेदार यह सवाल उठाए भी तो कोई दूसरा भारत में बिजली की कमी, स्टेशन, बाज़ार में धकमपेल, धूल-धक्कड़, कदम-कदम पर रिश्वतखोरी, बम-गोला, नौकरी की कमी, जातिवाद, राजनीति आदि-आदि का ज़िक्र करके यहां के पिछड़ेपन की याद दिला देता है.

नया जोड़ा यथाशीघ्र अमेरिका लौट जाता है. वहां वर-वधू के अमेरिकी दोस्त-मित्र परिवार द्वारा तय की गयी शादी की बर्बरतापूर्ण प्रथा की गाथाएं पूछते हैं. माथे पर लगी बिंदी की भी अक्सर चर्चा चलती है और वर-वधू को हर बार नये सिरे से यहां के पिछड़ेपन और दकियानूसी परम्पराओं की कहानी सुनानी पड़ती है. शीघ्र ही भारतीय दोस्त-मित्रों के साथ शादी का वीडियो देखने के लिए पार्टियां आयोजित होने लगती हैं.

पर यह सब कितने दिन चल सकता है? ऊब कर यह जोड़ा सप्ताहांत कभी इस घर तो कभी उस घर में होने वाली छोटी-बड़ी पार्टियों, मंदिर, मस्ज़िद, गुरुद्वारों, जगराते, होली, दिवाली-मिलन जैसे आयोजनों में शिरकत कर मन बहलाव करने पर उतर आता है. हफ्ते, दो हफ्ते में भारतीय सामान बेचने वाली दुकानों की दौड़ लगती है जहां से नयी हिंदी, तमिल, मलयाली फिल्मों के पाइरेटेड वीसीडी एक-दो डॉलर में मिल जाते हैं. बीच-बीच में भजन, जगराते, हवन, अर्चनाएं भी चलती रहती हैं.

शुरू-शुरू में वधू को घर की याद सताती है, पर वाशिंग मशीन, डिश-वाशर, बाथरूम में ठंडे-गर्म पानी का निर्बाध प्रवाह, वैक्यूम क्लीनर, टीवी पर दिन-रात चलते सोप-आ-परा, सास-ससुर की 'मेहरबानियों' से छुटकारा आदि आकर्षण उसे घर की याद

भुलाने में मदद करते हैं. इंटरनेट-फोन से घर पर रोज ही बात हो जाती है, सो भी लो बिलकुल मुफ्त.

दोस्त-मित्रों के साथ भेंट-मुलाकात में भारत वापसी का ज़िक्र शायद ही उठे. ऐसी भेंट, मुलाकातों में मंदी, चीन के बढ़ते प्रभाव, स्टॉक मार्केट, पेंटागॉन के नये हथियार, नये प्रोजेक्ट जैसे विषयों की ही चर्चा प्रमुख रहती है. स्त्रियों की मंडली गहने, कपड़े, नये घर, नयी कार, किसका बच्चा कहां पढ़ने गया जैसे नये महत्त्वपूर्ण विषयों पर ध्यान केंद्रित करती हैं.

ऐसे में समझा जा सकता है कि देश वापसी का विचार लाड़ले के लिए यहां तरक्की की असीम सम्भावनाओं के पीछे छिप जाता है. उसकी जिम्मेदारी बढ़ती जाती है. उसी हिसाब से उसका वेतन लगातार चढ़ रहा है. उसने किसी महंगे उपनगर में अब दो गराज वाला घर भी खरीद लिया यानी अब उसके पास एक नहीं, दो मोटर गाड़ी हैं. अर्थात अपने अमेरिकी सपने का पहला चरण पूरा कर लिया है. साल-डेढ़ साल के भीतर ही नन्हे-मुन्ने का आगमन हो जाता है जिसके साथ वह भारत में माता-पिता का विशुद्ध भारतीय सपना पूरा कर स्वयं को पितृ-ऋण से मुक्त कर लेता है. प्रसूति और नवजात की देखभाल के लिए सासू मां भी ठीक समय पर अमेरिका पहुंच जाती हैं. साफ़ है कि अगर अमेरिकी विकल्प उपलब्ध है तो कोई भला 'वंश बढ़ाने' भर के लिए भारत रहना क्यों चाहे?

पैसे-रुपए से जितनी सुख-सुविधा खरीदी जा सकती है, वह सब हो चुकने के बाद यह बीमारी पहली बार 'प्रकट' होती है. इसके पहले लक्षण 'कुछ ठीक नहीं चल रहा है' इस अहसास के साथ उभरते हैं. अचानक पुराने दोस्त-मित्रों की याद सताने लगती है. कुछ खालीपन महसूस होता है. वीडियो कैमरे, आईफोन आदि से मन भर जाता है. नयी चमचमाती कार का शौक भी अब फीका पड़ने लगता है.

लाड़ला अब अधेड़ हो चुका है. उसकी आंखों के सामने उसके गोरे सहयोगियों को तरक्की मिल जाती है, विश्वविद्यालय उसे टेन्योर देने में हिचकिचाता है. सप्ताहांत वाली पार्टियों में भी अब नया क्या बचा है. उनमें अब मज़ा नहीं रहा. पिछले पंद्रह सालों के दौरान बाज़ार में कई बार मंदी आ चुकी है. कम्पनी को कोई और खरीद लेगा ऐसी बातें भी उससे छिपी नहीं रहती. इस कारण नौकरी अब गयी, तब गयी उसे यह चिंता भी सताने लगती है. उसे अमेरिकी संस्कृति सहसा अज़ीबोगरीब लगने लगती है. इस समय तक उसका अंग्रेज़ी उच्चारण करीब-करीब अमेरिकीओं जैसा हो गया है. हिंदी या मातृभाषा से जुड़ाव भी कमज़ोर हो चुका है. इधर, उसका नन्हा-मुन्ना कॉलेज में पहुंच गया है, अब वह भी अपनी दुनिया बसाने की जद्दोजहद में है.

ठीक इसी समय लाड़ले के मन में भारत चल कर नौकरी चाकरी या व्यापार की सम्भावनाएं टटोलने का विचार आता है. छुट्टियां बचाकर वह स्वदेश लौटता है लेकिन वहां नौकरशाही और पिछड़ापन देखकर उदास

मन लिए वापस लौट आता है. सत्तर के दशक में ऐसे अनेक प्रवासी भारतीयों ने भारत में मुर्गीपालन के व्यापार शुरू किये थे. अस्सी के दौर में इलेक्ट्रॉनिक्स का बोलबाला रहा. नब्बे के दशक में कम्प्यूटर सॉफ्टवेयर, बैंक-ऑफिस, कॉल-सेंटर अथवा भारत से नये ग्रेजुएट यहां अमेरिका लाने का सिलसिला चला.

अमेरिका में रहते हुए लाड़ले को तीस-पैंतीस बरस गुज़र चुके हैं. हाल में उसके एक मित्र ने अचानक हार्ट अटैक में प्राण गंवा दिया है. उन मित्र की अंतिम इच्छा होती है कि उनकी अस्थियां भारत में विसर्जित हों. इस प्रकार अंततः हमारे एक प्रवासी मित्र की हमेशा के लिए घर-वापसी तो हो जाती है, लेकिन इस समय तक भारत में उसकी बाट जोहने वालों में शायद ही कोई बचा रहता है. सच ही कहते हैं, दो नावों पर सवारी करने वाले न इस घाट पहुंच पाते हैं, न उस घाट!

यों हर किसी को कहीं भी बसेरा बसाने की स्वतंत्रता है, परंतु प्रवासी-व्यथा का मरीज़ अपनी पसंदीदा भूमि पर भी सुख चैन नहीं महसूस कर पाता. वास्तविकता यह है कि उसका मन पेंडुलम की भांति अनिश्चय में कभी इस तरफ़ तो कभी उस तरफ़ झूलता रहता है. इनमें कोई जीवट वाले मरीज़ ही मन स्थिर कर पाते हैं और उस दिशा में कदम उठा पाते हैं.

ऐसे मरीज़ों में क्या खासियत होती है? कहना न होगा कि उन्हें यह दिख जाता है कि यूरोप, ऑस्ट्रेलिया, अमेरिका कोई स्वर्ग नहीं. यहां भी दिक्कतें हैं, असुविधाएं हैं, पक्षपात है, भेदभाव है. उन्हें समझ में आ जाता है कि यहां सोना कोई पेड़ पर नहीं उगता. उसके लिए हाड़तोड़ मेहनत यहां भी करनी पड़ती है. हां, यहां बेगानापन ऊपर से काटता है. शुरू में इतना बेगानापन नहीं लगता था. उत्साह और उमंग नित नयी चीज़ें, नयी तहज़ीब, नये तौर-तरीके सीखने की प्रेरणा देते रहते थे. नये लोगों से मिलना-जुलना भी अच्छा लगता था. 'दायरा बढ़ रहा है' यह अहसास मन को दिलासा देता था.

धीरे-धीरे सीखने लायक सारी बातें सीख ली जाती हैं तो नज़र सहसा बदलने लगती है. अब दिखायी देने लगता है कि सड़कों पर जाम यहां भी लगता है. यहां भी बाढ़ का पानी घरों में घुस कर तबाही मचाता है, विचित्र नामों से जाने गये तूफान घरों की छतें तक उड़ा ले जाते हैं. यहां भी कोकीन जैसी मादक दवाओं का बोलबाला है, यहां भी मिस्त्री ठीक से पूरा काम नहीं करता, यहां भी बीमा अर्थात पैसा न हो तो अस्पतालों में डॉक्टर बेरुखी दिखाता है. शनि-रवि घर में झाड़ू-बुहारू यहां भी करना पड़ा है- जीवन यहां भी उदास हो सकता है और वहां भी.

ऐसे अहसासों के बाद अपना देश नये रंग में दिखने लगे, यह स्वाभाविक ही कहा जाएगा. दूर से अपना भारत सचमुच बहुत ही प्यारा लगता है. इसी के साथ मन में यह प्रश्न उठना भी स्वाभाविक है कि साठ पहुंचने पर भी क्या मैं इसी तरह ज़िंदगी जीना चाहूंगा? क्या मैं नितांत अकेला रहने को तैयार हूं? क्या मैं अपने बाल-बच्चों की

जीवन शैली में घुलमिल पाऊंगा?

भारत में निश्चय ही समस्याओं का अम्बार है. हमें उनके विस्तार में जाने की ज़रूरत नहीं क्योंकि सभी उन्हें जानते हैं- सड़कें, बिजली, पानी रिश्वत, लालफीताशाही, नौकरशाही... हम बातें भले न करें पर दादा, दादी, नाना, नानी, बुआ, फूफा, मौसा, मौसी, ताऊ, चाचा, नाते, रिश्तेदार- ये सभी हमारे दिलों में घर बनाये रहते हैं.

तो हमारा जवाब क्या होगा? उहापोह के कारण कुछ महत्त्वपूर्ण बातें नज़रों से हमेशा चूक जाती हैं- हम या तो यहां दिक्कते झेलें, दोनों जगह समस्याएं हैं, कोई जगह स्वर्ग नहीं. और, एक बार अगर यह दिख जाए कि स्वर्ग कहीं नहीं है तब उहापोह की स्थिति खत्म हो जाती है और मरीज़ बीमारी से उबरने लगता है.

दूसरे शब्दों में, इस बीमारी की जड़ भारत-अमेरिका की तुलना में छिपी है. हम समस्याओं की नहीं सुविधाओं की तुलना करने लगते हैं. यही वजह है कि हम भारत की भीड़ भरी सड़कों से परेशान हो जाते हैं, पर हमें यूरोप अमेरिका की उबाऊ ज़िंदगी दिखायी नहीं देती. हमें भारत का पागलपन तो दिखाई देता है, पर अमेरिका का पागलपन आंखों से चूक जाता है. यदि हमें दोनों जगह पागलपन दिख जाए तो हम इस पागल बीमारी से पूर्णतः ठीक हो जाएं. ❑

कविता

करतब

• हरि मृदुल

चौड़ी सड़क के किनारे की भीड़ को
उत्सुकता से देखा तो पाया कि
उस्ताद और जमूरा किस्म-किस्म के करतब दिखाकर
लोगों की वाहवाही पा रहे हैं.

हमने हर करतब पर तालियां बजायीं
जबकि हर बार हमारी आंखों में धूल झोंकी गयी
हालांकि यहां कोई धोखा नहीं था
सिर्फ पापी पेट का सवाल था
यूं देखने को मिले हैं इस बीच
ऐसे-ऐसे करतब कि
जैसे हम एक अंधेरी खोह में ढकेल दिये गये
घटनाओं को इस कुशलता से पलट दिया गया कि
रात को दिन और दिन को रात कहा जाने लगा

ऐसी जालसाज़ी
ऐसी खतरनाक बाजीगिरी
यह देश बाजीगरों और जोगियों का
सच ही है यह मान्यता
हम वाकई हैं इन बाजीगरों जोगियों के चेले
ये हमारे गुरु गुरु घंटाल
तो पग-पग पर हैं करतब, चमत्कार
और उन्हें सामूहिक नमस्कार

नेताओं के करतब तो जी भर देख लिए
बस क्या
अभी तो कई करतब और देखने को मिलेंगे
मसलन न्यायाधीशों के करतब.

(तकनीकी कारणों से पिछले अंक में यह कविता अधूरी छप गयी थी)

धारावाहिक उपन्यास (अंतिम किश्त)

महाकवि जयशंकर प्रसाद के जीवन और युग पर केंद्रित कथा

कंथा

श्याम बिहारी श्यामल
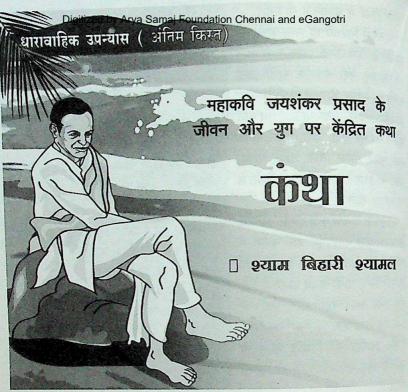
दास देर तक सारनाथ जाने के पक्ष में तर्क देते रहे. प्रसाद टस से मस भी होने को तैयार नहीं, ''...मित्र, मेरी बात सुनो... यदि कहीं और ही जाकर स्वास्थ्य-लाभ करना अनिवार्य हो तो क्यों नहीं यह 'कहीं और' सचमुच ठीक से कहीं और हो! सारनाथ जैसा आसपास का 'कहीं और' क्यों!...''

''मित्र, छायावादी ही नहीं, तुम पक्के मायावादी भी हो! कभी कोई बात इकहरी नहीं कहते... तुम्हारी हर बात के पेट में बात और फिर उसके भी पेट में बात... यानी कि पेट-दर-पेट और इसके समानांतर बात-दर-बात का यह क्रम लगभग अनंत है!...''

''गोकि तुम यह कह रहे हो कि मेरी बातें बात नहीं, बल्कि प्याज जैसी कोई चीज़ हैं...''

''चलो, अब इस पर मगज-मंथन न चलाओ... खैर, अब यह बताओ कि तुम्हारे दिमाग में है क्या? कहां जाना चाहते हो?''

''मुकुंदी इंतजाम में लगा है... उससे पत्राचार चल रहा है... वह कलकत्ते के यादवपुर सिनेटोरियम में मेरे रहने की व्यवस्था बनाने में लगा है... मेरे विचार से वहीं रहना ठीक से 'कहीं और' रहना

सिद्ध होगा... क्योंकि काशी से दूरी का दर्द वहीं ठीक से कलेजे में चुभ सकेगा!"

दास हक्का-बक्का. मुंह ताकते रहे.

प्रसाद की वाणी में सजल व्यंग्य, "जब विधि की ही इच्छा है कि काशी से मेरा निर्वासन हो, तो यहां से पर्याप्त दूर चला जाना अच्छा! ..." उन्होंने तकिये के नीचे से निकालकर एक पोस्टकार्ड बढ़ाया. दास लेकर उलटने-पलटने लगे. कलकत्ते से आया हुआ यह मुकुंदीलाल गुप्त का ही पत्र है! वे मन ही मन बांचने लगे.

प्रसाद मुस्कुराये, "कैसा रहेगा मेरा कलकत्ते में प्रवास करना?"

दास ने चुपचाप कुछ पल उनकी ओर ध्यान से देखा फिर बों बिचका दिये, "ठीक रहेगा, बशर्ते कि तुम सचमुच यहां से बिना किसी हुज्जत के निकल लो और वहां भलमनसाहत से पहुंच जाओ..."

"तुम कहना क्या चाहते हो, क्या मैं हुज्जती हूं?"

"सारनाथ को नकार कर बंगाल को चुनना आखिर क्या व्यक्त करता है!"

"क्या व्यक्त कर रहा है, ज़रा हमें भी तो अपनी अनुभूति बता दो..."

"अब इस पर भी हुज्जत न करो... चलो, मैं कलकत्ते पर सहमति दे रहा हूं"

संयोगवश ऐन उसी समय गंगाराम नारियल बाज़ार से आ गया. उसने जेब से निकालकर एक पोस्टकार्ड प्रसाद को पकड़ा दिया और झोला लिये भीतर चला गया.

प्रसाद ने पत्र को सीधे दास की ओर बढ़ाया. उन्होंने पत्र लेकर दोनों ओर एक-एक दृष्टि डाली और हंसने लगे, "लो, लगता है कलकत्ते से तुम्हारा आ गया बुलावा... पत्र मुकुंदीलाल का ही है..."

"पढ़ डालो... पढ़ डालो... देखो तो लिखा क्या है मुकुंदीलाल ने!"

"हां, मैं पढ़ लेता हूं... बांचूंगा नहीं! पढ़कर तुम्हें एक-दो वाक्य में मूल संदेश बता दे रहा हूं... चाहो तो स्वयं पूरे पत्र का आनंद ले लो..." दास ने हाथ नचाया.

प्रसाद हंसे, "यार, कलाकार ही नहीं, पक्के कलाबाज़ भी हो... बात-बात में कितना भाव खाने लग जाते हो..."

मन ही मन पत्र पढ़ लेने के बाद दास ने बताया, "चलो, अच्छी बात है, यादवपुर सेनेटोरियम में मुकुंदीलाल ने तुम्हारे लिए प्रबंध बना ही लिया... लिखा है कि स्थान रिक्त नहीं था किंतु विख्यात चिकित्सक विधान बाबू की सहायता से ऐसी ही परिस्थितियों में तुम्हारे लिए व्यवस्था बन गयी है... अब तुम्हें वहां केवल पहुंच जाना है..."

कलकत्ता जाने की तैयारी पूरी हो गयी है. प्रसाद के साथ रहने के लिए कमला देवी और साथ में गंगाराम का जाना तय. स्टेशन जाने के लिए घोड़ागाड़ी दरवाज़े पर खड़ी है. लखरानी देवी के दबाव में सामान कम ही बांधा गया है. उन्होंने इसके लिए तर्क दिया है, "इहां के सामान उहां काहे ले जइबाऽ... उहैं मुकुंदीलाल हउवन, ऊ कौनो कमी होवे दीहन?..."

दास, व्यास, गौड़ और डॉ. एच. सिंह उन्हें विदा करने के लिए आ पहुंचे.

मूठदार छड़ी टेकते प्रसाद आहिस्ता-आहिस्ता बाहर आ रहे हैं. सिर पर लम्बी उजली टोपी. कंधों पर प्रदीर्घ सिलवटों के साथ लिपटी कत्थई चादर, लटकती हुई पूरे शरीर को ढंके-छुपाये हुए. जब-जब वे कदम बढ़ा रहे हैं, चादर के नीचे ढांचा के ढक-ढक हिलने का साफ़ आभास. गौड़ ने दास का ध्यान खींचा, ''देखिये न, बाबूसाहब की क्या हालत होकर रह गयी है! बीमारी ने तो उन्हें लगभग तोड़ डाला है भई! स्थिति बहुत चिंताजनक है...''

डॉ. एच. सिंह ने आहिस्ते किंतु तीव्र गति से प्रतिवाद किया, ''इसके बावजूद वह ठीक हो जायेंगे ... सेनेटोरियम जा रहे हैं, अब कोई चिंता की बात ही नहीं...''

उन्हें गाड़ी पर चढ़ाने में संतू और गंगाराम ने मदद की. लखरानी निकट ही खड़ी हैं. कमला देवी भी आ गयीं. वह चढ़कर प्रसाद के निकट जा बैठीं. तभी एक कारखाना-कर्मी लपकता हुआ गाड़ी के निकट आया. प्रसाद की दृष्टि उस पर टिक गयी.

वह दनदनाकर गाड़ी पर चढ़ आया. प्रसाद के कान के निकट मुंह लाकर कुछ फुसफुसाने लगा. सभी यह सब बहुत जिज्ञासा से देखते रहे. देखते ही देखते प्रसाद के चेहरे के भाव बदलने लगे. अचानक तउमउते हुए वे उठने लगे, ''मुझे नीचे उतारो... नीचे उतारो... नीचे...''

एक साथ कई लोग उन्हें नीचे उतरने में सहायता करने लगे. नीचे आकर वे छड़ी के सहारे खड़े हो गये. कुछ इस तरह लम्बी सांसें भरने लगे गोया कोई लम्बी दूरी दौड़ते हुए तय करके आ रहे हों! सभी भौंचक उन्हें ताके जा रहे हैं. उन्होंने आम जिज्ञासा के ताप की तीव्रता महसूस करते हुए सिर झटकार कर कहा, ''मैं काशी छोड़कर कहीं नहीं जाऊंगा भाई! काशी छोड़ना ही मेरे लिए मृत्यु है...'' उनकी आंखें ही नहीं, बोली-बानी भी भींग गयी हैं.

''कौन हैं, पूछो न...'' कमला देवी के स्वर में गहरी उदासी. तख्त की गोरतारी ठुड्ढी टिकाये वह फर्श पर बैठी प्रसाद के तलवों पर मुलायम कपड़े से संघर्षण करतीं रहीं.

''एक तो चिरगांव वाले हैं और दूसरे हैं कोई दाढ़ी वाले सज्जन ...''

बिस्तर पर निढाल पड़े प्रसाद ने आंखें खोली. संतू जाते-जाते थम गया. वे असहाय भाव से ताकने लगे. संतू पास आ गया. प्रसाद ने धीरे-धीरे हाथ हिलाकर आगंतुकों को भीतर लेकर आने का संकेत दे दिया. वह स्वीकार में सिर हिलाता चला गया. कमला देवी सिर पर आंचल ठीक करतीं अपने काम में जुटी रहीं.

कुछ ही क्षणों में राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन और मैथिलीशरण गुप्त भीतर आ गये. तख्त पर पड़े प्रसाद को दोनों फटी-फटी आंखों से ताकने लगे, वज्राघात-विचलन के साथ. आंखों में आश्चर्य पिघलकर तरल हो उठा है. प्रसाद अशक्त भाव से देखे जा रहे हैं.

भावार्द्र टंडन समीप आ गये, "प्रसाद जी, आपने अपनी यह क्या हालत बना ली है? चिकित्सक ने यदि जलवायु-परिवर्तन की सलाह दी है तो किसी पहाड़ पर अथवा किसी सेनेटोरियम में जाने का प्रबंध क्यों नहीं करते! क्या दिक्कत है, बतायें..." बोलते हुए उन्होंने दोनों हाथ जोड़ लिए हैं, "स्वयं के लिए न सही, हिंदी के लिए ही ऐसा कर दीजिए..."

गुप्त यथावत पीछे खड़े हैं. उदास और आहत. टंडन ने आगे बढ़कर प्रसाद के दोनों हाथ गहरी आत्मीयता के साथ पकड़ लिए, "...आप यह क्यों नहीं समझते, यहां इस बिस्तर पर कोई एक साहित्य-सेवी भर नहीं बल्कि हमारी भाषा का भविष्य-स्रष्टा गिरा हुआ है... हिंदी का सौभाग्य निढाल पड़ा है यहां..."

"हिंदी की परिवार-परिधि देश-व्यापी है... आने वाले समय में उसे राष्ट्रभाषा बनने से कोई रोक नहीं सकता..." प्रकम्पन के बावजूद प्रसाद की आवाज़ में निर्णायक दृढ़ता अनाहत जैसी, "...यह देश बहुत बड़ा है, हिंदी का भविष्य भी आकाश जैसा है... एक ऐसा आकाश जिसमें हमेशा असंख्य सूर्य और अनगिनत चांद चमकते रहेंगे... इसलिए उसका भविष्य भी कोई एक व्यक्ति नहीं लिखेगा..."

गुप्त समीप आ गये, "...मित्र, तुम्हारी बात सोलह आने सही है... लेकिन हमें अभी तुम्हारी बहुत अधिक आवश्यकता है... तुम्हारा होना वैसे ही आवश्यक है, जैसे तन में प्राणवायु का होना... इसलिए तुम पहाड़ पर चलना स्वीकार करो... पूरा हिंदी समाज यही चाह रहा है और यह कार्य भी तुम्हारे व्यक्तिगत इंतजाम पर न रहकर हिंदी-प्रेमियों के सामूहिक सहयोग-योगदान पर होगा..."

"हां.. हां... यही सर्वोत्तम होगा..." टंडन की आंखें चमक उठीं. संकोची दाढ़ी-मूंछों पर दृढ़ता के भाव हल्के प्रकम्पित हुए, "...आप पूरे हिंदी समाज की भावनाओं-आकांक्षाओं की कत्तई उपेक्षा नहीं कर सकते... इस प्रस्ताव पर तुरंत सहमति जतायें ताकि इसे सम्भव करने की दिशा में तत्काल पहल शुरू कर दी जाए!"

"आपलोग मुझे किस पहाड़ पर ले जाना चाहते हैं... मैं तो कैलास-नाथ के त्रिशूल की नोंक पर पहले से हूं..." प्रसाद का मुखमंडल दीप्त हो उठा, "...सबलोग जीवन की विदा-बेला में काशी आने का सपना सजाते हैं, मैं यहां से कहीं और चला जाऊं?"

टंडन ने गुप्त की ओर देखा. वे जैसे एक समूचा तूफ़ान दबाये खड़े रहे. प्रसाद बार-बार दोनों को सामने की कुर्सियों पर बैठने का संकेत देते रहे. दोनों ने पीछे खिसककर स्थान ग्रहण किया. दास आये और बगल में कुर्सी पर चुपचाप बैठ गये. टंडन 'कामायनी' पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने लगे. उनके बोलने का अंदाज़ कुछ ऐसा कि सामने वाले के लिए इसमें किसी तरह के हस्तक्षेप की न गुंजाइश न आवश्यकता. प्रसाद सुनते रहे. मुंह बंद किये. टंडन ने महाकाव्य की कथा-भूमि से

लेकर प्रतिपाद्य गहन दर्शन-भूमि और इस रचना के माध्यम से उजागर रचनाकार की गहन दृष्टि-सृष्टि तथा व्यापक क्षमता-योग्यता तक, सबकी मुक्तकंठ भूरि-भूरि प्रशंसा की. प्रसाद बीच-बीच में सहमति में सिर भर हिलाते रहे.

लखरानी देवी आयीं तो दास उठकर उनके निकट चले गये. दोनों धीमे स्वर में बातें करने लगे. वह तुरंत ही भीतर चली गयीं. दरवाजे से आहिस्ते घुसे प्रोफेसर कृष्णानंद आगंतुकों को देखकर सुखद आश्चर्य से भर तो गये किंतु इसे व्यक्त नहीं होने दिया. हाथ जोड़कर सबका अभिवादन किया व एक ओर जा खड़े हुए. टंडन उठे, ''हमलोगों को अब निकलने की अनुमति दीजिए... हम फिर आयेंगे और इस बार आपको पूर्ण स्वस्थ देख सकेंगे, ऐसा ही विश्वास है और बाबा विश्वनाथ से यही प्रार्थना भी...''

दास ने स्वागती मुद्रा में आग्रह किया, ''भाभीश्री का आदेश है, आपलोग रुकें वह बगैर पानी पिलाये नहीं जाने देंगी''

गुप्त ने हाथ जोड़ लिये, ''...टंडन जी को शीघ्र निकलना है... तुम कहो तो मैं इन्हें विदा करके वापस यहीं लौट आऊं...''

लखरानी हाथ में तस्तरी लिये आ गयीं. पीछे-पीछे जल-पात्र पकड़े संतु भी. दास धीरे-से बोले, ''...भाभीजी आपलोगों के लिए भगवान के भोग का लड्डू ही लेकर आ गयी हैं... ग्रहण कीजिए...''

थोड़ी देर में दोनों बाहर आ गये. गुप्त ने निकलते ही पूछा, ''आपने 'कामायनी' की बहुत सकारात्मक चर्चा की... यह बहुत अच्छा किया... जयशंकर को अभी ऐसा ही मानसिक सम्बल दिया जाना चाहिए...''

टंडन ने दृढ़ता से हाथ हिलाया, ''...मैंने यह सब मुंहदेखी में यों ही नहीं कह दिया है... यह सच है कि 'कामायनी' के रूप में एक रेयर क्लासिकी हमें प्राप्त हुई है... वह भी इस कोटि की कि इसके बूते हिंदी स्वयं को विश्व साहित्य के फलक पर दावेदार बनाकर प्रस्तुत कर सकेगी...''

गुप्त चुप. टंडन ने कुछ ताड़ते हुए बारीकी से स्वर बदल लिया, ''हालांकि स्वयं आप भी उनके समकक्ष हैं, किंतु मुझे लगता है कि मेरे विचारों का मर्म आप समझ रहे होंगे...''

''कौन-सी कृति कितनी क्लासिक है अथवा नहीं है, इसकी सविधि परीक्षा करना-कराना हमारा नहीं, योग्य समीक्षकों का कार्य-दायित्व है... उसी तरह इस सम्बंध में कोई भी निर्णय आधिकारिक विद्वान घोषित करेंगे.. फिलहाल आप मुझे सिर्फ यह बतायें...'' गुप्त ने जल्दी दिखाते हुए उनका हाथ पकड़ लिया, ''...क्या मैं लौटकर आपकी ओर से जयशंकर को यह संदेश दे दूं कि अगली बार का मंगलाप्रसाद पारितोषिक उसे ही देने का निर्णय हो चुका है? ऐसा जानकर उसे बीमारी के विरुद्ध जंग में कुछ आत्मबल मिलेगा...''

टंडन ने गहरी तन्मयता के साथ चेहरे को फैलाया-हिलाया, ''...मंगलाप्रसाद पारितोषिक तो उन्हें मिलेगा ही... 'कामायनी' के लिए तो उन्हें विश्व का कोई भी बड़ा

से बड़ा पुरस्कार मिलेगा... इसे बल्कि यों कहना ज़्यादा सटीक होगा कि किसी भी बड़े पुरस्कार की झोली को 'कामायनी' मिलनी चाहिए... क्योंकि इसके नाम के साथ जुड़कर वस्तुतः पुरस्कृत तो स्वयं पुरस्कार होगा...''

गुप्त जैसे सोये से जग रहे हों, ''ठीक है... ठीक है... तो मैं यह संदेश अंदर जाकर जयशंकर को दे ही दूं...'' वे गतिपूर्वक भीतर आये.

दास और प्रोफेसर कृष्णानंद मन मारे कुर्सियों में धंसे हुए. उदास, चुपचाप.

बिस्तर के समीप पंहुच गुप्त झुक गये, "जयशंकर, हमारे लिए एक खुशखबरी है!''

तकिये पर प्रसाद ने अशक्त ढंग से सिर घुमाया किंतु आंखों में जिज्ञासा का तेज़ तनिक भी मद्धिम नहीं. उन्होंने सप्रयास हर्ष-भाव छलकाते हुए बताया, ''...मैं अभी टंडन जी के आदेश से लौटकर यह बताने आया हूं कि अगले वर्ष का मंगला प्रसाद पारितोषिक तुम्हें देने का निर्णय हुआ है...''

आंखें मूंद ली प्रसाद ने. अपने चेहरे पर हथेलियां कुछ यों फिराने लगे गोया त्वचा पर कोई चिकनाई घस-मल रहे हों. गुप्त ने आगे जोड़ा, ''तुम शीघ्र स्वास्थ्य-लाभ करो ....पुरस्कार लेने के समय मैं भी तुम्हारे साथ चलूंगा... एकदम पक्का...'' बोलते-बोलते उन्होंने उनकी हथेलियां अपने हाथों में ले ली.

प्रसाद ने आंखें खोली तो बूंदें टघर कर कपोलों पर आ गयीं. गुप्त ने आपद मुस्कान से छूकर जैसे इन्हें मोती में बदल देना चाहा, ''मित्र, तुम्हारा शीघ्रातिशीघ्र स्वस्थ होना हमारे इत्मीनान के लिए भी आवश्यक है... तुम्हारी अस्वस्थता के समाचार से पूरा हिंदी संसार बेचैन है... यह व्यग्रता चारों ओर दिखायी पड़ रही है... जहां जाता हूं लोग मुझसे तुम्हारे स्वास्थ्य की ही जानकारी मांगने लगते हैं... पत्रों में भी लोग यही सवाल पूछते हैं कि प्रसाद जी का स्वास्थ्य कैसा है!''

कृष्णानंद की आवाज़ भारी हो गयी, ''...यहां प्रसाद जी के पास भी प्रतिदिन ऐसे ही पत्र आ रहे हैं... लोग बार-बार यह सब याद दिला रहे हैं- 'आपका जीवन सिर्फ़ आपका नहीं है, हिंदी जगत का है', 'आप अपनी समुचित चिकित्सा कीजिए, किसी पहाड़ पर चले जाइये' आदि-आदि! कुछ लोग तो चिकित्सा का व्यय-भार सहर्ष उठाने की भी अपनी इच्छा व्यक्त कर रहे हैं...''

गुप्त ने टोपी उतार ली. सिर से फिराते हुए हथेली चेहरे पर ले आये. उंगलियों से धीरे-धीरे पलकों को मलने लगे. कृष्णानंद उठे और प्रसाद की ओर बढ़े. गुप्त जिज्ञासु हो उठे. उन्होंने तकिये के नीचे हाथ डाल एक पतली-सी कॉपी निकाली. उसमें कई पत्र दिखे. इनमें से एक को निकाल सरसरी दृष्टि डाली और बढ़ा दिया. प्रसाद अन्यमनस्क ढंग से इनकार में सिर हिलाते रहे. गुप्त बांचने लगे.

उठकर दास भी पास आ गये. पत्र पढ़ लेने के बाद बोले, ''यह तो महाराज कुमार

डॉ. रघुवीर सिंह की बहुत भावपूर्ण चिट्ठी है... जयशंकर, मैं गवाही देता हूं, महाराज कुमार तुम्हारे न केवल शुभेच्छु वरन परम श्रद्धालु हैं... तुम्हारा नाम सुनते ही उनकी जो भाव-मुद्रा बनती है वह सामने वाले को भी अभिभूत कर देने वाली होती है... देखो न, पत्र के शब्द-वाक्यों में कैसी सघन भाव-विह्वलता है... यह वस्तुतः पूरे हिंदी साहित्य-जगत की भावना की बानगी है... तुम्हें उनके प्रस्ताव का मान अवश्य रखना चाहिए...''

प्रसाद की मद्धिम आवाज़ में तीव्र पीड़ा तेज झांस-सी उतर आयी, ''...पत्र मुझे कृष्णानंद जी ने पढ़कर सुनाया है... लोगों की ऐसी भावनाएं मेरे इस जीवन की निस्संदेह सच्ची उपलब्धि हैं लेकिन...'' पल भर को रुके फिर आगे बोले, ''...मैंने बहुत ऋण-शोधन किया है मित्र, बल्कि इसी में जीवन का बड़ा हिस्सा खर्च हो गया... हालत यह हो गयी है कि 'कर्ज़' शब्द सुनते ही मेरा दम घुटने लगता है... इसलिए और कदापि नहीं... मैं अब किसी का कोई ऋण लेकर नहीं जाना चाहता...''

गुप्त चिंता से भर गये, ''...मैं कोई लम्बी चर्चा छेड़कर तुम्हें कष्ट देना नहीं चाहता किंतु एक बात कहना ज़रूरी हो गया है... मुझे कुंवर सुरेश सिंह वाला प्रसंग भी पता है... जलवायु बदलने व स्वास्थ्य-लाभ के लिए अल्मोड़ा आने का उनका निमंत्रण भी तुमने अस्वीकार कर दिया है..''

''...तुम्हें यह सब किसने...'' प्रसाद बुदबुदाये. कृष्णानंद की ओर दृष्टि उठायी तो वह सकपका गये.

''... मित्र, पिछले पखवारे लखनऊ में कुंवर साहब से मेरी मुलाकात हुई थी.. स्वयं उन्होंने बहुत दुःखी भाव से यह प्रसंग बताया मुझे!'' प्रसाद बीच में कुछ बोलने को हुए तो गुप्त ने साग्रह किंतु तीव्र प्रतिवाद किया, ''...जयशंकर, ऐसी भी जोर-ज़बरदस्ती ठीक नहीं ...मुझे अपनी बात तो पूरी कह लेने दो...''प्रसाद ने तकिये पर सिर को ढीला छोड़ दिया, पलकें तेज़-तेज़ गिरने लगीं. गुप्त का आवेग द्विगुणित हो उठा, ''...कोई शुभेच्छुं यदि स्वेच्छया किसी तरह का सेवा-प्रस्ताव कर रहा हो तो इसे तुम 'ऋण' की संज्ञा कैसे दे सकते हो! यह तो सरासर किसी की कोमल भावनाओं को कठोरता से रौंदना ही हुआ न! ...जयशंकर, तुम सबकुछ जानते-समझते हुए भी क्यों अनजान बनकर अपना यह बहुमूल्य जीवन दांव पर लगा रहे हो, मैं नहीं समझ पा रहा... धर्म-सूत्र से लेकर विज्ञान के सिद्धांत तक इस एक मान्यता पर एकमत

...हमारे शास्त्र साक्षी हैं, काशी कभी शिव-विहीन नहीं हुई है, निस्सदेह वाराणसी भी कभी जयशंकर-विहीन नहीं होगी!

हैं कि सृष्टि-संसार में कुछ भी अकारण या निराधार नहीं होता... और, हर कर्म का समानुपातिक प्रतिफलन अवश्यमभावी और ध्रुव सत्य है, ठीक वैसे ही जैसे हर क्रिया के समानांतर उसके बराबर व विपरीत प्रतिक्रिया! ...इसलिए यह तय है कि जो कुछ आज हमें मिल रहा है, वह या तो हमारे ही किसी पूर्व-निवेश की अदायगी है या प्रदाता की ओर से नियति-चक्र के तहत किया जा रहा कोई दूरगामी विनिवेश. इसलिए जिन सहयोग-प्रस्तावों को तुम 'ऋण' समझ रहे हो वे वस्तुतः 'उऋण' होने की प्रक्रिया के भी उदाहरण हो सकते हैं!''

प्रतीक्षा करके थक चुकने के बाद टंडन वापस भीतर आ गये. उन्हें देख प्रसाद हिलने-डुलने लगे तो उन्होंने हाथ जोड़ लिये, ''ठीक हूं... मैं ठीक हूं... कृपया आप परेशान न हों, मैं बैठता हूं... हालांकि मेरे लौटने का समय निकला जा रहा है लेकिन गुप्त जी को सम्भवतः अभी कुछ लम्बा कहना-बोलना है...''

''नहीं! लम्बा क्या, मित्र को यही अपना एक छोटा-सा अनुरोध समझाने का प्रयास कर रहा हूं कि हठ त्यागकर अपना मोल-महत्व पहचानें... हिंदी भाषा-साहित्य को ही नहीं, इस घर को भी इनकी सेवाओं-उपस्थितियों की अभी नितांत आवश्यकता है... इसलिए समुचित ढंग से स्वास्थ्य-लाभ के उपाय करें...'' गुप्त ने बात समेट ली.

प्रसाद धीरे-धीरे बोलने लगे. हृदय-तंत्री से जैसे सजल आलाप फूट पड़ा हो, ''...मित्र, कुंवर साहिब ने तुम्हें मेरे पत्र के बारे में नहीं बताया?... मैंने उनके सहयोग-प्रस्ताव की कृपा के लिए हृदय से कृतज्ञता व्यक्त की है... इसी क्रम में अपने इस जीवन-विश्वास का भी उल्लेख कर दिया है कि मैं अब काशी छोड़कर कहीं नहीं जाना चाहता... जो कुछ होना हो, यहीं हो!... मेरा यह दृढ़ विश्वास है- येषां क्वापि गतिर्नास्ति तेषां वाराणसी गतिः!''

आंखें सबकी भर आयी हैं. टंडन का गला भी, ''...हमारे शास्त्र साक्षी हैं, काशी कभी शिव-विहीन नहीं हुई है, निस्संदेह वाराणसी भी कभी जयशंकर-विहीन नहीं होगी!''

दोनों प्रणाम कर जाने लगे. प्रसाद की पलकें जब-जब उठ रही हैं, मोती गिर रहे हैं. पास बैठे दास ने दोनों हाथ थाम रखे हैं. कृष्णानंद स्वगत उठे और उन दोनों के साथ हो लिये. विदा करने के अंदाज़ में.

''...डॉक्टर साहेब, हम्मरे झारखंडी के हालत में सुधार काहे नाऽ होत हौऽ... तूं हमे साफ-साफ बतावाऽ, बात काऽ हौऽ?... हम्मर मन अब बहुत घबरात हौ...'' चिंता-विगलित लखरानी ने बाहर आकर घर लौट रहे डाक्टर हुबदार सिंह को रोका.

''भाभी, आज तऽ सबेरवें से हम इहैं डटल हई... एक पर एक दवा बदल-बदल के देत गइली... अब तऽ बुझात हौ कि उनके ऊपर दवा के असर भी धीरे-धीरे कम होल जात हौ... हमरे तऽ अब कुछ बुझात ना हौ... हम काऽ करी, तूंही

बतावाऽ'' आवाज़ भारी हो गयी है, ''...दवा जब चूक जाले तऽ भगवान के दुआ के भरोसा बचलाऽ... अब बाबा विश्वनाथ के जे इच्छा होये...''

भीतर से घबराये निकले राजेंद्र नारायण शर्मा ने दरवाजे पर से ही हांक लगायी, ''...डाक्टर साहब, लौटिये... बाउस्साब की परेशानी बढ़ गयी है...''

दौड़ते हुए दोनों भीतर आ गये हैं.

पांव पकड़े बैठी कमला काठ बनी हुई हैं. रत्नशंकर घबराया-सा. रणजीत सिंह, गंगाराम और संतु एक ओर हाथ बांधे मूर्तिवत खड़े. उदास और निरुपाय.

पास पहुंचकर लखरानी ने बैठते हुए प्रसाद के ललाट पर हथेली धर दी. हुबदार ने हाथ लेकर नाड़ी पकड़ ली है.

प्रसाद के चेहरे पर पीड़ा का बवंडर-सा उठ रहा है. आंखें खोलने में उनका कठोर उद्यम और दर्द साफ-साफ दृष्टिगत. किंतु सभी हतप्रभ कि ऐसे में भी उनके मुरझाये हुए होंठ यह खिली हुई मुस्कान कहां से लेकर प्रस्तुत हैं! रह-रहकर हिचकी के साथ स्वर-भंग किंतु भाव घनीभूत. अचानक आंखों का तेज दमक उठा. मुखमंडल प्रकाशमान. जैसे, सामने दिख रहे दृश्य को आशु भाषाबद्ध करने लगे हों, लड़खड़ाहट के बावज़ूद शब्द-वाक्य पूरी तरह अक्षत - अनाहत, ''...अरे, यह क्या! ...मैं यहां कैसे पहुंच गया ...यह कौन-सा संसार है? ...यह कैसा दिवस? ...कैसे क्षण? ...मैं यह क्या देख रहा हूं? ...क्या यह सचमुच सत्य-दृश्य है? ...हिम खंड रश्मि मंडित हैं ...मणि-दीप से महाप्रकाश की धाराएं-महाधाराएं फूट रही हैं ...इनसे टकराकर समीर अति मधुर मृदंग बजा रहा है ...जीवन की मुरली बज रही है, मनोहर संगीत उठ रहा है ...कामना संकेत बनकर महामिलन की दिशा बता रही है ...अप्सरियां अंतरिक्ष में रश्मियां बनकर नाच रही हैं ...आज मांसल होकर सामने साकार खड़ी हो गयी है हिमवती प्रकृति पाषाणी ...और, इस लास-रास में विह्वल होकर हंस रही हैं कल्याणी! ...वह चंद्र किरीट रजत-नग स्पंदित-सा पुरुष पुरातन ...जो देख रहा है मानसी गौरी लहरों का कोमल नर्त्तन... जड़ और चेतन सभी समरस दिख रहे हैं... अद्‌भुत आनंद मचा हुआ है, अखंड और घना...''

हुबदार ने वाग्प्रवाह में बाधा नहीं डाली. वे जब चुप हो गये तो पांवों को पकड़कर हल्के झिंझोड़ा, ''प्रसाद जी, आप स्वप्न देख रहे हैं क्या ?''

''नहीं! स्वप्न को सत्य में बदलते...'' भावमुद्रां भंग किंतु तनिक लड़खड़ाहट के साथ चिंतन की वैसी ही गहन-गतिशील आलाप-मुद्राएं, ''...या एकदम सटीक कहूं तो स्वप्न बन चुके एक आदिसत्य को पुनर्नव होते... एकदम सामने साकार...'' मुखमंडल की त्वचा तनती-खिंचती जा रही है. देह में पूर्ववत विकट बेचैनी. वैसी ही गहरी ऐंठन शुरू. चेहरे पर फिर खौलती पीड़ा की अनुकृति बनाती रेखाएं. इसका वही तीव्र ताप भी. आंखें खुलीं तो बूंदें ढलकने लगीं. दर्द पर नियंत्रण होते ही बोलते हुए वे दृढ़ किंतु स्वर में कम्पन-

विचलन जारी. इसके बावजूद जिज्ञासा तीव्र आवेग से भरी हुई, ''...लेकिन आप कौन? ...आदिपुरुष मनु?''

''मैं... आपका मित्र हूबदार... कैसा महसूस हो रहा है आपको...?''

''मित्र, अभी तो अचानक लगा कि मैं कहीं दूसरी दुनिया में पहुंच चुका हूं... सर्वथा अनूठा संसार... दिव्य आलोक से प्रकाशमान... मैंने सामने साक्षात खड़े देखा इस सृष्टि के आदिपुरुष मनु को... श्रद्धादेवो वै मनुः! ...उनके मुखमंडल पर आदिसृजन की आदि-आभा थी... प्रेम-ममता की आदिदीप्तिअ... लेकिन आश्चर्य कि यह उसी तेज़ से ,ठीक-ठीक मेल खा रही थी जो मैं अपने इस घर में बाऊ और भैया-भाभी के चेहरों पर देखता आया हूं...'' बोलते-बोलते तेज़ हिचकी. तुरंत स्वयं को सम्भालने का प्रयास भी.

फिर बोलने लगे, ''...आदिपुरुष ने दिव्य पुष्पों की बौछार से मेरा स्वागत किया... मेरा नाम लेकर पुकारते हुए भुजाएं फैलायी... मैं उनकी ओर जैसे ही बढ़ने को हुआ... इसके बाद... इसके बाद पता नहीं किसने मेरे पांव ही दबोच लिये, एक ही बार में मुझे नीचे खींच लिया...''

''आप हमारे बीच ही हैं महाकवि... दरअसल, आप कुछ अस्वस्थ हो गये हैं और हमलोग आपको ठीक करने में जुटे हुए हैं... देखिये न, यहीं भाभी हैं... आपकी गृहिणी कमला जी हैं... चिरंजीवी रत्नशंकर है... आपके सभी सेवक-सहयोगी आकर खड़े हैं...''

''अच्छा-अच्छा! खैर! डॉक्टर, आपको मैंने 'कामायनी' भेंट की थी... उसके पन्ने उल्टे-पल्टे कि नहीं...?'' छोटी-छोटी हिचकियां. जैसे, मंझधार में भंवर से जूझ रही हों सांसें .

''हां, बाउस्साब! ...पूरा पढ़ गया हूं... एक नहीं, तीन-चार बार... आपकी भयोह कमला कुमारी चौहान की बात तो मैं नहीं कह सकता क्योंकि वह तो आपके ही काव्य-जगत की नागरिक हैं... लेकिन मैं अपनी क्या बताऊं... अधिकांश हिस्से मैं समझ नहीं पा रहा... आप पहले स्वस्थ हो लें, इसके बाद आपसे ही इसे सुनूंगा-समझूंगा...'' उनकी बढ़ती हिचकियां देख हुबदार के ललाट पर रेखाएं गहरा रही हैं. चिंता चुहचुहा उठी है. बोलने की सहजता का बनावटीपन और घबराहट के बीच खुराक बनाने की जल्दी साफ-साफ दृष्टिगोचर.

''हां! महाकवि, आपका जीवन तो वाग्गंगा बनकर साक्षात् प्रवाहमान है... सर्वोच्च हिमालय से लेकर सर्वाधि सागर तक... इसकी धारा अक्षर है जो सदानीरा गंगाक्षर ही बनी रहेगी...

''मेरे ही भरोसे समझना है, तब तो आप अब कुछ समझे और कुछ बाकी रहा...'' प्रसाद का शीश तकिये पर छटपट-छटपट छिटकने-डोलने लगा है. हिचकियां बड़ी हो

रही हैं, इनके बीच का अंतराल क्रमशः छोटा. प्रत्येक हिचकी पर पूरा शरीर जैसे निचुड़ जा रहा हो लेकिन हर बार वे स्वयं पर लौट आ रहे हैं! छोटी-सी राहत मिलते ही चेहरे का घूमना और दृष्टि का सबकी ओर बिछलना जारी! चलते हुए खाली मुंह की चटपटाहट से गला सूखने और प्यास का स्पष्ट आभास.

लखरानी का विकल संकेत पाकर रत्नशंकर लोटा लेकर पास आ गया है.

पिता के मुंह में बहुत सम्भल-सम्भलकर चम्मच से जल डाल रहा है पुत्र. हर घूंट पर मुखमंडल पर तृप्ति-दीप्ति, गंगा की प्रात-लहरों जैसी. लखरानी ने आंचल के कोरों से आंखें ढंक रखी हैं किंतु बूंदें टप-टप् बाहर छिटक रही हैं. कमला का मुंह खुला है, पलकें तेज़-तेज़ गिर रही हैं. जैसे, सामने घटित हो रहा कुछ भी समझ में ही नहीं आ रहा हो. सम्वेदना हिम हो गयी है.

हुबदार ने जल्दी-जल्दी दवा तैयार कर ली. खुराक डालने के लिए हाथ मुंह के पास बढ़ाया. प्रसाद ने सिर झटकार दिया, ''...अब क्या दवा! डाक्टर साहब, आप मेरे साथी हैं... बस, एक ही काम करियेगा... जितना सम्भव हो मेरे घर-परिवार की खबर लेते रहियेगा... हालांकि जिन्होंने मुझे पाला-सम्भाला वह मातृ-भाभी स्वयं सक्षम हैं... इसलिए मुझे जाते हुए कोई चिंता नहीं है.. यह घर उनके स्नेहांचल की छाया में रक्षित-संरक्षित रहेगा... लेकिन मेरा बच्चा अभी छोटा है, नादान है... बाहर से उस पर ध्यान रखियेगा...''

प्रसाद की हिचकियां तेज और अनियंत्रित हो चली हैं.

कमरे में समय का पहिया थम गया है. सबकी सांसें अटक गयी हैं. रत्नशंकर की भावुकता बह चली है. वह छोटे-छोटे अंतराल पर पिता के मुंह में चम्मच-चम्मच गंगाजल डाले जा रहा है. हूबदार की आंखें भी संयम के किनारे तोड़ चुकी हैं किंतु न जाने कैसे आवाज़ खासा संजीदा ''प्रसाद जी, क्या आपको कुछ कहना है?''

अचानक वाणी प्रच्छन्न हो गयी. न स्वर-भंग, न कोई लड़खड़ाहट, ''...डॉक्टर साहब, पूरा जीवन तो कहता ही रह गया... बताइये, अब तक जो मैंने कहा, क्या वह पर्याप्त नहीं!''

''हां! महाकवि, आपका जीवन तो वाग्गंगा बनकर साक्षात् प्रवाहमान है... सर्वोच्च हिमालय से लेकर सर्वाध सागर तक... इसकी धारा अक्षर है जो सदानीरा गंगाक्षर ही बनी रहेगी... लेकिन मुझे आपसे कुछ पूछना है, बतायेंगे न?'' हूबदार ने आगे झुककर दोनों हाथ थाम लिये हैं.

''हां... हां... मित्र, क्यों नहीं... पूछ लीजिये... पूछिये...'' प्रसाद ने लड़खड़ाता स्वर सम्भालते हुए अपनी नासिका को टोया. सबका ध्यान चला गया, उसमें आयी वक्रता देख सभी सन्न. ललाट से लेकर भौंहों-कपोलों और ठुड्डी तक, पूरे चेहरे की त्वचा खिंचती चली जा रही है. पूरी देह में ऐंठन-बेचैनी, किंतु आश्चर्य कि रह-

रहकर फूट रही वाणी एकदम प्रच्छन्न, "...शीघ्र प्रश्न कीजिये..."

"महाकवि, आप मुझे आदिकवि के महानायक का शुभनाम बता दीजिये..."

"श्रीराम... श्रीरामचंद्र जी... भगवान श्रीराम... श्रीराम..." वाणी में घंटाध्वनि-सी अनुगूंज, नेत्रों से निर्बंध गंगधार. सभी विचलित-व्यग्र. पूरा माहौल उद्विग्न.

"महाकवि, आज देवोत्थान एकादशी है... यह राम-नाम परममोक्षदायी है... पुनः-पुनः उच्चरित कीजिये..."

"श्री...राम... श्री...रा...म... श्रीऽ...राऽ...मऽ... श्रीऽ...राऽ...म... श्रीऽ...राऽ...मऽ..." हिचकियां और लड़खड़ाते उच्चारण साथ-साथ.

"महाकवि, कविकुलगुरु कालिदास के महानायक महादेव जी को गुहारिये... बोलिये... हर हर महादेव! हर हर महादेव!! हर हर महादेव!!! हर हर महादेव!!!!" उद्घोष करते हुए दोनों हाथ ऊपर कर लिये हैं हुबदार ने.

"हर हर महादेव... हर हर... महा...दे...व... ह...र... ह...र... म...हा...दे...व... ह...र... ह...र... म...हाऽ...दे...व... ह...र... ह...र... म... हाऽ... दे... वऽ...!" प्रसाद की ध्वनि क्रमशः डूबती चली जा रही है. आसपास खड़े-बैठे सारे परिजन-हितैषी बेबस, लाचार और निरुपाय. नियति की नियत-बदनीयत लीला देखे जा रहे हैं टुकुर-टुकुर. सिर धुनने लगी है आशा-दीप की लौ! सभी बेबस आंखों के तटबंध टूट गये हैं. गजब विडम्बना! भरी भीड़ में घुसकर काल सबकी आंखों के सामने शिकार कर रहा है, लेकिन अदृश्य होकर. दिलेर की तरह नहीं, चोर बनकर. कोई चाहकर भी इसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकता! रोकना तो दूर, उसे देख या छू पाना तक असम्भव. नियंता की यह कैसी नीति-प्रकृति! नितांत निष्ठुर!

समस्त रुंधे कंठों से फूट रहा है "हर हर महादेव! हर हर महादेव!! हर हर महादेव!!! हर हर महादेव!!!! हर हर महादेव!!!!!"

समवेत स्वर-लहरियों के बीच ही प्रसाद की बुदबुदाहट विलीन.

वे शांत हो गये हैं! आंखें खुली हैं किंतु उनमें अब महातेज नहीं, महाशांति!

अचानक शोक की जैसे आंधी! एक साथ कई तेज़ रुदन-स्वर. करुण. हृदय-विदारक. पार्थिव पांवों पर सिर पटक रही शोकाविह्वल-विकल कमला का कारुणिक विलाप, "अइसन नाऽ हो सकेऽ... अइसन नाऽ होई... अइसन कइसे होई... इनके मूर्च्छा आ गल हौ... जगावाऽ ऐ भइया... इनके कोई जगावाऽ... डाक्टर साहेब इहैं खड़ा हउवन, अइसन कइसे होई... इनके मुंह में दवाई डालाऽ ऐ डाक्टर साहेब! इनके जगाऽ दऽ ऐ भइया... इनके जगाऽ दऽ! इनके जगाऽ दऽ!! कइसहुं इनके जगाऽ दऽ!!!"

लखरानी की आंखों से अविरल धाराएं बह रही हैं. दहाड़ मारकर रोती कमला को झुककर मज़बूती से पकड़े वह सम्भाल रही हैं, बार-बार यही दुहराते हुए "बहू, तोहरे आंचल में तऽ झारखंडी हमेशा रहिअन... तोहार बच्चा के रूप में! ...हमरे गोद हमेशे खातिर उजड़ गल! ईहि गोदी में हम जेकरे पलली-पोसली, बड़ा कइली... हमार उहे बच्चा हमके धोखा देके चल देलन... हमार बच्चा हमरे सामने उठ गल... देख नऽ, हमरे गोदी उजड़ गल... बहू, हमरे गोदी में तऽ आग लग गल..."

कमला के आर्तनाद से सबका कलेजा चाक. डगमगा रहा है महाकाल का महाधैर्य भी!

ब्राह्म मुहूर्त. उपवन के मुरझाये उदास लता-गुल्मों में अचानक संचेतना का उन्मेष. नन्ही पत्तियों में स्पंदन. जैसे, उनमें प्राण-वायु लौट रही हो! पत्ते-पत्ते में जैसे नये रंग, नव गति, नूतन लय और नवल ताल-छंद का सघन संचार होने लगा हो! जो कई दिनों से अनुपस्थित रह सबको शोकमग्न बनाती रहीं, आसपास उन्हीं चिरपरिचित छंदोबद्ध पदचापों की मधुर ध्वनि-उपस्थिति! वही दृष्टि-सृष्टि, वही सांसें-आशें, वही राग-आग! वही अक्षत मुस्कान, चिरसाहचर्य का वही अमर गान!

गंगाराम की हांक पर नींद खुल गयी. रत्नशंकर ने आंखें मलते हुए दरवाज़ा खोला. सामने खड़ा वह घबराया-सा हकलाने लगा, "...ऊ जे एकठे दाढ़ीवाले पहाड़ जइसन बाबा इहां कब्बो-कब्बो आवऽत रलन, ना जाने कब से आके बगइचा में घुसल हउवन... 'हाऽ प्रसाद... हाऽ प्रसाद' बोलत हउवन अउर चारों ओरि भूत जइसन रटऽ-पटऽ रटऽ-पटऽ जमीन धांगत हलवन... बड़का-बड़का डेग से परिकरमा करे जइसन... पहिचान के उनके लग्गे जाके परनाम करे लगली तऽ हम्मे अइस्से आंख तरेरके तकलन कि हम कांप गइली अउर जल्दी से उनके लग्गे से दूर भगली..."

रत्नशंकर ने कमरे की खिड़की खोल बाहर दृष्टि दौड़ायी. दिख गये निराला! सचमुच चप्पा-चप्पा धांग रहे हैं! लगभग दौड़ते हुए. विह्वल और बेचैन. सिर घुमा-घुमाकर चारों ओर दृष्टिपात करते और 'हाऽ प्रसाद... हाऽ प्रसाद' बोलते हुए. पहले तो धक्का-सा लगा किंतु दूसरे ही पल मन के ऊपर से जैसे शोक-पर्वत हवा होता महसूस होने लगा. शिराओं में अवरुद्ध संजीवनी-धाराएं पुनर्प्रवाहित.

वह लगभग दौड़ता हुआ बाहर आ गया है.

पत्थर की चौकी के पास निराला तो ठहर गये हैं, लेकिन उनकी व्यग्रता गतिमान है. भरी हुई आंखें, बड़ी-बड़ी और लाल. 'हाऽ प्रसाद... हाऽ प्रसाद' का नाद जारी. दृष्टि उठाकर गौर से ताकने लगे तो डर-सा लगा. वह रुका नहीं, आगे बढ़ा. पास पहुंच चरण स्पर्श किया. वे जैसे उमड़ पड़े हों. गतिपूर्वक गले लगा लिया. अंकवार में भरे हुए खड़े हैं. 'हाऽ प्रसाद... हाऽ प्रसाद' बोलते हुए! गर्दन के पिछले भाग पर गर्म-गर्म बूंदें टपक रही हैं, रत्नशंकर

के रोयें भरभरा उठे.

एक कदम पीछे हटकर वे चौकी को बड़े ध्यान से निहार रहे हैं. कुछ यों जैसे उस पर साकार देख रहे हों लेटे-अधलेटे प्रसाद को! झुककर ऐसे स्पर्श करने लगे जैसे अपने साहित्यिक अग्रज का विनम्र अभिवादन कर रहे हों, "हाऽ प्रसाद... हाऽ प्रसाद..."!

पितृ-स्मृति स्पंदित रत्नशंकर भावविह्वल.

निराला ने आंखें मूंद ली हैं. बूंदें टपक रही हैं. आवाज़ सजल, "बेटा, मुझे घर के भीतर ले चलो..."

"आइये न... यह तो आपका ही घर है..."

"...जीवन में उन्होंने बहुत संकट झेला किंतु कभी अपने मान-मूल्यों को मलीन नहीं होने दिया... सुंघनी साहु घराने में पैदा होकर भी वे कभी वैभव-बियाबान में गुम नहीं हुए... सदा सरस्वती की समुज्ज्वल साधना में डूबे रहे...

कमरा-कमरा और बरामदा-आंगन धांग रहे हैं निराला. बार-बार निकलते-घुसते हुए. बेचैन और भावविह्वल, "हाऽ प्रसाद... हाऽ प्रसाद"! लखरानी, कमला, रत्नशंकर, रणजीत सिंह, गंगाराम और संतू, जो जहां है वहीं ठिठक गया है. सबकी भावुकता पिघलकर बह रही है.

कई-कई परिक्रमा कर लेने के बाद वे वैसे ही धड़धड़ाते हुए बाहर निकल आये हैं. फिर उसी चौकी के पास जा खड़े हुए हैं. "हाऽ प्रसाद... हाऽ प्रसाद..."!

रत्नशंकर लखरानी, कमला और सभी कर्मी बाहर आ गये हैं.

कुछ पल खड़े रहने के बाद चौकी पर बैठ गये हैं निराला. झुका हुआ सिर दोनों हाथों पर थामे. आंखें खोले, आंसू को निर्बंध छोड़े. लखरानी पास आयीं, "पांडित जी, तूं हम्मे देखाऽ... हमार तऽ गोदे उजड़ गऽल हौऽ लेकिन हम कहां रोवत हई? रोवे से काम चली?...शरीर के जन्म होला, एही से ओकर अंत तऽ तय हौ... इहां जे आइल हौ ओकरे जाहीं पड़ी... धरती पर केहु हमेशा खातिर नइखे आल... इहां ना केहु सदा रहल हौ, ना केहु सदा रही!...धरती पर जब-जब भगवान के भी जन्म भल तब-तब हर बार उनके शरीर के अंत भी भल! ...लेकिन इहां ज़िंदगी के पहिया कभी रूकल ना हौ... ई लगातार घूमते जात हौ... जेकरे सामने चुनौती और दायित्व हौ, ओकरे बहुत बर्दाश्त करे पड़ी... कलेजा पर पत्थर रखहीं के पड़ी... हम तऽ आपन कलेजे के पत्थल बना लेले हई... तूं तऽ खुद विद्वान हउवाऽ... हम तोहें काऽ सिखायी... लेकिन, एक बात हम ज़रूर कहब कि दुःख के दरकिनार कइल जालाऽ... ओह में डूबले रहले से तऽ आगे के रास्ता उलझ जाई ना!... हमार झारखंडी हमरे भरोसे घर अउर ई दुनिया छोड़ के गल हउवन... हम्मे तऽ अब उनके इहे विश्वास के रक्षा करेके हौ... तूं आइल हउवा तऽ अब ई छोटा बच्चा के साहस

दाऽ... येकरे आंसू तूं पोंछाऽ उल्टे तूंही येतना लड़खड़ा जइबाऽ तऽ कइसे काम चली...''

जटिल मौन से उबरने लगे हैं निराला, ''...बेटा, 'शंकर' तो सचमुच अंतर्धान हो गये हैं किंतु उनकी 'जय' सदा-सदा गूंजती रहेगी... और अक्षय 'प्रसाद' का जन-जन में वितरण अनंत काल तक अबाध चलता रहेगा...''

समीप खड़ा रत्नशंकर आंखें फैलाये जैसे जीवन-सूत्र ग्रहण करने में तन्मय.

निराला की वाणी जैसे आत्मा से फूट रही हो, ''...प्रसाद जी तुम्हारे पिता ही नहीं, हमारे श्रद्धेय अग्रज भी रहे... मैंने तो उनमें गोस्वामी तुलसीदास की ही छवि सदा देखी... वही संघर्ष-संघर्षण... वही सृजन-उत्सर्जन... वही मूल्य-मान, वही दान-प्रतिदान! ...बेटा, तुम एक काम ज़रूर करना...'' पल भर के लिए वाणी के पंख जैसे भावनाओं के बवंडर में फिर लटपटा गये हों. वे धीरे-धीरे सिर हिलाते हुए इससे उबरने का प्रयास कर रहे हैं! छोटे-से अंतराल के बाद ही फिर मुखातिब हुए, ''...जीवन में उन्होंने बहुत संकट झेला किंतु कभी अपने मान-मूल्यों को मलीन नहीं होने दिया... सुंघनी साहु घराने में पैदा होकर भी वे कभी वैभव-बियाबान में गुम नहीं हुए... सदा सरस्वती की समुज्ज्वल साधना में डूबे रहे... वस्तुतः हमारे समय के वे सबसे बड़े साधक थे... सच्चे फ़कीर! ...दुनिया जिसे उनका गुलगुला तोसक-गलीचा समझती रही, हकीकत में वह टुकड़े-टुकड़ियों और पैबंदों से गूंथी हुई कंथा रही... फकीर की गुदड़ी! ...लेकिन अपना दुःख-दर्द गा-लहराकर दया बटोरने वालों में वे नहीं थे... उन्होंने 'निज मन की व्यथा मन ही राखो' के संत-सिद्धांत का आजीवन अक्षरशः निर्वहन किया... जीवन भर दुनिया का दुःख-दर्द चित्रित करते रहे किंतु अपनी व्यथा-कथा कभी संसार के सामने जाहिर नहीं होने दी... प्रेमचंद जी ने आत्मकथा लिखने के लिए जब बहुत दबाव डाला तो बाध्य होकर इस निमित्त उन्होंने कलम तो ज़रूर उठायी किंतु यह कार्य बीस-बाईस पंक्तियों की एक कविता-भर के कलेवर में समेट दिया... उसमें उन्होंने क्या कहा है, जरा सुनो तो-'' बोलते-बोलते निराला भाव-विह्वल. बड़ी-बड़ी पलकें मुंद गयी हैं किंतु मोती अबाध छिटक रहे हैं. दाढ़ी पर अटकी-टिकी बूंदों में चमक रही है भाव-विभोर भोर. पृथ्वी-पिंड जैसा प्रदीर्घ शीश हल्के हिल रहा है किंतु भीतर का तीव्र आलोड़न प्रखर मुखर. हाथ हिलने लगे हैं. उंगलियां हारमोनियम वादन के अंदाज़ में हवा पर ही बलाघात करने लगीं हैं. वे सस्वर गाने लगे, ''...मिला कहां वह सुख जिसका मैं स्वप्न देखकर जाग गया... आलिंगन में आते-आते मुस्का कर जो भाग गया... जिसके अरुण कपोलों की मतवाली सुंदर छाया में... अनुरागिनी उषा लेती थी निज सुहाग मधुमाया में... उसकी स्मृति

पाथेय बनी है थके पथिक की पंथा की... सीवन को उधेड़ कर देखोगे क्यों मेरी कंथा की...''

सभी चुप खड़े सुने-ताके जा रहे हैं. आंखें खोल ली है निराला ने. मुखमंडल अत्यंत भावपूर्ण, तिरती-खिंचती उभरती-मिटती रेखाओं का जीवंत अभिव्यक्ति-पृष्ठ बना हुआ. दृष्टि में गहन संवाद-सक्रियता. जैसे, स्वयं से भी समानांतर सघन वार्तालाप चला रहे हों. उन्होंने रत्नशंकर के कंधे पर सस्नेह हाथ रख दिया है, ''...तो, बाबू साहब की गरिमा की सदा रक्षा होनी चाहिए... जीवन भर उनके शीश और हाथ ऊपर ही रहे, कुछ हो जाये तुम कभी कहीं हाथ मत फैलाना...'' रत्नशंकर अभिमंत्रित हो रही मूर्ति की तरह निर्निमिष. सर्वथा शांत, किंतु भाव-सजग. निराला के चेहरे पर अविराम उमड़-घुमड़ रहे हैं सजल-कोमल मनोभाव, रंग-बिरंगी रोशनियों में डुबकी लगा-लगा निकल-उड़ रहे बादलों जैसे. वाणी में स्मृति-तृप्त हृदय का दीर्घ आलाप और अनुभूति-संतृप्त आत्मा की प्रदीर्घ अनुगूंज, ''...वह चंद्र किरीट रजत-नग स्पंदित-सा पुरुष पुरातन... प्रसाद जी सचमुच प्रसाद थे और सदा प्रसाद ही रहेंगे!''

(समाप्त)

श्याम बिहारी श्यामल

जन्म : डाल्टनगंज (अब मेदिनीनगर के रूप में नया नामकरण), पलामू, झारखंड.

आरंभ कविता से, किंतु जल्द ही उस समय चल रहे लघुकथा-आंदोलन से जुड़कर धुंआधार लेखन. तत्कालीन प्रमुख कथा-पत्रिका 'सारिका' में नियमित लघुकथाएं प्रकाशित. पलामू के अकाल पर आधारित उपन्यास 'धपेल' का पहले दैनिक आवाज के साप्ताहिक परिशिष्ट में लगभग डेढ़ साल तक धारावाहिक और 1998 में राजकमल से पुस्तकाकार प्रकाशन. दूसरा उपन्यास 'अग्निपुरुष' भी पलामू की ही पृष्ठभूमि पर, किंतु भ्रष्टाचार को विषय बनाकर लिखी कृति, जिसका अखबार में धारावाहिक के बाद राजकमल पेपरबैक्स से 2001 में पुस्तकाकार प्रकाशन. फिलहाल बनारस के मछुआरों के जीवन-संघर्ष पर आधारित नए उपन्यास 'ज़िंदगी जंक्शन' पर कार्य में व्यस्त. 1982 से 1986 तक हिन्दी साप्ताहिक 'पलामू दर्शन' (डाल्टनगंज, झारखंड) में संपादक. 1988 से 1991 तक धनबाद में दैनिक आज में वरिष्ठ उपसम्पादक के रूप में कार्य. 1991 के उत्तरार्द्ध से 2000 तक धनबाद में ही दैनिक आवाज में फीचर सम्पादक. संप्रति दैनिक जागरण में मुख्य उप संपादक. संपर्क : 09450955978

कलुआ बना कालनेमी

• शशिकांत सिंह 'शशि'

चुहिया को बाघ में बदल देने वाले बाबा का नाम तो आपने सुना ही होगा, बड़े पहुंचे हुए बाबा हैं. उनकी ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई है. कई बार तो किसान अपने घर के चूहे पकड़कर लाते हैं. उसे बैल बना देने की याचना करते हैं. कोई चुहिया लेकर आता है और कहता है कि एक कुतिया बना दें. आजकल कुत्ते या कुतिया रखना एक महान फैशन है. इससे समाज में इज़्ज़त बढ़ती है. यह सब तो ठीक है मगर एक बार तो हद हो गयी. एक नौजवान भागता हुआ आया और बाबा के पांवों पर गिर गया. बेचारा एक प्रातःस्मरणीय डाकू रहा था. अत्यंत ख्याति अर्जित की थी. किसी दुश्मन ने एकबार उसे बहका दिया कि वाल्मीकि बन जाओ. वाल्मीकि बनकर अमर हो जाओगे. पढ़े-लिखे तो हो ही महात्मा जी की शरण में जाओ वे तुम्हें शरीफ और ईमानदार आदमी बना देंगे. समाज में सच्ची इज़्ज़त होगी. इस बहकावे में आकर बेचारे की ज़िंदगी बदल गयी. महात्मा जी के चरणों पर आ गिरा.

"महात्मा जी! मैं कुख्यात कलुआ पहलवान हूं. आपने नाम तो सुना ही होगा. मगर मैं अब डाके, कत्ल, रहजनी आदि कर-करके थक चुका हूं. आप मुझे गुंडे से विद्वान आदमी बना दें ताकि समाज में मेरी सच्ची इज़्ज़त हो सके. मैं शराफ़त और ईमानदारी का जीवन जीना चाहता हूं.

पहले तो बाबा घबराये फिर सम्भलकर मुस्कराये. उन्होंने मुस्कराकर नौजवान को देखा. बोले– "वत्स! यह भ्रम आपको कैसे हो गया कि समाज में शराफ़त और ईमानदारी की इज़्ज़त होती है. इज़्ज़त तो आप जैसे लोगों की ही होती है. सज्जनता और विद्वता, ये दोनों गुण यदि एक ही आदमी में हो जायें, तो समझो उसके दुर्दिन शुरू हो गये. तुम क्यों अपनी ज़िंदगी बरबाद करना चाहते हो. जैसे हो ठीक हो. नाम है, उसको भुनाना सीखो बदलने की कोशिश मत करो."

'आप मुझे टाल रहे हैं. मैंने आपका बहुत नाम सुना है. आपने चुहिया को बाघ बना दिया था. मैं बड़ी उम्मीद लेकर आपके पास आया हूं. आपने मेरी मदद नहीं की तो मजबूरन मुझे फिर से खून-खराबा करना पड़ेगा."

बाबा सोच में पड़ गये. उन्होंने सोचा मूर्ख है, मानेगा नहीं. नादान है. इसे दुनिया

की समझ नहीं है. यदि समझाने की कोशिश अधिक की गयी तो क्या पता एक निशाना लगा ही दे. उन्होंने एक कोशिश और की–

'तुम पुलिस के सामने आत्मसमर्पण क्यों नहीं कर देते? सजा काटने के बाद...''

''महात्मा जी, आप फिर मुझे बहला रहे हैं. आत्मसमर्पण करने से क्या होता है? अखबारों में नाम आयेगा. अपराधी संसार भगोड़ा मान लेगा. पुलिस भी हिकारत की नज़र से देखेगी कि कमाऊ पूत हाथ से निकल गया. दूसरे दिन से जेल में डालकर सब भूल जाएंगे. सज़ा काटते-काटते उम्र निकल जाएगी. आप मुझे बदल दीजिए. मैं बाकी की ज़िंदगी आराम से बिताना चाहता हूं. मैं वाल्मीकि की तरह अपराध छोड़कर रामायण-वमायण लिखना चाहता हूं.''

महात्माजी ने हाथ में कमंडल लिया. मंत्र पढ़कर जल छिड़कते ही कलुआ पहलवान एक दिव्य पुरुष में परिवर्तित हो गया. चौड़ा ललाट, लम्बी जनेऊ, हाथ में एक पोथी. अर्थात विद्वानों के जितने लक्षण होते हैं सब. अत्यंत विनम्रतापूर्वक उसने निवेदन किया– गुरुदेव! आपके कृपा-कमंडल से उत्पन्न हुआ हूं. अब आप मेरा नामकरण भी करने की कृपा करें. मैं क्या लिखूं मुझे इंगित करें. आपका अनुग्रहीत हूं.'

'आज से तुम्हारा नाम होगा. कालेश्वर तुम वर्तमान युग का पहले अध्ययन करो. तदुपरांत लेखन कार्य में जुट जाना.'

कालेश्वर जी अत्यंत मुदित मन से चल पड़े. घूमते-घूमते किसी नगर में आ निकले. जंगल में रहकर तो पहले ही ऊब ही गये थे. गांवों की ओर जाने से कैरियर नहीं बनेगा, इतनी बात वह डाकू रहते हुये भी जानते थे. नगर की धर्मशाला में ठहरे और नगर के प्रतिष्ठित लोगों से मिलने की जुगत में रहने लगे.

एक दिन, किसी सज्जन से मिलने पहुंचे. नगर के सबसे धनी व्यक्ति होने के नाते वे एक इज़्ज़तदार आदमी थी. उन्होंने कालेश्वर स्वामी को सम्मान के साथ बिठाया. सामान्य शिष्टाचार के बाद पूछा–

'आप करते क्या हैं?'

'जी, मैं कवि हूं.'

'नहीं, वो तो ठीक है. मगर आप करते क्या हैं?'

'मुझे चारों वेदों का ज्ञान है. वेदांत पर भी पकड़ रखता हूं. मै प्राचीन भाषाओं का ज्ञान भी रखता हूं.'

'अच्छा! मगर आप करते क्या हैं. वेद-वेदांत तो ठीक है लेकिन रोजी-रोटी के लिए तो कुछ काम-धाम करना ही होगा.''

कालेश्वर स्वामी का माथा चकराया. वेद-वेदांत तो ठीक है मगर काम धाम तो करना ही होगा. अर्थात बिना काम-धाम के समाज में इज़्ज़त नहीं मिलेगी. वाल्मीकि ने रामायण कैसे लिखी होगी? इसीलिए बेचारे नगर में नहीं आये जंगल चले गये. नगर में रहते तो रोटी के चक्कर में फंस जाते कविता तो क्या करते. पेट ले डूबता. संन्यासी तो बना जा सकता है लेकिन लाभ क्या? डाकू रहे तब भी जंगल में ही रहे. विद्वान हो गये तो भी जंगल में ही रहना होगा.

कालेश्वर जी अब नौकरी के लिए प्रयास करने लगे. डाकू थे उस समय तो उनके रिश्तेदारों की कमी नहीं थी. अब कोई आगे नहीं आ रहा था. रिश्वत देने की बात सोची ही नहीं जा सकती थी. खाने के लाले पड़े थे. दर-दर की ठोकरें खाने लगे. धर्मशाला वालों ने बाहर निकाल दिया.

किसी मंदिर में जाकर रहने लगे. वहां का महंत महाचंट आदमी था. पूरे ज़माने को घोल के पी चुका था. उसको शक हुआ कि बंदा कहीं महंतई पर तो हाथ साफ़ करने के चक्कर में नहीं है. उसने तंग करना शुरू किया. तंग करने की जितनी विधियां होती हैं. उसके अलावा उसके पास कुछ मौलिक भी थी. वह लोगों को उनके खिलाफ भड़काता. ढोंगी, पाखंडी पता नहीं क्या-क्या कहता. विद्वान व्यक्ति की शोभा विनम्रता में है इसलिए कालेश्वर स्वामी सहे जा रहे थे. एक दिन ऐसा भी आया जब मंदिर वालों ने उन्हें वहां से पांव-पूजा करके निकाल दिया. भिक्षाटन के सिवा अब कोई चारा नहीं बचा. बेचारे भागे बाबा के पास. एकबार फिर चरणों पर जा गिरे. बोले-

''बाबा! जान बचाइए. मारे भूख के मरा जा रहा हूं. न रोजी का जुगाड़ है न रोटी का. मैं विद्वान हूं यह तो लोग मानते हैं लेकिन उससे इज्ज़त नहीं मिलती. ऐसे में ग्रंथ लिखने की योजना कैसे पूरी होगी. पेट भरे तो लिखने की बात दिमाग में आये. आंखे बंद करता हूं तो केवल ताजी सोंधी रोटियां ही दिखती है. कोई काम वाम का जुगाड़ हो तो कर दीजिए''

महात्मा जी की आंखों से अविरल अश्रु बहने लगे. बोले-

''वत्स! यदि काम का जुगाड़ लगाना इतना असान होता तो मैं गृहस्थ से संन्यासी क्यों बन जाता. तुम्हें क्या लगता है कि मैं शौक से इस घने जंगल में चूहे को बाघ बनाता रहता हूं. बेराजगारी के कारण नौकरी नहीं मिली. घर नहीं बसा सका तो संन्यासी हो गया. नौकरी करना चाहता है तो अपनी डिग्री भूल जा. शारीरिक मेहनत करेगा तो रोजी चल पड़ेगी.''

''मैं ये सारे वेद-वेदांत भूलना चाहता हूं. कृपा करके...''

''चिंता मत करो. एक महीने अगर दिन रात की कमरतोड़ मेहनत हो गयी तो अगले दिन क्या करना है इसके अलावा कुछ याद नहीं रहेगा.''

अब कालेश्वर से नाम एक बार फिर कलुआ हो गया. दिन भर हाड़-तोड़ मेहनत करते-करते सूख के लकड़ी हो गये. वेद-उपवेद तो गया गतालखाते में. छंद रचने की बात दिमाग में आती ही नहीं थी. सुबह जाकर नगर चौक पर खड़े हो जाते. जो काम मिलता करते. शाम में अगर पैसे मिल जाते तो इतनी खुशी होती कि ठर्रा मार कर ही आते. हां, मुहल्लेवाले जब- 'रे कलुआ' कहकर बुलाते थे तो बुरा लगता, लेकिन मजबूरी थी. सुनना ही पड़ता. कभी-कभी एक आध कविता दिमाग में आती, तो लिखना चाहते. अभी भी वाल्मीकि बनने के संपने मरे नहीं थे. वैसे भी सपने सोते हैं

मरते नहीं हैं.

एक रात, दिया जलाकर कविता रच रहे थे कि एक दूसरा मजदूर आ गया. कलुआ के हाथ में कलम देखकर घबराया और लौटने लगा–

"आओ यार! क्यों लौट रहे हो? मैं तो यूं ही एक गीत लिख रहा था."

"तुम कवि हो?"

"नहीं, हूं तो नहीं, पर बनने पर तुला हूं. वैसे भी कविता लिखने के लिए कवि होना क्या ज़रूरी है? आदमी पहले कविता लिखेगा तब तो कवि होगा. मैं एक ग्रंथ लिखने की सोच रहा हूं."

"इसका मतलब कि तुम जो दिखते हो वह हो नहीं. सच-सच बताओ कि तुम चीज़ क्या हो? हो सकता है, मैं तुम्हारे किसी काम आ जाऊं. क्योंकि मैं भी जो दिखता हूं वह हूं नहीं."

"तुम कौन हो?"

"मैं पहले प्रवचन करता था. बाबा था. एक बार सरकार के खिलाफ बयानबाज़ी कर बैठा. तब से पुलिस किसी न किसी केस में मेरी तलाश करती ही रहती है. एक बार तो नौबत यहां तक आ पहुंची कि महिला के कपड़े पहन कर भागा. अब मज़दूरी करके काम चला रहा हूं. दूसरी पार्टी की सरकार बनेगी तो फिर कालाधन के खिलाफ लड़ूंगा तब तक..."

"मैं क्या बताऊं. ज्ञान की तलाश में भटक रहा हूं. पहले अपराधी था. नाना प्रकार के अपराधकर्म करता था. महात्मा जी की कृपा से विद्वान बन गया. भूखों मरने की नौबत आ गयी अब पेट के लिए मज़दूरी कर रहा हूं."

"कहीं तुम कलुआ पहलवान तो नहीं हो?"

"हां! मगर अब अपराध कर्म छोड़कर वाल्मीकि की राह पर चल पड़ा हूं. अमरत्व की खोज है. प्रतिष्ठा अर्जित करना चाहता हूं.

"हद हो गयी यार. इतनी ऊंचाई पर पहुंच कर इतना पतन. कलुआ पहलवान होकर तुम मज़दूरी कर रहे हो. जानते हो, वाल्मीकि कवि क्यों बन गये? उन दिनों लोकतंत्र नहीं या राजतंत्र में उनके लिए कोई स्कोप नहीं था. आज तो भले आदमी, आप राजनीति में जाइए. इतना महान अपराधकर्मी!! साक्षात दिख रहा है कि आप राजनीति के लिए ही बने हैं. आपने वाल्मीकि की कहानी पढ़ी, फूलन देवी की नहीं. फूलन देवी अपराधकर्म से रिटारमेंट के बाद नेता बनीं थीं. सफल भी रहीं. आप तो भटक गये. राजनीति ही एक ऐसी राह है जिस पर नाम और नामा दोनों हैं. एक बार सांसद-विधायक कुछ बन जाओ उसके बाद तुम्हारी जयंती मनने लगेगी. हो गये अमर. नहीं तो सचमुच में एक दो अच्छे काम कर देना. अपराधियों का बुढ़ापा इसी में सुरक्षित है. कलिकाल में नेता पद ही परमपद है. इसे प्राप्त करना ही मानव मात्र का पहला और अंतिम पुरुषार्थ है." कलुआ पहलवान का माथा चकराया. भागता हुआ पहुंचा महात्मा जी के पास. उनके चरणों में माथा रखकर मार्गदर्शन की याचना करने लगा.

''बाबा! मैं दिन रात मेहनत करता हूं. मांस तो गल ही गया अब हड्डी की बारी है. रात में सोचता हूं कि एक दो छंद रच लूं लेकिन नींद के मारे आंख ही नहीं खुलती. ऐसे में समझ में नहीं आता कि वाल्मीकि कैसे बनूंगा. एक मेरे मित्र हैं जो मुझे राजनीति की राह बता रहे थे. आप बताएं कि मैं क्या करूं?''

''वत्स! इस युग में भी सद्‌मित्र हैं. मुझे विश्वास हो गया कि अभी घोर कलयुग नहीं आया है. तुम वही करो जो तुम्हारे मित्र करने के लिए कहते हैं. मगर जब राजनीति में जाना ही था तो तुम पहले ही ठीक थे. सुगम मार्ग तो वहीं से था.''

''क्यों महाराज! एक विद्वान और सज्जन आदमी यदि राजनीति में जाना चाहता है तो बाधा क्या है? गुंडे ही राजनीति करें तब तो देश की बड़ी दुर्दशा होगी.''

''सत्यवचन! बेटा! राजनीति में करोड़ों रुपये की ज़रूरत होती है. एक विद्वान और सज्जन आदमी कहां से लायेगा? तुमने देखा न कि पेट चलाना कितना कठिन हो गया था. ऐसे में देश कैसे चलेगा? सर्वेश्वर तुम्हें सदबुद्धि दें. जाओ. देखो. भुगतो.''

अब कलुआ पहलवान की दूसरी पारी शुरू हुई. नेताओं से सम्पर्क साधना. उनके आगे पीछे करना. झंडे ढोना. रैलियों में भीड़ जुटाना. मंचों से लच्छेदार भाषण देना. पोस्टरों के लिए कविताएं लिखना. जोरदार नारे लिखना. बड़े नेताओं के भाषण लिखना. बस इतनी ही प्रगति हो सकी. पांच वर्षों तक हाथ पांव चलाने के बाद, दाल यहां भी नहीं गली. नेता पहले तो कलुआ की बात सुनते नहीं थे. बड़ी मुश्किल से किसी नेता ने मिलने का समय दिया भी तो राजनीति की बात सुनते ही हंसने लगते. 'कलुआ' और राजनीति! एक ने तो साफ़-साफ़ कह दिया-

''देखो भई! माना कि आप कभी अपराधकर्मी रहे हैं लेकिन उसके बाद आपने अपने पांव पर खुद ही कुल्हाड़ी मारी. क्या ज़रूरत थी विद्वान बनने की. आपको कर्ल्क तो बनना नहीं था. देश चलाने के लिए विद्वान की ज़रूरत नहीं है. कौशल की ज़रूरत है कि दूसरे की विद्वता से कैसे लाभ उठाया जाये. उसके बाद तो और हद कर दी आपने. मज़दूर बन गये. बताइए तो भला मज़दूर बनने के बाद आपको कोई वोट देगा. यह राजाओं का देश है जो राजा की तरह रहता है उसे ही वोट मिलता है. जनता चमत्कार चाहती है. उसे सुपरमैन चाहिए, मज़दूर नहीं. अब तो कुछ नहीं हो सकता. कुछ ऐसा करो कि सिक्का जम जाये. भाषा या क्षेत्र के नाम पर आग उगलना शुरू कर दो. सर्वधर्मसमभाव छोड़ो. सर्व धर्म अभाव शुरू करो. नफ़रत की राजनीति करोगो तो जल्दी ही ऊपरवाले पायदान पर पहुंच जाओगे नहीं तो ढोते रहो झंडे. गाड़ते रहो डंडे.''

इतना सुनने के बाद भी कलुआ पहलवान ने अपना अभियान जारी रखा. राजनीति में जाने के दो-तीन मार्ग और थे. एक था समाजसेवा का जिससे पहुंचा तो जा सकता था लेकिन कब? इसकी गारंटी नहीं थी. एक था बाबा बनने का लेकिन अपने मित्र की

हालत देखने के बाद हौसला भी नहीं रहा. नाम और दाम दोनों कमाने के लिए क्या किया जाये? यह यक्ष प्रश्न सामने खड़ा था. आखिर एक गुरु मिल ही गये. उन्होंने सारी बातें सुनी और गम्भीरता से बोले–

"तरीका तो एक ही है. आप एक बार फिर से अपराधकर्म में लौट जायें. आप अपनी खोई हुई इज़्ज़त को प्राप्त करें. जब एक बार फिर से नाम का डंका बजने लगे तो एक दिन संन्यास की घोषणा करके राजनीति में आइए. मेरी पार्टी ही आपको टिकट दे देगी. आप जहां से चाहें वहां से दे देगी."

अब बात कलुआ पहलवान की समझ में आ गई. भागते हुए पहुंचे महात्माजी के चरणों में. उनके चरण पकड़कर बैठ गये. बोले–

"बाबा! आप मुझे एक बार फिर से वही पुराना कलुआ पहलवान बना दें. मैं अपराधकर्म में ही अपनी सद्गति देख रहा हूं. मेरा कल्याण उसी में निहित है. यदि राजनीति में सफल रहा तो आपको भी महानगर में ले चलूंगा. इस प्रकार जंगल में रहकर चुहिओं को कबतक बाघ बनाते रहेंगे. यह तो प्रतिभा का दुरुपयोग है."

महात्मा जी मुस्कुराये. उन्होंने कमंडल लिया और मंत्र के बल पर कलुआ को कलुआ पहलवान बना दिया.

वर्तमान में कलुआ जी विधायक हैं. अब उनका नाम कालनेमी है. उनके पास कार और कोठियों की कमी नहीं है. उनकी तीन-तीन पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं. उनमें दो अंग्रेजी [illegible] मौलिक [illegible] हैं. एक पर तो अंतराष्ट्रीय पुरस्कार भी प्राप्त हो चुका है. ग्रंथ लिखने की योजना उनकी पूरी हो चुकी है. आलोचक उन्हें आधुनिक वाल्मीकि की संज्ञा देते हैं. यह सुनना विधायक जी को बहुत पसंद हैं. वह एक प्रख्यात समाजसेवी, क्रांतिकारी, समाजवत्सल, करुणानिधान नेता हैं. उन्होंने भारतीय राजनीति और साहित्य दोनों को नयी दिशा दी है. नयी दिशा ही नहीं दी बल्कि नयी बुलंदियों तक पहुंचाया है. ये बातें सभी अखबार और पत्रिकाएं अपने सम्पादकीय में लिखती हैं. उनके गीतों के कैसेट बाज़ार में आ गये हैं. उसे गाने के लिए बड़े गायकों में आपसी प्रतिस्पर्द्धा होती है. लगभग प्रत्येक सभा के वे अध्यक्ष रहते हैं. उनके कर कमलों से पता नहीं कितने पुलों और बांधों के उद्घाटन हो चुके हैं. अब तो, उन्हें माननीय न्यायालय से भी बाइज़्ज़त बरी कर दिया गया है. उनके विरुद्ध गवाह और सबूत नहीं मिले. आज अगर कालनेमी जी नहीं रहें तो देश को एक अपूरणीय क्षति होगी.

कालनेमी जी इतने बड़े विद्वान कैसे हो गये. यह प्रश्न तो उचित ही है. दरअसल महात्मा जी जो चूहे को बाघ बनाया करते थे, लेखक के तौर पर कार्यरत हैं. ग्रंथ पूरा होने के बाद उस पर केवल कालनेमी जी के हस्ताक्षर ले लिए जाते हैं. हस्ताक्षर करना तो कालनेमी जी ने अपनी मेहनत और लगन से सीखा है इसमें कोई धांधली नहीं है. ❑

वाल्मीकि रामायण

एकोनषष्टितमः सर्गः

ततः प्रभाते विमले कृत्वा पौर्वाह्णिकीं क्रियाम्।
धर्मासनगतो राजा रामो राजीवलोचनः।।1।।

राजधर्मानवेक्षन् वै ब्राह्मणैर्नैगमैः सह।
पुरोधसा वसिष्ठेन ऋषिणा कश्यपेन च ।।2।।

तदनंतर निर्मल प्रभातकाल में पूर्वाह्णकालोचित संध्यावंदन आदि नित्य कर्म करके कमलनयन राजा श्रीराम राजधर्मों का पालन (प्रजाजनों के विवाद का निपटारा) करने के लिए वेदवेत्ता ब्राह्मणों, पुरोहित वसिष्ठ तथा कश्यप मुनि के साथ राजसभा में उपस्थित हो धर्म (न्याय) के आसन पर विराजमान हुए.

मन्त्रिभिर्व्यवहारज्ञैस्तथान्यैर्धर्मपाठकैः ।
नीतिज्ञैरथ सभ्यैश्च राजभिः सा सभा वृता ।।3।।

वह सभा व्यवहार का ज्ञान रखनेवाले मंत्रियों, धर्मशास्त्रों का पाठ करनेवाले विद्वानों, नीतिज्ञों, राजाओं तथा अन्य सभासदों से भरी हुई थी.

सभा यथा महेन्द्रस्य यमस्य वरुणस्य च ।
शुशुभे राजसिंहस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः ।।4।।

अनायास ही महान कर्म करनेवाले राजसिंह श्रीराम की वह सभा इंद्र, यम और वरुण की सभा के समान शोभा पाती थी.

अथ रामोऽब्रवीत् तत्र लक्ष्मणं शुभलक्षणम् ।
निर्गच्छ त्वं महाबाहो सुमित्रानन्दवर्धन ।।5।।
कार्यार्थिनश्च सौमित्रे व्याहर्तुं त्वमुपाक्रम ।

वहां बैठे हुए भगवान श्रीराम ने शुभलक्षणसम्पन्न लक्ष्मण से कहा- 'माता सुमित्रा का आनंद बढ़ानेवाले महाबाहु वीर! तुम बाहर निकलो और देखो कि कौन-कौन-से कार्यार्थी उपस्थित हैं. सुमित्राकुमार! तुम उन कार्यार्थियों को बारी बारी-से बुलाना आरम्भ करो'.

रामस्य भाषितं श्रुत्वा लक्ष्मणः शुभलक्षणः ।।6।।
द्वारदेशमुपागम्य कार्यिणश्चह्वयत् स्वयम् ।
न कश्चिदब्रवीत् तत्र मम कार्यमिहाद्य वै ।।7।।

श्रीरामचंद्रजी का यह आदेश सुनकर शुभलक्षण लक्ष्मण ने द्वारदेश पर आकर स्वयं ही कार्यार्थियों को पुकारा, परंतु कोई भी वहां यह न कह सका कि मुझे यहां कोई कार्य है.

नाधयो व्याधयश्चैव रामे राज्यं प्रशासति ।
पक्कसस्या वसुमती सर्वौषधिसमन्विता ।।8।।

श्रीराम के राज्य-शासन करते समय न तो कहीं किसी को शारीरिक रोग होते थे और न मानसिक चिंताएं ही सताती थीं. पृथ्वी पर सब प्रकार की औषधियां (अन्न-फल आदि) उत्पन्न होती थीं और पकी हुई खेती शोभा पाती थी.

न बालो म्रियते तत्र न युवा न च मध्यमः ।
धर्मेण शासितं सर्वं न च बाधा विधीयते ।।9।।

श्रीराम के राज्य में न तो बालक की मृत्यु होती थी न युवक की और न मध्यम अवस्था के पुरुष की ही. सबका धर्मपूर्वक शासन होता था. किसी के सामने कभी कोई बाधा नहीं आती थी.

दृश्यते न च कार्यार्थी रामे राज्यं प्रशासति ।
लक्ष्मणः प्राञ्जलिर्भूत्वा रामायैवं न्यवेदयत् ।।10।।

श्रीराम के राज्य-शासनकाल में कभी कोई कार्यार्थी (अभियोग लेकर आनेवाला

पुरुष) दिखायी नहीं देता था. लक्ष्मण ने हाथ जोड़कर श्रीरामचंद्रजी को राज्य की ऐसी स्थिति बतायी.

अथ रामः प्रसन्नात्मा सौमित्रिमिदमब्रवीत् ।
भूय एव तु गच्छ त्वं कार्यिणः प्रविचारय ।।11।।

तदनंतर प्रसन्नचित्त हुए श्रीराम ने सुमित्राकुमार से पुनः इस प्रकार कहा- 'लक्ष्मण! तुम फिर जाओ और कार्यार्थी पुरुषों का पता लगाओ.

सम्यक्प्रणीतया नीत्या नाधर्मो विद्यते क्वचित् ।
तस्माद् राजभयात् सर्वे रक्षन्तीह परस्परम् ।।12।।

'भलीभांति उत्तम नीति का प्रयोग करने से राज्य में कहीं अधर्म नहीं रह जाता है. अतः सभी लोग राजा के भय से वहां एक दूसरे की रक्षा करते हैं.

बाणा इव मया मुक्ता इह रक्षन्ति मे प्रजाः।
तथापि त्वं महाबाहो प्रजा रक्षस्व तत्परः ।।13।।

'यद्यपि राजकर्मचारी मेरे छोड़े हुए बाणों के समान यहां प्रजा की रक्षा करते हैं, तथापि महाबाहो! तुम स्वयं भी तत्पर रहकर प्रजा का पालन किया करो'.

एवमुक्तस्तु सौमित्रिर्निर्जगाम नृपालयात् ।
अपश्यद् द्वारदेशे वै श्वानं तावदवस्थितम् ।।14।।

तमेव वीक्षमाणं वै विक्रोशन्तं मुहुर्मुहुः ।
दृष्टाथ लक्ष्मणस्तं वै स पप्रच्छाथ वीर्यवान् ।।15।।

श्रीराम के ऐसा कहने पर सुमित्राकुमार लक्ष्मण राजभवन से बाहर निकले. बाहर आकर उन्होंने देखा, द्वार पर एक कुत्ता खड़ा है, जो उन्हीं की ओर देखता हुआ बारम्बार भौंक रहा है. उसे इस प्रकार देखकर पराक्रमी लक्ष्मण ने उससे पूछा-

किं ते कार्यं महाभाग ब्रूहि विस्रब्धमानसः।
लक्ष्मणस्य वचः श्रुत्वा सारमेयोऽभ्यभाषत ।।16।।

'महाभाग! तुम निर्भय होकर बताओ, तुम्हारा क्या काम है?' लक्ष्मण का यह वचन सुनकर कुत्ते ने कहा-

सर्वभूतशरण्याय रामायाक्लिष्टकर्मणे ।
भयेष्वभयदात्रे च तस्मै वक्तुं समुत्सहे ।।17।।

'जो समस्त भूतों को शरण देनेवाले और क्लेशरहित कर्म करनेवाले हैं, जो भय के अवसरों पर भी अभय देते हैं, उन भगवान श्रीराम के समक्ष ही मैं अपना काम बता सकता हूं'.

एतच्छ्रुत्वा च वचनं सारमेयस्य लक्ष्मणः।
राघवाय तदाख्यातुं प्रविवेशालयं शुभम् ।।18।।

कुत्ते का यह कथन सुनकर लक्ष्मण ने श्रीरघुनाथजी को इसकी सूचना देने के लिये सुंदर राजभवन में प्रवेश किया.

निवेद्य रामस्य पुनर्निर्जगाम नृपालयात् ।
वक्तव्यं यदि ते किंचित् तत्त्वं ब्रूहि नृपाय वै ।।19।।

श्रीराम को उसकी बात बताकर लक्ष्मण पुनः राजभवन से बाहर निकल आये और उससे बोले- 'यदि तुम्हें कुछ कहना है तो चलकर राजा से कहो'.

लक्ष्मणस्य वचः श्रुत्वा सारमेयोऽभ्यभाषत ।
देवागारे नृपागारे द्विजवेश्मसु वै तथा ।।20।।

वह्निः शतक्रतुश्चैव सूर्यो वायुश्च तिष्ठति ।
नात्र योग्यास्तु सौमित्रे योनीनामधमा वयम् ।।21।।

लक्ष्मण की वह बात सुनकर कुत्ता बोला- 'सुमित्रानंदन! देवालय में राजभवन में तथा ब्राह्मण के घरों में अग्नि, इंद्र, सूर्य और वायुदेवता सदा स्थित रहते हैं; अतः हम अधमयोनि के जीव स्वेच्छा से वहां जाने के योग्य नहीं हैं.

प्रवेष्टुं नात्र शक्ष्यामि धर्मो विग्रहवान् नृपः ।
सत्यावादी रणपटुः सर्वसत्त्वहिते रतः ।।22।।

'मैं इस राजभवन में प्रवेश नहीं कर सकूंगा; क्योंकि राजा श्रीराम धर्म के मूर्तिमान स्वरूप हैं. वे सत्यवादी, संग्रामकुशल और समस्त प्राणियों के हित में तत्पर रहनेवाले हैं.

अप्प दीपो भव

● दिनेश थपलियाल

उम्र होगी कोई दस-ग्यारह साल. चीड़ के घने जंगल से गुजरती पगडंडी के एक तरफ़ सीधे खड़े पहाड़, तो दूसरी तरफ़ सैकड़ों फीट गहरी खाई. भारी बस्ता पीठ पर लादे वह स्कूल जा रहा था. गुरुजी देर में आने से नाराज़ होते हैं, तभी तेज़ कदम बढ़ाता वह साथियों से काफ़ी आगे निकल आया था. तार-तार हो गये कुरते-पाजामे में ढका, पूस की बर्फीली हवाओं में सूखे पत्ते-सा कांपता कमज़ोर बदन. नुकीले पत्थरों की ठोकरों से लहू-लुहान हो गये नंगे पैरों के नाखून. काले बांसे और करौंदे के जाने कितने कांटे तलुओं पर चुभे हुए. नज़रें झुकाये वह चला जा रहा था.

अचानक उसकी नज़र उठी. वह सहम गया. रास्ते के ठीक बीचों-बीच बैठा बाघ उसे घूर रहा था. गले से आवाज़ तक नहीं निकल सकी. बदन पसीने से तर हो गया. अभी हफ्ता भर पहले ही तो उसकी सहपाठी देवेश्वरी नरभक्षी बाघ का शिकार बनी थी. आस-पास के गांवों की कई भेड़ बकरियां भी उसका निवाला बन चुकी थीं. पंद्रह-बीस फीट की दूरी पर मौत घात लगाये उसे घूर रही थी.

वक्त कम था. फैसला जल्दी लेना था. धीरे-धीरे वह खाई की तरफ़ पीछे हटने लगा. तभी अचानक बाघ ने हमला कर दिया. इससे पहले कि बाघ उसे दबोच पाता, वह पास खड़े चीड़ के पीछे छिप चुका था. फिर भी बायें हाथ का कोना बाघ के पंजे से टकरा ही गया. बाजू से खून रिसने लगा. आंखों के आगे अंधेरा छा गया. जब घाटी से बाघ की दर्दनाक दहाड़ उठी और आसपास में चील कौए घिरने लगे, तब जाकर उसके होश-हवास लौट सके. स्कूल पहुंच कर गुरुजी ने बस इतना ही कहा था- इतना होनहार बच्चा और ऐसी दुर्दशा! तेरा दुर्भाग्य है बेटा कि तू यहां पैदा हुआ.

...करीब पचास साल बीत चुके हैं उस किस्से को. यही है जगह, जहां उसका प्राइमरी स्कूल था. सामने दिखाई दे रहा है चीड़ का वह जंगल, जहां नरभक्षी बाघ से दस-बारह साल के विद्यार्थी का सामना हुआ था...

सुबह से ही आस-पास के गांवों से लोगों का आना-जाना लगा हुआ है. प्रवेश द्वार के पास हरी-भरी घास के लान में सुनहरे रंग की आदमकद बुद्ध प्रतिमा लगी है. डॉ. विनोद उसके पास से गुजरते हुए थोड़ी देर के लिए रुक जाते हैं.

प्रतिमा के नेत्र आधे खुले हैं, मुख पर असीम़ शांति का भाव, अभयदान की मुद्रा

में उठा हाथ और हृदय के ठीक सामने बना एक प्रकाशमान दीपक. साथ चल रहे पत्रकार बुद्ध प्रतिमा को एकटक देखने लगे तो मुस्करा कर पूछ बैठे डॉ. विनोद– "कहां खो गये वागीश?"

वागीश का ध्यान टूटा, बोले– "इस खूबसूरत मूर्ति को देख रहा था. लगता है जैसे बुद्ध कह रहे हों- 'अप्प दीपो भव'. बड़ा ही क्लासिकल टेस्ट है आपका डॉक्टर."

मुस्कराते हुए बोले डॉ. विनोद– "सभी के जीवन में मुश्किलें आती हैं वागीश जी, मगर वे मुश्किलें किसी और की नहीं, हमारी होती हैं. उनका हल हमें ही निकालना होता है. यह उम्मीद करना कि अपना काम-धंधा छोड़कर कोई हमारे अंधेरे रास्ते में दीपक लिए खड़ा होगा- क्या गलत नहीं है? क्या हमें अपना दीपक आप ही नहीं बनना चाहिए? अपना भला-बुरा खुद ही तय नहीं करना चाहिए?

धाराप्रवाह बोलते जा रहे डॉक्टर विनोद को शायद ध्यान नहीं था कि वह देश के जाने माने टीवी चैनल को इंटरव्यू दे रहे थे, जिसे पूरा देश लाइव देख रहा था. वागीश सहमति में सिर हिलाते साथ चल रहे थे.

चलते हुए वागीश ने माथे पर कुछ ज़ोर देकर कहा- डॉक्टर, गढ़वाल के इतिहास में मैंने पढ़ा है कि राजा के शासन में यहां बहुत कम स्कूल थे. फिर आपकी पढ़ाई में मुश्किलें बहुत आयी होंगी'?

'जी, बिल्कुल ठीक कहा आपने. गिने चुने स्कूल ही थे इतने बड़े इलाक़े में' – कहते हुए डॉक्टर विनोद उस तरफ़ चल पड़े, जहां उनके मामा पूजा की तैयारियां करा रहे थे. बूढ़ा जर्जर शरीर, झुर्रियों से भरा दयनीय चेहरा और कमान की तरह झुकी कमर. डॉ. विनोद को सामने देख कर किसी अपराधी की तरह नज़रें झुकाये व हाथ बांधे खड़े हो गये, मानो कह रहे हों- वास्तु का लग्न शुरू होने से पहले मैंने सारी तैयारियां करा दी हैं.

क्या ये वही मामा हैं ? डॉ. विनोद अतीत में कहीं खो गये.

...प्राइमरी अच्छे नम्बरों से पास करने के बाद मिडिल करना चाहता था बीनू, पर बाबा ने हाथ खड़े कर दिये. दस नाली ज़मीन में आठ आदमियों का टब्बर किसी तरह ज़िंदगी की कूड़ागाड़ी खींच रहा था. सौ-पचास का घी बिकता भी था तो वह गुड़, नमक, कपड़े लत्तों पर ही लग जाता. हाईस्कूल घर से बहुत दूर, पर ननिहाल से नज़दीक था. मामा अक्खड़ थे. रिश्ते-नातों की परवाह उन्होंने कभी नहीं की. आठ दस आदमियों का भरा-पूरा परिवार था पर सात आठ नाली ज़मीन के सिवा गुज़ारे का वहां भी कोई ज़रिया न था. मां ने जब हाथ जोड़कर खुशामद की तो मामा का दिल पसीज गया. भानजे के ननिहाल में रह कर आगे पढ़ने की बात मुश्किल से ही सही, पर मान ली थी मामा ने. उसकी खुशी का ठिकाना न था. पुराने थैले में अपने कपड़े-लत्ते, किताबें व सर्टीफिकेट भर कर वह अगले ही रोज़ ननिहाल पहुंच गया.

ननिहाल की दिनचर्या घर जैसी न थी. घराट से आटा पिसवाना, सुबह-शाम धारे

से गारे भर कर पानी लाना, गोबर उठाना, गाय दुहना और फिर रूखा-सूखा खा कर स्कूल भागना. स्कूल पहुंचने में फिर भी देर हो ही जाती. मास्टर जी डांटते, मुर्गा बनाते और वक्त की पाबंदी पर लम्बा चौड़ा भाषण देते. बगैर मुंह खोले, धूप में वह चुपचाप मुर्गा बना रहता.

तीन साल किसी तरह बीते. मिडिल परीक्षा का परिणाम निकला. वह प्रथम आया था. मन में खुशी थी कि अब वह नवीं कक्षा में बैठेगा, पर मामा ने कड़कती आवाज़ में फरमान सुनाया— काफ़ी हो गयी पढ़ाई-लिखाई. अब खेती-बाड़ी देखो. बूढ़ा बाप कब तक हल में जुता रहेगा.

उसे बहुत बुरा लगा था. जी चाहा-कह दे कि मामा, बच्चे आपके नहीं पढ़े, फिर सज़ा मुझे क्यों. मैं तो पढ़ना चाहता हूं. पर वह चुप रह गया. प्रथम आने की खुशी के बावजूद उस रात वह सो नहीं सका. कई विचार मन में आते जाते. आखिर एक पक्का फैसला मन ही मन ले लिया उसने. अपने कपड़े-लत्ते, सामान व कागजात उसी पुराने थैले में भर कर उसने नाना-नानी से चरण छूकर विदा ली. घर जाने की बात कह कर वह ननिहाल से निकल पड़ा. मामी ने किसी को साथ भेजना चाहा, पर मामा ने कड़क कर कहा- बीनू बच्चा नहीं, मिडिल पास नौजवान है.

किसी तरह आंसुओं को पलकों के भीतर ही रोके हुए वह सीधा उस सड़क पर बढ़ गया, जो शहर जाती थी. जेब में फूटी कौड़ी तक न थी. न खाने का ठिकाना, न रहने का. चलते-चलते सांझ हो गयी. दूर के एक गांव में रात बिता कर अगले रोज़ वह फिर चल पड़ा और रात गये शहर पहुंच गया. दो दिन तक सड़कों पर भूखा-प्यासा भटकता रहा. तीसरे दिन एक ढाबे के सामने से गुज़र रहा था तो कदम ठिठक गये. लोग खाना खा रहे थे. गरम-गरम गेहूं की रोटियां, आलू की रसदार सब्जी व दाल से भरी कटोरियां, चावल और साथ में प्याज व अचार. ललचाई नज़रों से वह खाना खाते लोगों को देखने लगा.

ढाबे के मालिक जोशी जी ने दुनिया देखी थी. गल्ले पर बैठे-बैठे सब कुछ समझ गये. इशारे से उसे पास बुलाया.

''क्या नाम है बेटा. कहां से आया है''

सुनकर उसका मन भर आया. मुंह से शब्द नहीं निकल सके. वह सिसकने लगा. जोशीजी ने प्यार से उसके सिर पर हाथ फेरा. भरपेट खाना खिलाया, फिर ढाबे पर बर्तन धोने का काम दिया. छत पर एक छोटा-सा कमरा खाली था. रहने का इंतजाम

उसी में हो गया. महीने की पगार के बदले दो वक्त का खाना तय हुआ.

हालात इतनी तेज़ी से बदल जायेंगे- उसे यकीन नहीं आ रहा था, पर जो हुआ वह कोई सपना नहीं, हकीकत थी.

नवीं कक्षा में दाखिला जोशीजी ने ही दिलाया. मुंह सवेरे उठकर ढाबे में झाड़ू-पोछा करना, आलू उबाल कर छीलना, आटा गूंथना, पानी के ड्रम भरना, सब्जियां काटना, और फिर एकाध बासी रोटी चाय के साथ खाकर स्कूल भागना- यह उसका रोज़ का नियम था. स्कूल से आकर भी सबसे पहले जूठे बर्तन मांजना, मंडी से सब्जियां लाना, दूकान बंद होने पर भगौने परात वगैरह धोना, फर्श पर पोछा मारना और फिर बचा-खुचा खाना खाकर ट्यूशन पढ़ाना- यह उसकी शाम की दिनचर्या थी. ट्यूशन के बाद देर रात तक वह अपना होमवर्क करता रहता.

कभी-कभी घर की याद आती- जब गर्मियों में साथियों के साथ वह जंगल जाता. जेबें भर कर सभी साथी काफल लाते, कभी कुरते का पल्ला भर कर जंगल से बुरांस के सुर्ख फूल तोड़ लाते, कभी कुदाल लेकर जंगल में तैंडू (कंदमूल) खोदने जाते, चीड़ की जलती लकड़ियां गोल गोल घुमाते हुए रात भर दीवाली खेलते. कभी धार के पीछे वाली गाड (पहाड़ी नदी) में मछली पकड़ने जाते. झाड़ियों में घुसकर पके हुए लाल मीठे हींसर (जंगली स्ट्रॉबेरी) और किनगोड़ (दारू हल्दी के फल) तोड़कर खाते.

शहर के शोरगुल के बीच बचपन की याद आती तो वह चादर में मुंह छिपा लेता. बंद आखों से रिस कर आंसू गालों पर बहने लगते. रोते-रोते मन हल्का हो जाता तो वह फिर पढ़ने बैठ जाता.

जिस रोज़ हाईस्कूल का रिजल्ट आया- जोशी जी की खुशी का ठिकाना न था. दुकान पर आने वाले हर आदमी को अखबार में छपा उसका रोल नम्बर दिखाकर कहते- "देखो, हमारा बीनू फस्ट आया है."

कड़ी मेहनत का नतीजा ही था कि इंटरमीडिएट परीक्षा भी उसने रिकॉर्ड अंकों के साथ पास की और इंजीनियरिंग कॉलेज में दाखिला ले लिया.

"किंतु डॉक्टर, आपको कभी ऐसा नहीं लगा कि आपने घर की ज़िम्मेदारियां ईमानदारी से नहीं निभायी. दसवीं, बारहवीं के बाद आप नौकरी करते तो पिता का सहारा बन सकते थे..."

वागीश के सीधे सवाल पर डॉक्टर विनोद ने 'हां' में सिर हिलाया. अतीत की यादें बिच्छू के डंक-सी पीड़ा दे गयी. भारी आवाज़ में बोले ...घर से भइया की चिट्ठी आयी थी. लिखा था, पिताजी की तबीयत ठीक नहीं है. हल नहीं लगा पाते. जब से बाघ ने गाय मारी, दूध, घी भी नहीं होता बेचने के लिए. धारा सूख रहा है. खेतों में अन्न बहुत कम होता है. मां की कमर की पीड़ा बढ़ती ही जा रही है. पिताजी ने कहा है- अब कहीं नौकरी खोज लो.

घर की दरिद्रता चिट्ठी के अक्षरों से निकल कर उसके सामने खड़ी हो गयी थी. दुख और पश्चाताप से भर उठा.

...दसवीं के बाद उसे नौकरी मिल जाती. वन विभाग में चपरासी की जगह खाली

थी. जोशीजी की सिफ़ारिश भी थी. उसके अंक भी अच्छे थे. लेकिन? भर्ती से ठीक पहले बड़े बाबू को दस हज़ार रुपये की सख्त ज़रूरत पड़ गयी. इतनी रकम वह नहीं जुटा सका. बड़े बाबू की ज़रूरत 'किसी और' ने पूरी की और नौकरी झटक ली.

उस हादसे के बाद वह बीमार पड़ गया. काफ़ी इलाज के बाद ही वह बिस्तर से उठ सका. ठीक होते ही वह पहले से भी ज़्यादा मेहनत करने लगा. उसे यकीन था कि मेहनत बेकार नहीं जाएगी. एक-न-एक दिन उसे और अच्छी नौकरी मिलेगी. तब वह घर की माली हालत सुधार देगा. लेकिन बाबा और ज़्यादा इंतज़ार न कर सके!

डॉ. विनोद की आंखें भर आयीं. जेब से रूमाल निकाल कर गालों पर ढुलक आये आंसुओं को उन्होंने खामोशी से पोंछ लिया. साथ चलते पत्रकार वागीश यह नहीं देख पाये.

बड़ा बेटा होने के कारण बाबा की क्रिया में वही बैठा. उन तेरह दिनों में घर पर छायी भयानक गरीबी को, बहुत करीब से देखा और जिया था उसने. मंझले भाई ने स्कूल छोड़कर हल थाम लिया. छोटा तीसरी में था. फीस माफ थी. स्कूल से किताबें भी उसे मिल गयीं, पर पढ़ने की एक पल को भी फुर्सत नहीं थी. बहनें शादी के लिए तैयार थीं पर कहीं कोई रिश्ता नहीं था. मां ने बिस्तर पकड़ लिया.

रिश्तेदारों ने भी मुंह फेर लिया. सिर्फ़ चाचा थे, जो कभी कभार आकर डांट जाते... क्रिया में बैठा वह खामोशी से सब कुछ देख रहा था.

तेरहवें रोज़ गांव का खाना था. घर में न अन्न का दाना था और न रुपया-पैसा. कहीं से उधार मिलने की भी उम्मीद न थी. मज़बूर होकर मां का मंगलसूत्र बेचना पड़ा. वही मंगलसूत्र, जिसे मां ने बड़ी बहू के लिए बचा रखा था, या फिर जिसे बेचकर वह बेटियों के हाथ पीले करती...

पंद्रहवें रोज़ जब वह जाने लगा तो मां ने कहा था– "अब बाप की जगह पर तू है बीनू. मेरा क्या भरोसा. इन छोटों को भी देखना..."

डॉ. विनोद के भीतर उठ रहा अंतर्द्वंद्व बेकाबू होकर एक बार फिर गालों पर बहने लगा, जिसे साथ चलते वागीश की आंखों ने भी देख लिया.

बहुत चाहा था उसने कि छोटे भाई-बहनों को पिता की शीतल छांव दे सके. पर इंजीनियरिंग की महंगी पढ़ाई और हॉस्टल का खर्च ही वह बड़ी मुश्किल से ट्युशन पढ़ा कर जुटाता था.

चार साल बाद इंजीयिरिंग की डिग्री हाथ में लिये वह फिर सड़क पर था. कई कंपीटीशन दिये. लिखित परीक्षाएं पास कीं. पर कहीं से बुलावा नहीं आया. उसका आत्मविश्वास डगमगाने लगा. निराशा का पौधा भीतर कहीं पनपने लगा.

कड़ी मेहनत से कंपीटीशन पास करके भी वह इंटरव्यू में क्यों फेल हो जाता है- उसकी समझ में आने लगा.

एक बार फिर उसने खुद को जीवन के दोराहे पर खड़ा पाया. क्या उसे कंपीटीशन देते रहने चाहिए? पर क्या गारंटी है कि उसे नौकरी मिल ही जाएगी? न मिली तो

कितने साल बेकार जाएंगे— पता नहीं. तो फिर कुछ और सोचना चाहिए? काफ़ी सोच-विचार करने के बाद उसने एक कठोर फैसला ले लिया. वह ट्युशन पढ़ाने लगा. सवेरे चार बजे से रात दस बजे तक वह कई बैच बहुत ही मन लगा कर पढ़ाता. उसके पढ़ाये बच्चे अच्छे अंकों से पास होने लगे. बच्चों की संख्या तेज़ी से बढ़ने लगी. देखते ही देखते वह शहर के सबसे अच्छे ट्युटरों में गिना जाने लगा.

छोटे भाई को अपने पास बुलाकर उसने छठी कक्षा में भर्ती करा दिया. बड़ी बहन का रिश्ता जोशीजी के भानजे से तय हो गया, जो उसके साथ ट्युशन पढ़ाता था. ट्युशन सेंटर में बच्चों की संख्या सैंकड़ों में पहुंच गयी. शहर के बाहर सस्ती ज़मीन खरीद कर उसने कॉलेज का काम शुरू कर दिया.

अब बीमार मां, बीच के भाई और छोटी बहन को भी उसने अपने पास बुला लिया. पहाड़ का मकान और ज़मीन चाचाजी देखने लगे. छोटी बी.एड्. के बाद घर के स्कूल में ही पढ़ाने लगी.

मां ने शादी के लिए कई बार समझाया किंतु वह हर बार विनम्रता से प्रस्ताव ठुकरा देता. बस इतना ही कहता कि मां, अभी सही वक्त नहीं आया है. इस पर मां झुंझला कर कहती— ''जब मैं मर जाऊंगी, तब आयेगा सही वक्त?''

वह मां को समझाता कि छोटी बी.एड्. कर चुकी है. अपने ही कॉलेज में पढ़ा लेगी. बीच वाले ने ग्रेजुएशन कर ही लिया है. वह कॉलेज संभाल लेगा. छोटा चार साल में डॉक्टर बन जाएगा. तब मैं शादी ज़रूर कर लूंगा.

पर मां को जैसे उसकी बातों पर यकीन न हो पाता. वह बस इतना ही कहती अच्छा देखती हूं, मेरी किस्मत में बड़ी बहू के हाथ का खाना है भी कि नहीं...

'न्यु एरा ग्रुप ऑफ इन्स्टीट्युशन्स', अब सिर्फ़ कॉलेज नहीं बल्कि डीम्ड यूनीवर्सिटी बन चुका था. पहाड़ के उन दुर्गम इलाकों में विश्वविद्यालय ने कई कॉलेज खोल दिये, जहां उच्च शिक्षा की कोई व्यवस्था न थी, जहां अब भी मीलों पैदल चलकर, जोखिमों से बचते हुए बच्चे स्कूल जाते थे, जहां इंजीनियरिंग या मेडिकल की पढ़ाई अब भी सपना थी...

अपने जन्मस्थान को इंजीनियरिंग कॉलेज का उपहार देकर डॉ. विनोद वापस जाने के लिए कार की ओर बढ़े ही थे कि छड़ी टेकते हुए सफ़ेद दाढ़ी वाले एक बहुत बूढ़े सज्जन सामने आये और गर्व से बोले- बेटा, हमारा सौभाग्य है कि तू यहां पैदा हुआ.

उन वृद्ध महाशय को गौर से देखा डॉ. विनोद ने और फिर उनके पांवों पर सिर रख दिया. बचपन की वह घटना डॉ. विनोद की स्मृतियों में एकाएक ताज़ा हो उठी, जब बाघ के हमले से किसी तरह जान बचा कर बीनू स्कूल पहुंचा था. उसकी बांह से खून बहता देख गुरुजी ने कहा था- इतना होनहार बच्चा और यह दुर्दशा ! बेटा, तेरा दुर्भाग्य है कि तू यहां पैदा हुआ. ❑

जंगल संस्कृति

● मणिका मोहिनी

तुम एक अनजाने प्रदेश में रहे हो घर-समाज से दूर
वर्षों बीत गये तुम्हें जंगल में नौकरी करते हुए
जंगली जानवरों के साथ तुम्हारे आत्मीय सम्बंध बन गये
वे पहचान गये थे तुम्हारा पुचकारना और तुम उनका गुर्राना
धीरे-धीरे तुम वहीं के अभ्यस्त हो गये
पहचान हो गयी थी तुम्हें हर जंगली पेड़-पौधे की भी
आकाश पूरा नज़र आता था तुम्हें
विभिन्न प्रकार की चिड़ियां तुम्हारे आस-पास चहचहाती थीं
तुम प्रसन्न हो उठे कि प्रकृति को तुमने इतने पास से देखा है
जैसा पहले कभी नहीं देखा था
तुम्हें नहीं पता था पहले कि कौन-सी चिड़िया का क्या नाम है
खूंखार दिखने वाला जानवर भी कितना मासूम हो जाता है
अपनत्व भरे हाथ और गंध पहचानने लगता है वह
चख-चख कर तुमने जाना था कि तुम खा सकते हो
पत्ते और फूल भी जो निषिद्ध हुआ करते थे शहर में.

वर्षों का अंतराल बदल रहा था तुम्हारे जीवन की दिशा
यहां तक कि तुम्हारा जीवन दर्शन भी
तुम इंसानों से ज़्यादा प्यार करने लगे जानवरों को
तुम्हें भरोसा होने लगा कि जानवर बेहतर हैं
इंसानों पर विश्वास नहीं किया जा सकता
कौन कब आस्तीन का सांप निकले
कौन कब पीठ पीछे छुरा भोंक दे
तुम अपने ही बंधु-बांधवों के खिलाफ़ होते गये
तुमने अपने इर्द-गिर्द दीवारें उठा लीं.

तुम अल्प आय से खुश थे
तुम बिना परिवार के भी खुश थे
तुम बिना सैर-सपाटों के भी खुश थे
तुम्हें किसी मनोरंजन की चाह न रही
तुम्हें किसी नये रिश्ते की परवाह न रही
तुम्हारे लिए जंगल में ही मंगल था
तुम सोच रहे थे बहुत ऊंचा उठ रहे हो तुम
अपने इस दर्शन के चलते मनुष्य से घृणा करके
कोई सिद्ध पुरुष बनोगे तुम.

जंगल संस्कृति पर पुस्तकें लिखोगे तुम.
अपने को वापस लौटाओ नादान अनजान
फिर से अपनी पुरानी मनस्थिति में आओ
जो पीछे छूट गया है उसे समेटो
जंगलों में जो खो गया है तुम्हारा उसे खोजो
अपने स्वभाव में नमीं और भावों में गर्मी पैदा करो.
आखिर नौकरी की मियाद खत्म होने पर
आना तो तुम्हे शहर में ही है ना
रहना तो इंसानों के बीच ही है ना.

पहला मुकदमा

• महात्मा गांधी

बंबई में एक ओर मेरी कानूनी पढ़ाई शुरू हुई, दूसरी ओर मेरे आहार के प्रयोग चले और उनमें वीरचंद्र गांधी मेरे साथ हो गये. तीसरी तरफ़ भाई ने मेरे लिए मुकदमे खोजने की कोशिश शुरू की.

कानून की पढ़ाई का काम धीमी चाल से चला. जाब्ता दीवानी (सिविल प्रोसीजर कोड) किसी भी तरह गले न उतरता था. एविडेंस ऐक्ट (कानून शहादत) की पढ़ाई ठीक चली. वीरचंद गांधी सॉलिसिटर बनने की तैयारी कर रहे थे. इसलिए वे वकीलों के बारे में बहुत कुछ कहते रहते थे: "फिरोजशाह मेहता की होशियारी का कारण उनका अगाध कानूनी ज्ञान है. 'एविडेंस ऐक्ट' (कानूनी शहादत) तो उनको ज़बानी याद है. धारा 32 के हरेक मुकदमे की उन्हें जानकारी है. बदरूद्दीन तैयब जी की होशियारी ऐसी है कि न्यायाधीश भी उनके सामने चौंधिया जाते हैं. बहस करने की उनकी शक्ति अद्भुत है."

इधर मैं इन महारथियों की बातें सुनता और उधर मेरी घबराहट बढ़ जाती. वे कहते, "पांच-सात साल तक बैरिस्टर का अदालत में जूतियां तोड़ते रहना आश्चर्यजनक नहीं माना जाता. इसलिए मैंने सॉलिसिटर बनने का निश्चय किया है. कोई तीन साल बाद भी तुम अपना खर्च चलाने लायक कमा लो, तो कहना होगा कि तुमने खूब प्रगति कर ली."

हर महीने खर्च बढ़ जाता था. बाहर बैरिस्टरी की तख्ती लटकाये रहना और घर में बैरिस्टरी करने की तैयारी करना! मेरा मन इन दो के बीच कोई मेल नहीं बैठा पाता था. इसलिए कानून की मेरी पढ़ाई व्यग्र चित्त से होती थी! शहादत के कानून में कुछ रुचि पैदा होने की बात ऊपर कह चुका हूं. मेइन का 'हिंदू लॉ' मैंने बहुत रुचिपूर्वक पढ़ा, पर मुकदमा लड़ने की हिम्मत न आयी. अपना दुःख किसे सुनाऊं? मेरी दशा ससुराल गयी हुई नयी बहू की-सी हो गयी!

इतने में मुझे ममीबाई का मुकदमा मिला. स्मॉल कॉज कोर्ट (छोटी अदालत) में जाना था. मुझसे कहा गया, "दलाल को कमीशन देना पड़ेगा!" मैंने साफ़ इनकार कर दिया.

"पर फौजदारी अदालत के सुप्रसिद्ध वकील श्री...., जो हर महीने तीन-चार

हज़ार कमाते हैं, भी कमीशन तो देते हैं.''

"मुझे कौन उनकी बराबरी करनी है? मुझको तो हर महीने 300 रुपये मिल जाएं तो काफ़ी है. पिताजी को कौन इससे अधिक मिलते थे?''

"पर वह ज़माना बदल गया. बंबई का खर्च बढ़ा है. तुम्हें व्यवहार की दृष्टि से भी सोचना चाहिए.''

मैं टस-से-मस न हुआ. कमीशन मैंने नहीं ही दिया. फिर भी ममीबाई का मुकदमा तो मुझे मिला. मुकदमा आसान था. मुझे ब्रीफ के (मेहनताने के) 30 रुपये मिले. मुकदमा एक दिन से ज़्यादा चलने वाला न था.

मैंने पहली बार स्मॉल कॉज कोर्ट में प्रवेश किया. मैं प्रतिवादी की तरफ़ से था, इसलिए मुझे जिरह करनी थी. मैं खड़ा तो हुआ, पर पैर कांपने लगे. सिर चकराने लगा. मुझे ऐसा लगा, मानों अदालत घूम रही हो. सवाल कुछ सूझते ही न थे. जज हंसा होगा. वकीलों को तो मज़ा आया ही होगा. पर मेरी आंखों के सामने तो अंधेरा था- मैं देखता क्या?

मैं बैठ गया. दलाल से कहा, ''मुझसे यह मुकदमा नहीं चल सकेगा. आप पटेल को सौंपिए. मुझे दी हुई फीस वापस ले लीजिए.''

पटेल को उसी दिन के 51 रुपये देकर वकील किया गया. उनके लिए तो वह एक बच्चों का खेल था.

मैं भागा. मुझे याद नहीं कि मुवक्किल जीता या हारा. मैं शरमाया. मैंने निश्चय किया कि जब तक पूरी हिम्मत न आ जाए, कोई मुकदमा न लूंगा. और फिर दक्षिण अफ़्रीका जाने तक कभी अदालत में गया ही नहीं. इस निश्चय में कोई शक्ति न थी. ऐसा कौन बेकार बैठा था, जो हारने के लिए अपना मुकदमा मुझे देता? इसलिए मैं निश्चय न करता तो भी कोई मुझे अदालत में जाने की तकलीफ़ देने वाला न था!

पर बंबई में मुझे अभी एक और मुकदमा मिलने वाला था. इस मुकदमे में अर्जीदावा तैयार करना था. एक गरीब मुसलमान की ज़मीन पोरबंदर में जब्त हुई थी. मेरे पिताजी का नाम जानकर वह उनके बैरिस्टर लड़के के पास आया था. मुझे उसका मामला लचर लगा. पर मैंने अर्जी-दावा तैयार कर देना कबूल कर लिया. छपाई का खर्च मुवक्किल को देना था. मैंने अर्जी-दावा तैयार कर लिया. मित्रों को दिखाया. उन्होंने पास कर दिया और मुझे कुछ-कुछ विश्वास हुआ कि मैं अर्जी-दावे लिखने लायक ज़रूर बन सकूंगा- असल में मैं इस लायक था भी.

मेरा काम बढ़ता गया. मुफ्त में अर्जियां लिखने का धंधा करता तो अर्ज़ियां लिखने का काम तो मिलता, पर उससे दाल-रोटी की व्यवस्था कैसे होती?

मैंने सोचा कि मैं शिक्षक का काम तो अवश्य ही कर सकता हूं. मैंने अंग्रेज़ी का

अभ्यास काफ़ी किया था. अतएव मैंने सोचा कि यदि किसी हाईस्कूल में मैट्रिक की कक्षा में अंग्रेज़ी सिखाने का काम मिल जाए तो कर लूं. खर्च का गड्ढा कुछ तो भरे!

मैंने अखबार में विज्ञापन पढ़ा : 'आवश्यकता है अंग्रेज़ी शिक्षक की, प्रतिदिन एक घंटे के लिए. वेतन 75 रुपया.' यह एक प्रसिद्ध हाईस्कूल का विज्ञापन था. मैंने प्रार्थना-पत्र भेजा. मुझे प्रत्यक्ष मिलने की आज्ञा हुई. मैं बड़ी उमंगों के साथ मिलने गया. पर जब आचार्य को पता चला कि मैं बी. ए. नहीं हूं, तो उन्होंने मुझे खेदपूर्वक विदा कर दिया.

"पर मैंने लंदन की मैट्रिक्युलेशन परीक्षा पास की है. लैटिन मेरी दूसरी भाषा थी", मैंने कहा.

"सो ठीक है, पर हमें तो ग्रेज्युएट की आवश्यकता है."

मैं लाचार हो गया. मेरी हिम्मत छूट गयी. बड़े भाई भी चिंतित हुए. हम दोनों ने सोचा कि बंबई में अधिक समय बिताना निरर्थक है. मुझे राजकोट में ही जमना चाहिए. भाई स्वयं छोटे वकील थे. मुझे अर्जी-दावे लिखने का कुछ-न-कुछ काम तो दे ही सकते थे. फिर राजकोट में तो घर का खर्च चलता ही था. इसलिए बंबई का खर्च कम कर डालने से बड़ी बचत हो जाती. मुझे यह सुझाव जंचा. यों कुल लगभग छह महीने रहकर बंबई का घर समेट लिया.

जब तक बंबई में रहा, मैं रोज हाईकोर्ट जाता था. पर मैं यह नहीं कह सकता कि वहां मैंने कुछ सीखा, सीखने लायक समझ ही मुझमें न थी. कभी-कभी तो मुकदमा समझ में न आता और उसकी कार्यवाही में रुचि न रहती, तो बैठा-बैठा झपकियां भी लेता रहता. यों झपकियां लेने वाले दूसरे साथी भी मिल जाते थे. इससे मेरी शरम का बोझ हलका हो जाता था. आखिर मैं यह समझने लगा कि हाईकोर्ट में बैठकर ऊंघना फैशन के खिलाफ़ नहीं है. फिर तो शरम की कोई वजह ही न रह गयी. यदि इस युग में भी मेरे समान कोई बेकार बैरिस्टर बंबई में हों, तो उनके लिए अपना एक छोटा-सा अनुभव यहां मैं लिख देता हूं.

घर गिरगांव में होते हुए भी मैं शायद ही कभी गाड़ी-भाड़े का खर्च करता था. ट्राम में भी शायद ही कभी बैठता था. अक्सर गिरगांव से हाईकोर्ट तक प्रतिदिन पैदल ही जाता था. इसमें पूरे 45 मिनट लगते थे और वापसी में तो बिना चूके पैदल ही घर आता था. दिन में धूप लगती थी, पर मैंने उसे सहन करने की आदत डाल ली थी. इस तरह मैंने काफ़ी पैसे बचाये. बंबई में मेरे साथी बीमार पड़ते थे, पर मुझे याद नहीं है कि मैं एक दिन भी बीमार पड़ा होऊं. जब मैं कमाने लगा तब भी इस तरह पैदल ही दफ्तर जाने की आदत मैंने आखिर तक कायम रखी. इसका लाभ मैं आज तक उठा रहा हूं." □

आप चाहें तो इसे जल-गीता कह सकते हैं!

• अरविंद मोहन
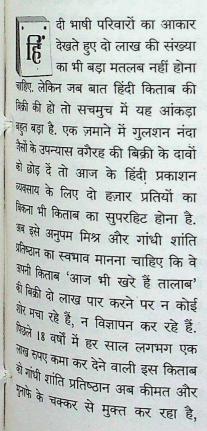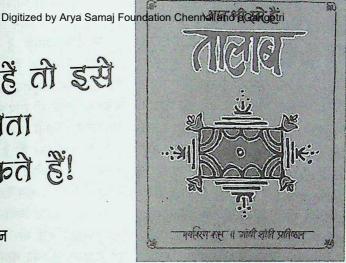
हिंदी भाषी परिवारों का आकार देखते हुए दो लाख की संख्या का भी बड़ा मतलब नहीं होना चाहिए. लेकिन जब बात हिंदी किताब की बिक्री की हो तो सचमुच में यह आंकड़ा बहुत बड़ा है. एक ज़माने में गुलशन नंदा जैसों के उपन्यास वगैरह की बिक्री के दावों को छोड़ दें तो आज के हिंदी प्रकाशन व्यवसाय के लिए दो हज़ार प्रतियों का बिकना भी किताब का सुपरहिट होना है. अब इसे अनुपम मिश्र और गांधी शांति प्रतिष्ठान का स्वभाव मानना चाहिए कि वे अपनी किताब 'आज भी खरे हैं तालाब' की बिक्री दो लाख पार करने पर न कोई शोर मचा रहे हैं, न विज्ञापन कर रहे हैं. पिछले 18 वर्षों में हर साल लगभग एक लाख रुपए कमा कर देने वाली इस किताब को गांधी शांति प्रतिष्ठान अब कीमत और मुनाफ़े के चक्कर से मुक्त कर रहा है, इस पुस्तक के एक प्रेमी और उनकी संस्था के सहयोग से अब जो संस्करण छप रहा है वह सिर्फ़ बिना मूल्य वितरण के लिए उपलब्ध है- वह भी योग्य और ज़रूरतमंद पाठक को, सिर्फ़ एक-एक प्रति देने के लिए.

वैसे, लेखक का नाम पहले पन्ने पर दिये बिना छपी इस किताब पर लेखक ने स्वयं की कॉपीराइट न रखने की घोषणा कर रखी है, सो आज इसके विभिन्न भाषाओं और ब्रेल लिपि के 38 संस्करण बाज़ार में उपलब्ध हैं. पुस्तक में लेखक अनुपम मिश्र का नाम आलेख लेखक के तौर पर है, तो शीना और मंजुश्री का शोध और संयोजक के तौर पर तथा दिलीप चिंचालकर का नाम सज्जाकार के रूप में दिया गया है. अनुपम मिश्र किताब के कई ऐसे संस्करणों की सप्रमाण जानकारी देते हैं जो बिना अनुमति या जानकारी के छापे गये हैं और जिन्होंने किताब की मनमानी कीमत

रखने से लेकर उसके स्वरूप तक के साथ छेड़छाड़ की है. इसमें हिंदी के कुछ बड़े कहे जाने वाले प्रकाशक भी हैं जिन्होंने अपने छद्म प्रकाशन गृहों से इसे चुपचाप छापा. फिर भी अनुपम मिश्र और गांधी शांति प्रतिष्ठान ने किसी को भी किताब या उसके किसी अंश को प्रकाशित करने से नहीं रोका, शर्त सिर्फ़ शुद्ध पाठ और स्वरूप के साथ ज़्यादा छेड़छाड़ नहीं करने की थी. इसी शर्त के तहत नेशनल ट्रस्ट ने अपनी नेहरू बाल पुस्तक योजना के तहत जो संस्करण छापा, उसमें तो पहले 12 पन्ने अपने रखे, बाद की पूरी किताब शब्दशः और रूपशः गांधी शांति प्रतिष्ठान के पर्यावरण कक्ष के मूल संस्करण वाली ही है.

इस किताब की अपनी ताकत और इसके कॉपीराइट से मुक्त होने के चलते लोगों ने इसके अनुवाद और प्रकाशन का काम भी अपने स्तर पर किया. इसी के चलते आज किताब के 38 संस्करण उपलब्ध हैं. इसमें निशुल्क वितरण के लिए मध्यप्रदेश शासन का संस्करण भी शामिल है. जब पहली बार दिग्विजय सिंह सरकार ने 25 हजार प्रतियों की मांग रखी और जल्दबाजी की तो गांधी शांति प्रतिष्ठान उनसे अपने भारी-भरकम प्रेस में छाप लेने को कहा. शर्त सिर्फ़ शुद्ध पाठ और अच्छी छपाई और किताब के अंदर सरकारी विज्ञापन न घुसेड़ने की थी. तब की कांग्रेसी राज्य सरकार ने तो यह किया ही, बाद में आयी भाजपा सरकार ने भी इसे जारी रखा.

लोगों ने अपने व्यक्तिगत प्रयास से जो अनुवाद और प्रकाशन किया उनके किस्से ज़्यादा प्रेरणादायक हैं. बाङ्ला पत्रकार निरुपमा अधिकारी ने अपने प्रयास से न सिर्फ़ इसका अनुवाद किया बल्कि इसके वे दो संस्करण भी छाप चुकी हैं. पर ज़्यादा दिलचस्प कहानी पंजाबी अनुवाद करने वाले सुरेंद्र बांसल की है. बांसल हरियाणा सरकार में एक छोटी नौकरी करते हैं. अपने शौक के लिए उन्होंने कैक्टस के पौधों का बड़ा संग्रह तैयार किया था. उसे खरीदने की पेशकश कई बार हुई लेकिन बांसल जी ने इसे सौदे की चीज़ कभी नहीं माना. लेकिन जब 'आज भी खरे हैं तालाब' का पंजाबी संस्करण खुद छपवाने के लिए घर के पैसे पर्याप्त न पड़े तो उन्होंने अपना यह बेशकीमती संग्रह भी बेचने में देर नहीं लगायी. बांसल जी ने किताब देने और बेचने में खरीददार की योग्यता और दिलचस्पी को भी आधार बनाया.

सम्भवतः उनसे प्रेरित होकर ही 'समभाव' नामक संस्था चलाने वाले फरहाद कांट्रेक्टर को भी लगा कि अब इस किताब को खरीद-बिक्री और कमायी के जाल से मुक्त कर दिया जाए. लेखक ने इसे पहले ही कॉपीराइट के जाल से मुक्त कर दिया था. फरहाद को भी लगा कि यह किताब गांधी शांति प्रतिष्ठान ही बांटे पर एक व्यक्ति (वह भी योग्य हो) को एक प्रति से ज़्यादा न दी जाए. जिसे ज़्यादा प्रति चाहिए वह अन्य समूल्य संस्करणों में से कोई खरीदे. इसके लिए उन्होंने अपनी

संस्था से धन उपलब्ध कराने का इंतजाम भी किया. किताब का ब्रेल संस्करण भी आ चुका है. इसकी मदद से यह चाक्षुष मजबूर लोगों का भी दुलारा बन चुका है. यही नहीं हुआ है, दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी पाठ्यक्रम में अच्छी हिंदी के नवीन उदाहरणों के तौर पर भी इस पुस्तक का अंश दिया गया है.

पुस्तक के लेखक और मुल्क में पर्यावरण और जल मामलों के अग्रणी विद्वान अनुपम मिश्र को किताब की बिक्री के आंकड़े या संस्करणों की संख्या या फिर अनुवादों की संख्या कम महत्त्वपूर्ण लगती है.

> **लेकिन लेखक को सबसे ज़्यादा तसल्ली तब मिलती है जब किताब की प्रेरणा से कोई पानी का काम करने निकलता है.**

उन्हें इस किताब की प्रेरणा में पुराने तालाब या जल संचय प्रणालियों को दुरुस्त करना या नये तालाबों का निर्माण कराने की प्रेरणा ज़्यादा महत्त्वपूर्ण लगती है और ऐसा एक दो नहीं बल्कि 30 से 35 हज़ार तालाबों और जल संग्रह की व्यवस्थाओं के साथ हुआ है!

आज भी किताब का नया संस्करण, नयी भाषा का संस्करण आता है तो उसकी समीक्षा छपती है, तारीफ होती है लेकिन लेखक को सबसे ज़्यादा तसल्ली तब मिलती है जब किताब की प्रेरणा से कोई पानी का काम करने निकलता है. वे बताते हैं कि सूरत के हीरा व्यापारियों ने जब यह अहसास किया कि वे पैसा कमाकर तिजोरी भर रहे हैं लेकिन उनके गांव की तिजोरी (कुआं, तालाब, बावड़ी वगैरह) तो लुट गये हैं या लुटते जा रहे हैं तो उन्होंने अपना काम-धंधा कुछ दिनों के लिए रोक कर गांव-गांव के तालाब दुरुस्त कराने का फैसला किया. अनुपम मिश्र को भी बुलाया गया. गाजा-बाजा-शामियाना के साथ परस्पर एक-दूसरे के यहां जाकर भी सफ़ाई-मरम्मत का काम हुआ. इस दौरान हर गांव में जो भोजन परोसा गया वह किसी भी उत्सव से बेहतर था और एक साथ कई सौ तालाब जीवित हो उठे.

गुजरात और खासकर मीठे पानी के मुश्किल वाले कच्छ इलाके में 'अभियान' नामक संस्था ने सैकड़ों जल संचय प्रणालियों को दुरुस्त कराने का काम किया. मध्यप्रदेश के पत्रकार अनिल यादव को लगा कि जब बहुत ही कम बारिश वाले गुजरात-राजस्थान के लोग इन विलक्षण जल संचय प्रणालियों के ज़रिये जीवन को हरा-भरा कर सकते हैं तो मध्यप्रदेश में तो काफ़ी पानी गिरता है. उन्होंने इस किताब की प्रेरणा से न सिर्फ़ मध्यप्रदेश की प्रचलित जल संचय प्रणालियों पर किताब लिखी बल्कि एक संस्था बनाकर ऐसी प्रणालियों के रखरखाव और पुनरुद्धार

का काम भी कराया. यह काम देश के हर हिस्से में हुआ पर ज़्यादा चर्चित मामले देवघर (बिहार-झारखंड) के रावण तालाब और सागर के विश्वविद्यालय तालाब की सफ़ाई के रहे.

सागर का किस्सा इसलिए ज़्यादा दिलचस्प है कि यह शहर इसी विशाल तालाब के नाम पर बसा और चलता है. इसी के नाम पर विश्वविद्यालय है जिसमें दसियों शोध प्रबंध इस तालाब पर लिखे गये हैं लेकिन दशकों से गिरते गंदे नालों और कचरे ने इस तालाब का आकार आधा भी नहीं रहने दिया था. 'आज भी खरे हैं तालाब' पढ़ चुके एक आइएएस अधिकारी ने जब सागर में कलेक्टर का पदभार ग्रहण किया तो उन्हें इस विशाल तालाब की सफ़ाई का ख्याल आया. उन्होंने जब एक बार काम में हाथ लगा दिया तो जैसे अपनी ज़िम्मेदारी भूल चुके शहरवासियों को भी अपना कर्तव्य याद आ गया पर कलेक्टर साहब का खज़ाना जल्दी ही खाली हो गया और तालाब नाममात्र को साफ़ हो पाया. उन्होंने बुलडोजर जैसी सुविधाएं उपलब्ध कराने की घोषणा की, बशर्ते शहर के लोग इन पर रोज़ होने वाले खर्चों का बोझ उठायें. ऐसे में नगर के प्रसिद्ध फिल्मी गीत के लेखक विट्ठल भाई पटेल आगे आये. उन्होंने शुरू में तो अपने और मित्रों के साधनों में काम चालू रखवाया, इसके बाद उन्होंने सचमुच का फिल्मी कदम उठाया. उन्होंने घोषणा की कि वे रोज़ बिना कुछ खाये-पिये शहर में करीब सात हज़ार रुपए (जो डीजल वगैरह के खर्च के लिए ज़रूरी था) जुटायेंगे. सो वे रोज़ एक बड़ा कटोरा लेकर निकलते थे और जहां वांछित रकम पूरी हो जाती थी, वहीं अपना काम रोक देते थे. फिर यह पैसा सफ़ाई का खर्च उठाने पर जाता था. महीनों चले इस उपक्रम में सागर का तालाब पूरा तो नहीं लेकिन काफ़ी साफ़ हो गया और शहर एक सवाल के प्रति फिर से सचेत हुआ.

इसी किताब की प्रेरणा से जेपी आंदोलन के सिपाई राजेंद्र सिंह ने 'तरुण भारत संघ' नामक संस्था बनाकर राजस्थान में पानी का काम शुरू किया. उनका काम कहां तक गया, यह पूरा प्रसंग अलग पुस्तक का ही विषय है लेकिन कई जिलों को हरा-भरा बनाने के साथ इस संस्था को मैगसायसाय से पुरस्कार दिलाने तक तो ज़रूर गया. यह भी हुआ कि अरावली की ढलान पर जल संग्रह वाले छोटे-छोटे बांधों की श्रृंखला से कई छोटी नदियां जीवित हो गयीं. जो जंगल कटते जाने से मृत हो गये थे. फिर यह भी हुआ कि पानी ने नये जंगल खड़े किये. अब नदियों की मछली और पानी पर किसका हक हो या इस स्वयंसेवी संस्था का काम सरकारी काम में दखल है या नहीं, ये कानूनी विवाद भी चले और चल रहे हैं, पर पानी जमा करने और जंगल लगाने वालों ने तब अपने काम की सार्थकता महसूस की जब जंगल में रहने शेर आ गया. इससे जंगल विभाग सांसत में पड़ा

लेकिन ग्रामीणों ने इसे अपने काम पर जंगल के राजा की मुहर लगाना माना.

'आज भी खरे हैं तालाब' के एक वाक्य- "हिमालय में चाल कहीं खाल है, कहीं तोली है तो कहीं चौरा है' ने तो कमाल कर दिया. इस वाक्य के अगले वाक्य में कुछ गांवों के नाम हैं उफरेंखाल, रानी चौरा और दूधातोली. इसी दूधातोली या उफरेंखाल, रानी चौरा और दूधातोली. इसी दूधातोली या उफरेंखाल के अध्यापक सच्चिदानंद भारती के मन में यह वाक्य अटक गया क्योंकि अब उनके परिचित इन दोनों गांवों में न कोई तोली थी, न खाल यानी तालाब था. उन्हें गांव के नाम से तालाब जुड़े होने से अंदाज़ा तो लग रहा था लेकिन गांव में तालाब की जगह और बनाने का तरीका बताने वाले कोई न था. अपनी बेचैनी लेकर वे अनुपम मिश्र के पास आये तो उन्होंने भी सीधी जानकारी न होने की बात कही. यह ज़रूर कहा कि हमें प्रयोग करके देखना चाहिए- प्रकृति खुद दो-चार साल में हमें तरीका सिखा देगी.

भारती, उनके डाकिया मित्र दीनदयाल, किराना दुकानदार विक्रम सिंह, जड़ी-बूटी वाले डॉक्टर दिनेश वैद्य और हरि सिंह बड़थ्वाल ने मन में कुछ ठानकर यह पहल की थी. सो, दो दशकों के अंदर ही उन्होंने 100 सीमावर्ती गांवों में बीस हज़ार से ज्यादा छोटे तालाब (थाल या ताल) और चालों का निर्माण और पुनरुद्धार किया. इसके साथ ही इस क्षेत्र में जंगल भी हरे-भरे हो गये क्योंकि इन लोगों की संस्था 'दूधातोली लोक विकास संस्थान' ने बड़ी संख्या में पेड़ भी लगवाये. इनके द्वारा विकसित जंगल 500 से 700 हेक्टेयर तक के हैं. कई पेड़ तो 100 फुट तक ऊंचे हो गये हैं. जंगल काफ़ी घने हो गये हैं और जो वन्य ज़ीवन किस्से-कहानियों की चीज़ बन चुका था, वह बहाल हो गया है. जंगलों के बीच स्थायी जलस्रोत होने से आग लगने की समस्य भी काफ़ी हद तक कम हो गयी है. दुनिया भर में वनों की आग एक बड़ी समस्या है, इसी के चलते संयुक्त राष्ट्र की एक टोली यहां की विशेष सफलता को देखने आ चुकी है. उनका प्रमाणपत्र जो हो, इन 100 गांवों की लकड़ी, चारा और पानी की समस्या का स्थायी समाधान इस किताब की एक पंक्ति से मिली प्रेरणा ने करा दिया है. हाल में इस संस्थान को मध्यप्रदेश शासन का सर्वोच्च महात्मा गांधी पुरस्कार देने की घोषणा की गयी है. सामाजिक कामों के लिए यह सबसे बड़ी रकम (दस लाख रुपए) का पुरस्कार है. अनुपम मिश्र के पास बैठकर जब आप ये किस्से उनसे सुनते हैं तो उनके चेहरे का भाव देखने लायक होता है- सचमुच ये चीज़ें किसी लेखक के लिए वास्तविक गौरव की बातें हैं और राजेंद्र सिंह तथा सच्चिदानंद भारती या सुरेंद्र बांसल जैसों को चाहे जो सुख-सम्मान मिला हो, अनुपम जी का सुख उन सब में साझा है. ❑

हृदयरोग से मुक्ति

डॉ. अभय बंग
राजकमल प्रकाशन,
1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग,
नई दिल्ली **मूल्य- 300 ₹**

मूल मराठी में छपी इस पुस्तक का हिंदी अनुवाद आशा चतुर्वेदी ने किया है. लेखक स्वयं चिकित्सक हैं. एक दिन अचानक दिल का दौरा पड़ता है और उन्हें ज्ञात होता है कि इस रोग की तैयारी हमारे शरीर में लम्बे समय से चल रही होती है. इस आत्मकथा में उन्होंने बताया है कि किस तरह उन्होंने अपनी जीवनचर्या बदलकर न केवल हृदयरोग बल्कि अन्य तमाम रोगों से भी शरीर को लगभग अछूत बना लिया.

प्रेम संबंधों की कहानियां

सं- अनिल कुमार
नमन प्रकाशन,
423/1, अंसारी रोड,
दरियागंज, नयी दिल्ली
मूल्य- 250 ₹

प्रेम सम्बंधों की कहानियां श्रृंखला के अंतर्गत प्रकाशित यह पुस्तक संतोष श्रीवास्तव की प्रेम सम्बंधी 14 कहानियों का संकलन है. अनिल कुमार द्वारा सम्पादित इन कहानियों को पढ़कर लगता है कि प्रिय और प्रेमी का भेद मिटने की स्थिति में ही सच्चे प्रेम का आविर्भाव होता है. सच्चा प्रेम घृणा को प्रेम से जीतता है और विरोधी को प्रेम से अपना बना लेता है.

संगीत निबंध सागर

डॉ. लक्ष्मीनारायण गर्ग
संगीत कार्यालय,
हाथरस- 204 101
मूल्य- 350 ₹

यह पुस्तक लेखक द्वारा लिखे निबंधों का संकलन है. गायन, वादन और नृत्य संबंधी तीनों विधाओं पर प्रचुर सामग्री यहां उपलब्ध है. इन लेखों में इन विधाओं के इतिहास, इनके विभिन्न प्रचलित रूपों एवं उनसे जुड़े घरानों का उल्लेख किया गया है. लेखक ने विद्वानों, गुरुओं की संगत और गूढ़ अध्ययन से उपार्जित ज्ञान को पाठकों के लिए प्रस्तुत किया है. 290 पृष्ठ की यह पुस्तक कला प्रेमियों के लिए एक उपहार है.

अर्थ खोने तक

ऋषिवंश
नमन प्रकाशन, 423/1,
अंसारी रोड, दरियागंज,
नयी दिल्ली 110002
मूल्य- 150 ₹

ऋषिवंश की इन कविताओं में अभिव्यक्ति की सघनता, सटीकता और स्पष्टता साफ़ लक्षित होती है. इनमें जीवन के ऊहापोहों, अंतर्द्वंद्व और शंका-कुशंका से डूबते उतराते पलों का दस्तावेज है. संवेदना और करुणा से ओतप्रोत ये कविताएं आम मनुष्यों के क्षण-क्षण के सुख-दुख, राग-विराग और जीवन संघर्षों की जीवंत झांकी हैं.

कथा दर्पण

इंस्टिट्यूट मिनेझिस ब्रागांझा,
पणजी- गोवा
मूल्य- 200 ₹

यहां कोंकणी भाषा के 27 कहानीकारों की कहानियों का हिंदी अनुवाद संकलित किया गया है. कोंकणी साहित्य को हिंदी के व्यापक पाठक वर्ग तक पहुंचाने का यह सराहनीय प्रयास है. इंस्टिट्यूट मिनेझिस ब्रागांझा गोवा की प्रतिनिधि शासकीय संस्था है जो वर्षभर विभिन्न रूपों में साहित्यिक आयोजन के साथ ही पुस्तकों के अनुवाद एवं प्रकाशन का भी कार्य करती है. कोंकणी के प्रतिनिधि कहानीकारों की ये कहानियां कोंकणी भाषी परिवेश की एक समझ भी विकसित करती हैं.

मंत्रालय में उल्लू

टीकाराम साहू 'आज़ाद'
समय प्रकाशन,
आई-1/16, शांतिमोहन हाउस, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली
मूल्य- 150 ₹

युवा व्यंग्यकार के 45 व्यंग्य लेखों का यह प्रथम संग्रह है. इसमें राष्ट्रीय समस्याओं को प्रमुखता से 'उल्टी बानी' की तरह परोसा गया है. सरकार में एवं प्रशासनिक स्तर पर व्याप्त विसंगतियों को भ्रष्टाचार के कारण को उभारा गया है. कुछ घटनाएं एवं परिस्थितियां जिन्हें समाज में बड़ी सहजता से स्वीकार कर लिया जाता है और प्रतिक्रिया का एक पारम्परिक स्वरूप विकसित हो गया है, लेखक उसपर करारा प्रहार करता है.

कुछ और किताबें

❖ **सूरज हथेली पर** (कविता-संग्रह)
आनंद त्रिपाठी
नमन प्रकाशन
59,16/16 सिार्थ नगर, बांद्रा (पूर्व),
मुंबई -51 रुपये- 75 ₹

❖ **अपना आकाश** (कविता-संग्रह)
सुबोध चतुर्वेदी
अनुभव प्रकाशन, ई-28, लाजपत नगर, साहिबाबाद, ग़ाजियाबाद-5
मूल्य - 150 ₹

❖ **जीवन संजीवनी** -
श्रीमद्भागवत के व्यावहारिक जीवन-सूत्र
डॉ. राजाराम गुप्ता
गीताप्रेस, गोरखपुर -273005
मूल्य- 35 ₹

❖ **अलमास** (शायरी)
इब्राहीम 'अश्क'
'शेरी' अकादमी, भोपाल
मूल्य- 150 ₹

❖ **एक गीत का वादा**
नरेश 'नाज़'
32/ए/1, हीरा नगर,
पाटियाला, पंजाब
मूल्य- 200 ₹

❖ **इस नदी को क्या नाम दूं?** (कविता-संग्रह)
भानु भारवि
सैनबर्न पब्लिशर्स, 403 इंपीरियल टॉवर, नारायण कामर्शियल सेंटर,
सी-ब्लॉक नारायण बिहार,
नयी दिल्ली 110028 मूल्य- 100 ₹

त्रिची केंद्र का संगीत समारोह

भवन के 'अमृत महोत्सव' तथा त्रिची केंद्र के मासिक सांस्कृतिक कार्यक्रम के अवसर पर भवन के त्रिची केंद्र में दो संगीत कार्यक्रमों का आयोजन किया गया. संगीत समारोह में 'कलाइ इलामनी' पुरस्कृत सेल्वी ऐश्वर्या ने अपने संगीत से दर्शकों का मन मोह लिया. इस समारोह में त्रिची केंद्र के उपाध्यक्ष श्री के.आर. सुरेशकुमार भी उपस्थित थे. दूसरे संगीत समारोह में थिरुवैयारु बी.वी. जयश्री ने प्रसिद्ध रागों से लोगों को मोहित कर दिया.

भारतीय कलाकारों की कला प्रदर्शनी

भारतीय विद्या भवन, यू.के. की एम.पी. बिरला मिलेनियम आर्ट गैलरी में पहली बार भारत के अतीत के प्रसिद्ध चित्रकारों की कला प्रदर्शनी रखी गयी. प्रदर्शनी में गुजराती चित्रकार कनू देसाई (1907-80), सोमलाल शाह (1905-94), हीरालाल खत्री (1906-91), शांतिलाल शाह (1922-93) व अन्य प्रतिष्ठित कलाकारों की कृतियों को शामिल किया गया.

विश्वस्तरीय कला संग्रहालय

भवन के बेंगलूरु केंद्र के उपाध्यक्ष हरिकिशोर केजरीवाल अपनी 'चित्रकला परिषद' को एक विश्वस्तरीय कला संग्रहालय में बदलने जा रहे हैं. उनके इस कार्य में केंद्र सरकार भी सहयोग करेगी. इस कार्य के लिए केजरीवाल अपनी निजी कलाकृतियों का दान भी करेंगे.

अलंकरण समारोह

भवन्स रेजिडेंशियल पब्लिक स्कूल, बीमावरम द्वारा विद्यार्थियों को सामाजिक स्तर की जिम्मेदारी समझाने के लिए तथा उन्हें तैयार करने के लिए अलंकरण समारोह आयोजित किया गया. इस समारोह में विद्यार्थियों को कैप्टन तथा लीडर जैसी पदवियों से सम्मानित किया गया.

मुख्य अतिथि, डॉ. सोमा राजू ने विद्यार्थियों को बधाई देते हुए कहा कि उनका लक्ष्य सच्चे अधिनायक बनने का होना चाहिए. जिससे कि वे सामाजिक जिम्मेदारियों का निर्वहन कर सकें.

भवन की नवीनीकृत वेबसाईट का उद्घाटन समारोह
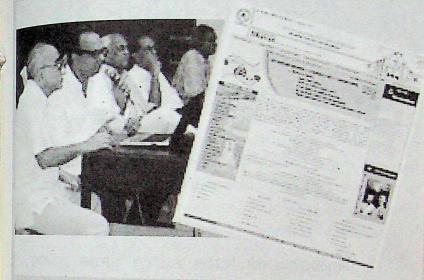
भारतीय विद्या भवन, मुंबई के 'गीता मंदिर' में भवन के कार्यकारी सचिव श्री एच. एन. दस्तूर द्वारा भवन की नवीनीकृत वेबसाइट www.bhavans.info का उद्घाटन किया गया. साथ ही 'मुनशी सरस्वती मंदीर ग्रंथघर' पुस्तकालय की वेबसाइट www.bhavanslibrary.org का भी उद्घाटन किया गया.

इस अवसर पर भवन के संयुक्त निदेशक श्री योगेश कामदार, कार्यक्रम निदेशक श्री कमलेश मोता व भवन के कर्मचारी उपस्थित थे.

सामाजिक चेतना पुरस्कार

भवन्स पब्लिक स्कूल, हैदराबाद को ब्रिटिश काउंसिल संस्था द्वारा सामाजिक चेतना पुरस्कार से सम्मानित किया गया. स्कूल के द्वारा 'सबसे अधिक पेपर कचरा' जमा करने तथा 'सबसे स्वच्छ दिन मुहिम' में शामिल होने के लिए दिया गया.

ब्रिटिश काउंसिल तथा 'आई लव माय मदर अर्थ' संस्था के संयुक्त तत्वावधान से ऑनलाइन चलाया जानेवाला 'द ग्रैंड बनियन प्रोजेक्ट' में 300 से अधिक विद्यालयों के विद्यार्थियों ने भाग लिया. इस अवसर पर विद्यार्थियों द्वारा तैयार किये गये प्रोजेक्टों की भी प्रदर्शनी लगायी गयी.
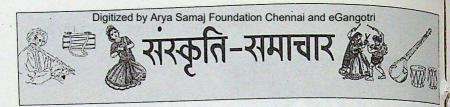
कुंवर किशोर टंडन को राष्ट्रीय मुक्तिबोध पुरस्कार

भोपाल के वरिष्ठ कवि-कथाकार कुंवर किशोर टंडन को, भारत भवन में आयोजित एक भव्य समारोह में मध्य प्रदेश के वन एवं राजस्व मंत्री श्री जयसिंह मरावी के मुख्य आतिथ्य व श्री श्रीधर पराडकर की अध्यक्षता में 'अखिल भारतीय मुक्तिबोध पुरस्कार' उनके कहानी संग्रह 'अनावरण' हेतु प्रदान कर सम्मानित किया गया. इस महत्त्वपूर्ण पुरस्कार के अंतर्गत श्री टंडन को 51 हज़ार रुपये की राशि, शाल, श्रीफल व प्रतीक चिह्न प्रदान किया.

डॉ. शिवनारायण को 'बादल साहित्य साधना सम्मान'

बिहार के मुख्यमंत्री श्री नीतीश कुमार ने प्रसिद्ध साहित्यकार एवं 'नई धारा' के सम्पादक डॉ. शिवनारायण को उनकी सुदीर्घ साहित्य सेवा के लिए वर्ष 2012 के 'बादल साहित्य साधना सम्मान' से विभूषित कर उन्हें शाल, श्रीफल, पुष्पगुच्छ, सम्मान राशि, प्रमाण पत्र एवं एक आकर्षक पेंटिंग अर्पित करते हुए अपनी शुभकामनाएं दीं. अशोक कला मंदिर द्वारा पटना शिल्प एवं कला महाविद्यालय में आयोजित एक भव्य समारोह में उन्हें यह सम्मान दिया गया. कवि-समालोचक डॉ. शिवनारायण ने साहित्य की विभिन्न विधाओं में अबतक 32 पुस्तकों की रचना की है और अब भी कला, साहित्य और पत्रकारिता विषयक लेखन में निरंतर सक्रिय हैं.

महीप सिंह को 'उदयराज सिंह स्मृति सम्मान'

साहित्यिक पत्रिका 'नई धारा' द्वारा वर्ष 2012 का छठा 'उदयराज सिंह स्मृति सम्मान' प्रसिद्ध साहित्यकार डॉ. महीप सिंह (गुड़गांव) को दिया जाएगा, जिसके तहत उन्हें 1 लाख रुपये सहित सम्मान पत्र, स्मृति चिह्न आदि प्रदान किये जाएंगे. इसके साथ ही प्रसिद्ध कवि मानिक बच्छावत (कोलकाता), चर्चित लेखक-सम्पादक रामकुमार कृषक (दिल्ली) तथा चर्चित युवा कथाकार सुश्री शरद सिंह (सागर) वर्ष 2012 के 'नई धारा रचना सम्मान' से नवाजे जाएंगे, जिसके तहत प्रत्येक लेखक को 25-25 हजार रुपये सहित सम्मान पत्र, प्रतीक चिह्न आदि प्रदान किये जाएंगे.

साहित्य-संस्कृति सम्मेलन आयोजित

रायपुर, छत्तीसगढ़ के मेडिकल कॉलेज सभागार में अखिल भारतीय कल्याण मित्र सभा, रायपुर एवं अखिल भारतीय साहित्य परिषद की प्रांतीय शाखा, रायपुर द्वारा 'साहित्य-संस्कृति सम्मेलन' का आयोजन किया गया.

इस अवसर पर 'अविरल कल्याण मित्र : डॉ. रमन सिंह' पुस्तक का विमोचन किया गया तथा मुख्यमंत्री रमन सिंह के हाथों 'नवनीत' के अगस्त-12 के अंक का भी विमोचन किया गया. मुख्यमंत्री ने 'नवनीत' को भारतीय संस्कृति का परिचायक बताते हुए भारतीय विद्या भवन के इस 'अभियान' की प्रशंसा की.

समारोह में छत्तीसगढ़ के मुख्यमंत्री रमन सिंह के साथ श्री सुदर्शन, वरिष्ठ पत्रकार, गंगा प्रसाद बरसैया, पद्मश्री डॉ. पुखराज बाफना व अन्य गणमान्य उपस्थित थे.

'अलकनंदा' का लोकार्पण

प्रख्यात पत्रकार एवं साहित्यकार श्री नंदकिशोर नौटियाल की औपन्यासिक कृति 'अलकनंदा' का उत्तराखंड राज्य के मुख्यमंत्री श्री विजय बहुगुणा ने विमोचन किया. 'अलकनंदा' के बारे में उन्होंने कहा कि इस उपन्यास का ध्येय है हर प्रवासी उत्तराखंडी को जगाना ताकि वह समय पर इस राज्य की सेवा के लिए वापस आ सके. श्री बहुगुणा के अनुसार प्रख्यात पत्रकार श्री नौटियाल की यह औपन्यासिक कृति सार्थक साहित्य का उदाहरण है. श्री नंदकिशोर नौटियाल ने बताया कि इस उपन्यास के लगभग सभी पात्र उत्तराखंडी समाज के बीच के हैं और ज़िंदा पात्र हैं. यह कृति पहाड़ से होते पलायन की पीड़ा की अभिव्यक्ति है लेकिन ये वापसी का संदेश भी देती है. पद्मश्री लीलाधर जगूडी ने उपन्यास को साहित्य की कई विधाओं का एक संयुक्त दस्तावेज बताया.

कार्यक्रम की अध्यक्ष डॉ. निर्मला जैन ने 'अलकनंदा' को राज्य की भौगोलिक एवं सांस्कृतिक मीमांसा बताते हुए लेखक के लेखकीय कौशल की तारीफ की. कार्यक्रम में हिंदी के प्रथम (थिसारस) समांतर कोशकार अरविंद कुमार, वरिष्ठ पत्रकार अवतार नेगी, गीतकार बुद्धिनाथ मिश्र, पत्रकार राजेंद्र व्यास और प्रसिद्ध स्तम्भ लेखक कुलदीप तलवार जैसी पत्रकारिता और साहित्य जगत की कई नामचीन शख्सियतों ने हिस्सा लिया.

पत्थर तो टूट रहा था

एक स्थान पर एक विशाल मंदिर का निर्माण किया जा रहा था. परिसर में अनेक मज़दूर पत्थर तोड़ रहे थे. जब मैं वहां से गुज़र रहा था तब एक मज़दूर से मैंने पूछा- "भाई क्या कर रहे हो."

उसने झल्लाते हुए जवाब दिया- "देख नहीं रहे हो... पत्थर तोड़ रहा हूं. अपनी ज़िंदगी बर्बाद कर रहा हूं."

वहां से आगे जाकर दूसरे मज़दूर से मैंने पूछा- "भाई क्या कर रहे हो." उसने कहा- "बाबूजी, पत्थर तोड़ रहा हूं... रोटी कमाने के लिए."

मैं और आगे गया और एक अन्य मज़दूर से पूछा- "भाई क्या कर रहे हो."

उस मज़ूदर के चेहरे पर चमक थी... वह प्रसन्नता से काम कर रहा था... उसने चेहरे से पसीना पोंछा और प्रसन्नता से बोला- "साब...हम मंदिर बना रहे हैं."

तीन मज़दूर एक ही काम कर रहे थे पर तीनों के जवाब भिन्न-भिन्न थे...जो यह बता रहे थे कि कोई भी काम हो उसे अच्छे मन से खुशी-खुशी करना चाहिए... तभी उस काम को करने में आनंद आयेगा. इसके विपरीत, यदि उसी काम को बोझ मान कर किया जाए तो वही काम हमारे सिर पर चढ़ कर बोझ बन जाएगा.

- संतोष मालवीय 'प्रेमी'

पी. वी. शंकरनकुट्टी द्वारा *भारतीय विद्या भवन*, क. मा. मुनशी मार्ग, मुंबई - 400 007 के लिए प्रकाशित तथा *सिद्धि प्रिंटर्स, 13/14, भाभा बिल्डिंग, खेतवाड़ी, 13 लेन,* मुंबई 400 004 में मुद्रित.
ले-आउट एवं डिज़ाइनिंग : समीर पारेख - *क्रिएटिव पेज सेटर्स*, गोरेगांव, मुंबई-104 फ़ोन: 98690 08907
सम्पादक : विश्वनाथ सचदेव

नवम्बर, 2012

20 रुपये

नवनीत

हिन्दी डाइजेस्ट

जीवन उत्सव है

"मेरा भविष्य, सुरक्षित"

एलआईसी का

जीवन अंकुर

नॉन-लिंक्ड जीवन बीमा योजना

- बीमा राशि और लॉयल्टी एडीशन्स* का परिपक्वता पर भुगतान
- बीमित व्यक्ति की दुर्भाग्यवश मृत्यु होने पर:
  अ) एक बीमा राशि का तुरन्त भुगतान
  ब) परिपक्वता तक हर वर्ष बीमा राशि के 10% का भुगतान
  स) अवधि की समाप्ति पर परिपक्वता लाभ (बीमा राशि तथा लॉयल्टी एडीशन्स*)
- दुर्घटना हितलाभ तथा क्रिटिकल इलनेस राइडर विकल्प उपलब्ध
- माता/पिता के जीवन पर जोखिम संरक्षण, बच्चा लाभार्थी
- **एकल प्रीमियम विकल्प भी उपलब्ध**

कीजिए अपने बच्चे का भविष्य सुरक्षित, पूरी तरह.

SMS करें 566773 ... 'CITY' ... अभी! licindia.in

बीमा आग्रह की विषयवस्तु है. कृपया बिक्री के समापन से पहले विक्रय पुस्तिका ध्यानपूर्वक पढ़ें.

*निगम के अनुभव के आधार पर

पाठकनामा

जुलाई अंक में सुब्रतो बागची का व्याख्यान, आपने प्रकाशित करके कई बातों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है. इस लेख का शीर्षक 'गो किस द वर्ल्ड' भी बहुत कुछ कह देता है. एक स्थान पर रहनेवाला मानव भी यदि चाहे तो समस्त विश्व को प्रेम कर सकता है और ऐसा करके वह व्यक्तिगत दुख-सुख के प्रभावों से सहज ऊपर उठकर विराट परमात्मा से एकत्व स्थापित करने की योग्यता पाता है.

वाल्मीकि रामायण को क्रमशः प्रकाशित करना भी धन्यवाद के योग्य है. श्लोकों को छापते वक्त किंचित अशुद्धी न रहे, तदर्थ किसी श्रेष्ठ विद्वान द्वारा अथवा गीताप्रेस गोरखपुर से प्रकाशित 'श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणम्' ग्रंथ से श्लोकों का मिलान करने के बाद ही छापा जाए, तो मान बना रहे.

● **श्री वृंदावन**

'नवनीत' पढ़ने का सुअवसर प्राप्त हुआ. यह पत्रिका वस्तुतः 'यथा नाम तथा गुण' है. हिंदी साहित्य को 'नवनीत' निरंतर 60 वर्षों से पाठकों तक पहुंचा रही है. बधाई.

जुलाई अंक में आवरण-कथा केंद्रित रचनाओं ने इस अंक को विशेष संग्रहणीय बना दिया है. राजनारायण चौधरी का गीत, ममता कालिया की कहानी- 'बाज़ार' तथा सत्यपाल सिंह 'सुष्म' का व्यंग्य- 'अपना व्यंग्य तुलवाइए' विशेष रूप से प्रभावित करते हैं.

● **डॉ रवि शर्मा 'मधुप'**, दिल्ली

जुलाई अंक की आवरण-कथा के अंतर्गत 'संस्कृति के आयाम' (विजयकिशोर मानव), 'सभ्यताओं के संकट : संस्कृति की बलि' (गंगा प्रसाद विमल), 'संस्कृति है क्या' (रामधारीसिंह दिनकर), 'हमारे पास न पुराने आदर्श हैं न नये' (जवाहरलाल नेहरू), 'भारतीय संस्कृति की देन' (हजारीप्रसाद द्विवेदी) जैसे विद्वानों और प्रतिष्ठित हस्तियों के सारगर्भित एवं चिंतनीय आलेख पढ़े. वर्तमान में संस्कृति का मसला और अधिक गम्भीर होता जा रहा है. इस संकट से निपटने के लिए ठोस कदम उठाने की आवश्यकता है.

महान कथाकार मुंशी प्रेमचंद पर मुक्तिबोध द्वारा लिखा गया संस्मरण बहुत अच्छा लगा. इस दौर के लेखक-लेखिकाएं महानगरों में बैठकर गांव की कहानियां लिखने का प्रयास करते हैं, तो प्रेमचंदजी जैसी वास्तविकता कहां से आयेगी? उनका कालजयी साहित्य काल्पनिक नहीं है.

● **जितेंद्र सिंह पथिक, रतलाम, म. प्र.**

'नवनीत' के जुलाई अंक में प्रधानतः संस्कृति को संकट से बचाने के लिए संस्कृति का परिचय देना आवश्यक समझकर ही आपने आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, रामधारी सिंह दिनकर, जवाहरलाल नेहरू, गंगाप्रसाद विमल लेखकों के गवेषणापूर्ण लेखों को समाविष्ट किया है. मेरे विचार से संस्कृति के अर्थ को समझने के लिए इन लेखकों का बुद्धिव्यायाम पर्याप्त नहीं. संस्कृति को असंदिग्ध रूप से समझने के लिए जिन दो शब्दों को समझने की आवश्यकता थी, उनको समझने-समझाने का प्रयास इन लेखों में नहीं किया गया है. वे दो शब्द हैं - प्रकृति और विकृति. संस्कृति शब्द तो प्रकृति और विकृति के मध्य में अवस्थित है. उदाहरणार्थ- गेहूं प्रकृति है एवं उससे बना पादेय (खाद्य पदार्थ) गेहूं की विकृति है. किसी भी वस्तु, समाज या आचार की परिणति इन तीनों अवस्थाओं में होती है. इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी वस्तु, विचार, समाज एवं आचार इतना परिष्कृत हो जाए कि किसी भी भेदभाव के बिना सबके लिए उपादेय एवं उपकारक हो. उसमें जातीय-वर्ग या देशभेद की परिकलपना भी न हो. जैसे- परस्पर प्रेमपूर्ण आत्मसंयमित दिनचर्या हो, शोषण या विक्रोशण की भावना ना हो, वह आचार-विचार, व्यवहार समस्त भूमंडलमात्र के लिए संस्कृति पदवाच्य हो सकता है और मैं समझता हूं कि संस्कृति का यह परिभाषित अर्थ उसके पूर्ण अर्थ को अभिव्यक्त करता है.

● **आचार्य त्रिनाथ, मेरठ, उत्तर प्रदेश**

'नवनीत' के जुलाई अंक के आलेखों में हजारीप्रसाद द्विवेदी, रामधारी सिंह दिनकर, गंगाप्रसाद विमल जैसे स्वनाम धन्य साहित्यकारों के अमूल्य विचार शाश्वत चिंतन युक्त हैं.

चंद्रसेन विराट की कविता 'मैं गति हूं' अंक की सशक्त प्रस्तुति है. नयी कविताएं भावहीन और निरुद्देश्य लगीं. इससे अच्छी तो क्षणिकाएं होती हैं, त्वरित प्रभाव डालती हैं. और कभी-कभी संदेशपरक भी होती हैं. विमल मित्र का शताब्दी स्मरण प्रेरणाप्रद है. शब्द यात्रा, कुलपति उवाच, डॉ. बुद्धिनाथ मिश्र द्वारा कवि भारत भूषण

को एक सदेह गीत के रूप में स्मरण की प्रस्तुति प्रशंसनीय और पठनीय है.

एक दो पृष्ठ बाल साहित्य के लिए भी आबंटित करे तो श्रेयस्कर होगा.

● **गौरीशंकर 'विनम्र', लखनऊ**

मई अंक के यों तो सभी आलेख उच्चस्तरीय है किंतु ग्रामीण परिवेश को लेकर वर्तमान की स्थिति का सटीक वर्णन विवेकी राय की आवरण-कथा 'पूरे थे अपने आप में आधे-अधूरे लोग' ने बहुत प्रभावित किया.

● **सत्यदेव दुबे 'देवेश', लखनऊ.**

'नवनीत' के जून अंक की आवरण-कथा 'आओ अपनी गंगा बचायें' के अंतर्गत अपनी थाती पतित पावनी गंगा के प्रति व्यक्त चिंता सामयिक, सारगर्भित देश के नीति नियंताओं व जन साधारण के लिए प्रेरक है. दरअसल गंगा की अविछिन्न अविरलता और निर्मलता नारे लगाने व अनशन करने की बजाय इसके लिए हम सबको एकजुट होकर काम करना होगा. नालों का गंदा पानी, कारखानों के रासायनिक कचरों का प्रवाह जिससे जलीय जीव जंतुओं का दम घुट ही नहीं रहा बल्कि गंगा जल आचमन योग्य तक नहीं रहा. आखिर हम कब चेतेंगे? सरकार मूर्ति विसर्जन व स्नान के लिए अलग-अलग स्थान तय करें. गंगा निर्मलीकरण के लिए अवमुक्त धनराशि सार्वजनिक कर उसका सही उपयोग तय करें तभी अपनी गंगा को हम भावी पीढ़ी को दे सकेंगे.

● **चंद्रकांत यादव चंदौली, उत्तर प्रदेश**

मैं 'नवनीत' की नियमित पाठिका हूं. इसको पाकर और पढ़कर लगता है कि मुझे मानसिक खुशी मिल गयी है. इसके लेख और कहानियां भी बहुत ऊर्जावान होते हैं. यह पत्रिका मेरे लिए एक बहुत बड़ा प्रेरणा स्रोत है.

● **पुनीता वर्मा, देहरादून, उत्तराखंड**

हिंदी में 'हिंग्लिश' की मिलावट के प्रतिरोध में उठते स्वर सिर्फ़ अरण्यरोदन बन कर रह गये हैं. सितम्बर-12 के अंक में समस्या को फिर से एक नये सिरे से उजागर किया गया है, साधुवाद. हिंग्लिश को बढ़ावा देने के पीछे दावा, दुराशा या बहाना जो भी हो, यह न तो हिंदी के हित में है, न देश के. हिंग्लिश की पक्षधर पत्र-पत्रिकाओं को क्या कहें, अब तो केंद्र सरकार ने ही राजभाषा हिंदी में कार्यालयीन पत्र व्यवहार हेतु अंग्रेज़ी शब्दों का खुलकर इस्तेमाल करने यानी हिंग्लिश के लिए दरवाज़ा खोल दिया है,

हिंदी के सतत प्रयोग के दौरान इसमें अन्य भगिनी भाषाओं और अंग्रेज़ी के कुछ शब्दों को स्वाभाविक रूप से पचाये जाने का स्वागत है, जिससे हिंदी समृद्ध हो. किंतु इसमें बेवजह अंग्रेज़ी ठूंसना अनावश्यक है और हानिकारक. हिंदी की प्राणवत्ता को अकारण क्यों नष्ट किया जा रहा है? अच्छा हो कि अंक का सम्पादकीय, 'सवाल भाषा की प्राणवत्ता का' दुबारा पढ़ लिया जाये जो आंखें खोलनेवाला है.

● **रामचंद्र मिश्र, ठाणे, महाराष्ट्र**

आत्म-नियमन

गीता ने चातुर्वर्ण्य का रूप बदलकर उसे नया अर्थ दिया है. ऐसा करने के लिए गीता दो तथ्यों को स्वीकृत करती है : पहला यह कि मनुष्य स्वभाव, चातुर्वर्ण्य, शक्ति तथा विचार की असमानता लेकर ही पैदा होता है, दूसरा यह कि मनुष्य के स्वभाव में मूल से ही रहने वाली शक्ति और चातुर्वर्ण्य को अलग रख दिया जाये तो यह स्वभाव इन वस्तुओं के प्रभाव से गढ़ा जाता है. आनुवांशिक संस्कार, जन्म के वर्ण का बाल्यकाल में दीखा वातावरण, अनुभव द्वारा पढ़ाये गये पाठ और स्वेच्छा से प्राप्त शिक्षा. साधारण मनुष्यों में आनुवांशिक संस्कार का बल सबसे अधिक बलवान होता है और आत्म-नियमन का बल सबसे कम.

आरम्भ में श्री कृष्ण अर्जुन को जन्म से प्राप्त वर्ण-धर्म का पालन करने के लिए समझाते हैं- अपने धर्म को देखकर भी तुझे युद्ध से भय करना उचित नहीं है क्योंकि धर्म-युद्ध से बढ़कर और कोई उत्तम कार्य नहीं है. खुले हुए स्वर्गद्वार के ऐसे युद्ध को भाग्यवान क्षत्रिय ही पाते हैं. परंतु यह गीता के संदेश का प्रारम्भ है, समाप्ति नहीं.

श्रीकृष्ण की गर्जना तो इनमें भी सबसे निर्बल छड़ी को - अर्थात आत्म-नियमन को मज़बूत बनाने की है. ऐसा करते-करते अंत में जब आत्म-नियमन आनुवांशिक संस्कारों, वातावरण और अनुभव द्वारा उद्भूत कौशल-समझों पर विजय प्राप्त कर ले, तब वह साधना पूर्ण हुई समझी जाए.

(कुलपति के. एम. मुनशी भारतीय विद्या भवन के संस्थापक थे)

नवनीत

हिंदी डाइजेस्ट

समय... साहित्य... संस्कृति... का समग्र संसार

• भारतीय विद्या भवन का मासिक •

भवन की पत्रिका 'भारती' से समन्वित

वर्ष : 60 अंक : 11 • नवम्बर 2012

सम्पादकीय कार्यालय

भारतीय विद्या भवन

क. मा. मुनशी मार्ग, चौपाटी, मुंबई - 400 007

फ़ोन : 022-23634462/ 1261/ 1554

फ़ैक्स : 022-23630058

प्रसार-विभाग : 022-23514466/ 23530916

ई-मेल : navneet.hindi@gmail.com

bhavan@bhavans.info

एक नज़र में

कुलपति उवाच

शब्द-यात्रा

पहली सीढ़ी

मेरी पहली कहानी

60 साल पहले

आलेख

आवरण-चित्र
अशोक भौमिक

नाम-ओ-निशान नाम व गाली के

● आनंद गहलोत

'नाम' एक ऐसा शब्द है, जिसका नाम-ओ-निशान इतिहास के असंख्य वर्षों में भी नहीं मिटा और रंग-रूप और चरित्र भी नहीं बदला. यह शब्द पूर्वी एशिया से लेकर यूरोपीय महाद्वीप तक में था और आज भी है. वेदों में यह नाम (नामन्) के रूप में है. विश्व की ज़्यादातर भाषाओं को यह आदि पूर्वजों की विरासत के रूप में मिला. ईरान में लिखित प्राचीन धर्माचरण पुस्तक 'ज़ेंदावस्था' और प्राचीन फ़ारसी की 'शाहनामा' में यह 'नामा' रूप में था, पहलवी और बाद की फ़ारसी भाषा में यह 'नाम' है. अंग्रेज़ी का 'नेम' और यूरोपीय भाषाओं के 'नेम' से मिलते-जुलते शब्द 'नामा' (सेक्सन), 'नाम' (डैनिश), 'नमो/नमः' (गॉथिक), 'नेम' (जर्मन), लैटिन का 'नॉमन', इसी ओर इशारा करते हैं कि वैदिक भाषा के 'नाम' पर ही इनका 'नाम' चला है. नाम से कोई चीज़ प्राणी, व्यक्ति व व्यक्ति समूह जाना जाता है. मेरे शोध के अनुसार यह 'ज्ञान' या 'ज्ञ' से बना है. 'नाम' ने प्रतिष्ठावाचक अनेक शब्दों और मुहावरों को जन्म दिया जैसे 'नेकनाम', 'नेकनामी', 'नामआवर', 'नाम रोशन करना', 'नाम बड़ा होना' साथ ही 'बदनाम', 'बदनामी' का जनक भी यही शब्द है. दूसरी तरफ़ 'नाम खाक में मिलना', 'नाम खराब करना', 'नाम डूबना', 'नाम डुबोना' जैसे प्रयोग गढ़ने में यही शब्द सहायक हुआ है.

शब्द 'नाम' का अर्थ अकेले किसी चीज़ का नाम न रहकर प्रतिष्ठा, कीर्ति, यश, प्रसिद्धि संस्कृत भाषा और ईरान की पहलवी भाषा के युग में ही हो गया था. बाद की भाषाओं ने भी वैसे ही प्रयोगों को अपनाया. संस्कृत के 'अपयश', 'अपकीर्ति' शब्द ने भारत में आम बोलचाल की भाषा में 'बदनामी' शब्द से अपनी हार मान ली है. सम्भवतः इन शब्दों के निर्माण में 'नाम' न रखने से ऐसा हुआ.

भारत में गालियों के कोश खज़ाने की वृद्धि में हिंदी का योगदान अधिक है या उर्दू का, यह अलग खोज का विषय है लेकिन गालियां अब दोनो भाषाओं की मिलीजुली सम्पत्ति है.

हां, तो यह 'गाली' शब्द कहां से आया? इस भ्रम में मत रहिये कि मुगल 'गाली' शब्द अपने साथ भारत लाये. फ़ारसी या अरबी में 'गाली' शब्द है ही नहीं, जबकि संस्कृत में है. संस्कृत लेखक भतृहरि ने अपने नीति-शतक में यह शब्द इस्तेमाल किया है. यह दूसरी बात है कि उर्दूवालों को 'गाली' शब्द हिंदी वालों से भी ज़्यादा पसंद आया. उन्होंने आपसी 'तू-तू, मैं-मैं' के लिए 'गालीगलौज और 'गाली गलौच' शब्द गढ़े. 'गाली गुप्ता' शब्द भी उर्दू की देन है. 'गाली' के लिए फ़ारसी का 'दुश्नाम' अपशब्द जो संस्कृत भाषा की परम्परा का है, जो इस देश के रहनेवालों की ज़बान पर नहीं चढ़ पाया है.

।। आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः ।।

रात मत बुनो

सुनो,
रात मत बुनो!

भीड़ की न बात सुनो,
जब अपनी राह चुनो,
स्वयं को सुनो!

घर अथवा घाट नहीं,
मरने को खाट नहीं,
सड़क को चुनो!

इस दुनिया के अंदर,
अंधियारा डगर-डगर,
रुई-सा धुनो!

बनवासी लौटें घर,
जगमग हो अवध नगर,
स्वप्न ये बुनो!

घर-घर हो दीप-पर्व,
खंडित हो तम का गर्व,
ज्योति-मंत्र गुनो!

रात मत बुनो...

– सूर्यभानु गुप्त

...तब उत्सव होता है

उत्सव की एक परिभाषा यह भी है कि जो कुछ हमारे पास है, वह बांटें और यह बांटना किसी दबाब का परिणाम नहीं होता. भीतर से एक उमंग उठती है- खुशी की उमंग. इस उमंग की सार्थकता बंटने में है– बांटने में है. ऐसा जब होता है, तब उत्सव होता है. जब उत्सव होता है, तब जीने को मन करता है. अभावों से मुक्ति का भाव तो रहता है, पर जो कुछ है, उससे संतुष्टि का भाव भी साथ-साथ पलता है. विरोधाभासी लगती है यह बात, पर यही वास्तविकता जीवन को अर्थ भी देती है– सार्थक बनाती है.

जीवन में आशा, उल्लास और विश्वास का महत्त्व असंदिग्ध है. आशा हमें कल के प्रति उत्सुकता का भाव ही नहीं देती, एक ऊर्जा भी देती है कल को जीने की. उल्लास इस ऊर्जा को रंग देता है, प्रखर बनाता है. तब जगता है विश्वास. तब हम जीवन नहीं जीते, जीवन हमें जीता है. तब सिर्फ ग्रहण करने का मन नहीं करता, उत्सर्ग का मन भी बनता है. प्रसाद ने 'कामायनी' में कहा है न, 'इस अर्पण में कुछ और नहीं, केवल उत्सर्ग झलकता है.' कुछ अर्पित करके हम जुड़ते हैं दूसरे से. तब हमारी खुशी उसकी खुशी बन जाती है, उसकी खुशी में हम खुश हो लेते हैं. खुशियों के बंटवारे का यह समझौता हमारे अकेलेपन के शाप से मुक्ति दिलाता है हमें. हमें समष्टि से जोड़ता है. तब उत्सव मनता है. खुश तो हम अकेले भी हो सकते हैं, पर इस खुशी का सही अर्थ तब समझ आता है, जब हम दूसरे की खुशी के बारे में भी सोचें. सामूहिकता का यह भाव हमारे अस्तित्व को विस्तार देता है. हमें वह बनाता है जो हमें होना चाहिए. इसके लिए हम सीमाओं को ढकेलते हैं, एक विस्तार को जीने की कोशिश करते हैं. यही है जीवन–उत्सव.

उत्सव कहीं अकेले नहीं मनता. यह उत्सव की सीमा नहीं, विशेषता है. यही विशेषता जीवन में उजाले लाती है. इन उजालों में राहें देखने का अवसर सबके लिए होता है. इसलिए आओ, उत्सव मनाएं. उत्सवमय हो जायें.

जीवन उत्सव है

● रमेश दवे

उत्सव सामाजिक आनंद का पर्याय है. जीवन भी है क्या, जन्म से अंत के उत्सव के सिवा? उत्सव का तात्पर्य ही यह है कि जहां हर प्रकार का उत्पात, अशांति, उदासी का अंत हो जाए, वहां उत्सव होता है. उत्सव मनुष्य में जीने की उत्कंठा बढ़ाते हैं, जीवन को जीने की कला बताते हैं और जीवन को समझने का ज्ञान देते हैं. जीवन न एकांगी होता है, न एकांतिक और न एकाधिकार-युक्त. जीवन स्वयं में एक स्वतंत्र लोकतंत्र है, जिसका संविधान जीवन के प्रति आस्था है, जिसके तत्त्व उसके कर्मशील सक्रिय देह-प्रतिनिधि हैं और जिसका आनंद, स्वतंत्रता और स्वाधीन मन, कर्म, वचन हैं.

भारत एक उत्सवधर्मी देश है. यहां प्रकृति के उत्सव, पुरुष के उत्सव, स्त्री के उत्सव, बच्चों के उत्सव, पशु-पक्षियों तक के उत्सव हैं. मनुष्य की इस उत्सवी जीवन-वृत्ति से पर्व, त्यौहार, समारोह आदि का जन्म हुआ है. यदि आदिमानव के लिए आखेट उत्सव था, तो आज के आधुनिक और उत्तर-आधुनिक मानव-समाज के लिए बाज़ार उत्सव है. जिसमें देह के विज्ञापन उत्सव की तरह हैं, और वस्तुओं के प्रचार उपभोक्ता के भोग के भौतिक उत्सव हैं. सभ्यताओं ने अपनी बर्बरता से अनेक मानवीय एवं आदिम संस्कृतियों, भाषाओं, लोकाचारों, परम्पराओं, प्रथाओं का विनाश भले ही कर दिया हो लेकिन उत्सवों की हत्या नहीं की जा सकी. धर्मांतरण से मनुष्य की आस्थाएं बदलीं, लेकिन एक धर्म के उत्सव का विकल्प दूसरे धर्म के उत्सव बन गये. उत्सव मर जाते, आनंद मर जाता, जिजीविषा मर जाती और मनुष्य एक संस्कृति-शून्य ऐसे प्राणी में बदल जाता जो पशुओं की तरह हंस नहीं पाता. खुशी की अभिव्यक्ति ही तो है हंसी और यदि उत्सव

नहीं होता तो खुशी नहीं होती एवं हंसी नहीं होती तो जीवन, जीवन की तरह नहीं होता. 'वन' मनुष्य में उतर कर जी+वन अर्थात जीवन हो जाता है. क्या इसका एक तात्पर्य यह नहीं कि मनुष्य का आदिम वन प्रणाली से मुक्त होना ही जीवन बना? वन को प्राणमय बनाना ही जीवन है.

उत्सव के अनेक पर्यायवाची शब्दकोश में मिलते हैं लेकिन भाषा-विज्ञान का एक तर्क यह भी है कि कोई शब्द किसी का पर्यायी या विलोमी नहीं हो सकता. शब्द में शब्द के ही अनेक अर्थपाठ या अंतरपाठ होते हैं. उत्सव को पर्व, समारोह, त्योहार, फेस्टिवल, मेला, जलसा, जश्न, समागम, आयोजन आदि नाम दिये गये लेकिन उत्सव इन सब में निहित होता है. इसलिए उत्सव का पर्याय या समानधर्मा कोई शब्द नहीं है. भारत हिंदू-प्रधान देश है. हिंदू समाज जातियों का समाज है. पूरे विश्व में सर्वाधिक उत्सव भारत में ही होते हैं. भारत की उत्सव-प्रियता के दो कारण हैं, एक तो भारत का बहुधर्मी स्वरूप और दूसरा बहु जातीय स्वरूप. बहुधर्मी समाज में हिंदू, ईसाई, मुस्लिम, पारसी, सिख, यहूदी, बौद्ध, जैन, वहाई आदि माने जाते हैं. सबके अपने-अपने आस्था-प्रतीक और आस्था-ग्रंथ हैं. कुछ उत्सव सामान्य हैं जो जाति-धर्म के आधार पर नहीं होते. हर धर्म या जाति में जन्मोत्सव होता है, धार्मिक त्योहारों का उत्सव होता है, विवाह का उत्सव होता है, यहां तक कि विवाह की वर्षगांठ का उत्सव होता है और स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय,
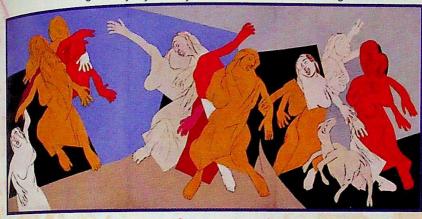
मनुष्य की राग-वृत्ति का प्रतीक है उत्सव

क्लब आदि में कभी गेट-टुगेदर के नाम पर नृत्य-उत्सव तो कभी गीत-संगीत उत्सव, कभी पेंटिंगों, शिल्प आदि की प्रदर्शनी का उत्सव तो कभी फैशन उत्सव होते हैं. इसका तात्पर्य यह भी है कि उत्सव मनुष्य की राग-वृत्ति का प्रतीक है. उत्सव हर मनुष्य या हर परिवार को तनावमुक्त करता है. मनुष्य की सामाजिक जीवन प्रणाली को जिस प्रकार टी.वी. एवं अन्य इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों ने ध्वस्त किया है, उत्सव उस ध्वंस के विरुद्ध आनंद का व्यक्तिगत और सामूहिक उत्तर है.

अफ्रीका के किसानों में भूमि के गर्भधारण का एक अद्भुत उत्सव होता है, जिसकी चर्चा महान मनोवैज्ञानिक 'युंग' ने अपनी पुस्तक में की है. वर्षा के प्रथम आगमन के साथ गांव-गांव में किसान भूमि पर एक छेद करते हैं, उस छेद में एक दंड रखते हैं. उस दंड को सजा-धजाकर, उसे जल चढ़ाते हैं, उसके आसपास नाचते हैं, आसपास बीज के दाने डालते हैं, जब दाने अंकुरित होकर अपने हरेपन के साथ उग आते हैं, तो सभी कहते हैं धरती गर्भवती हो गयी. फिर वे बलि देते हैं और नाचते गाते हैं. सम्भवतया भूमि और स्त्री को गर्भधारण के कारण मां की संज्ञा दी गयी है. प्रसिद्ध फ्रेंच विचारक सीमोन द बोउवा ने भी तो कहा था कि मनुष्य को अपने पुरुष होने पर अभिमान क्यों है? क्या वह स्त्री की तरह गर्भधारण कर सकता है? इसलिए गर्भधारण चाहे पृथ्वी का हो या स्त्री का वह मनुष्य के अस्तित्व का उत्सव है.

भूमि और कृषि से जुड़ा उत्सव हमारे देश के लगभग सभी भागों म होता है. अन्न का उत्सव इसलिए कि अन्न प्राण है, प्राणमय कोष का रक्षक है. महान छायावादी कवि जयशंकर प्रसाद ने अपनी कहानी 'पुरस्कार' में इस कृषि-उत्सव का कितना सुंदर चित्र प्रस्तुत किया है. प्रकृति और पुरुष कितने संपृक्त और एक दिन के लिए राजा भी किसान. 'पुरस्कार' कहानी का यह अंश देखकर लगता है कि हमारे देश में कृषि

लोक सेवाओं की समयबद्ध गारंटी जनता के अधिकार के दो वर्ष

लोकतांत्रिक व्यवस्था जनता के प्रति शासन के कर्तव्यों की पूर्ति का उपकरण है, जिसकी प्रभावशीलता उत्तरदायित्व एवं अनुशासन में निहित है।

पं. दीनदयाल उपाध्याय

देश में यह पहल करने वाला मध्यप्रदेश पहला राज्य

पंडित दीनदयाल उपाध्याय के विचारों को सच बनाते हुये मध्यप्रदेश में सुशासन का नया अध्याय।

लोक सेवा गारंटी कानून के तहत

1 करोड़ 38 लाख से ज्यादा नागरिकों ने तय समय सीमा में सेवाएं पाई हैं।

अब 52 सेवाएं प्रदेश के नागरिकों को निश्चित समय सीमा में मिलती हैं।

- नागरिकों के इस अधिकार को दिया गया है कानूनी दर्जा।
- लोक सेवा गारंटी का प्रदेश में है अलग विभाग।
- सुशासन की इस अभिनव पहल को मिली है अंतर्राष्ट्रीय मान्यता।
- लोक सेवाओं की प्रणाली को और कारगर बनाने के लिये प्रत्येक विकासखंड मुख्यालय और शहरी क्षेत्र में खोले जा रहे हैं 336 लोक सेवा केन्द्र।

✓ 3 दिन में आय प्रमाण-पत्र
✓ 15 दिन में विकलांगता प्रमाण-पत्र
✓ 10 दिन में राज्य बीमारी सहायता प्रकरण की स्वीकृति
✓ 7 दिन में दीनदयाल अंत्योदय उपचार योजना कार्ड
✓ 30 दिन में रासायनिक उर्वरक विक्रय का लायसेंस
✓ 30 दिन में कीटनाशक विक्रय का लायसेंस
✓ 10 दिन में लर्निंग ड्रायविंग लाइसेंस
✓ 30 दिन में बीपीएल सर्वे सूची में नाम जोड़ना
✓ 30 दिन में लाड़ली लक्ष्मी योजना का लाभ

हकों की हिफ़ाजत मध्यप्रदेश

सुशासन की दिशा में हमारे प्रयासों ने व्यापक राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय सराहना अर्जित की है। मध्यप्रदेश सरकार के नागरिकों को समय पर सेवाएँ देने के लिए बनाए गए लोक सेवा गारंटी अधिनियम को लागू होने के दो सालों में अब अंतर्राष्ट्रीय मान्यता मिल चुकी है। मध्यप्रदेश को संयुक्त राष्ट्र का इम्प्रूविंग द डिलीवरी ऑफ पब्लिक सर्विसेज श्रेणी का पुरस्कार प्राप्त हुआ है।

मध्यप्रदेश देश का प्रथम राज्य है जिसने अधिसूचित सेवाओं को नागरिकों को प्रदान करने की कानूनी गारंटी दी है। इस योजना से आम आदमी को प्राप्त होने वाली सुविधाओं में क्रांतिकारी बदलाव आया और कई अन्य राज्यों जैसे बिहार, पंजाब, उत्तराखण्ड, दिल्ली, जम्मू और कश्मीर, उत्तर प्रदेश, राजस्थान और झारखण्ड ने भी इसका अनुसरण किया है।

शिवराज सिंह चौहान
मुख्यमंत्री

कितना बड़ा सांस्कृतिक महोत्सव है.

"प्रभात की हेम-किरणों से अनुरंजित नन्हीं-नन्हीं बूंदों का एक झोंका स्वर्ण-मल्लिका के समान बरस पड़ा. मंगल सूचना से जनता ने हर्ष ध्वनि की. रथों, हाथियों और अश्वारोहियों की पंक्ति जम गयी. दर्शकों की भीड़ भी कम न थी. गजराज बैठ गया. सीढ़ियों से महाराज उतरे. सौभाग्यवती और कुमारी सुंदरियों के दो दल, आम्रपल्लवों से सुशोभित मंगल कलश और फूल, कुमकुम तथा खीलों से भरे थाल लिये, मधुर गान करते हुए आगे बढ़े. महाराज के मुख पर मधुर मुस्कान थी. पुरोहित वर्ग ने स्वस्त्ययन किया. स्वर्ण-रंजित हल की मूठ पकड़कर महाराज ने जुते हुए सुंदर पुष्ट बैलों को चलने का संकेत दिया. बाजे बजने लगे. किशोरी-कुमारियों ने खीलों और फूलों की वर्षा की. कौशल का यह उत्सव प्रसिद्ध था. एक दिन के लिए महाराज को कृषक बनना पड़ता ....प्रति वर्ष कृषि का यह महोत्सव उत्साह से सम्पन्न होता. दूसरे राज्यों से भी युवक राजकुमार इस उत्सव में बड़े चाव से आकर योगदान देते."

कृषि का यह उत्सव, जब सत्ता सिंहासन से उतरकर धरती पर आता होगा, तब राजा और राज्य को पता चलता होगा कि किसान के श्रम-सीकर ही तो अन्न का उत्सव बनते हैं, प्राण का उत्सव बनते हैं. यदि आज भी सत्ताएं, धरती का स्पर्श अनुभव करें तो कृषक आत्महत्या न करें, सत्ता के संवेदन से मनुष्य अधिक मनुष्यता निर्वाह करे.

हमारे देश को उत्सवी देश यूं ही नहीं कहा जाता. सभी जाति-समाजों के उत्सव हैं. इस्लाम में ईद, ईसाईयों में क्रिसमस, पारसियों में नौरोज, महावीर जयंती, बुद्ध जयंती, नानक जयंती, रविदास जयंती आदि सब उत्सवों का महत्त्व सांस्कृतिक-समरसता का प्रतीक है लेकिन हिंदू समाज तो वर्ष भर उत्सव मनाता समाज है. यहां पृथ्वी, जल,

स्वर्ण मंदिर में उजाला

अग्नि, वायु, आकाश, वनस्पति, वन आदि के उत्सव तो हैं ही साथ ही महापर्व भी हैं जैसे दशहरा, विजयपर्व, दीपावली, दीप-पर्व, शरद पूर्णिमा, शारदोत्सव, नवरात्र उत्सव, शारदीय और चैत्र, रक्षा-बंधन, गणेशोत्सव, छठ-उत्सव, गणगौर-उत्सव, बिहू, छाऊ, ओणम, पोंगल, गुड़ी पड़वा, मकर संक्रांति आदि. उत्सव केवल आनंद का ही प्रतीक नहीं होते वे तो कला, साहित्य, लोक-संस्कार के भी प्रतीक होते हैं. दीवारों और चौक में लोक कला-कृतियां जब स्त्रियां रचती हैं, खड़िया और गेरू से या चावल के चंदन लेपन से तो, ऐसा लगता है, घर का हर आंगन, चौक, दीवार मुस्कुरा उठा हो. जब मंगलमय मुहूर्त में लोकगीतों से उत्सव का महिमागान होता है तो लगता है जैसे वह हमारे लोक-जीवन का स्वर-संगीत है, सृष्टि का संगीत है और मानव-कल्याण की पवित्र प्रार्थना है. इसके आगे जब घर-घर में तरह-तरह के पकवान बनते हैं, उनका पड़ोस और रिश्तों में आदान-प्रदान होता है तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे हर घर की स्त्री साक्षात अन्नपूर्णा बन गयी है और आदान-प्रदान का यह सौंदर्य, यह सहृदय-संवेदन, उपभोक्तावाद की बाज़ार सभ्यता के जबड़ों में यदि न जकड़ लिया गया, तो यह निश्चित है कि भारतीयता की गंध कभी समाप्त नहीं होगी. स्व. डॉ. राजबली पाडेय जैसे संस्कृतिविद् ने तो भारतीय संस्कार नाम से एक सम्पूर्ण ग्रंथ की रचना की है और हर संस्कार का उत्सव भी बताया है.

हिंदुओं का सबसे बड़ा त्योहार दीपावली माना जाता है. यह मात्र दीपोत्सव नहीं है, बल्कि इसी त्योहार के साथ गोवर्धन पूजा होती है, किसान अपने हल और बैलों का पूजन कर हीड़ या लोकगीत गाकर प्रकृति की प्रार्थना करते हैं, सबके सुख की कल्पना करते हैं, मस्तक पर मिट्टी का तिलक लगाकर उसे सदा उर्वरा बने रहने के लिए मंत्रजाप करते हैं. जब हम शांतिपाठ करते हैं तो वहां आकाश, पृथ्वी, वनस्पति, औषधि, जल सभी के प्रति शांति की कामना है और 'सर्वे भवंतु सुखिनः' प्रमाण है इस बात का कि जो देश सब के सुख की कामना करता है, वही 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का संदेश भी दे सकता है.

यहां हिंदुओं की हर तिथि प्रतिपदा से पूर्णिमा और अमावस्या तक एक-एक उत्सव तिथि है जो वर्षभर में प्रत्येक मास में उत्सव के साथ घटित होती है. इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि भारत के हिंदू समाज के पास मात्र एक या दो ही त्योहार हैं. यह देश और इसकी संस्कृति तो वर्ष भर उत्सव से सराबोर रहती है. जब पुरुषोत्तम मास अर्थात अधिक मास आता है तो पुष्टिमार्ग के वैष्णव समाज द्वारा श्रीनाथजी के मंदिर में वर्ष भर के सभी त्योहार पंद्रह दिनों में मना लिये जाते हैं फिर चाहे वह होली हो या दीपावली, सावन के झूले हों या हरियाली अमावस्या. गणेशोत्सव और नवरात्र-उत्सव तो अब देश भर के राष्ट्रीय उत्सव बन गये हैं, जहां रिद्धि-सिद्धि और बुद्धि के देवता गणपति का दस दिन तक झांकियों और

सुंदर प्रतिभाओं के साथ सांस्कृतिक कार्यक्रमों में उत्सव होता है और उसके पश्चात घट-स्थापना से दुर्गानवमी तक मां दुर्गा का उत्सव भव्य रूप से मनाया जाता है. बंगाल, बिहार, उड़ीसा और असम तक किसी समय केंद्रित यह दुर्गा-उत्सव अब एक राष्ट्रीय, सर्व-समाज का कलात्मक उत्सव बन गया है, जिसमें गरबा, डांडिया, संगीत और सुंदर झांकियों में भारत की सांस्कृतिक आभा आलोकित होती है.

उत्सव और जीवन परस्पर संपृक्त हैं. जब हम कोई जन्मोत्सव मनाते हैं, तो मां और शिशु के प्रति एक साथ सद्भावना व्यक्त करते हैं, गीत गाते हैं, बलैया लेते हैं, नव वस्त्र प्रदान करते हैं. विशेष पूजन करते हैं. लोक संगीत के साथ नृत्य करते हैं. माता बनना, पिता बनना एक संस्कार है और इसी संस्कार का उत्सव हम मनाते हैं. जब बच्ची-बच्चा अक्षर-ज्ञान के साथ पढ़ाई के लिए भेजे जाते हैं तो गणेश पूजन होता है, गुरु बच्चे का हाथ पकड़कर 'ऊं' या 'श्री गणेशाय नमः' लिखवाता है, मिष्ठान्न वितरित किया जाता है. अब यह प्रथा लगभग नये स्कूली-कल्चर ने हर ली है. यज्ञोपवीत, विवाह, जन्मदिवस के उत्सव भी धूमधाम से मनाये जाते हैं. उत्सव ही जीवन के प्रतीक बन जाते हैं ऐसे अवसर पर और इससे 'लोकाः समस्ता सुखिनो भवंतुः' की भावना भी प्रकट होती है. जब राष्ट्रीय उत्सव मनाते हैं तो स्वतंत्रता, गणतंत्र, शहीद दिवस आदि झंडावंदन, राष्ट्रीय गीत और मनोरंजक गतिविधियों के साथ आनंद की, देशभक्ति की, परस्पर प्रेम की धारा प्रवाहित करते हैं. शहीदों पर तो इतना खर्च करते हैं कि कई जगह मशाल जुलूस, कैंडल जुलूस या दीपक सजाकर शहीदों की शहादत को श्रद्धांजलि उत्साह के साथ दी जाती है. अधिकांश उत्सव भारत जैसे देश में कृषि कर्म, फसल, धान पकने, घर में अन्न के आगमन से जुड़े होते हैं. ये आध्यात्मिक भी होते हैं, सामाजिक भी और पर्यावरण एवं ऋतुओं से जुड़े भी. वसंतोत्सव, शरदोत्सव, चैती चंड, लोहणी, मकर संक्रांति, ओणम, पोंगल और दीपावली ऐसे ही उत्सव हैं.

उत्सव को जब जलसा, जश्न, पर्व, त्योहार आदि नाम दिये जाते हैं तो यह स्पष्ट है कि ये सब नाम आनंद, उत्साह और सामाजिक सौहार्द के नाम हैं. उत्सवों में समाज जितना एक जगह जुड़ता है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं. जन्माष्टमी, रामनवमी, विजयादशमी, ईद, क्रिसमस, गुरुपूर्णिमा आदि ऐसे पर्व हैं, जब मंदिर, मस्जिद, गिरजा, गुरुद्वारा सब जगह समाज का एक बड़ा वर्ग एक साथ आता है. आत्मशांति से लेकर विश्वशांति तक की प्रार्थना करता है. गले मिलकर अपनत्व और आत्मीयता प्रकट करता है. यदि मनुष्य का जीवन उत्सवमय हो जाए तो हिंसा, अशांति, तनाव, युद्ध, जातिगत दंगे आदि हमेशा के लिए समाप्त हो सकते हैं और बिना यह सोचे कि कौन हिंदू, कौन मुसलमान, कौन सिख, कौन ईसाई है. सारा मानव-समाज मनुष्यता की एकता में बंध सकता है.

दीपावली का त्योहार हो या अन्य

आध्यात्मिक धार्मिक पर्व, हमारे उत्सव के कुछ प्रतीक हैं जैसे गणेश, कलश, पूरी सुपारी, पान, आम्रपत्र, केल-पत्र, तुलसी पत्र, दूर्वा, पुष्प, बिल्वपत्र, कलावा, रोली, अक्षत, अबीर, चंदन, हवन-सामग्री, घृत, पंचामृत, सूखे मेवे, पंचअन्न, पंचगव्य, जनेऊ, आरती आदि. ये प्रतीकात्मक सामग्री हमारी कृषि संस्कृति से जुड़ी है और पूजन में इनका उपयोग यह प्रकट करता है कि इनकी वृद्धि से ही समृद्धि होती है और देवताओं को यह समृद्धि चढ़ाकर हम भविष्य में अधिक समृद्धि की कामना करते हैं एवं उनसे आशीर्वाद लेते हैं. दीपावली तो अंधकार के विरुद्ध प्रकाश का पर्व है. जितना उत्साह इस त्योहार पर देखा जाता है, उतना अन्य किसी पर्व पर नहीं. घरों की वार्षिक स्वच्छता, दीप मालिका, पटाखे, लक्ष्मीपूजन, गोवर्धन पूजन, यमद्वितीया, रूप चतुर्दशी, धनतेरस आदि ये समस्त आयोजन दीपावली का उत्सव बन जाते हैं और यह प्रार्थना की जाती है कि महालक्ष्मी, भगवान नारायण भारत को एक ऐसा अन्नकूट बना दें, जहां देश का कोई व्यक्ति कभी भूखा न रहे, कभी अकाल न पड़े. कृषक इस दिन का देवता होता है. जिस देश में नागपंचमी पर नाग का पूजन किया जाता हो, जिस देश में पीपल, बरगद, तुलसी, आम्र आदि पूज्य वृक्ष हों, जहां सप्त-नदियां, सप्त-नारियां, सप्त-सागर, सप्त-ऋषि, सभी उत्सव बनकर समाज में पूज्य होते हैं, वह देश भौतिक रूप से भले ही पश्चिम की तरह समृद्ध न हो लेकिन आध्यात्मिक रूप से तो विश्वगुरु कहलाने योग्य माना ही जाता है. वहां सुख है, शांति नहीं, यहां शांति ही सुख है.

अनेक उत्सव अब नये नये ढंग से मातृदिवस, पितृदिवस, गुरु या शिक्षक दिवस, मित्रता दिवस, प्रेम दिवस, विज्ञान दिवस, साक्षरता दिवस, पर्यावरण दिवस, जनसंख्या दिवस आदि के रूप में मनाये जाते हैं, लेकिन ये दिवस प्रेमी युगल या होटल-संस्कृति के ग्राहक होटलों में नाच-गाने, डिस्को आदि के साथ मनाते हैं या औपचारिक आयोजनों के द्वारा. इनमें वैसा उत्साह कम दिखाई देता है, जैसा हमारे पारम्परिक त्योहारों के उत्सवों में, गणेशोत्सव, दुर्गाउत्सव आदि में.

उत्सव मनुष्य का आमोद-प्रमोद है, एक संजीवनी शक्ति है. वह सामाजिक-समरसता का जनक है और जीवन को मधुर, सुंदर एवं तनावमुक्त रखने का एक संस्कार है. यदि वह समस्त उपद्रवों को समाप्त करके आनंद की सृष्टि करता है तो उत्सव ही जीवन हो सकता है और जीवन ही उत्सव.

आचार्य विनोबा भावे ने जीवन की कल्पना बिलकुल नये ढंग से की थी. वे कहते थे जीव+शिव ही जीवन है. जीव में यदि शिवत्व नहीं है, तो मनुष्यता नहीं होगी, शिवत्व ही कल्याण भावना देता है, दया, क्षमा, घृति, करुणा, सहयोग, सद्भाव के तत्त्व जीवन में प्रकट करता है. जिनसे प्राणिमात्र के प्रति अहिंसा, शांति और दया का भाव उत्पन्न होता है. वैज्ञानिक तो इसे प्रोटो प्लाज़्मा से लेकर एक पिंड की रचना मानते हैं. जीव वैज्ञानिक परिभाषा कुछ भी

दें, जीवन जीने का प्रतीक है, और जीव के लिए केवल अन्न, जल, वायु ही पर्याप्त नहीं. मनुष्य के मस्तिष्क में जो एक भाव-विभाग है उसी से तो कलाएं, साहित्य, मनोराग, प्रेम, दया, करुणा आदि उत्पन्न होते हैं और ये तत्त्व ही जीवन को उत्सवमय बनाते हैं. जीवन एक सम्पूर्ण दर्शन भी है. उसमें प्राणीशास्त्रीय तत्त्वों की प्राकृतिक, मानसिक तत्त्वों की रागात्मक और कलात्मक दार्शनिक तत्त्वों की मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक और जीवनगत तत्त्वों की सामाजिक शक्तियों का सामंजस्य होता है. इसलिए जीवन का अर्थ है प्राण. और जीवन के सुखमय बनाने के साधन हैं उत्सव-पर्व. यदि आनंद न हो तो प्रसाद ने जीवन को लेकर कामायनी में जो कहा है. क्या वह सत्य नहीं हो जाएगा.

किंतु जीवन कितना निरुपाय
लिया है देख, नहीं संदेह
निराशा है जिसका परिणाम
सफलता का यह कम्पित गेह!

प्रसाद ने तो यह भी कहा है

जीवन तकरा क्षुद्र अंश है,
व्यस्त नील घनमाला में
सौदामिनी सरीखा सुंदर,
क्षण भर रहा उजाला में

लेकिन प्रसाद जीवन को परस्पर समर्पण का भी प्रतीक मानते थे- इसलिए कहते थे "समर्पण लो सेवा का सार". समूची समृद्धि को तभी पाया जा सकता है जब हम सेवा द्वारा अपना सब कुछ समर्पित करें- अपना अहंकार, अपना वैभव, अपना ज्ञान आदि. जब पूर्ण समर्पण होता है तो जीवन स्वयं में उत्सव हो जाता है- कृष्ण की लीलाओं की तरह, राम के संवेदन की तरह, शिव के शिवत्व की तरह और सरस्वती के ज्ञान की तरह. कृष्ण को चतुर्वेदी भी कहा गया है क्योंकि उनमें ज्ञान, कर्म, प्रेम और सेवा के चार महान गुण माने जाते थे. वे पूर्ण कला-पुरुष या लीला-पुरुष थे क्योंकि उनके रास में जीवन का रस था, बुद्धि में विवेक था और कर्म में कर्तव्य था.

उत्सव हो या जीवन, यदि दोनों एक दूसरे से सम्पृक्त नहीं हैं, तो उत्सव-विहीन मनुष्य बर्बर हो सकता है, जीवन प्रसन्नता और आनंद से रहित हो सकता है और भौतिक-व्यस्तताओं के साथ धन, ऐश्वर्य और विलास की दौड़ में पड़ा जीवन अंततः निराशा के गर्त में भी जा सकता है. इसलिए जीवन को विजय का उत्सव बनाना होगा, अपनी कमियों पर विजय प्राप्त करके; प्रकाश का उत्सव बनाना होगा, जीवन के अंधकार को ज्ञान से, कर्म से, प्रेम से दूर करके; एक दूसरे के प्रति भाईचारा उत्पन्न करना होगा, रक्षा-बंधन बांधकर, खुशी मनानी होगी. ईद की तरह गले मिलकर बैसाखी मनानी होगी- भांगड़ा और गिद्दा एवं गुरुवाणी के साथ, क्रिसमस मनाना होगा प्रकाशदीप घर-घर टांगकर और जब तक यह सब होता रहेगा संस्कृति, परम्परा, मनुष्यता सब प्रासंगिक और आवश्यक बने रहेंगे. इसलिए उत्सव हमारे जीवन की प्राणधारा के समान हैं. ◻

आवरण-कथा

जीवन के उत्सव बनने का क्षण

• विद्यानिवास मिश्र
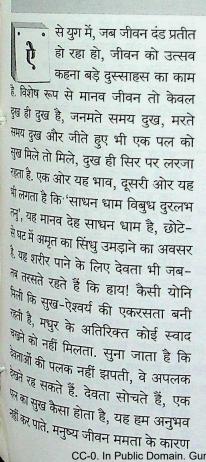
ऐसे युग में, जब जीवन दंड प्रतीत हो रहा हो, जीवन को उत्सव कहना बड़े दुस्साहस का काम है. विशेष रूप से मानव जीवन तो केवल दुख ही दुख है, जनमते समय दुख, मरते समय दुख और जीते हुए भी एक पल को सुख मिले तो मिले, दुख ही सिर पर लरजा रहता है. एक ओर यह भाव, दूसरी ओर यह भी लगता है कि 'साधन धाम विबुध दुरलभ तनु', यह मानव देह साधन धाम है, छोटे-से घट में अमृत का सिंधु उमड़ाने का अवसर है. यह शरीर पाने के लिए देवता भी जब-तब तरसते रहते हैं कि हाय! कैसी योनि मिली कि सुख-ऐश्वर्य की एकरसता बनी रहती है, मधुर के अतिरिक्त कोई स्वाद चखने को नहीं मिलता. सुना जाता है कि देवताओं की पलक नहीं झपती, वे अपलक देखते रह सकते हैं. देवता सोचते हैं, एक पल का सुख कैसा होता है, यह हम अनुभव नहीं कर पाते. मनुष्य जीवन ममता के कारण वियोग का और किसी वस्तु में आसक्ति के कारण उसके न रहने पर क्षति का दुःख भोगने के लिए यदि मिला है तो उसके साथ ही ममताओं और आसक्तियों के विस्तार के लिए भी.

शरतचंद्र चट्टोपाध्याय के प्रसिद्ध उपन्यास 'श्रीकांत' में नायक वैरागी रूप में इधर-उधर घूम रहा है और जहां-जहां जाता है, वहां अपरिचित मां-बहनें-बेटियां मिल जाती हैं. वह सोचता है, कितनी ममता, कितना छोह इस तरह उछलता बह रहा है, मनुष्य कितना भी वैरागी क्यों न हो, इनके रस से भीगे बिना रह नहीं सकता. मैं अभी-अभी विदेश से लौटा. एकाध स्थान छोड़कर और एकाध लोगों को छोड़कर अपरिचय का ही संसार था और लौटते समय ऐसा लगा कि घर से बिछुड़ रहा हूं. क्या यह उत्सव नहीं है? क्या जीवन का यह परमार्थ नहीं है? कोई बड़े लाड़ से कहे— आपको बाबूजी कह सकती हूं? तो कैसे कहें कि
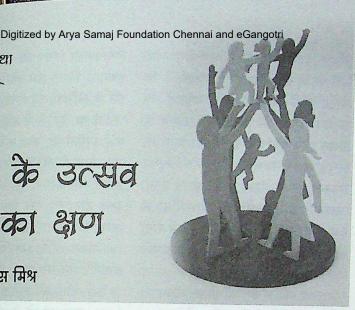
तुम्हारा अधिकार नहीं है, तुम मेरी जायी नहीं हो. इतनी बेटियां होती जाती हैं कि लगता है, मैं दक्ष प्रजापति हो गया हूं. वह अनुभव भरे-पूरेपन का ही तो अनुभव है. उत्सव और होता क्या है, सिवाय इसके कि निचुड़े हुए रस का भरना और भरकर उफनना, अपने भीतर उसे समो न पाना, उसको वितरित करने की हिलोर भीतर से पैदा होना; सब हो और आदमी सबमें समा जाने के लिए, सब में अपनी पहचान पाने के लिए आकुल हो जाय.

उत्सव अकेले का नहीं होता, जीवन भी अकेलेपन के लिए जीवन है नहीं, आखिर जीवन विश्व-सृष्टि का ही लघु संस्करण तो है. सृष्टि का उद्देश्य पाप की संतान पैदा करना नहीं है, तप की संतान पैदा करना है. तप की निरंतरता की कड़ी पैदा करना है. सृष्टि इसीलिए लीलामय की लीला है, बहुत्व में एकत्व की परीक्षा का खेल है. जीवन भी उसी लीलामय का प्रसाद है. इसमें छहों स्वाद हैं– मिठास है, लुनाई है, अमलोन (खटास) है, तितास है, कड़वापन है और अंत में सब रसों को अपने भीतर समोनेवाला कसैलापन है. कसैलापन का स्वाद ऐसा है जैसा कि आंवले का. आंवला खाकर पानी पियें तो सादा पानी भी मीठा लगने लगता है. सब स्वादों से यह स्वाद ऊपर है; कषाय जैसे एक स्वाद है, वैसे ही एक रंग भी है, कुछ मद्धिम गेरुआ मटमैला रंग; जिसे जोगिया भी कहते हैं. जोगी इसी रंग का कपड़ा पहनते हैं. जोगी होने का अर्थ ही है सबसे जुड़नेवाला, हर द्वार पर अलख जगानेवाला. गांव के घर पर सारंगी या इकतारा लेकर जब जोगी आते थे तो मेरे मन में विचित्र-सी हलचल होती थी. कभी लगता था, झोली में हमें पकड़ ले जायेगा. कभी लगता था, क्या मज़ा है जोगी होने में. जहां जगह मिली, सो लिया; जो मिला, उसे प्रसाद मानकर पा लिया; फिर रम चले, दूसरे ठौर पर. ऐसे रमता जोगी के द्वारा गाये जानेवाला 'भरथरी' का आख्यान (आसक्ति और आसक्ति से मुक्ति की कहानी) मन पर आज भी अंकित है.

उस गीत को सुनना, उसे स्मृति पर लाना उत्सव ही तो है, एक क्षण के भीतर आसक्ति और आसक्ति से मुक्ति या और ठीक-ठीक कहें, बड़ी आसक्ति में छोटी आसक्ति का विलयन, यही तो जीवन का वास्तविक रस है. यह रस मिलता रहे, इसके लिए भागवतकार कहते हैं कि–

प्राप्ता नृजातिं त्विह ये च जन्तवो
न वै यतेरन्नपुनर्भवाय ते।

एक बार बड़ी लीला में रमने का अवसर मानुष देह को मिल जाय तो यह इच्छा मर जाती है कि जन्म-मरण से छुट्टी मिले. तब तो यही ललक रहती है, बार-बार इस धरती पर आयें, इसके सुख-दुःख की साझीदारी करने आयें, अवतारी पुरुषों और संतों की सनातन उपस्थिति का अनुभव अपने भीतर भरें, भरकर छलकें. स्वर्ग में क्या रखा है? मोक्ष में क्या रखा है? जो आनंद श्रीकृष्ण की लीला में रमकर उस लीला का भागीदार होने में है, श्रीकृष्ण की होली से मोहित होने में है, उसे भरपेट कोसने में है, हाय रे

निर्मम! ऐसी आंखमिचौनी क्यों खेलता है, उनसे रूठने में है, उनके साथ वन-वन की धूलि से धूसरित होने में है, उनकी बंसी की तान से बाहर से भीतर तक आविद्ध होने में है, उस आनंद के आगे सौ-सौ इंद्रपद न्यौछावर, शतशत सौधों का विलास न्यौछावर, करील की कंटीली डारों पर नंदन कानन न्यौछावर, व्रज की कन्हैया के परस से भीगी रज पर कोटि-कोटि रत्न न्योछावर.

जीवन है तो यह सब न्योछावर करने का मन है. जीवन है तो यह सब न्योछावर करते ही सुख-दुःख के परे जाने का अवसर है. इसलिए जीवन के क्षण-क्षण को हम उत्सव न भी बना पायें, कुछ क्षणों को भी उत्सव बना सकें, कभी रामचरितमानस सुनते हुए, कभी श्रीकृष्णलीला देखते हुए, कभी नन्हे से बच्चे के मुंह से कन्हैया की किलकारी भरने की ध्वनि सुनते हुए; कभी अकारण उन्मन होते हुए कहां होंगे मेरे बच्चे राम-लक्ष्मण, कहां होगा मेरा कन्हैया, किस 'बिरछ तर' भीग रहे होंगे, उन्हें कौन सबेरे-सबेरे कलेवा देता होगा, कभी जीवन की देहली पर आस लगाते हुए कि सांझ की बिरियां तो ज़रूर आते होंगे, धूलि-धूसरित हारे-थके, पर मुसकराते हुए और उनका रूप उनके दर्शन की उपासी आंखों का 'पारन' बन जायेगा. टूटती हुई सांस में उनकी बांसुरी की फूंक पड़ेगी; जीवन कृतार्थ हो जायेगा. जीवन के उत्सव बनने का असली क्षण वही है कि मृत्यु को नकार के जीवन में सोम का अमृत भरता रहे.

पता नहीं वह क्षण इसी जीवन में मिलेगा या नहीं, पर उसकी ललक मुझे एक बार भरपूर जीने का मौका तो देगी ही. उत्सव उतर जाता है, तो भी उत्सव की गूंज कहां जाती है? ❑

समाज की पाती पढ़ो

उन दिनों मैं गांधीजी को अखबारों के सम्पादकीय वगैरह रोज़ सबेरे सुनाया करता था. उसी दौरान लॉर्ड माउंटबेटन का एक सीलबंद पत्र आया. गांधीजी ने उसे मेज़ पर रखवा दिया. अखबार-वाचन पूरा हुआ तो गांधीजी ने कहा, लिफाफा खोलकर पत्र पढ़कर सुना दूं. पत्र सुनकर बापू ने कहा मैं तुम्हारा विश्वास करता हूं, इसलिए पत्र पढ़ने के लिए तुमसे कहा था. मैं इस पत्र के बारे में कोई समाचार न बनाऊं. मेरे लिए वह खबर बड़ी थी पर गांधीजी की बात उससे भी बड़ी थी. खबर नहीं भेजी मैंने. उस पत्र के बारे में भी नहीं जो गांधीजी ने जवाब में भेजा था. गांधीजी ने पत्र में लिखवाया था, "बिहार में व्यस्त हूं, 28 मार्च के बाद ही कभी मिलना हो पायेगा." माउंटबेटन का निमंत्रण और गांधीजी द्वारा उसे ठुकराना, दोनों बड़ी खबरें थीं पर बापू ने उन्हें नहीं भेजने दिया. मुझे याद है, बापू ने कहा था, "ग्रामीण जीवन और वहां घट रही घटनाओं पर ध्यान दो. वायसराय की पाती में मत फंसो. समाज की पाती पढ़ो."

– शैलेष चटर्जी

मेरा संदेश है- उत्सव!

• ओशो
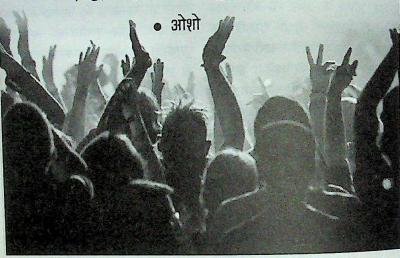
सदियों-सदियों से धर्म उदासी, दुख, निराशा, हताशा, निषेध और नकार का पर्यायवाची हो गया है; उस कारागृह से धर्म को मुक्त करना है. धर्म पृथ्वी-विरोधी हो गया है. धर्म देह-विरोधी हो गया है. धर्म उस सब के विरोध में हो गया है- जो है. और धर्म ने ऐसे सपने संजोये हैं स्वर्ग के, परलोक के, कि जो मात्र सपने हैं, जो सिर्फ़ प्रलोभन हैं, जो सरासर झूठ हैं. जो है उसका इनकार और जो नहीं है उसका सत्कार-ऐसी अब तक धर्म की तर्क-सरणी रही है.

मैं उस पूरी-तर्क-सरणी को तोड़ देना चाहता हूं. मैं चाहता हूं कि धर्म पृथ्वी के प्रेम में पड़े. देह आत्मा-विरोध नहीं है; देह आत्मा का मंदिर है. सम्मान दो उसे, सत्कार दो उसे; क्योंकि देह के मंदिर में परमात्मा विराजमान है.

और पृथ्वी जीवन का आधार है. जीवन की जड़ें पृथ्वी में गहरी गयी हैं, जैसे वृक्षों की जड़ें गहरी गयी हैं. और जीवन के जो महत्तम फूल खिले हैं- बुद्ध, महावीर, कृष्ण, क्राइस्ट, मोहम्मद- उन सबमें जो सुगंध है वह पृथ्वी की ही गहराइयों से आयी है. वह इस जगह की ही सुंगध है; दूसरा कोई जगत है ही नहीं. यही एकमात्र अस्तित्व है; दूसरा कोई अस्तित्व है ही नहीं.

दूसरे अस्तित्व की ईजाद पंडित-पुरोहितों ने की. और क्यों की, उसके कारण को समझ लेना चाहिए. इस जगत में तो मनुष्य

को सुखी वे नहीं कर पाये. इस जगत में तो मनुष्य के जीवन के लिए गौरव और गरिमा न दे पाये. इस जगत में तो मनुष्य के जीवन को अर्थ और काव्य न दे पाये. तो एक ही उपाय था; इस जगत की अंधेरी रात को झेलने के लिए किसी भविष्य के सबेरे की प्रशंसा की जाए. मनुष्य को परलोकवाद दिया जाए.

और जो मर गया वह लौट कर कहता तो नहीं कि क्या हुआ; इसलिए पंडित, पुरोहित सुरक्षित था. मुर्दे लौटते नहीं, खबर देते नहीं. और उसका धंधा, मृत्यु के बाद जो है, उस पर निर्भर है. और उसकी इस साजिश में राजनीतिज्ञ भी सम्मिलित हो गये, क्योंकि यह उनके भी हित में था. मनुष्य को किसी तरह सांत्वना दी जाए. कैसे ही झूठ हों, लेकिन मनुष्य को संतोष दें. क्योंकि मनुष्य जब संतुष्ट हो जाता है तो क्रांति शून्य हो जाता है. जहां सांत्वना है वहां क्रांति की आग बुझ जाती है. वहां अंगार नहीं रह जाते आत्मा में; वहां राख ही राख रह जाती है.

इसीलिए यह देश, जो सर्वाधिक लम्बे अरसे तक धार्मिक रहा है, सबसे बुझा हुआ देश है. इसकी आत्मा में राख ही रखा है. सब से मरा हुआ देश है. कारण? सदियों-सदियों तक पंडित ने और राजनेता ने संयुक्त रूप से मनुष्य को ज़हर पिलाया है. मेरी चेष्टा है, यह षड्यंत्र टूटे, यह रात टूटे, यह अंधेरे का तिलिस्म टूटे. यहीं सुबह तलाशनी है- इसी पृथ्वी पर, इसी जीवन में. और अगर होगा कोई जीवन इसके बाद तो जो इस जीवन में आनंद खोज सकता है वह उस जीवन में भी आनंद खोज सकेगा. क्योंकि आनंद खोजने की कला जिसे आ गयी, तुम उसे नरक में भी डाल दो तो वहां भी आनंद खोज सकेगा. और जिसे आनंद खोजने की कला न आयी वह स्वर्ग में पहुंच कर भी क्या करेगा?

तुम्हारे तथाकथित महात्मा अगर स्वर्ग में भी पहुंच जाएं तो क्या करेंगे? स्वर्ग भी उन्हें दुख ही देगा. जीवन भर तो उन्होंने दुख का ही अभ्यास किया. जो धूप में खड़े रहे और शरीर को गलाया और सड़ाया, वे कल्पवृक्षों के नीचे बैठेंगे? उनकी जीवन भर, जन्मों-जन्मों की आदत उन्हें कल्पवृक्षों के नीचे बैठने देगी? नहीं; वे वहां भी कांटों का बिस्तर बना लेंगे. जिन्होंने कभी गीत नहीं गाये, जो नाचे नहीं, जिन्होंने कभी इकतारा न उठाया, स्वर्ग में अचानक तुम सोचते हो वीणावादक हो जाएंगे वे? बांसुरी बजाने लगेंगे? नृत्य में लीन हो जाएंगे? रास का जन्म होगा?

तो तुम्हें फिर मनुष्य के मन का गणित नहीं आता.

गरीब आदमी को अमीर भी बना दो तो भी वह अमीर नहीं हो पाता, गरीब ही रहता है. उसके सोचने, समझने, विचारने, जीने की शैली गरीब की होती है. इसीलिए तो तुम्हें धनी आदमियों में इतने कंजूस आदमी मिलते हैं. कंजूस का अर्थ क्या होता है? कंजूस का अर्थ होता है: बाहर तो धन है, मगर भीतर गरीबी की आदत है. धन तो है, लेकिन धन पर मुट्ठी बांध ली उसने.

और धन मर जाता है जब उस पर तुम मुट्ठी बांधते हो. धन तो जीवित रहता है अगर चले. इसलिए अंग्रेज़ी में उसके लिए ठीक शब्द है-करेंसी! करेंसी का अर्थ होता है जो चलता रहे, बहता रहे, धारा बनी रहे जिसकी. सिक्का तो वही है जो चले; जिस पर मुट्ठी बंध गयी वह मिट्टी हो गया.

दुनिया में धन पाकर लोग धनी नहीं होते, कृपण हो जाते हैं, कंजूस हो जाते हैं; गरीबी की जकड़ गहरी है. और गरीबी को खूब अच्छा बाना पहनाते हैं, सुंदर बाना पहनाते हैं- सादगी! सरलता!

जो लोग मरकर अगर स्वर्ग में भी पहुंच गये और यहां जिन्होंने केवल दुख का अभ्यास किया था– तुम्हारे साधु-संन्यासी, महात्मा, मुनि– ये अगर भूल-चूक से किसी तरह स्वर्ग में पहुंच भी जाएं! पहुंच तो नहीं सकते, इनके लिए तो स्वर्ग के द्वार निश्चित ही बंद होंगे. और अगर ये स्वर्ग पहुंचते रहे होंगे अब तक तो इतने साधु-महात्मा, इतने उदास, इतने हताश लोग वहां इकट्ठे हो गये होंगे कि स्वर्ग अब नरक से बदतर होगा. ये वहां करेंगे क्या? उमर खय्याम ठीक कहता है कि तुमने यहां तो शराब पी ही नहीं कभी. स्वर्ग में चश्मे भी बहते हैं शराब के तो क्या फायदा, तुम पहुंच कर पी सकोगे? पीने का भी अभ्यास चाहिए.

उमर खय्याम एक सूफी फकीर है; एक पहुंचा हुआ सिद्ध पुरुष है. उमर खय्याम को लोग बिलकुल गलत समझे हैं. उमर खय्याम के सम्बंध में बड़ी भ्रांति हो गयी अंग्रेज़ी अनुवाद से. उमर खय्याम की रुबाइयां जब फिटज़राल्ड ने अंग्रेज़ी में अनुवादित की तो फिटज़राल्ड ने उनका शाब्दिक अर्थ लिया– शराब यानी शराब.

सूफी फकीर शराब का अर्थ करते हैं; परमात्मा का प्रेम. पियो उसे जितना पी सको. आनंद, उल्लास, मस्ती! उमर खय्याम एक पहुंचा हुआ सूफी फकीर है. उसने ये गीत अंगूर से ढाली जाने वाली शराब के पक्ष में नहीं लिखे हैं; आत्मा में ढाली जाती है जो शराब, उसके पक्ष में लिखे हैं. ये रुबाइयां किसी भीतरी आनंद और नशे का संकेत करती हैं. मगर उसने बड़े मीठे तर्क दिये हैं. उसने कहा कि सुनो मौलवियो! सुनो त्यागी-तपस्वियो! अगर तुमने यहां शराब पीने का अभ्यास न किया तो जहां स्वर्ग में शराब की नदियां बहती हैं वहां तुम क्या करोगे? किनारों पर बैठे रोओगे! पीयेंगे तो हम, क्योंकि हमारा यहां का अभ्यास वहां काम आ जाएगा.

अर्थ समझना! यहां जो आनंदित है वह स्वर्ग में भी आनंदित होगा. यहां जो आनंदित है वह कहीं भी हो तो आनंदित होगा. यह स्कूल है, पाठशाला है, प्रशिक्षण है जीवन. मेरा संदेश है आनंद; मेरा संदेश है उत्सव!

वेणु लो, गूंजे धरा, मेरे सलोने श्याम.
गूंजते हों गान, गिरते हों अमित अभिमान
तारकों-सी नृत्य ने बारात साधी है.
नष्ट होने दो सखे! संहार के सौ काम
वेणु लो, गूंजे धरा, मेरे सलोने श्याम.

मेरी तो एक ही प्रार्थना है और तुम्हारी भी यही प्रार्थना होनी चाहिए-

वेणु लो, गूंजे धरा, मेरे सलोने श्याम!

परमात्मा से कहो- उठाओ बांसुरी और बजाओ! मगर परमात्मा की बांसुरी तभी बजेगी जब तुम बांसुरी बजाओ. शायद उसकी बांसुरी तो बज ही रही है, लेकिन तुम्हारे कान बहरे हैं. शायद उसका आनंद तो बरस ही रहा है, लेकिन तुम्हारे हृदय के द्वार बंद हैं. इस जगत के कीचड़ को कीचड़ कहकर ही निंदा मत करना; इस कीचड़ में कमल छिपे हैं. और जब इस कीचड़ में कोई कमल खिले तो कीचड़ को मत भूल जाना. कमल की प्रशंसा में ऐसा न हो कहीं कि कीचड़ को भूल जाओ! क्योंकि कमल कीचड़ की ही अभिव्यक्ति है.

कीचड़ में और कमल में कोई सम्बंध दिखाई पड़ता नहीं. मगर सम्बंध है. कीचड़ ही जन्मदात्री है, कीचड़ ही गर्भ है जिसमें कमल पकता है और प्रकट होता है. यह पृथ्वी माना कि कीचड़ है, मगर दूसरी बात भूल मत जाना कि इसमें कमल के प्रकट होने की सम्भावना पड़ी है. तुम्हारे साधु-महात्मा कीचड़ कहकर इसकी निंदा करते हैं. और उनकी निंदा इतनी गहन हो गयी है कि तुम भूल ही गये कि यहां कमल भी छिपा है.

मैं तुम्हें कमल की याद दिलाना चाहता हूं. कीचड़ की निंदा में मत पड़ो, कमल की तलाश करो. और जिस दिन तुम कीचड़ में कमल को पा लोगे, उस दिन क्या कीचड़ को धन्यवाद न दोगे? उस दिन क्या देह को धन्यवाद न दोगे? उस दिन क्या इस पार्थिव जगत के प्रति अनुग्रह से न भरोगे? जिस पार्थिव जगत में परमात्मा का अनुभव हो सकता है, क्या उस पार्थिव जगत की निंदा की जा सकती है?

मैं तुम्हें संसार के प्रति प्रेम से भरना चाहता हूं. मैं चाहता हूं कि तुम्हारे हृदय में संसार के निषेध की जो सदियों-सदियों पुरानी धारणाओं के संस्कार हैं, वे आमूल मिट जाएं, उन्हें पोंछ डाला जाए. वे ही तुम्हें रोक रहे हैं परमात्मा को देखने और जानने से. नाचो, तो तुम पाओगे उसे. नृत्य में वह करीब से करीब होता है. गुनगुनाओ, गाओ, तो वह भी गुनगुनायेगा. तुम्हारे भीतर, गायेगा तुम्हारे भीतर.

छेड़ मधु-संगीत के स्वर
शब्द-तंत्र संवार लो!
ग्रंथि उर की फिर खुलें
शब्द-गति-लय-ताल झर-झर
निमिष में बन सुधि ढलें!
सरल हास-विलास
दीपक बार लो!
छेड़ मधु-संगीत के स्वर
शब्द-तंत्र संवार लो!

('उत्सव आमार जाति आनंद आमार गोत्र' पुस्तक से साभार 'ओशो इंटरनेशनल फाउंडेशन')

❑

उत्सव मनाओ... उत्सव हो जाओ

● ओशो

जीवन एक त्यौहार है, नाचो, गाओ.
जीवन एक उत्सव है, खुशी मनाओ.
जीवन एक वीणा है
उसके तार झनझनाओ.
जो मन-प्राणों में पुलक भर दे
वह राग बजाओ.
जीवन बांस की एक खाली पोंगरी है
कृष्ण की तरह बांसुरी बजाओ
मीरा की तरह बावरे बनकर नाचो
चैतन्य की तरह झूम-झूमकर नाचो
देखो पृथ्वी नाचती है, सूर्य के चारों ओर
चांद नाचता है, पृथ्वी के चारों ओर
सूर्य भी नाचता है.
हर सितारा नाचता है.

मोर, इंद्रधनुषी पंख फैलाये, बादलों को
देखकर नाच रहा है.
भ्रमर, फूलों के चारों ओर
गुंजार करते हैं,
तितलियां नाच रही हैं,
पक्षी गीत गा रहे हैं,
बादल नगाड़ा पीटते हैं,
झरने सितार बजाते हैं,
नदियां खिलखिलाती हैं,
सागर हुंकारता है.
पूरी सृष्टि आनंदित है.
और तुम अभागे,
मूर्खों की तरह उदास बैठे हो
एक बार मस्त हो झूमकर नाचो तो-

ऐसा नाचो
कि केवल नाच रह जाए.
नाचने वाला नृत्य में ही विलीन हो जाए.
प्रभु का प्रसाद बरस ही रहा है
तुम पर भी बरसेगा
वर्षा का जल हर गड्ढे को भर देता है
पर पर्वतों पर रुकता नहीं
तुम पर्वत-सा अहंकार गिराकर
अपने अंदर खोदो
गड्ढा तो बनो
और गड्ढे पे जो कूड़ा-कचरा हो
उसे निकालकर फेंको
संस्कारों का कूड़ा-कचरा
अपने जानने का दम्भ
जब तक नहीं निकलता
अमृत भी उसमें मिलकर विष बन जाएगा
अपना औंधा रखा पात्र सीधा तो करो
कल्मष भरे पात्र को खाली तो करो
जब पात्र खाली होगा
तभी तो कुछ नया समा सकेगा उसमें
धुंधले दर्पण की धूल तो पोंछो
अहंकार और वासनाओं की धूल
इसी ने तो गंदला बनाया है दर्पण को
धूल हटेगी,
तो साफ़-साफ़ देखोगे
तुम ही तो हो वह
जिसे खोजते थे,
पहाड़ों, आश्रमों और गुफाओं में.
जरा जागो
प्रमाद दूर करो
बेहोशी से बाहर आओ
तुम ही तो आंख बंद किये बैठे हो
तुमने ही तो कानों में रुई ठूंस रखी है
देखो अंधकार है कहां?
सूरज हंस रहा है
पक्षी गीत गा रहे हैं,
झरने ताल दे रहे हैं
वृक्ष झूम-झूमकर नृत्य कर रहे हैं
तुम-भी इस रासरंग
में सम्मिलित क्यों नहीं होते?
जी खोलकर क्यों नहीं गाते?
क्यों नहीं नाचते?
नाचो,
गाओ,
उत्सव मनाओ.
उत्सव मनाते-मनाते उत्सव ही हो जाओ
फिर तुम सुनोगे एक हाथ की ताली
अनहद का राग
चारों दिशाओं में दमकती दामिनी
सारा अंधकार दूर कर देगी.
प्रभु का अमृत तुम्हें भिगो देगा.
तुम्हारे जन्म-जन्म की प्यास बुझेगी
और तुम और वह
अलग रह कहां पायेंगे?
तुम, वह हो जाओगे
वह तुम हो जायेगा.

❑

आओ जीवन के हर दिन को उत्सव बनायें
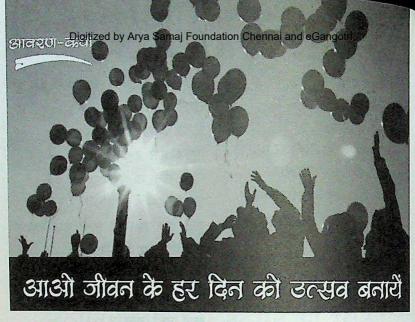
• सुधा अरोड़ा

जीवन जटिल है- राग और विराग, प्रलोभन और प्रवंचना, विषमताओं और विसंगतियों से भरा- इससे भला कौन इनकार कर सकता है. जीवन को जीना आसान हो सके, कष्टप्रद स्थितियों को भूलकर जीवन को आनंद का पर्याय समझा जा सके, इसीलिए भारत में ही नहीं, विश्व भर में हर देश, हर वर्ग और हर समुदाय के लोग अपने अपने तौर तरीकों से त्यौहार रचते हैं, सामूहिक रूप में इनका उत्सव मनाते हैं और इन आयोजनों में अपने दुख, पीड़ा, यातना, संताप को होम करके व्यक्ति को सामाजिक बनाते हैं.

आयोजन के केंद्र में मंचस्थ देवता कोई भी हो- गणपति, मां दुर्गा, मां लक्ष्मी, सरस्वती, काली या भैरव, नाच-गाना, मंजीरे-ढोलकी, नगाड़े-पुपुही, सभी वाद्ययंत्र मनुष्य के आंतरिक कलुष और कष्ट का निवारण कर आत्मिक आनंद तक पहुंच पाने के साधन हैं.

इन त्यौहारों के दौरान मनुष्य व्यक्ति के खोल से निकलकर पूर्णतया सामाजिक हो जाता है और आस-पड़ोस, मित्र-रिश्तेदारों से मिलकर सामूहिक आनंद में शामिल होता है. उत्सव का यह आयोजन व्यक्ति के लिए एक प्राकृतिक चिकित्सा या थेरेपी का काम भी करता है जो बाहरी रसायन या दवाओं से नहीं, आपस के मेल मिलाप और सौहार्द से पैदा होता है और हमारे भीतर जीने की नयी उमंग, नया हौसला, नयी तरंग पैदा कर देता है.

होली, दीपावली, दशहरा, ईद, क्रिसमस, बैसाखी तो ऐसे बड़े त्यौहार हैं जिसकी प्रतीक्षा हर भारतीय करता है. दशहरे पर गुजरात में रात-रात भर डांडिया रास खेला जाता है तो दुर्गापूजा में बंगाल के लोग अपनी कलात्मकता का चरम प्रदर्शित करने में दिन-रात एक कर देते हैं. साल भर के नये कपड़ों की खरीदारी दुर्गापूजा के दिनों में ही की जाती है. वहां के उत्सवी माहौल का अनुमान वहां जाकर ही लगाया जा सकता है जहां षष्ठी से लेकर विजयादशमी तक सारी सारी रात पूरे शहर में गहमागहमी का माहौल रहता है. रात भर लोग सड़कों पर रहते हैं. यही नज़ारा विदेशों में क्रिसमस के अवसर पर देखा जा सकता है.

बड़े-बड़े त्यौहारों के अलावा भी हर वर्ग, जाति और धर्म के अपने अपने छोटे-छोटे उत्सव भी होते हैं जो इन्हें अपने उत्सवी और रंगीन माहौल से ऊर्जा से भर देते हैं. हमारे घर जन्माष्टमी के दिन एक जश्न का माहौल हुआ करता था. मां तो प्रसाद वगैरह बनाने में जुट जातीं, हम बच्चे जन्माष्टमी की झांकी सजाने में लग जाते. हर साल कुछ अलग किसम की झांकी सजाते. हर साल घास और मैदान दिखाने के लिए हरे रंग से रंगी हुई रेत होती जिसमें कृष्ण और गोपियां रास रचाते हुए दिखते. जमुना जी बनाने के लिए नीले रंग की रेती होती जिसमें वासुदेव को घुटनों तक पानी में खड़ा कर देते. वासुदेव के सिर पर टोकरी में नन्हें बाल गोपाल कृष्ण होते. कभी-कभी हम दोनों बहनें कहीं से नायलॉन 644 वाली एक नीले रंग की साड़ी की कतरनें ले आतीं और इसमें चुन्नटें डालकर इसे लम्बाई में बिछाकर नदी की लहरें और पानी को आंकते. एक बड़ा सा खीरा जिसे बीच में से काट कर शाम को पंडित जी इसके अंदर लड्डू गोपाल को रख देते और रात को ठीक बारह बजे इस खीरे को काटकर इसमें से गोपाल जी का जन्म होता. बालगोपाल के जन्म का उत्सव ऐसे मनता जैसे इस पूरे मुहल्ले में हर एक वाशिंदे के घर नवजात शिशु ने जन्म लिया है.

फिर पंडित जी के मंत्रोच्चार और विधि विधान के साथ श्लोकों का ससम सुर में आलाप होता. इसके बाद सब बड़े मधुर स्वर में भजन गाते- घर नंद दे जी, घर नंद दे मिलन वधाइयां, घर नंद दे जी. नंद नंदन घर लड़का जो होया, सखियां मंगल गाइयां, घर नंद दे जी.

जन्माष्टमी के प्रसाद में सूजी और आटे की पंजीरी के प्रसाद के साथ पके केले के गोल गोल टुकड़े और देसी घी में भूने हुए धनिया, जीरे, अजवायन में चीनी का बूरा मिला हुआ चूरमा सबसे स्वादिष्ट लगता. गिन कर छत्तीस पकवान बनते थे जिनकी तैयारी में पास पड़ोस की महिलाएं नहा-धो कर सुबह से जुट जातीं. जन्माष्टमी के प्रसाद का हमारे पास-पड़ोसी साल भर इंतजार करते. इसके साथ कच्चे दूध, दही, घी, शहद और गंगाजल का पंचामृत अंजुरी में आचमनी से मिलता, पर हम भाई-बहन कटोरियां भर-भर कर पंचामृत पीने को कतार में खड़े होते. उपवास के खाने का

मज़ा ही कुछ और होता. सिंघाड़े के आटे में लपेटे हुए कुम्हड़े के पकौड़े. अजवायन और जीरे के सेंधा नमक वाले सूखे आलू. खास किस्म की पूरियां और बिना प्याज और लहसुन की परवल टमाटर की रसेदार सब्जी. नवरात्र के नौ दिन हमारे घर बिना प्याज और लहसुन की सब्जी बनती और मज़ा यह कि रोज़ के मसालेदार खाने से अलग इस सब्जी का सादा स्वाद हमें इतना भाता कि हम कभी भी फरमाइश करते कि व्रत वाली सब्जी खानी है.

ऐसा ही एक और त्यौहार था - होई. दीवार पर हम गेरू के लाल रंग से होई माता का चित्र आंकते. मां पिताजी पूजा के आसन पर बैठते और हम सब बच्चे दरवाज़ा उढ़का कर बाहर खड़े होते और कविता में अपने को बुलाये जाने की हांक लगाते. ऐसे तीन बार होता और सारा नियम समाप्त होने पर हमें अपने-अपने हिस्से के मालपुए खाने की बेसब्री होती. इस दिन रात के खाने में सिर्फ़ मालपुए बनते.

बिहार, राजस्थान, मणिपुर, असाम यानी भारत के सभी प्रांतों में अलग-अलग तरह से त्यौहार मनाये जाते हैं. हर प्रांत के अपने गीत, अपने पहनावे, अपने तौर तरीकों के साथ अपनी तरह के उत्सव और इन्हें मनाने के तौर-तरीके हैं. त्यौहारों का मौसम देश की अर्थव्यवस्था में भी इजाफा करता है. साल भर की सारी खरीदारी त्यौहारों के समानांतर चलती है. ये सामूहिक त्यौहार हमें ऊर्जा देते और प्रफुल्लित करते हैं. हमारा मनोबल बढ़ाते हैं और हमें सामाजिक बनाते हैं.

ये सामूहिक त्यौहार हमें ऊर्जा देते हैं और प्रफुल्लित करते हैं. हमारा मनोबल बढ़ाते हैं और हमें सामाजिक बनाते हैं.

ये तो हुई सामाजिक तौर पर एक सामूहिक परम्परा से चले आ रहे उत्सव मनाने की बात. उसके अलावा भी उत्सव का एक नियमित और सुनियोजित माहौल मैंने इस बार विदेश में देखा जब दो महीने पहले मैं शिकागो गयी थी. वहां एक विशालकाय जे. पुलित्ज़र स्टेडियम है जहां भारतीय मूल के ब्रिटिश इंजीनियर अनीश कपूर का डिजाइन किया विश्व प्रसिद्ध क्लाउड गेट है जिसे 'द बीन मिरर' कहा जाता है! इसे देखने लाखों की संख्या में हर रोज़ पर्यटक आते हैं. वहां के मिलेनियम पार्क के जे. पुलित्ज़र पैविलियन में हर सप्ताह बुधवार और शनिवार को संगीत और नाटक के समारोह होते हैं. ग्यारह हज़ार की समाई वाला पैविलियन खचाखच भरा हुआ. चार हज़ार के बैठने की (सिटिंग अरेंजमेंट) व्यवस्था. सात हज़ार से ज़्यादा गार्डन में बैठ सकते हैं. लोग बाग अपनी गार्डन चेयर टेबल और ड्रिंक्स और स्नैक्स सब साथ लेकर जाते हैं पिकनिक के मूड

में और दो तीन घंटे आराम से बैठते हैं.

सप्ताह में दो दिन वहां आम जनता के लिए बिना टिकट के फ्री कार्यक्रम होते हैं. एक दिलचस्प बात यह है कि पिछले साल वहां वर्ल्ड म्यूजिक फेस्टिवल की शुरूआत भारतीय तबला वादक जाकिर हुसैन के तबला वादन से हुई और पूरे मैदान के अलावा बाहर की मीलों लम्बी दीवारें जनता से अटी पड़ी थी. शनिवार को लोग पांच बजे से क्यू में लग जाते हैं. हम लोग देर से पहुंचे तो बैठने की जगह ही नहीं मिली. बाहर खड़े होकर देखते रहे और इंटरवल में ही अंदर जा पाये जब कुछेक लोग बाहर निकल रहे थे. अंदर जाकर सामने सीनियर सिटिजन सेक्शन में ही बैठने की जगह मिल गयी. कई बूढ़े लोग व्हील चेयर पर आये हुए थे. हमारे सामने एक वृद्ध जोड़ा सत्तर के आसपास तो होगा ही- बैठा था. बीथोवन की फिफ्थ सिम्फनी चल रही थी. अचानक इस आदमी ने बड़े प्यार से पास बैठी अपनी पत्नी का सिर अपने पास किया और इसके कान से बिल्कुल होंठ सटाकर कुछ बुदबुदाया. फिर इसके कान पर एक किस देकर रीझी हुई निगाहों से देखता बीथोवन सुनने में तल्लीन हो गया. इसे कहते हैं - प्यार! मैंने सोचा- यहां के लोग अगर साथ हैं तो प्यार के कारण साथ हैं. हर जगह साथ जाते हैं, साथ घूमते हैं, हर काम में हाथ बंटाते हैं. नहीं हैं तो दिखावे के लिए भी नहीं हैं. हिंदुस्तान की तरह नहीं जहां अस्सी प्रतिशत शादियां सिर्फ़ साथ रहने या एक छत के नीचे रहने का नाटक भर बनकर रह जाती हैं. शादी को किसी तरह घसीटते चलते हैं दम्पति और अपनी मांग में सिंदूर भर कर मर जाने में ही एक औरत अपने जीवन की सार्थकता समझती है.

अब इन त्यौहारों की निगाह से दैनंदिन जीवन के बारे में भी सोचें. यों तो मनोरंजन के साधनों और प्रसाधनों में लगातार बढ़ोतरी होती जा रही है. पर अपने मन के भीतर तो जीवन का उत्सव हमें स्वयं मनाना है. हर रोज़ उत्सव न हो, त्यौहार

ऊर्जा देते हैं ये त्यौहार

न हो, सामाजिक मेल-मिलाप न हो फिर भी एक सामान्य दिन भी हमें उत्सवी माहौल जैसा ही ऊर्जा से भर सके और हमें आत्मिक आनंद दे, यह कैसे सम्भव हो सकता है, इसे मैंने अपने 94 वर्षीय पिता से सीखा. इनका समूचा जीवन संघर्ष के ताप से गुज़रा है. अपने नाते-रिश्तेदारों से इन्होंने धोखे भी खाये, मित्रों और बच्चों से इन्होंने कड़वे बोल भी सुने, पर वे इतने शांत चित्त हर भाव-विभाव-स्वभाव को इस तरह ग्रहण करते हैं जैसे इनके भीतर हर धक्के, हर सदमे, हर अनहोनी और हर अंधड़ को झेलने के लिए कुछ शॉक एब्ज़ॉबर्स लगे हुए हैं. कोई भी तूफान इन पर आच्छादित होकर इन्हें त्रास नहीं देता बल्कि छूकर निकल जाता है और वे पहले से निरुद्विग्न, हंसमुख बने रहते हैं. वे कहते हैं- पूर्व जन्म और पिछला जन्म होता होगा पर इसे किसने देखा है. हमें तो यह मालूम है कि मनुष्य का यह दुर्लभ चोला हमें इस जन्म में मिला है. यह चोला ईश्वर की सबसे बेहतरीन रचना है. इसका कोई सानी नहीं. विज्ञान ने इतनी तरक्की कर ली पर क्या कोई वैज्ञानिक ऐसी मशीन ईजाद कर पाया जिसमें आप दूध, खाना, फल, सब्जी डालो और वह सबका सार तत्त्व लेकर इन्हें स्वस्थ रक्त में तब्दील कर दे और बचा खुचा अवशेष शरीर से बाहर फेंक दे. ईश्वर ही सबसे बड़ा वैज्ञानिक और सबसे बड़ा रचयिता है. हम सब इनकी धरोहर हैं. लेकिन हम ईश्वर की दी हुई अमानत की कीमत तब तक नहीं समझ पाते जबतक हमें इनकी नकल में बनाये हुए अंग लाखों की कीमत में नहीं खरीदने पड़ते. सच तो यह है कि हमारा जीवन, हमारे शरीर के सारे अंग अपने आप में एक उत्सव हैं. इनकी साज-सम्भाल करें, इन्हें हम मुफ्त में मिली हुई चीज़ न समझ, इसे एक वरदान समझें और अपने प्रत्येक अंग को ईश्वर का आशीर्वचन समझें. तभी हम ईश्वर के प्रति अपना ऋण चुका पाएंगे.

मेरे पिता की प्रिय पंक्तियां हैं -

अपने ईश्वर को ये मत बताओ कि तुम्हारी तकलीफ़ कितनी बड़ी है !

अपनी तकलीफ़ को ये बताओ कि तुम्हारा ईश्वर कितना बड़ा है ! □

पुरातत्ववेत्ता पति

लोकप्रिय जासूसी कथा लेखिका अगाथा क्रिस्टी के पति प्राचीन वास्तुशास्त्रवेत्ता थे और ईरान में पुरानी इमारतों के खंडहरों की खोजबीन कर रहे थे. एक बार किसी ने अगाथा से पूछा– "एक लेखिका होते हुए आपने एक पुरातत्ववेत्ता से शादी क्यों की?"

"ऐसा पति जो पुरानी वस्तुओं में रुचि रखता हो, एक सौभाग्य की बात है. स्त्री की आयु जितनी अधिक होती जाती है पति की रुचि उतनी ही उसमें बढ़ती जाती है, समझे !"

मेरी पहली कहानी

प्रासंगिकता आज भी अक्षुण्ण है

● हृदयेश

हृदय नारायण मेहरोत्रा उर्फ हृदयेश का जन्म 1930 में हुआ. साधारण स्कूली शिक्षा तथा जिला कचहरी में 40 वर्षों तक छोटी-सी नौकरी की व विगत 60 वर्षों से लेखन-कार्य में लगे हुए हैं.

अब तक 12 उपन्यास तथा 18 कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं. समग्र कहानियां तीन खंडों में प्रकाशित हैं. उनका ताज़ा उपन्यास 'चार दरवेश' व आत्मकथा 'जोखिम' विशेष चर्चा में है. दो अनुवाद की पुस्तकें भी प्रकाशित हो चुकी हैं.

हृदयेश को साहित्य में उनके योगदान के लिए 'पहल' तथा 'साहित्य भूषण' सम्मान से नवाजा गया है. इनकी कहानी 'मनु' को दिल्ली विश्वविद्यालय व 'इग्नू' के पाठ्यक्रम में भी शामिल किया गया है. दूरदर्शन ने वृत्तचित्र भी निर्मित करवाया है.
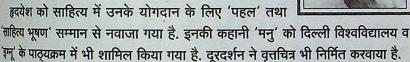
मैंने सन 1950 के आसपास साहित्य में ज़ोर आजमाइश की थी. कहानी के साथ-साथ हास्य-व्यंग्य लेखन व अनुवाद की दिशा में भी डग बढ़ाया था, लेकिन फिर कथा-विधा की डगर को ही अपनी मानसिकता के अधिक अनुकूल मानकर उसपर ही चलना तय कर लिया. 1951 में एक दैनिक पत्र में 'कश्मीर भारत का है' मेरी पहली कहानी प्रकाशित हुई थी. यह निहायत भावुकता-भरी तथा कला से अति दरिद्र थी. यों भी कह सकते हैं कि यह कहानी विधा का अक्षर ज्ञान थी. इसके बाद जो चार-पांच अन्य कहानियां लिखीं, वे शब्दज्ञान थीं या फिर वाक्यज्ञान- ऐसा वाक्यज्ञान जिसके सहारे किसी घटना, प्रसंग या प्रकरण का बयान किया जाता है, जो दरअसल बहुत-कुछ बयान करने का प्रयास होता है.

सन् 1954 में विधा की प्रख्यात पत्रिका 'कहानी' में 'परदे की दीवार' प्रकाशित हुई थी. इसी को मैं अपनी प्रथम कहानी मानता हूं, क्योंकि यह सधे हाथों से लिखी गयी थी और इसमें आवश्यक रचनात्मकता भी थी. परिपक्व होती लेखकीय दृष्टि थी. यह निम्नमध्य वर्गीय परिवारों की छिपायी जा रही लड़खड़ाती पारिवारिक स्थितियों पर से परदा उठाती थी. इस कहानी की प्रासंगिकता आज भी अक्षुण्ण है, राजनीति या अन्य क्षेत्रों में व्याप्त स्कैमों, घोटालों, भ्रष्टाचार या कुकृत्यों पर उक्तियों, उपायों, हथकंडों द्वारा परदा डालें अंततः देर-सबेर यह परदा उठ ही जाता है.

परदे की दीवार

मिस्त्री मुंशी बख्तावरलाल की ओर आश्चर्य से घूरता हुआ कह रहा था, "भला यह दीवार कहीं टेक लगाने से खड़ी रह सकती है? आप ही देखिए न, कितनी लम्बी-लम्बी दरारें बन गयी हैं. बायीं ओर तो इतनी कमज़ोर है कि ज़रा-सा धक्का लगा नहीं गिर पड़ेगी. आप इसे उतरवाकर दूसरी बनवाइए. वरना यह गिरकर मकान के दूसरे हिस्से को भी दाब लेगी."

"नहीं, इतनी कमज़ोर तो नहीं है कि एक बरसात भी न झेल सके. पुरानी हड्डियों में बड़ी ताकत होती है मिस्त्री जी." यह कहते हुए मुंशी जी खोखला ठहाका लगाकर हंस दिये. खोखला इसलिए था वह क्योंकि कृत्रिम था, स्वतः न फूटा था. वह भी जानते थे कि दीवार वास्तव में कमज़ोर और गिराऊ हो गयी है और उसे उतरवा देना ही ठीक होगा. पर उसके स्थान पर तो तुरंत दूसरी उठकर खड़ी हो जानी चाहिए, नहीं तो घर की बेपरदगी होती थी और इसे उतरवाने-बनवाने का अर्थ था कि पास में कम-से-कम चार-सौ रुपए हों. किंतु इस समय वह पच्चीस रुपए का भी प्रबंध नहीं कर सकते थे. उनकी हालत खस्ता थी. पर बाहर वाले तो ऐसा नहीं समझते थे उन्हें और न वैसा समझाने की उन्होंने कभी कोशिश ही की. वह आजकल के उन व्यक्तियों में से थे जो झूठी मर्यादा को अपने लिए हितकर समझते हैं.

मिस्त्री दीवार के निकट उसका निरीक्षण करने लगा था. मुंशी जी भी निकट चले गये. वह कहते रहे, "बस, मैं चाहता हूं सिर्फ़ यह बरसात कट जाए. फिर तो इसे उतरवाकर मैं दूसरी बनवा लूंगा. बरसात के दिनों में नये काम को हाथ लगवाना ज़रा ठीक नहीं रहता..."

इसी समय मिस्त्री के थपथपाने से एक स्थान से थोड़ी मिट्टी और दो-एक ककैइया ईंट खिसककर गिर पड़ीं. मिस्त्री का विश्वास और बढ़ गया, "देखा आपने, कितनी कमज़ोर है. एक पानी भी झेल सकना इसका मुश्किल है."

"हां, कमज़ोर तो है ही पर टेक लगाने से मज़बूत हो जायेगी. तुम दो-तीन अच्छी टेकें लगा दो."

"आप मालिक हैं, जो हुक्म दें. लाइए सामान दीजिए."

मुंशी जी ने कोठरी से दो-तीन बल्लियां निकालकर दे दीं.

वह परदे की दीवार वास्तविक अर्थ में परदे की दीवार थी. घर की वास्तविकता पर वह सदैव परदा डाले रहती. इसकी आड़ में मुंशी जी दिन भर एक फटा-गंदा अंगौछा लपेटे रहते, उनके दोनों पुत्र-पुत्रियां, बहुएं फटे-चीकट वस्त्र धारण किये रहतीं. नये-पुराने बानों से बिनी आंगन में खड़ी जर्जर

चारपाइयां, सहन में रखे बदबूदार बिछौने और इधर-उधर बिखरा टूटा-फूटा गृहस्थी का अन्य सामान इसी की ओट में छिप जाते. इसी के पीछे चौका-बर्तन से लेकर नाली का कीचड़ निकालने तक के गंदे-निकृष्ट काम किये जाते. इसी के पीछे बाहर पहने जाने वाले वस्त्र धोये जाकर उन पर फूल के लोटे से इस्त्री की जाती और बाहर के किसी व्यक्ति को कानों-कान खबर तक न होती. यह दीवार अभाव के कारण दिन-रात बहुओं के बीच होने वाली कलह पर भी परदा डालती. गाली-गलौजों की भद्दी आवाज़ें बहुत-कुछ इसी से टकराकर अंदर रह जातीं और इस कलह को शांत करने के लिए पुत्र मार-तोड़ के जो उपाय और मुंशी जी छाती पीटने, पृथ्वी पर सिर दे मारने तथा कुएं में फांद पड़ने के जो स्वांग किया करते, उस पर भी यह परदा डालकर सड़क पर चलने वाले राहगीरों तथा पड़ोसियों को उनका दर्शक न बनाती. वस्तुतः यह परदे की दीवार मुंशी जी की इज़्ज़त की दीवार थी. इसमें टेक लगाकर उन्होंने अपनी दीन-हीन इज़्ज़त में टेक लगा ली थी.

मिस्त्री के जाते ही मुंशी जी अपनी कोठरी में चले गये और धोती तथा बंडी उतारकर उन्होंने गंदा-फटा लाल अंगौछा धारण कर लिया. अनंतर वह एक-एक कर उस सामान को निकालकर निर्धारित स्थान पर रखने लगे, जिसे उन्होंने मिस्त्री को बुलाने से पहले छिपा दिया था. तभी उन्हें सुनाई पड़ा— "चुड़ैल, खसम दो पैसे क्या कमाने लगा इतराकर चलती है. छोटी होकर मुझ पर हुकुम चलाएगी?"

"हां चलाऊंगी चलाऊंगी! खिलाती नहीं हूं? सुन ले, एक वक्त चूल्हा तुझे फूंकना पड़ेगा."

"जरा तो सरम कर डाइन! अभी तक मेरा ही खा-खाकर पली है. घबड़ा नहीं, दो-चार दिन में उनकी छूटी नौकरी लग जाएगी. ओफ ओ! खसम के साठ रुपल्ली पर इतना ज़ोर! लाड़ो, यह कैसी जल्दी भूल गयीं कि देवर को हमी ने पढ़ाया..."
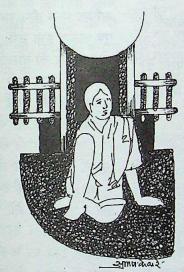
"तो ताने भी तो बहुत मारे! सब जानती हूं. आप तो अच्छा खाती और चमकती थीं और उन्हें सड़ा-गला, फटा-पुराना देती थीं. मुझे खूब पता है, अब मैं अपने बच्चों का करती हूं तो तुझे क्यों फूटी आंखों नहीं सुहाता? तू क्यों जलती है?"

"चुड़ैल..."

"चुड़ैल तू, डाइन तू, राछसनी तू."

अब तक मुंशी जी आंगन में पहुंच गये थे, जहां दोनों बहुएं चंडी का रूप धारण किये लड़ रहीं थीं. मिमियाती आवाज़ में गरजे...

''यह क्या तमाशा मचा रखा है? घर है या सराय?''

''बापू, मुझे अलग कर दो. मैं भीख मांग लूंगी पर इस चुड़ैल के साथ नहीं रहूंगी. दिन-रात सुना-सुनाकर ताने मारती रहती है.'' बड़ी बहू रो दी.

''तो मैं कब तेरे साथ रहना चाहती हूं.'' छोटी बहू ने मुंह चिढ़ाया, ''मुझे रोज़-रोज़ क्या कुतियों से मांस नुचवाना पसंद है?''

बड़ी बहू की क्रोध से बत्तीसी भिंच गयी. चीखी, ''छिनाल.''

''हरजाई.'' वैसा ही तीखा उत्तर आया.

दोनों को ऐसे चुपते न देखकर मुंशी जी ने हुमककर सीने में दो घूंसे मारे और आंगन में चारों खाने चित्त गिर पड़े. रोकर बोले, ''लो, खूब लड़ो. मेरी लाश पर लड़ो. मैं मरूं तो रोना मत, कसम है लड़ती रहना. हाय बुढ़ापे में मेरी बनी-बनायी इज़्ज़त धूल में मिल गयी.'' और यह कहते हुए वह पलटकर ताबड़-तोड़ पृथ्वी पर सिर दे मारने लगे. भगवान जाने इससे उनके सिर में चोट लगती भी थी या नहीं.

इस क्रिया का शीघ्र ही प्रभाव पड़ा. बड़ी बहू बड़बड़ाती हुई अपनी कोठरी में चली गयी. छोटी भी बड़ी को गाली सुनाती वहां से खिसक गयी. उन दोनों के जाते ही मुंशी जी भी उठकर अपनी कोठरी में चले आये. चले तो आये वह, किंतु उनका हृदय कड़वाहट से भर गया था. नस-नस में वेदना दौड़ रही थी. उनका कुछ ऐसा स्वभाव हो गया था, कि जब कोई उनसे अलग होने या बंटवारा करने की बात कहता तो उनके हृदय पर हथौड़े चलने लगते. यह बात ही उन्हें सबसे अधिक अप्रिय लगती. पर इधर कुछ दिनों से वही अधिक उठ रही थी.

अलग होने का दुष्परिणाम मुंशी जी से अधिक भला कौन समझ सकता था? एक पुत्र अलग हुआ नहीं, दूसरा भी अलग हो जाएगा. घर की वास्तविकता जो अभी तक ढकी थी, फिर उसे खुलते कितनी देर लगती? अभी उन्हें अपनी दो जवान लड़कियों की शादी करनी थी. पेंशन के सरकार से जो पंद्रह रुपए मिलते थे, उनसे उनकी शादी करना तो दूर, इस मंहगाई में वह अपना और उनका पेट भी न भर सकते थे. अलग होने पर कहीं कोई किसी की मदद करता है? सब अपना-अपना देखते हैं. फिर घर के इस एके से जो उनकी कस्बे में इज़्ज़त थी, वह भी धूल में मिल जाएगी. रात को भोजन से निबटकर जब वह पंडित रामखिलावन के चबूतरे पर मोहल्ले के अन्य बुजुर्गों के साथ बैठते तो रामदीन कहा करते, ''मुंशी जी तुम बड़े भाग्यवान हो जो तुम्हारे घर में एका है. लड़के आजकल जहां जवान हुए नहीं और उनकी शादी हुई नहीं कि अपना घरुआ-चरुआ अलग करते हैं.''

मुंशी जी सीना फुलाकर उत्तर देते, ''यह

सब आप लोगों और भगवान जी की दया है.'' फिर रुककर मुस्करा देते. कहते, ''मैंने तो बचपन से ही अपने लड़कों को यह शिक्षा दी कि आपस में प्रेम से रहो. आप सब देखते ही हैं कि आज उनमें राम और भरत जैसा प्रेम है. उनका जैसा प्रेम इस कस्बे में तो कहीं आपको देखने को मिलेगा नहीं.''

तब तक ठाकुर सुजान सिंह बोल उठते, ''मैं तो कहूं मुंशी जी ये लुगाइयां अगर फूट के बीज बोएं नहीं तो भाई-भाई में आपस में बैर हो ही नहीं. उनमें बैर कराने की जड़ ये लुगाइयां ही होती हैं.''

इस पर अन्य लोग हां में हां मिलाकर एक-दो उदाहरण सुनाने लगते. किंतु मुंशी जी भावना में बहकर अपनी बहुओं की बुराई नहीं करते. वह बड़ी चालाकी से असलियत दबाकर कहते, ''ठाकुर साहब! वैसे कहते तो आप ठीक हैं, पर अगर लड़के ठीक हों तो लुगाइयां कुछ नहीं कर सकतीं. रहीमदास ने कहा ही है 'जो रहीम उत्तम प्रकृति का कर सकत कुसंग, चंदन विष व्याप्त नहीं लपटे रहत भुजंग.'

उचित अवसर पाकर पंडित रामखिलावन इसी समय वार्तालाप को एक नया मोड़ दे देते. वह दार्शनिक के स्वर में कहने लगते, ''प्रेम में जितने गुण हैं, फूट में उतने ही दोष हैं. तभी तो हमारे ऋषि-मुनियों ने प्रेम का इतना महातम बखाना है. सन का एक-एक तार मिलाकर रस्सी बनती है. एक-एक मिलाकर ग्यारह होते हैं. दूर क्यों जाओ, मुंशी जी को ही लो. आज जो इनके पास चार-पैसे और इतनी जायदाद है वह इसी प्रेम की बदौलत है. अगर किसी कारण आज उसका हिस्सा बांट हो जाए तो इनकी क्या ऐसी दशा रहेगी?''

यह एक-एक शब्द मुंशी जी की आत्मा को गुदगुदा देता. उनके रोम-रोम में प्रसन्नता व्याप जाती. उनका चेहरा खिल उठता, आंखें चमक जातीं और सीना उभर आता.

अब मुंशी जी भी चुप न रह सके. बोले, ''सब समझता हूं. मैं मूरख नहीं हूं. अलग होने के लिए ही रोज़-रोज़ यह सब झूठे-मूठे बखेड़े उठाये जाते हैं.''

कोठरी की दहलीज पर बैठे शून्य दृष्टि से शून्य आकाश को ताकते मुंशी जी ने निश्चय किया कि जैसे भी होगा, वह अपने जीते जी पूर्वजों की सम्पत्ति बंटने न देंगे. इसी में उनकी और घर की इज़्ज़त है. अपने इस निश्चय को सफल बनाने में उन्हें पुत्रों से पूर्ण सहयोग मिलने की आशा थी. वे आज के इस युग में भी पितृभक्ति और आज्ञाकारिता की प्रतिमूर्ति थे.

इस बार घर में पूर्व की अपेक्षा कुछ अधिक दिनों तक शांति रही, यहां तक कि बहुओं में छोटी-मोटी तकरारें भी नहीं हुईं.

इस शांति से मुंशी जी प्रसन्न थे. उन्हें विश्वास हो गया था कि पुत्रों ने बहुओं को प्रेम और एके का महत्त्व समझा दिया है और वे भली-भांति समझ भी गयी हैं. किंतु दो-एक दिन बाद उन्हें अपनी त्रुटि का आभास हुआ. यह शांति समुद्र की उस शांति जैसी सिद्ध हुई जो अपने भीतर एक भयंकर तूफ़ान छिपाये रहती है.

संध्या का समय था. आसमान पर काले बादल घिरे थे. मुंशी जी आंगन में चारपाई पर बैठे छोटे पुत्र से बड़े पुत्र की नौकरी के बारे में परामर्श कर रहे थे. बड़ा पुत्र सुबह से नौकरी की दौड़-धूप में निकला अभी तक लौटा न था. इसी समय छोटी बहू तेज़ी से वहां आकर बोली, ''मैं अब इस घर में एक मिनट नहीं टिक सकती. मेरे पैसे चुरने लगे हैं. यह सब उसी की करतूत है.''

उसी का अर्थ चौके में बैठी बड़ी बहू समझ गयी थी. वह भी गरजती हुई आ धमकी, ''देखो, ज़बान सम्हाल कर कहा करो.''

''ज़बान सम्हालकर क्या? तूने चुराये नहीं?''

''चुप चुड़ैल! झूठ बोलती है. झूठ बोलते हाय तेरी ज़बान भी तो कटकर नहीं गिरती. मैं कसम खा सकती हूं जो तेरे पैसे देखें भी हों.''

''कहीं रखकर भूल गयी होगी. जाओ ठीक से देखो.'' बात के अधिक बढ़ जाने के भय से छोटे पुत्र ने पत्नी को समझाया.

'हां-हां, मैं ही भुलक्कड़ हूं, मैं तो पगली हूं. मेरे तो कुत्ते ने काटा है जो बेकार का किसी को दोस लगाती हूं. कान खोलकर सुन लो, अब मैं इस घर में एक मिनट भी नहीं रहूंगी. आज मेरे पैसे गये हैं, कल रुपए जाएंगे और परसों दूसरी बड़ी चीज़ और तुम क़होगे कि मैं कहीं रखकर भूल गयी.''.

अब मुंशी जी भी चुप न रह सके. बोले, ''सब समझता हूं. मैं मूरख नहीं हूं. अलग होने के लिए ही रोज़-रोज़ यह सब झूठे-मूठे बखेड़े उठाये जाते हैं.''

''हां, तुम तो ऐसा कहोगे ही.'' छोटी बहू उबल पड़ी, ''तुम्हें तो एक में मिलाये रहने में फायदा है. बैठे-बैठे मुफ्त की रोटियां लड़कों की कमाई पर...''

''चुप ससुरी. बापू से ज़वाब-सवाल करती है.'' छोटा पुत्र बीच ही में गरज उठा. वह क्रोध से कांप रहा था. उसके सामने उसी की पत्नी उसके बापू का अपमान करे. उसने हुमककर पत्नी पर लात चला दी.

लात पूरे वेग से कूल्हे पर बैठी थी. पत्नी लड़खड़ाकर गिर पड़ी. उसको गिरते देखकर बड़ी बहू अपनी मुस्कराहट रोक न सकी. छोटी के तन-बदन में आग लग गयी, वह गरज उठी, ''छिनाल हंसती है. सब समझती हूं. तुम सबने मुझे मार डालने की सोची है. तुम सबके मुंह पर कालिख पुतवा दूंगी.'

इस गरजना के सम्मुख बड़ी बहू तो खिसक गयी, पर पति का पारा और चढ़

गया. वह क्रोध से जैसे पागल हो गया. ताबड़-तोड़ लात-घूंसे चलाने लगा, "ससुरी बाहरवालों को सुनाती है. चुड़ैल का गला घोंट दूंगा, अगर चुपी नहीं."

पर चुपने के स्थान पर उसका स्वर और भी ऊंचा हो उठा, "मुझे मार डालो, पर चुपूंगी नहीं. मैं तुम लोगों के मुंह पर कालिख पुतवा कर रहूंगी. हां-हां मारो खूब मारो... हाय मार डाला-मार डाला." वह बेतहाशा चीखने लगी.

इस चिल्लाहट के सम्मुख पति पहले तो घबड़ा गया. समझ में न आया क्या करे. किंतु दूसरे ही क्षण उसने हथेली से पत्नी का मुंह दाब दिया और घसीटता हुआ उसे सबसे अंदरवाली कोठरी में खींच ले गया. अंदर ढकेलकर उसने बाहर से किवाड़ पर कुंडी चढ़ा दी.

चिल्लाहट धीमी होकर खामोश पड़ गयी थी. केवल नागिन जैसी फुंफकार सुनायी देती थी.

आंगन में खड़े मुंशी जी की आंखें गीली हो गयीं. उनकी वेदना आज असीम थी. बहू की आवाज़ दीवार लांघकर बाहर निकल गयी थी, जिसके फलस्वरूप सड़क पर राहगीरों और मोहल्लेवालों में फुसफुस हो रही थी. उनकी इस वेदना से द्रवित होकर ही जैसे उस समय आकाश भी गीला हो गया टप-टपकर बड़ी-बड़ी बूंदें धुआंधार पड़ने लगीं.

कोठरी के कड़े से बंधी धोती के फंदे में जैसे ही छोटी बहु ने गर्दन डाली, वैसे ही बाहर खड़ी परदे की दीवार टेकों की अवहेलना कर अरराकर गिर पड़ी.

❑

अलिफ माने अल्लाह

फरीद एक ही दिन स्कूल जाकर घर बैठ गये. मुल्ला ने पहले ही दिन तख्ती पर अलिफ लिखकर बता दिया, बेटा भूलना मत अलिफ माने अल्लाह और फरीद ने रट लिया अलिफ माने अल्लाह...

जब कई दिन फरीद स्कूल नहीं आये तो मौलवी ने दूसरे बच्चों से कहा, "कल फरीद के घर से उसे बुला लाना!" पर फरीद बच्चों के साथ नहीं आया. उसने उन्हें कह दिया, "नहीं चलना, मुझे आगे पढ़कर क्या लेना है- इक्को अलिफ मैनुं दरकार, अगू बस कर यार!"

व्याख्यान

क्या हमने सत्य को जान लिया है?

• विष्णु प्रभाकर
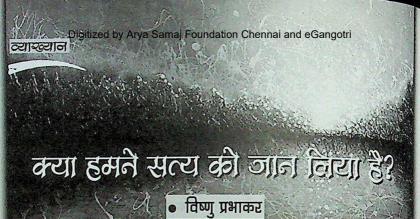
संस्कृति और धर्म के सम्बंध बहुत जटिल हैं. इतिहास पर दृष्टि डालने पर ऐसा लगता है जैसे संस्कृति धर्म का ही अंग रही है. आज भी साधारणतया उसको अलग करके देखना मुश्किल हो जाता है. अपने मूल में धर्म संस्कृति से अलग है भी नहीं, इसे उलट कर भी कह सकते हैं, क्योंकि 'धर्म' शब्द बहुत प्राचीन है, उसके मुकाबले में संस्कृति अर्वाचीन है. जब धर्म का रूप व्यापक था, वह संगठित नहीं हुआ था अर्थात सम्प्रदाय नहीं बना था, एक जीवन पद्धति का परिचायक था, तब मानव जीवन का अर्थ देने वाले मूल्यों को 'संस्कृति' जैसा नाम अलग से देने की आवश्यकता ही नहीं थी. धर्म जब सिमटते-सिमटते खंडों में बंटने लगा, लोक से अधिक परलोक में उसकी व्याप्ति होने लगी. मनुष्य उससे छूटने लगा और परमात्मा की सत्ता के प्रति उसका लगाव बढ़ता लगने लगा तो धीरे-धीरे यह शब्द अस्तित्व में आया.

मनुष्य संस्कृति का सहारा लेता है, क्योंकि संस्कृति मनुष्य को जोड़ती है, किसी भी तरह तोड़ती नहीं, क्योंकि वह दूसरे के लिए जीने की प्रेरणा में से रूप लेती है. संस्कृति में किसी परलोक और उसके अधिष्ठाता के लिए स्थान नहीं है, उसकी आंखें निखूट इसी धरती पर लगी हैं और वह विशुद्ध सामाजिक है.

लेकिन फिर भी क्या संस्कृति धर्म से बिल्कुल अतीत हो सकती है. जब भी, धर्म को उसके मूल अर्थों में स्वीकार किया गया है तो संस्कृति और धर्म लगभग समानार्थी बन गये हैं. बुद्ध से लेकर गांधी तक सभी सुधारकों ने पंडितों के हाथों यातना पायी है. संगठित धर्म और मानव धर्म इन दोनों में सदा तनाव की स्थिति रही है.

संस्कृति का इस मानव धर्म से कोई संघर्ष नहीं है, संघर्ष है तो उस धर्म से है जो मनुष्य को मनुष्य से अलग करके, किसी अज्ञात से जोड़ने के प्रयत्न में उसमें प्रेम करने की, मनुष्य की पीड़ा से मनुष्य की तरह एकात्मक होने की शक्ति नष्ट कर देता है. परमात्मा की खोज कभी बंद नहीं होगी. संस्कृति इस खोज में सहायक ही हो सकती है, बाधक नहीं. धर्म की कट्टरता और दुराग्रह

की प्रवृत्ति को रूपांतरित करके संस्कृति उसकी जिज्ञासा को सही दिशा दे सकती है, क्योंकि वह सामंजस्य में विश्वास करती है और उसका आधार सृजन की प्रतिभा है. सृजन की यह प्रतिभा विराट की खोज का पारस पाकर अनेक नये-नये और अज्ञात रूपों में प्रस्फुटित हो सकती है और होती है. रहस्य में प्रवेश करने का अपना एक आनंद होता है. वही आनंद अज्ञात की लीला है. धर्म का जो रूप दर्शन है, बेशक उसी के द्वारा हम उस आनंद से परिचित होते हैं, लेकिन वही आनंद संस्कृति के द्वारा व्यक्त होकर हमारे लिए नाना रूपों में उपयोगी भी होता है. सत्यम्-शिवम्-सुंदरम् की पूर्ण अभिव्यक्ति धर्म और संस्कृति के सहयोग से हो सकती है, अद्वैत तभी साधा जा सकता है.

धर्म की भाषा निरंतर खोज है, संस्कृति की भाषा सतत आचरण है. कोई भी धर्म आचरणहीन व्यक्तियों के लिए कल्याणकारी नहीं हो सकता और आचरण की प्राप्ति कर्मकांड और आडम्बरों से नहीं होती है, जीवन का धर्म पालन करने से होती है. विश्वास और आचरण साथ-साथ ही चल सकते हैं. यही संस्कृति है जो अज्ञात की खोज को भी उपयोगी बना देती है.

संस्कृति और विज्ञान में उतना और वैसा अंतर नहीं है, जितना विज्ञान और धर्म में. सत्य के शोधक सभी हैं, परंतु धर्म का इतिहास बताता है कि उसने पूर्वाग्रह का सहारा लेकर बार-बार इस दावे को झूठा प्रमाणित कर दिया है, जबकि विज्ञान आग्रही हो ही नहीं सकता. वह तो निरंतर प्रवाहमान अनुभवों पर आश्रित है. उसके चिंतन का आधार सतत जिज्ञासा है, नित नया होना, नित सीखने की प्रवृत्ति उसकी नियति है. इसलिए वह अहंकारी भी नहीं हो सकता.

आरम्भ में धर्म की प्रवृत्ति भी यही दिखायी देती है. नेति-नेति, वेदांत और अनेकांत (स्यादवाद) की पुकार इसका प्रमाण है, परंतु धीरे-धीरे अनेक ऐतिहासिक कारणों से संगठित धर्मों का प्रादुर्भाव हुआ और धर्म अश्रद्धा और पूर्वाग्रहों से ग्रस्त हो गया. वह अपना सार्वदेशिक रूप खोकर भौगोलिक और राष्ट्रीय सीमाओं से आबद्ध होने लगा.

लेकिन संस्कृति के साथ ऐसी कोई कठिनाई नहीं है. उसका आधार जीवन मूल्य है जो हर प्रकार की अतिवादिता, दुराग्रह और कट्टरता से रहित है. मानवीय संवेदना के आधार पर वह विज्ञान से अपने सम्बंध साध सकती है, क्योंकि विज्ञान भी तो आखिर किन्हीं मूल्यों की तलाश में ही तो आगे बढ़ता है. सत्य की खोज अपने आप में सबसे बड़ा मूल्य है और सत्य अभी अजाना है. वह न अभी धर्म के हाथ लगा है और न विज्ञान के. भविष्यवाणी करना सदा संकटप्रद होता है, पर हमें लगता है कि चरम सत्य कभी किसी के हाथ नहीं लगेगा. उसकी खोज लेने की प्रक्रिया ही लगता है हमारे अधिकार की वस्तु है. जो इस प्रक्रिया से जुड़े हैं वे कभी दुराग्रही नहीं हो सकते. कभी झगड़ नहीं सकते, क्योंकि वे एक ही पथ के पथिक हैं. संस्कृति का मूल यही है.

संस्कृति मानव के अंतर जगत में व्याप्त मानव चेतना की प्रहरी है. साथ ही संस्कृति भौतिक जगत के सत्यों की उपेक्षा भी नहीं

कर सकती. वह विज्ञान के विरोध में खड़ी नैतिक शक्ति नहीं है. उसके समानांतर चलने वाली, मूल्यों के संकट में उसका मार्गदर्शन करने वाली अंतर्दृष्टि है. इसलिए नैतिक-अनैतिक से ऊपर उठने की वह क्षमता उसमें है जो धर्म में नहीं है.

संस्काररहित संस्कृति का नाम विकृति है. सब कुछ मनुष्य के मन में घटता है. संस्कृति उसी मन का संस्कार कर सकती है. ये सब आविष्कार ऊर्जा मात्र हैं. अनियंत्रित ऊर्जा नाश करती है और नियंत्रित निर्माण.

नियंत्रण की यह शक्ति हमें तभी प्राप्त हो सकती है जब हम वैभव की अंधी दौड़ और स्पर्धा से अपने को मुक्त करके झूठे मूल्यों को पहचानने की प्रक्रिया शुरू कर सकें. विलासमय जीवन व्यक्ति की प्रतिभा का आधार नहीं है. आधार है जीवनयापन का ढंग अर्थात अपने और अपने सहयोगियों के साथ हमारे सम्बंध.

यही मानव संस्कृति है. मानव संस्कृति जो किसी की उपेक्षा नहीं करती, किसी का निषेध नहीं करती. इसलिए हम चाहें तो इस ऊर्जा को इस प्रकार नियंत्रित कर सकते हैं कि हमारा आत्मविश्वास और हमारी आस्था खो न जाए.

संस्कृति का प्रश्न उठने पर एक और शब्द ज़ोर-शोर से उभर कर सामने आता है, वह है उत्पादन. मार्क्सवादी यह स्वीकार नहीं करते कि पवित्र संस्कृति या वर्ग-निरपेक्ष संस्कृति जैसी कोई वस्तु होती है. वह जन्मजात गुण या संस्कार भी नहीं है. इसे मनुष्य ने युग-युगांतर से चले आ रहे संघर्ष और द्वंद्व की प्रक्रिया के माध्यम से प्राप्त किया है. वे अपने को साधनों के ऐतिहासिक विकास तक ही सीमित रखना चाहते हैं.

इसके अनुसार हमने अब तक संस्कृति को जिस रूप में पहचानने का प्रयत्न किया है वह 'बुर्जुआ मानवतावादी समझौतापरस्त धारा' या अधिक से अधिक उदार होने पर 'पेटी बुर्जुआ समझौताहीन धारा' कही जा सकती है. वे यह तो मानती हैं कि संस्कृति मानव की मानसिक सृजनात्मक अभिक्रियाओं की सुंदरतम एवं सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति है, पर वह समाज के एक निश्चित आर्थिक आधार पर खड़े ऊपरी ढांचे का अंग है. जीवन के प्रति दृष्टिकोण, नैतिकता, नर-नारी के सामाजिक सम्बंध, इसी सांस्कृतिक परिमंडल की विषयवस्तु है, जिनकी सुंदरतम और ठोस अभिव्यक्ति कला-साहित्य, नृत्य नाट्य और संगीत में मिलती है. मार्क्सवादी चिंतक कामरेड शिवदास घोष के अनुसार, "समाज में वर्तमान विरोधी शक्तियों की अंतःप्रक्रिया और प्रकृति के विरुद्ध सम्पूर्ण मानव समाज के अनवरत संघर्ष के कारण ही मनुष्य का भाव जगत अस्तित्व में आया, विकसित हुआ और विकासमान है."

ये लोग अभ्यंतर संसार और मनश्चेतना के अस्तित्व को लगभग अस्वीकार कर देते हैं, लेकिन दूसरा वर्ग डॉ. राधाकृष्णन के शब्दों में ज़ोर देकर कहता है कि मार्क्सवादियों के "इस विश्वास के लिए कोई वैज्ञानिक साक्ष्य नहीं है कि समाजों के सांस्कृतिक एवं आर्थिक ढांचे केवल उत्पादन की शक्तियों के स्वरूप में निर्णीत होते हैं... सम्पूर्ण बुराईयां आर्थिक स्रोत से नहीं उत्पन्न होतीं. मानव हृदय के आवेग, मानवीय वेदना के

प्रति निष्ठुर उदासीनता, दूसरों पर अधिकार करने की कामना, बुराई के ये सूत्र हमारे निर्माण में ही घुले-मिले होते हैं. मौलिक पाप का सिद्धांत धर्मवित्ता का आविष्कार नहीं है. मानव प्रकृति की सहज कठोरता को बाह्यावरण के परिवर्तनों से वश में नहीं किया जा सकता. मार्क्सवादी आशा पूर्णतः भौतिक है और रहस्यवृत्ति से सर्वथा रहित है. मनुष्य केवल समझने और निर्माण करने के लिए ही नहीं है वरन आश्चर्य एवं प्रशंसा करने के लिए भी है. विज्ञान हमें शक्ति देता है, दृष्टि नहीं. बल देता है, अनुशास्ति (सेंक्शन) नहीं. मनुष्य केवल देह और मस्तिष्क नहीं है, वह आत्मा भी है.''

डॉ. राधाकृष्ण की इस बात पर विवाद हो सकता है कि विज्ञान हमें शक्ति देता है, दृष्टि नहीं, परंतु वैज्ञानिक अंतिम सत्य जैसी किसी अवधारणा को प्रस्तुत करने का साहस नहीं करेगा. वह इस बात को भी पूर्णतः स्वीकार नहीं करेगा कि यथार्थ जगत केवल बाहर का जगत है, भीतर किसी जगत का अस्तित्व नहीं है. भीतर भी एक जगत है, भले ही मार्क्सवादी उसे आत्मा कहना स्वीकार न करें. वे जब कला, साहित्य और संगीत को मानव की मानसिक सृजनात्मक अभिक्रियाओं की सुंदरतम एवं सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति मानते हैं तो एक रूप में भीतर के जगत के अस्तित्व को स्वीकार कर लेते हैं और वह भीतर का जगत निश्चित रूप में मूल्य दृष्टि से जुड़ा हुआ है.

जो बात एक वर्ग को चकित कर सकती है, वह है इन लोगों की यह धारणा कि पुरानी संस्कृतियों में जो श्रेष्ठ है उसे आत्मसात करके ही सर्वहारा संस्कृति का विकास किया जा सकता है और यह भी कि कथाशिल्पी शरतचंद्र चट्टोपाध्याय पेटी बुर्जुवा वर्ग के एक सशक्त हस्ताक्षर थे जिन्होंने धार्मिक रूढ़ियों और सामंतवाद के विरुद्ध गैर-समझौतावादी धर्मनिरपेक्ष एवं क्रांतिकारी दृष्टिकोण को स्वर दिया. शरत साहित्य में श्रेष्ठतर मानवतावादी आदर्शों की ठोस एवं सुंदरतम अभिव्यक्ति हुई है. प्रेमचंद और नज़रुल को भी घोष इसी परस्पर में मानते हैं. उधर हिंदी के सुपरिचित मार्क्सवादी लेखक श्री हंसराज रहबर विवेकानंद को मार्क्स के बिल्कुल पास खींच ले जाते हैं.

> मनुष्य केवल समझने और निर्माण करने के लिए ही नहीं है वरन आश्चर्य एवं प्रशंसा करने के लिए भी है. विज्ञान हमें शक्ति देता है, दृष्टि नहीं.

इसलिए हमारा कहना है कि आवश्यकता बंधी-बंधाई मान्यताओं से ऊपर उठकर, सत्य की खोज के मार्ग पर आगे बढ़ने की है.

वैचारिक शून्यता कहो या आस्था का अभाव, यही आज की ज्वलंत समस्या है और यही आज समाज में व्याप्त उस टूटन और तनाव का कारण है जिसकी चर्चा रूसी चिकित्सक खोरोल ने की है.

साम्यवाद से एकदम विपरीत दिशा में

खड़ी पांडिचेरी की श्री मां भी यही कहती हैं, ''आचरण की एक बूंद, सिद्धांतों, सलाहों और शुभ संकल्पों के समुद्र से अच्छी है.'' सेक्स अनैतिक नहीं है, अनैतिक है अराजकता और विकृति. नारीत्व और पुरुषत्व का मूल्यांकन नैतिक चरित्र और मानवीय गुणों के आधार पर होना चाहिए.

शरत ने जो प्रश्न पूछा था, ''एकनिष्ठ प्रेम सतीत्व के आदर्श से बड़ा नहीं है क्या?'' और बार-बार इस बात की घोषणा की थी कि मां वह है जो दूसरों के जायों को भी वही ममता और स्नेह देती है, तभी तो स्रष्टा के समकक्ष होती है. इन तथ्यों को रेखांकित करते हुए कामरेड घोष ने एक और प्रश्न उठाया. उस प्रश्न में हमारा सीधा सम्बंध है. क्या शिक्षा का संस्कृति से कोई सम्बंध है? शरतचंद्र की कहानी ''बैकुंठ का वसीयतनामा' में बड़ा भाई प्राइमरी स्कूल भी पार नहीं कर पाता और छोटा सौतेला भाई एम.ए. तक पढ़ा है, परंतु परिवार के प्रति बड़े भाई के प्रेम और दायित्व की कोई थाह नहीं. छोटे भाई की सफलता पर उसका गर्व आकाश को छूता है. लेकिन वहीं छोटा भाई बहकावे में आकर सम्पत्ति में अपने अधिकार के लिए अदालत में जाने को तैयार हो जाता है. कहानी का अंत सुखांत है, यह बात कोई अर्थ नहीं रखती. अर्थ रखती है यह बात कि संस्कार अभ्यंतर जगत की वस्तु है. बाहरी आचरण उसे शक्ति दे सकते हैं, उसका सृजन नहीं कर सकते. साहित्य-संगीत, नृत्य-नाट्य और कला संस्कृति के उपादान माने जाते हैं माना जाता है.संस्कृति की कोई भी अवधारणा हो, इनके माध्यम से ही पुष्पित-पल्लवित होती है. आजकल तो विशेष रूप से संस्कृति शब्द मात्र ललित कला का पर्याय होकर रह गया है. इसीलिए चाहे सामंतवादी शासक हो, चाहे पूंजीवादी और समाजवादी, सबने इन उपकरणों को परोक्षा-अपरोक्ष अपने अधिकार क्षेत्र में रखना चाहा है. साम्यवादी समाज में तो वे व्यवस्था का ही अंग होते हैं, लेकिन तथाकथित प्रजातंत्र में भी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की बात एक छद्म है. सभी ललित कलाएं मानवात्मक बंधनहीन अभिव्यक्ति है. लेकिन व्यवहार में कितनी वर्जनाएं इस अभिव्यक्ति को कुंठित करती रहती हैं, इसका लेखा-जोखा किसके पास है. अभिव्यक्ति के सारे माध्यम किसी-न-किसी रूप में राजनीतिज्ञों के अधिकार के क्षेत्र में हैं. नाना प्रकार के प्रलोभन हैं वहां. स्वर्ग की राह देखने का मोह कौन छोड़ पाता है. फिर रोटी क्या कम प्रलोभन है. राजनीतिज्ञ ही तो रोटी का मालिक है या फिर उद्योगपति है. जिसका शासन सत्ता के ऊपर भी है. होना तो चाहिए कि संस्कृति इन्हें संस्कार दे, क्योंकि संस्कार के बिना राजनीति सत्ता के खेल ही खेल सकेगी और आदमी और अधिक असंस्कृत होता रहेगा पर, होता यह है कि सत्ताधारी संस्कृति को संरक्षण देता है, व्यापार की भाषा में कहें तो खरीदता है, उससे जुड़ता नहीं.

संस्कृति की अनेक धाराएं हैं, अनेक परिषाएं हैं. आप पूछ सकते हैं कि मैं किसे ठीक समझता हूं.

हम कहना चाहेंगे कि हमारा जो प्रयोजन है, उसमें निर्णय देना कोई अर्थ नहीं रखता.

यह इतनी चर्चा जो हमने की, वह केवल संस्कृति शब्द की व्याप्ति को यत्किंचित समझने के लिए ही की है. और की है इसलिए कि क्या प्रचलित अवधारणाओं को परिभाषाओं से ऊपर उठकर भी इस शब्द को अर्थ दिये जा सकते हैं या देने की ज़रूरत है. और स्पष्ट करें तो कह सकते हैं कि क्या संस्कृति को कोश के अर्थ से मुक्ति दिला सकते हैं. शब्द के अर्थ कोश में नहीं होते. वे जीवन में ही मिलते हैं. व्यवहार में मिलते हैं, वहां से कोश में आते हैं. जीवन तो बहती नदी है. निरंतर नये की खोज में व्याकुल बहती रहती है. कोश ठहरा नीर है.

इसलिए समग्रता की दृष्टि से संस्कृति की ये नाना रूप परिभाषाएं हमारे लिए परेशानी का कारण नहीं हो सकतीं.

समग्रता के ये आग्रह इतिहास में और इतिहास से पूर्व सब कहीं बिखरे पड़े हैं. ऋग्वेद का ऋषि जब 'विश्व मानुष' की बात करता है तो समग्रता का ही आह्वान करता है. जनमेजय के नागयज्ञ की कहानी कुछ भी रही हो, तपस्वी आस्तिक ने इससे त्रस्त होकर कहा था, ''अरे मुझे भी ज्वाला की भेंट कर दे. मैं भी नागकन्या के गर्भ से पैदा हुआ हूं.''

तब जनमेजय की आंखें खुल गयीं. उसने आस्तिक के चरण पकड़ लिये. नागयज्ञ बंद हो गया. तपस्वी आस्तिक ने कहा, ''जनमेजय, भारतीय संस्कृति मानो सहस्र, पंखुड़ियों का सुंदर शतरंगी कमल है. इस फूल में अलग-अलग सैकड़ों प्रकार की सुगंधि पैदा होने दो.''

भेद में अभेद का दर्शन भारतीय संस्कृति की विशेषता रही है. 'एकं सत विप्रा बहुधा वदंति' सत्य वस्तु एक ही है. लेकिन उसे नाना प्रकार से व्याख्यायित किया जाता है.

जब कवि गुरु रवींद्रनाथ ठाकुर गा उठते हैं—

'यहां एक दिन विराम विहीन महीन
महा ओंकार की ध्वनि—
ऐक्य के मंच से हृदय तंत्री में गूंजी थी.
तपस्या के बल पर 'एक' के अनल में
'बहु' की आहुति कर,
जाग उठा था एक ही विराट हृदय
सभी विभेदों को भूलकर
उसी साधना की, आराधना की,
यज्ञशाला का खोल दिया है आज द्वार
अवनत मस्तक हो,
सबको मिलना पड़ेगा यहां आकर
इस भारत के
महामानव (रूपी) सागर के किनारे.

तब वे उसी ओंकार मंत्र 'एकं सत विप्रा बहुधा वदंति' की व्याख्या ही तो करते हैं. अर्नाल्ड टायनबी इस व्याख्या को स्पष्ट करते हुए कहते हैं, सब धर्मों और धर्म-सम्प्रदायों के बीच स्पृहणीय और आदर्श सम्बंध हैं. परस्पर औदार्य, सहिष्णुता और आदर का भाव. असली चीज़ यही है. सब धर्मों और सम्प्रदायों का एकीकरण आवश्यक नहीं अर्थात धर्म के क्षेत्र में तो बहुत्व और वैविध्य ही श्रेयस्कर होगा. जैसा कि ईसा की चौथी सदी में रोम के एक सेनेटर ने सब पर बलात ईसाइयत थोपने का विरोध करते हुए कहा था, 'इतने बड़े रहस्य का केवल एक ही मार्ग नहीं हो सकता.'

लेकिन जिस समग्र दृष्टि की बात हमने

करनी चाही है वह इतनी ही नहीं. वाल्मीकि पहले कवि थे, छंद के आविष्कारक, पर व्यास महाकवि थे, जिन्होंने कविता के छंद को अर्थात जीवन के छंद को आत्मसात कर लिया था, यानी कविता के नियमों की जड़ता से ऊपर उठकर वे लोकोत्तर जीवन के स्वप्न को रूपायित कर सके थे. यह राम की मर्यादा से कृष्ण की लीला अर्थात योग तक की यात्रा मनुष्य की शब्द से अर्थ तक की यात्रा है या कहें कि सत्य को पहचानने की न समाप्त होने वाली यात्रा है, क्योंकि सत्य तो 'नेति नेति' है, अनेकांत है, वेदांत है. उसका न कोई निश्चित आकार है, न रूप. वह निरंतर विकसित होता है, निरंतर यात्रा करता है. वह मंजिल की खोज में है. तब यही है, यही है की बौनी पुकार का क्या अर्थ हो सकता है.

होता तो सुकरात क्यों निरंतर प्रश्न करता रहता कि क्या तुमने सत्य को जान लिया है. सत्य को जानने की इस चाह में से ही तो विश्व का सारा वाङ्मय, सारा विज्ञान, सारी संस्कृति विकसित हुई है. विकास की प्रक्रिया में अंत और आरम्भ का कोई स्थान नहीं होता. आइंस्टाइन की 'थ्योरी ऑफ रिलेटिविटी', न्यूटन के 'लॉ ऑफ ग्रेविटेशन' को नकारती नहीं, विकसित करती है.

अर्थवत्ता की खोज ही सत्य की खोज है जो कभी-कभी किसी को भी जड़ होने का अवसर नहीं देती. फिर भी हम होते हैं. इसीलिए तो हर युग में कविता के छंद, वाल्मीकि से व्यास तक और जीवन के छंद, राम, कृष्ण तक निरंतर यात्रा करते हैं. 'चरैवेति, चरैवेति' का मंत्र ही 'नेति, नेति' की अर्थवत्ता प्रदान करता है.

संस्कृति की व्याख्या करते हुए नीति-नैतिकता की बार-बार चर्चा हुई है. राम से कृष्ण तक की यात्रा के संदर्भ में उस शब्द की थोड़ी पड़ताल करते चलें. गांधी जी ने 'राम-राज्य' की कल्पना को जो रूप दिया था वह तुलसीदास की इस धारणा पर आधारित था 'दैहिक, दैविक, भौतिक तापा, रामराज्य नहिं काहुहि व्यापा' पर उसका सही अर्थ समझने के लिए मनुष्य और उसकी संस्कृति के विकास-क्रम पर दृष्टि डालनी होगी. भारतीय संस्कृति में अवतार की कल्पना इसी विकास के क्रम को रूपायित करती है. इस विकास-क्रम के अर्थों में ही अवतार का रहस्य छिपा है. इस क्रम में क्रमशः जल-थल और दल-दल के जीवन, बाद में प्रत्येक पशु प्रत्येक मानव का जन्म होता है. फिर पशुता से मुक्ति, शारीरिक रूप से अपूर्ण मानव वामन और तामसिक मानव परशुराम के सृजन की प्रक्रिया से होकर पूर्ण मानव राम का आविर्भाव होता है. यह प्रतीक कथा है. यानी राम-राज्य के नायक राम का उदय तब होता है, जब हर दृष्टि से पूर्ण होकर मानव, एक से अनेक होने के क्रम में समाज की स्थापना करता है, अर्थात अपने सुख के लिए अपनी स्वतंत्रता पर अंकुश लगाता है. तभी नीति-नियम करणीय, अकरणीय कर्त्तव्य कर्म संहिताबद्ध होते हैं और एक आदर्श समाज अस्तित्व में आता है. पाने के लिए देने की महत्ता स्थापित होती है. भोग अर्जित नहीं है पर त्याग के साथ अर्थात मात्र मेरे लिए नहीं, दूसरों के लिए अर्थात समाज के लिए भी. यही नैतिकता

है. नैतिकता अद्भुत संयम और अंकुश की अपेक्षा करती है.

परंतु काल और दिन का विस्तार तो असीम है. एक दिन अनेक कारणों से वे नैतिक मूल्य रूढ़, जड़ और अर्थहीन हो जाते हैं. उनका अवमूल्यन हो जाता है. निरवधि काल में मूल्य कैसे स्थिर रह सकते हैं. इसलिए आज जो अच्छा है, वह कल बुरा हो सकता है. एक समाज के लिए जो शुभ होता है, वह दूसरे के लिए अशुभ हो सकता है. अवमूल्यन इस कारण और भयावह हो उठता है कि मूल्य जब रूढ़ और जड़ हो जाते हैं तो भी हम उससे चिपके रहने का ढोंग करते रहते हैं. जहां भय है, वहीं ढोंग है. यह ढोंग केवल व्यक्ति को ही नहीं पूरे समाज को पंगु बना देता है. उच्छृंखलता और असंयम किसी को प्रिय नहीं होते पर संयम के नाम पर अतिसंयम और हठयोग भी उतने ही अग्राह्य हैं. तब क्या यह श्रेयस्कर नहीं होगा कि नैतिकता, अनैतिकता के प्रश्न से ऊपर उठकर सहज भाव से जीवन जीने का प्रयत्न करें. राम के अवतार के बाद हमारी संस्कृति के विकास-क्रम में कृष्ण का अवतार होता है. वह मर्यादा नहीं, लीला पुरुषोत्तम है, योगी है. ध्यान दीजिए यहां लीला और योग समानार्थी हैं. वह भी प्रतीक है. नैतिकता से ऊपर उठकर समग्र नैतिकता की मूल्य दृष्टि देने वाले गतिमय प्रतीक. वही प्रतीक आज संस्कृति को प्राणवंत बना सकता है.

आज सभ्यता इंसान के साथ जो सलूक कर रही है आदिम युग के सलूक से इस अर्थ में भिन्न है कि वह उससे कहीं बदतर है.

कुछ समय पूर्व एक अद्भुत घटना घटी थी इस देश में. एक व्यक्ति ने भूख की यातना न सहकर अपने बच्चों को मार डाला और स्वयं भी मरना चाहा था पर वह बच गया और इसीलिए कानून की पकड़ में आ गया. ऐसे मामलों में 'दंड अनिवार्य है, क्योंकि दंड विधान में ऐसा ही लिखा है.' क्षमा उसके लिए है ही नहीं. लेकिन इस बार अद्भुत घट गया. न्यायाधीश ने अपराधी पिता को यह कहते हुए मुक्त कर दिया कि अपराध इसका नहीं है व्यवस्था का है, जिसने एक पिता को अपनी ही संतान के प्राण ले लेने की स्थिति तक पहुंचा दिया.

और अभी-अभी घटी यह जघन्य घटना जिसके अनुसार तथाकथित प्रबुद्ध युवकों ने पिकनिक पर गयी छात्राओं को शारीरिक रूप से अपमानित किया था, लेकिन प्रधानाध्यापिका को उनके भविष्य की इतनी चिंता थी कि सार्वजनिक बयानों में वे अश्लील वाक्यों और मुद्राओं की चर्चा तक ही सीमित रही. यौन शुचिता की भावना कितनी शर्मनाक हो सकती है.

रुद्र सूक्ति का ऋषि चोरों को भी प्रणाम करता है. वह मानता है कि मनुष्य समाज के दोषों से पतित होता है, अरे चोरों! तुम चोर नहीं हो यदि समाज तुम्हारे साथ ठीक तरह

से व्यवहार करें तो तुम चोरी नहीं करोगे.

बहुत भटकाया हमने आपको, पर जिस समग्र दृष्टि की बात हमने कहनी चाही थी वह उपर्युक्त घटनाओं में निहित है. संस्कृति चाहे अभ्यंतर मूल्यों से जुड़ी हो, चाहे उत्पादन की प्रक्रिया से इस प्रश्न का सामना उसे करना ही पड़ेगा कि उसे भूमा सीमा में आना है, सीमा से भूमा में जाना है, कि वह मनुष्य को खंडों में बांटकर देखेगी या उसकी सम्पूर्णता में. यह विशेषज्ञों का युग है. चिकित्सा के क्षेत्र में ज़ोर इस बात पर है कि शरीर के अंग-अंग को अलग-अलग जांचा-परखा जाये. यह प्रक्रिया बुरी नहीं है बशर्ते कि वह समग्र शरीर को दृष्टि से ओझल न करे. लेकिन होता यह है कि विशेषज्ञ अंग विशेष का परीक्षण करके समझ लेते हैं कि उन्होंने रोग को पहचान लिया है पर रोग का सम्बंध तो पूरे शरीर से है और शरीर का सम्बंध मनुष्य से और मनुष्य का भूमा से, जिसमें न केवल उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व निहित है बल्कि समाज के व्यक्तित्व से भी वह जुड़ा है.

याद आ रही है खलील ज़िब्रान की एक लघुकथा-

एक दिन आंख ने कहा, "मैं इन घाटियों से परे नीले धुंध से ढके पहाड़ों को देख रही हूं. क्या वह खूबसूरत नहीं."

कान ने सुना और थोड़ी देर बाद कहा, "लेकिन पहाड़ है कहां? मुझे तो यह सुनाई नहीं देता."

तब हाथ ने कहा, "मैं इसे अनुभव करने और छूने का व्यर्थ प्रयत्न कर रहा हूं. मुझे कोई पहाड़ नहीं मिलती."

नाक ने कहा, "यहां कोई पहाड़ नहीं, क्योंकि मुझे उसकी गंध नहीं आती."

तब आंख दूसरी तरफ़ देखने लगी और वे तीनों उसके आश्चर्यजनक अनुभव की चर्चा करने लगे. उन्होंने कहा, "मालूम होता है, आंख को अवश्य कुछ भ्रम हो गया है."

नैतिकता की ऐसी ही खंडित अवधारणा भय पैदा करती है और भय का लक्ष्य सदा मनुष्य रहा है, समाज नहीं. तभी हम व्यक्ति को बदलने का शोर मचाते रहे और समाज व्यवस्था वैसी ही चलती रही. व्यक्ति महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वह समाज की इकाई है. उत्पादन पर आश्रित जनवादी मूल्यों से जुड़े समाजवाद ने व्यक्ति की उपेक्षा करके गलती की है, पर आज जब संसार सिमट आया है तो सामाजिक जड़ता, रूढ़िवाद और अविकसित चेतना की उपेक्षा भी नहीं की जा सकेगी.

नैतिकता क्या मात्र शब्द में है या अर्थ में. शब्द जब मात्र शब्द रह जाता है या कहें शाब्दिक होकर रह जाता है तो जड़ता को जन्म देता है. तब चेतना के द्वार स्वतः ही बंद हो जाते हैं. नीति-नैतिकता के शाब्दिक अर्थों ने हमारी मानसिकता को इतना जकड़ लिया है कि सच-झूठ की चिंता न करके हम उसी को सच मानते हैं जिसे मानना चाहते हैं. मूल्य दृष्टि का संकट संस्कृति का संकट है. जैसा हमने देखा कि धर्म आज संगठित धर्म अर्थात सम्प्रदाय का रूप लेकर जीवन से जुड़ा अपना मूल रूप खो बैठा है और कर्म कांड में सीमित होकर रह गया है.

अध्यात्म से भी वह इसी कारण दूर जा पड़ा है. संस्कृति को भी क्या हम उसी राह जाने देंगे?

समस्या का समाधान हमें नहीं देना है. केवल उन प्रश्नों की ओर ध्यान दिलाना है जो साहित्य और कला के उपासक उठाते रहे हैं या जो परिस्थितियों में गर्भित होते हैं. क्या अब समय नहीं आ गया है कि व्यक्ति और समाज के सम्बंधों पर फिर से विचार करें. सोचें कि समाज को यह अधिकार क्यों हो कि वह व्यक्ति की चेतना को ही लील जाए और अपने पापों का दंड उसे भुगतने को विवश करे. मूल्यों के संदर्भ में यह बात बहुत महत्त्वपूर्ण है और संस्कृति, भले ही वह अभ्यांतरिकता से जुड़ी हो या उत्पादन से, मूल्य दृष्टि ही है.

युगों पूर्व सुकरात ने जो प्रश्न पूछा था कि क्या हमने सत्य को जान लिया है, वह आज भी उसी तरह से अनुत्तरित, नाना रूपों में गूंज रहा है. नर-नारी का सम्बंध हो या व्यवस्था का, शरीर और चेतना की शुचिता द्वंद्व हो या व्यक्ति और समाज के रिश्तों का- सभी प्रश्न हमारी सत्य की खोज की छटपटाहट को व्यक्त करते हैं. बताते हैं कि हमें एक कृष्ण की आवश्यकता है जो हमें नैतिकता और अनैतिकता के द्वंद्व से उबारकर हमारे अंतर में समग्र नैतिकता की पहचान को रेखांकित कर सके. हमने कहा न कि हम सदा कोश के अर्थों को लेकर लड़ते रहे हैं, पर वे सही नहीं होता. भाषा जीने की प्रक्रिया में से उपजी थी. अर्थ पहले थे, शब्द बाद में आये. शब्द प्रमुख हो गया तो हम छूछे हैं और एक स्तर पर तो भाषा को शब्द से तो क्या अर्थ से भी नहीं समझा जा सकता. भाव चाहिए उसे हृदयंगम करने को. युगों पूर्व तात्कालिक परिस्थितियों में नैतिक नियम बने थे. परिस्थितियां बदल जाने पर वे आज वही भाव खो बैठे हैं पर हम हैं कि उनके उन्हीं अर्थों से चिपके हैं. यही स्थिति नाना रूप भ्रष्टाचार और ग्रंथियों को जन्म देती है. यह त्रासदी हर क्रांति से पूर्व अपने को दोहराती है. तभी सभी सम्बंधों का अमानवीयकरण हो जाता है और हम आदिम युग की ओर लौटते दिखाई देते हैं.

आज सभ्यता इंसान के साथ जो सलूक कर रही है आदिम युग के सलूक से इस अर्थ में भिन्न है कि वह उससे कहीं बद्तर है. आज कला और साहित्य में यही स्वर बार-बार मुखरित हो रहा है.

फिर भी, निराश होने का कोई कारण नहीं है. कोश में भले ही न लिखा हो, प्रश्न का एक अर्थ है तलाश. वैज्ञानिक युग में सत्य शाश्वत नहीं होता, सत्य की तलाश शाश्वत होती है. जहां तलाश है वहां सिद्धांत विधि-विधान सब जड़ हो रहते हैं, एक दिन नये को पाने के लिए. पाने की इस छटपटाहट में जो दर्द उपजता है उसी को सह रहे हैं हम. दर्द के बिना कुछ मिलता है क्या

यही दर्द इस युग की आशा है. यही एक दिन नये को जन्म देगा और वह नया खंड पर नहीं, समग्र पर आधारित होगा.

(डॉ. राजेंद्र प्रसाद स्मृति व्याख्यान-माला के अंतर्गत 16 दिसम्बर, 1980 को दिये गये भाषण के अंश) ❑

'मैं आगे आनेवाले की जय-जयकार!'

● सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'

स्व. मैथिलीशरण गुप्त-दद्दा-मेरे गुरु स्थानीय थे. स्वयं उन्हें यह बात आसानी से स्वीकार्य न होती क्योंकि इस शिष्य की बहुत-सी प्रवृत्तियां उन्हें नापसंद थीं. लेकिन मैं तो जानता हूं कि बचपन से ही, जब से हिंदी बोलना और फिर पढ़ना सीखा; उन्हीं की कविता पर पलकर किशोर हुआ.

जिस मातृभूमि स्वदेश के
गोदी भरे हम लाल हैं
अथवा
तेरे घर के द्वार बहुत हैं,
किस से हो कर आऊं मैं
अथवा
नीलाम्बर परिधान
हरित पट पर सुंदर है

आदि से हिंदी काव्य से और देशभूमि से परिचित हुआ; फिर 'जयद्रथ-वध' अथवा 'पंचवटी' के माध्यम से भारतीय वाङ्मय और परम्परा के आकर-ग्रंथों से परिचय पाया.

गुप्त जी से प्रत्यक्ष परिचय तो इसके वर्षों बाद हुआ, लेकिन जब उनसे साक्षात्कार हुआ तब तक उनकी प्रायः सभी पुस्तकें तो पढ़ ही चुका था, उनसे कुछ समय तक पत्र-व्यवहार भी हो चुका था.

चिरगांव की पहली यात्रा में तीन दिन उनके साथ रहा और इस अवधि में परिवार के हर सदस्य के साथ घुलमिल गया. चौथे दिन जब वहां से चलने के लिए घर का बड़ा आंगन पार करके ड्यौढ़ी तक जा रहा था तब दद्दा के साथ उनके बड़े और छोटे भाई, उनका लड़का और उनके भतीजे सभी ड्यौढ़ी तक छोड़ने आये तो आसन्न विदाई के बोझ से वातावरण ऐसा भारी था मानो मैं अपना ही गांव छोड़कर परदेश जा रहा होऊं.

ड्यौढ़ी का बड़ा फाटक साधारणतया बंद रहता था; उसी में एक खिड़की से आना-जाना होता था. उसी रास्ते पहले मैं, फिर दद्दा और फिर सियाराम जी से भी पहले मुंशी अजमेरी बाहर निकले; निकलकर अजमेरी जी खिड़की के सामने ही खड़े हो गये इसलिए बाकी लोग फाटक के भीतर ही अटक गये. यह विदाई का क्षण था, फाटक से कुछ आगे गली के नुक्कड़ पर तांगा खड़ा था जिसमें मुझे स्टेशन पहुंचना था.

एकाएक एक अचरज भरी घटना घटी. दद्दा ने हंसते हुए कहा, ''अज्ञेय जी, अब आपके तो संस्कार जैसे हैं सो हैं और आप

तो मुसलमान बनकर भी न जाने क्या-क्या करते रहे होंगे; लेकिन हमारे लिए तो आप ब्राह्मण हैं और हमारे प्रणम्य हैं...'' और कहते-कहते एकाएक वह मेरे पैरों की ओर झुके. उनके हाथ घुटनों तक भी नहीं पहुंचे होंगे कि मैंने अपनी क्षण-भर की विमूढ़ता से जागकर उनके दोनों हाथ पकड़ लिये और उन्हें बलात् उठाकर अपने कंधों पर रखते हुए किसी तरह कहा, ''यह अनर्थ मत कीजिए... आप मुझे आशीर्वाद ही दीजिए... यदि उसके योग्य समझें तो...''

दद्दा ने फिर थोड़ा हंसते हुए कंधे थपथपा दिये. तब से जो वात्सल्य-सम्बंध बना, वह अंत तक रहा.

चिरगांव जाने से पहले दद्दा से पत्र-व्यवहार यों शुरू हो गया था कि जेल में ही मैंने साहित्य सदन, चिरगांव से उनकी दो-तीन पुस्तकें मंगायी थीं- भारत-भारती, जयद्रथ-वध और एक-आध और. सज़ा हो जाने के बाद जब मेरी बदली दिल्ली जेल से मुलतान जेल हो गयी तब मैंने ये पुस्तकें दिल्ली में ही अपने साथियों के पास छोड़ दीं. मुलतान जेल से मैंने एक पत्र सियारामशरण जी के नाम लिखा कि हो सके तो उन्हीं दो-तीन पुस्तकों की प्रतियां फिर मेरे पास भिजवा दें और यह भी लिखा कि सज़ा और बदली हो जाने के बाद से मेरी स्थिति ऐसी नहीं है कि पुस्तकें ऑर्डर देकर प्रकाशन से मंगा सकूं. इसी के जवाब में चिरगांव से एक बड़ा-सा पार्सल आया जिसमें दोनों गुप्त बंधुओं की तब तक प्रकाशित सभी पुस्तकें थीं. साथ ही दोनों के आत्मीयता भरे पत्र भी मिले. तभी से पत्र-व्यवहार आरम्भ हुआ.

जब आगरे के साप्ताहिक 'सैनिक' के बाद सम्पादन का भार मैंने स्वीकार किया तब तो चिरगांव की छोटी-छोटी यात्राएं एक साधारण बात हो गयी. मैं लगभग हर दूसरे सप्ताह एक यात्रा कर आता था- एक बार मेरठ की, जहां किसान आंदोलन से सम्बद्ध था और एक चिरगांव की.

दद्दा को नयी बात सुनने का बड़ा चाव था. इसके बाद उसका दूसरा चाव था नयी मशीन या नया-पुराना कैसा भी कल-पुर्जा देखने और संग्रह करने का. चिरगांव में साहित्य सदन का अपना प्रेस था और दद्दा बड़े उत्साह से उसकी हर मशीन दिखाकर उसकी एक-एक विशेषता समझाते थे.

मशीन का यह आकर्षण और मशीन की समझ दद्दा की एक विशेषता थी जो आकर्षक भी थी और आश्चर्यजनक भी. उसके साथ जुड़ा हुआ एक परिग्रह भाव भी था जो कम-से-कम मुझे कभी-कभी

अनाकर्षक भी लगता था. कुछ लोगों को वह दद्दा की एक मनोरंजक दुर्बलता जान पड़ती थी. यंत्र के मामले में यह कुतूहल गाड़ी और नये ढंग की झरना-कलम से लेकर मोटर और हवाई जहाज तक हर चीज़ के बारे में था और संग्रह करने की प्रवृत्ति का व्यवहार-पक्ष 'फाउंटेन-पेन' से लेकर मोटरगाड़ी तक तो मैंने प्रत्यक्ष ही देखा.

दद्दा यों तो बड़े व्यवहार-कुशल भी थे और सभा-चतुर भी और मुंशी अजमेरी के बराबर साथ रहने से मानो उनकी सभा-चातुरी लगातार सान पर चढ़ी रहती थी; लेकिन इसके साथ ही उनमें एक आश्चर्यजनक भोलापन भी था. कभी-कभी वह इतने सहज भाव से अपनी भूल या दुर्बलता स्वीकार करते थे कि उनके सामने चुप रह जाना पड़ता था.

काशी में राय कृष्णदास के यहां गुप्त जी ठहरे हुए थे. मैं भी दो-तीन दिन के लिए आया था. तय हुआ कि प्रसाद जी से मिलने जाया जाएगा. मुंशी अजमेरी भी साथ चले. मेरे लिए तो प्रसाद जी के दर्शन अविस्मरणीय हैं क्योंकि फिर उन्हें वैसे देखने का अवसर नहीं मिला और उस बार तो उन्हीं के मुंह से कामायनी के दो सर्ग भी सुनने को मिले– कामायनी तब लिखी जा चुकी थी, लेकिन उसका प्रकाशन अभी नहीं हुआ था. स्वागत-सत्कार के बाद जब सब लोग बैठ गये तो प्रसाद जी ने दद्दा से पूछा, ''मैंने आपको अपना कहानी-संग्रह भेजा था, वह आप को मिल गया?''

दद्दा ने संक्षिप्त से नमस्कार की मुद्रा के साथ कहा, ''हां, महाराज, वह तो मिल गया था.''

यह तो स्पष्ट ही हो गया कि उसकी पहुंच दद्दा ने नहीं दी थी; मैंने यह भी भांप लिया कि उन्होंने उसे पढ़ा भी नहीं, नहीं तो कुछ और अवश्य कहते. लेकिन प्रसाद जी ने फिर भी पूछा, ''आप ने पढ़ा? आप को कैसा लगा?...''

दद्दा ने बड़ी फुर्ती से उत्तर दिया, ''कहां पढ़ पाये-वह आते ही अजमेरी ले गये कि हम पहले पढ़ेंगे, सो वह अभी उनके ही पास है.''

अजमेरी तुरंत समझ गये कि मामला उन्हें सौंप दिया गया है, स्थिति उन्हें सम्भालनी है. प्रसाद जी की ओर उन्मुख होकर बोले, ''वह तो मैं पढ़ने ले गया था. मैंने सब कहानियां पढ़ लीं.''

थोड़ी-सी प्रतीक्षा के बाद प्रसाद जी ने पूछा,. ''आप को कैसी लगीं?''

उत्तर सुनने की जितनी उत्सुकता प्रसाद जी को या पीछे बैठे हुए मुझे थी, लगा कि उतनी ही उत्सुकता से दद्दा भी अजमेरी जी की ओर देख रहे हैं.

अजमेरी जी ने अतिशय विनीत स्वर में कहा, ''महाराज, सच कहूं तो कहानी तो उसमें सिर्फ़ एक थी.''

एक लगभग अदृश्य कुटिल हंसी दद्दा के होठों पर खेल गयी. राय कृष्णदास भी कुछ चकित-से दीख पड़े. प्रसाद के चेहरे का प्रसन्न भाव एक पल के लिए किसी छाया से मलिन होने लगा. तभी अजमेरी

जी ने अपनी बात में और जोड़ते हुए कहा, "बाकी तो सब कला के नमूने थे!" और इसके साथ-साथ हाथ से कली के खिलकर फूल होने की-सी मुद्रा दरसा दी.

प्रसाद जी के चेहरे पर से वह छाया टल गयी और वह बड़े प्रसन्न जान पड़े. लेकिन अब की बार राय कृष्णदास के चेहरे पर जो दबी-सी मुसकान थी वह कुछ दूसरी ही बात कह रही थी.

अनंतर जब विदा-सत्कार के बाद हम लोग इतनी दूर आ गये कि कही हुई बात प्रसाद जी तक न पहुंच सके, तब दद्दा ने कुछ ऐसे भाव से कि अब तक किसी तरह वह बात को रोके हुए थे, ज़ोर से कहा, "अरे अजमेरी, तुमने तो ऐसा सरसेटा..."

सरकार जी (राय कृष्णदास) कुछ बोले नहीं, भीतर ही भीतर मुस्कुरा दिये. उनका दद्दा और प्रसाद जी से समान सौहार्द था. प्रसाद जी की रचनाओं के प्रति गुप्त जी का मनोभाव विशेष सम्मान का नहीं है, यह वह जानते थे; लेकिन स्वयं प्रसाद जी की प्रतिभा में उनकी गहरी श्रद्धा थी.

और सभा-चातुरी के वह सच्चे पारखी थे!

दिल्ली में दद्दा के यहां जो दरबार जमता था उसमें प्रायः चुटकुलेबाज़ियां होती थीं और उपस्थित या अनुपस्थित परिचितों के बखिए उधेड़े जाते थे. मैं अगर कभी दरबार जुटने से पहले पहुंच जाता तो दद्दा से दो-चार बातें हो जाती थीं, नहीं तो पिछली पंक्ति में बैठकर चला आता. बल्कि तीन-चार अवसरों के बाद एक दिन दद्दा ने पूछा, "क्या बात है, अज्ञेय जी, आजकल आप बहुत चुप रहते हैं?"

परम्परा को तोड़े बिना कैसे आधुनिक हुआ जा सकता है, इसका उदाहरण हिंदू से लेकर यशोधरा तक की उनकी काव्य-यात्रा प्रत्यक्ष दिखाती है.

मैंने कहा, "ऐसी तो कोई बात नहीं है, दद्दा, लेकिन इस दरबार में मैं बात क्या करूं. इसमें केवल परनिंदा होती है और उसमें मेरी कोई खास दिलचस्पी नहीं है."

दद्दा को लगा कि यह दरबार की ही नहीं, उनकी भी आलोचना है. वह क्षण-भर चुप रहे. फिर एक अत्यंत निरीह और विरोध को निरस्त करने वाली मुसकान के साथ बोले, "हां, तो वह तो हम भी करते हैं. लेकिन आप से हम सच्ची बताएं, दुनिया में परनिंदा के बराबर कोई दूसरा सुख नहीं है" और एकाएक खिलखिला कर हंस पड़े.

दद्दा के वात्सल्य और उसके साथ जुड़े हुए आलोचना के एकाधिकार की बात कह चुका हूं. उसके दो उदाहरण यहां याद आते हैं: दोनों ही से उनके सार्वजनिक चरित्र पर ही नहीं, उनकी मूल्य-दृष्टि पर भी प्रकाश पड़ता है. 'शेखरः एक जीवनी' का प्रकाशन हुआ तो स्वभावतः मैंने पुस्तक उन्हें भी भेजी. पहुंच की लिखाई हुई सूचना तो तत्काल मिल

गयी, लेकिन उसके बाद और पत्र नहीं आया. जब मैं चिरगांव गया तो पहले सियाराम जी ने बताया कि दद्दा पूरी पुस्तक पढ़ गये हैं और इस बात पर थोड़ा आश्चर्य भी प्रकट किया कि दद्दा एक साथ ही पुस्तक पूरी पढ़ गये थे क्योंकि साधारणतया वह छोटी-छोटी किस्तों में ही पढ़ते थे. उनकी सूचना से कुछ साहस जुटाकर मैंने दद्दा से पूछ ही लिया कि शेखर उन्होंने पढ़ा या नहीं और कैसा लगा एकाएक उमड़ कर बोले, "मैंने पढ़ तो लिया और पढ़ते-पढ़ते कई बार मुझे क्रोध भी आया. लेकिन पुस्तक मैं बीच में छोड़ नहीं सका, रात के दो-ढाई बजे मैं समाप्त करके ही उठा." मैं कुछ कहूं इसका अवसर न देकर वह फिर बोले, "आप तो जानते हैं, हमारे संस्कार जैसे हैं उसमें ऐसी सब बातें हमको सहन नहीं होती- बिलकुल असह्य जान पड़ती हैं- लेकिन फिर भी आपने लिखा ऐसा है कि हम छोड़ ही नहीं सके."

'शेखर : एक जीवनी' की कई बातें- उसमें उठाये गये कई प्रसंग और उन्हें देखने का ढंग-दद्दा को बुरे लगेंगे यह तो मैं जानता था, लेकिन कुल मिलाकर उनकी राय को मैंने बहुत प्रशंसा ही माना. फिर उस समय मैंने और कोई प्रश्न उनसे नहीं पूछा. बाद में कई लोगों से उन्होंने उसकी प्रशंसा भी की और यही कहा, "उसकी लेखनी में बड़ा बल है."

पुस्तक की जो बातें दद्दा को नापसंद रही होंगी उनसे और भी अधिक नाराज़ होने वाले दूसरे भी लोग थे. दिल्ली के एक साप्ताहिक ने उपन्यास और उसके लेखक के विरुद्ध लम्बा अभियान चलाया था. दिल्ली में और ग्वालियर में सार्वजनिक सभाओं में उपन्यास की प्रतियां जलायी भी गयी थीं और भर्त्सना के प्रस्ताव पारित हुए थे. कुछ कट्टरपंथियों का और भी प्रबल समर्थन इस विरोध-अभियान को मिल गया था. परिणति यह हुई कि उत्तर प्रदेश हिंदी साहित्य सम्मेलन के आगरा अधिवेशन में एक भर्त्सना-प्रस्ताव लाने की योजना बनी. इस सम्मेलन में, जिसकी अध्यक्षता श्री पुरुषोत्तमदास टंडन कर रहे थे, पंडित श्रीनारायण चतुर्वेदी, पंडित किशोरीदास वाजपेयी, जगदम्बाप्रसाद 'हितैषी' और श्री मैथिलीशरण गुप्त भी उपस्थित होने को थे. (भर्त्सना का प्रस्ताव हितैषी जी का था और उसका समर्थन करने वाले शायद वाजपेयी जी थे.)

हितैषी जी बड़े उत्साह से सर्वत्र अपने प्रस्ताव की चर्चा कर रहे थे, इसलिए मुझे यह भी मालूम था कि वह विषय समिति के सामने है और अनंतर यह भी पता लगा कि वहां उस पर गरमागरम बहस हुई थी. लेकिन सम्मेलन के खुले अधिवेशन में यह प्रस्ताव नहीं आया. सुनी हुई बातों से इतना ही पता लगा कि टंडन जी ने यही राय दी थी कि प्रस्ताव न लाया जाए. प्रस्ताव की भावना से वह सहमत थे, यानी अज्ञेय पर अश्लीलता के प्रचार का जो आरोप था उसे वह निराधार नहीं मानते थे, लेकिन "हिंदी साहित्य सम्मेलन के मंच से हिंदी के किसी लेखक की भर्त्सना हो यह

सिद्धांततः ठीक नहीं है'' ऐसा मत उन्होंने प्रकट किया था.

वास्तव में हुआ क्या था यह दो-एक वर्ष बाद संयोगवश राय कृष्णदास से ही मालूम हुआ. उन दिनों भी दद्दा मुझ पर नाराज़ थे मेरी समझ में अकारण और किसी सुनी-सुनायी झूठी बात पर. मुझे इसका क्लेश था और उसका उल्लेख मैंने सरकार जी से किया था. उन्होंने मुझे आश्वस्त करते हुए कहा कि दद्दा स्वयं मुझ पर चाहे बिगड़ लें, दूसरों के सामने सदैव मेरा समर्थन ही करते हैं और उनके मन में कोई मैल नहीं है. अपनी बात की पुष्टि करने के लिए ही उन्होंने प्रादेशिक सम्मेलन वाली घटना का उल्लेख किया. उन्होंने ही बताया कि विषय समिति में उनके सामने ही जब प्रस्ताव आया तब इसके बावजूद कि उपन्यास के जिन अंशों अथवा कविता के जिन शब्दों पर आपत्ति की जा रही थी उन्हें गुप्त जी स्वयं नापसंद करते थे (और अपनी नाराज़ी दो-टूक शब्दों में स्वयं मुझ पर प्रकट कर चुके थे) वहां एकाएक तमतमा कर उन्होंने कहा, ''देखिए, टंडन जी, मैं तो एक बात कह सकता हूं, अज्ञेय को मैं यहां बैठे हुए सब लोगों से ज़्यादा अच्छी तरह जानता हूं और मैं कह सकता हूं कि उनके जैसा शीलवान व्यक्ति हिंदी में आसानी से नहीं मिलेगा.'' और एक बार तीखी नज़र से हितैषी जी की ओर देखकर उन्होंने जोड़ दिया था, ''और प्रस्तावक महोदय तो दस जन्म में शील के मामले में उनके आस-पास नहीं पहुंच सकते.'' और अपना वाक्य पूरा करके, बिना प्रतिक्रिया देखने के लिए रुके वह विषय-समिति की बैठक से उठकर बाहर चले आये थे. (टंडन जी ने अपना फैसला इसके बाद ही दिया था.)

सरकार जी से यह बात सुनकर मुझे आश्चर्य होना स्वाभाविक ही था क्योंकि स्वयं दद्दा ने कभी इस घटना का उल्लेख नहीं किया था— बाद में भी नहीं किया था और वहीं आगरे में कई बार मिलने के बावजूद भी नहीं. मैंने इसका अर्थ यही लगाया था कि वह एक तरफ़ यह बात कायम रखना चाहते थे कि मेरी रचनाओं में कुछ चीज़ें उन्हें अग्राह्य हैं और उनकी राय में गर्हणीय है; लेकिन दूसरी तरफ़ व्यक्तिगत स्तर पर अपना जो कर्तव्य समझते थे उसे करने में भी उन्हें कोई हिचक नहीं थी. इतना ही नहीं; जहां जो उन्होंने ठीक समझा वही किया तो वह मुझे बताना क्यों ज़रूरी हो?

दद्दा को खिलाने का बहुत शौक था; चिरगांव में इस शौक की पूर्ति वह लोगों को बेतवा पर पिकनिक के लिए ले जाकर किया करते थे और दिल्ली में हर अभ्यागत को आटे के लड्डू और खुरमा खिलाकर. लेकिन स्वयं उनकी रुचियां बहुत ही सादा और सीमित ढंग की थीं. पिकनिक पर तो दाल-बाटी चलती थी और वह उन्हें बेहद पसंद भी थी. बाकी जिसे वह स्वयं कभी गंवारू बुंदेलखंडी भोजन कहते थे वह उन्हें बहुत पसंद था: भुने हुए बैंगन (भटा), मिर्च का अचार और फलों में अमरूद और

बेर... हां एक कमज़ोरी उनकी अवश्य थी- बासी पूरी. चिरगांव में भी और दिल्ली में भी रात के भोजन के लिए या अतिथियों के लिए जब भी पूरी बनती तो वह बैठने पहले से ही आवाज़ लगाते या कहला भेजते कि उनके लिए पहले से चार पूरी अलग रख दी जाएं जिन्हें वह अगले दिन सवेरे खायेंगे. एक दिन मैंने हंसी में उनसे पूछा, "आप सामने बनती हुई ताजा पूरी छोड़कर बासी पूरी ही क्यों चाहते हैं?" मैं तो 'सकल पदारथ है जग मांही...' वाली बात कहता हूं, लेकिन मुझे तो बासी पूरी के बराबर कोई स्वाद नहीं जान पड़ता.' मैं हंसा तो उन्होंने फिर कहा, "आप से सच्ची बतायें, बासी पूरी का नाम सुनकर ही शरीर में रोमांच हो आता है!" मैं जोर से हंस ही रहा था कि एकाएक उन्होंने कुर्ते की आस्तीन चढ़ाते हुए कहा, "देखिये, देखिये, कहते-कहते अभी रोमांच हो आया!" और मैंने देखा कि उनकी बात अक्षरशः सही है.

इस तरफ़ दिल्ली के वातावरण में बार-बार लक्षित होने वाला देहातीपन और दूसरी ओर एक विलक्षण नागरता और सभा-चातुरी जो संसद भवन में भी बहुधा लोगों को अवाक् छोड़ जाती थी- दद्दा के सार्वजनिक चरित्र का यह एक मार्मिक अंश था. बहुत-से लोग इससे खासतौर से नाराज़ रहते थे क्योंकि दद्दा को पुरातनपंथी कहकर अप्रासंगिक करार देना भी उनके लिए सम्भव नहीं हो पाता था और दद्दा को स्वीकृति देकर उनके व्यंग्यों की मार सह लेना भी उनके लिए असम्भव था. दद्दा जब कहते थे, "मैं आगे आने वाले का जयजयकार" तब यह एक आलंकारिक युक्ति नहीं होती थी क्योंकि सचमुच नये के प्रति उनमें एक अद्भुत कुतूहल भी था, एक स्वागत का भाव भी. लेकिन साथ ही नये को कसौटी पर कसते रहना भी वह अनिवार्य समझते थे क्योंकि अतीत और भविष्य के सम्बंध की अचूक पहचान उनमें थीः "मैं अतीत ही नहीं, भविष्यत् भी हूं आज तुम्हारा."

परम्परा को तोड़े बिना कैसे आधुनिक हुआ जा सकता है, इसका उदाहरण हिंदू से लेकर यशोधरा तक की उनकी काव्य-यात्रा प्रत्यक्ष दिखाती है- बल्कि वह यह भी दिखाती है कि परम्परा को तोड़े बिना कैसे उसे प्राप्त करते हुए उससे मुक्त हुआ जा सकता है. गुप्त जी को मैंने 'प्रसन्न आधुनिक' इसीलिए कहा थाः आधुनिकता को बहुत-से लोग खंडित व्यक्तित्व और संत्रास के साथ जोड़ते हैं, लेकिन दद्दा लगातार उस रेखा पर जीते थे जहां यह विरोधाभास निरंतर हल होता चलता है. उन्हें 'सांस्कृतिक राष्ट्रीयतावादी' भी कहा जा सकता है और उतनी ही सच्चाई के साथ 'मानवतावादी' भी. और वैष्णव तो वह थे ही. शायद इन विरोधाभासों का लगातार निर्वाह ही उनकी असली चुनौती है. और शायद इसलिए एक अतिरिक्त अर्थ में भी वह विरोधाभासों के संगम पर पनपने वाले इस प्राचीन देश किंतु नये राष्ट्र के कवि हैं. ◻

महाभारत जारी है...

कलावाद का सच

• प्रभाकर श्रोत्रिय

समुद्र के किनारे किसी राज्य में एक धनी वैश्य रहता था. वह बहुत दानी और दयालु था. उसके अनेक पुत्रों की जूठन खाने वाला एक कौआ भी वहां रहता था. बच्चे उस कौए को स्वादिष्ट और पौष्टिक भोजन देते रहते थे. इससे वह बहुत पुष्ट और घमंडी हो गया था और अपने से श्रेष्ठ पक्षियों का अपमान कर देता था.

एक दिन समुद्र के तट पर मानसरोवर वासी राजहंस आये. वहां उपस्थित बच्चों ने उस कौए को खूब थिगाया. उन्होंने कहा, ''हे विहंगम तुम्हीं सब पक्षियों में श्रेष्ठ हो. इन आकाशचारी हंसों को देखो. ये आकाश में बड़ी दूर की उड़ानें भरते हैं. तुम भी इन्हीं के समान उड़ान भरने में समर्थ हो, यह बात अलग है कि तुम अपनी इच्छा से ही ऐसी उड़ान नहीं भरते.''

बालकों से ठगा या थिगाया गया कौआ मूर्खता और घमंड से उनकी बात को सच मान बैठा. जूठन पर अभिमान करने वाला वह मूर्ख, राजहंसों के पास गया और कहा, ''मैं तुम में से सर्वश्रेष्ठ हंस के साथ उड़ना चाहता हूं.'' कांव-कांव कर वह कौआ अभिमान दिखाने लगा.

उन हंसों में सर्वश्रेष्ठ चक्राङ्ग उसकी हेकड़ी देखकर हंस पड़ा. उसने समझाया, ''देखो, काक हम मानसरोवरवासी हैं. दूर तक उड़ने के कारण सारे पक्षी हमारा सम्मान करते हैं और तू दुर्बुद्धि काक, कौआ होकर भी हम चक्रांकित हंसों को लम्बी उड़ान के लिए ललकार रहा है? बता तो सही, तू हमारे साथ किस प्रकार उड़ेगा?''

कौए की जात अपनी आदत से कैसे बाज़ आती! उस टुच्चे कौए ने हंसों की बार-बार निंदा करते हुए कहा— ''हंसो, मैं एक सौ एक प्रकार की उड़ानें जानता हूं और सभी उड़ानें उड़ सकता हूं. उनमें से प्रत्येक उड़ान सौ-सौ योजन की होती है. सभी अद्भुत हैं. कुछ ही उड़ानों के नाम अगर तुम सुन लो तो चौंक पड़ोगे और मुझसे स्पर्धा करने का साहस खो बैठोगे.'' हंसों ने कहा, ''हम भी सुनें भला तेरी उड़ानों के नाम.''

कौआ घमंड से बोला, ''हां, हां सुनो- उड्डीन (ऊंचा उड़ना), अवडीन (नीचा

उड़ना), प्रडीन (चारों ओर उड़ना), डीन (साधारण उड़ान), निडीन (धीरे-धीरे उड़ना), संडीन (लालित्य से उड़ना), तिर्यग्डीन (तिरछा उड़ना), विडीन (दूसरों की नकल करते उड़ना), परिडीन (सब ओर उड़ना), पराडीन (पीछे की ओर उड़ना), सुडीन (स्वर्ग की ओर उड़ना), अभिडीन (सामने की ओर उड़ना), महाडीन (वेग से उड़ना), निर्डीन (परों को हिलाये बिना उड़ना), अतिडीन (प्रचंडता से उड़ना), संडीन डीन डीन (सुंदर गति से आरम्भ कर, चक्कर काटकर, ऊंचा उड़ना), डीन विडीन (एक प्रकार की उड़ान में दूसरी उड़ान दिखाना), सम्पात (क्षण भर सुंदरता से उड़कर पंख फड़फड़ाना), समुदीष (कभी ऊपर कभी नीचे उड़ना) और व्यतिरिक्त (लक्ष्य का संकल्प कर उड़ना.) अरे इन छब्बीस उड़ानों में एक को छोड़कर सभी के तीन-तीन भेद हैं. इनके भी 25 सम्पात हैं.''

''कहो तो मैं अभी इतनी उड़ानें दिखाता हूं कि तुम्हारे होश गुम हो जाएंगे. तुम कहो उस उड़ान में मैं उड़ सकूंगा. सब खूब सोचकर बताओ कि मैं किस उड़ान में उड़ूं? तुम भी मेरे साथ चलो. देखें लक्ष्य तक पहुंचने में कौन अधिक समर्थ है?''

उस बकवासी कौए की बातें सुनकर हंस ने हंसकर कहा— ''काक! तुम अवश्य ही एक सौ एक उड़ानें भर सकते हो, पर मैं तो एक सर्वविदित उड़ान ही भर सकता हूं. हे काक तू जिस उड़ान से उचित समझे उड़.''

यह सुन सभी कौए ज़ोर-ज़ोर से हंसने लगे. आपस में कहने लगे. ''भला यह हंस एक ही उड़ान से एक सौ एक उड़ानों वाले कौए से कैसे जीत सकता है? यह निपुण काक अवश्य ही इसे पराजित कर देगा.''

चक्राङ्ग और कौआ एक साथ उड़े. कौआ अपनी उड़ानों से सबको आनंदित कर रहा था. कौए खुशी से कांव-कांव करने लगे और हंसों का उपहास करने लगे.

हंस ने एक ही लय-गति से उड़ना आरम्भ किया था इसलिए वह कुछ समय तक कौए से हारता प्रतीत हुआ. कौए खुश हुए, इससे उड़ने वाला कौआ और जोश में भर गया.

कुछ दूर इसी कलाबाज़ी से उड़ते हुए कौआ थक गया था. आश्रय लेने के लिए कहीं द्वीप या वृक्ष नहीं दिख रहा था. चारों ओर पानी ही पानी... वह घबराकर अचेत सा होने लगा और सोचने लगा— ''मैं कहां उतरूंगा? नीचे समुद्री जीव मुझे खा जाएंगे. इस गम्भीर समुद्र की थाह भी कैसे पायी जा सकती है?'' समुद्र का ऐसा स्वरूप उसने देखा ही न था.

जब चक्राङ्ग ने देखा कि कौआ कहीं दीख नहीं रहा है, तब वह रुककर उसकी प्रतीक्षा करने लगा. आखिरकार थका मांदा कौआ हंस के पास आया. हंस ने देखा इसकी दशा बड़ी शोचनीय हो गयी है. अब यह पानी में डूबने ही वाला है. उसने सोचा कि इसका उद्धार कर दूं, पर तभी उसे

हंसी सूझी. उसने कहा— "काक! तू तो बहुत-सी उड़ानों का बखान कर रहा था पर इस गोपनीय रहस्यमयी उड़ान की बात तो तूने बतायी ही नहीं थी! यह कौन-सी उड़ान है काक, जिसमें तू अपने पंखों और चोंच द्वारा जल का बार-बार स्पर्श कर रहा है? बता-बता काक तू इस समय कौन सी उड़ान में है?''

कौआ जल में गिरने लगा, तो गिड़गिड़ाया और अपनी दयनीयता दिखाने लगा. उसने हंस से रक्षा की प्रार्थना की और कभी किसी का अपमान न करने की प्रतिज्ञा की.

वह महासागर में डूबने लगा— डूब ही जाता अगर हंस उसे अपनी पीठ पर बिठा कर न ले जाता.

यह कहानी कर्णपर्व में है. युद्ध के दौरान, कर्ण का सारथी शल्य उसे लज्जित, अपमानित और हतोत्साहित करने के लिए यह दृष्टांत कथा कहता है और प्रकारांतर से अर्जुन के अतुल बल और कृष्ण के प्रताप के सामने उसे तुच्छ बताता है, क्योंकि शल्य ने कर्ण के शत्रु युधिष्ठिर को यह वचन दिया था कि वह युद्ध में कर्ण का निरंतर अपमान करता रहेगा और उसे अर्जुन के आगे तुच्छ बतायेगा ताकि वह हीनताग्रस्त होकर निरुत्साहित हो जाए.

यहां इस कहानी का प्रयोजन कूटनीतिक और नकारात्मक है और कर्ण के प्रसंग में मिथ्या और उसका उपहार करने वाली यह अत्यंत मनोरंजक और शिक्षाप्रद कहानी है. झूठे अभिमान और मूर्ख-स्पर्धा की निंदा करती है. निरभिमानता, सरलता, विनम्रता और अनवरत कर्मव्यता की प्रशंसा यहां अंतर्निहित है.

कहानी प्रासंगिक भी है जो 'कला कला के लिए' मानकर वस्तु को नगण्य मानने का मखौल उड़ाती है. कला का अपना महत्त्व है, परंतु दृष्टिहीन और वस्तुहीन कलावाद कहीं नहीं पहुंचाता.

(कर्णपर्व-41)

उद्दंडता से कमीनेपन तक

उन दिनों आचार्य रामचंद्र शुक्ल नागरी प्रचारिणी सभा के 'कोष' को सम्पादित कर रहे थे. शब्दों की जांच हो रही थी. एक बार जब कार्यालय से वे घर लौट रहे थे तो रास्ते में किसी ने पूछा- ''आज कहां तक पहुंचे.''

'उद्दंडता' से शुरू किया था 'कमीनेपन' तक पहुंचा हूं भाई'', शुक्ल जी ने उत्तर दिया.

– श्रीकांत कुलश्रेष्ठ

मूमल-महेंदर

• सत्य
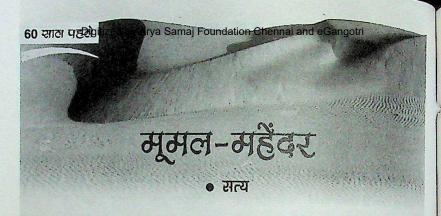
राजस्थान के अनुर्वर प्रांत का सह रस-उर्वर लोकगीत करुण रस का एक मर्मस्पर्शी काव्य है, जिसे श्री 'सत्य' ने 'नवनीत' के लिए संग्रह किया है.

जैसलमेर के लिए रवाना होने की तैयारी जब मैं कर रहा था, तो मित्र ने बड़ा दिलचस्प दोहा सुनाया :

घोड़ा कीजे काठ का, धड़ कीजे पाखाण
वस्तर कीजे लोह का, तो दीसे जेसाण

बात सही है. जैसलमेर राजस्थान का सबसे पुराना और उजाड़ शहर है. चारों ओर बालू के टीलों से घिरी हुई चांदनी, जिसने पसंद की थी और तब जिसने निर्णय किया था यहां शहर बसाने का, वह निश्चित रूप से कर्मठ कवि रहा होगा. जीवन की हर ज़रूरत से दूर रह कर, अपने कर्म पर विश्वास करके कोसों गहरा कुआं खोद कर पानी पीने वाले जैसलमेर के संस्थापकों की बहादुरी, लोक-जीवन में महिलाओं के गले में झंकृत होने वाली मीठी आवाज़ में आज भी उलाहना देती हुई कहती है :

जैसाणे मत देई मारा बावल, सासरियो
सासरियो ए लोल
लावत घसगी बाई री पगथली ए लोय
ईढूंणी में घसग्या बाई रा केस
घूंघटिये में घसगी बाई री चूंदड़ी
आता जाता टूटी पग री मोजड़ी,
जैसाणे मत देई मारा बावल, सासरियो
सासरियो ए लोल!

पीड़ा गहरी है, पर मीठी है, इसलिए कि शाश्वत है. ढोला-मारू के दूहों में एक दूहा है :

बाबा मत देइ मारूवां, बर कुंवारि रहेस
हाथ कचोलो, सिर घड़ो, सींचती य मरेस

"हे बाबा, मारवाड़ मत ब्याहना मुझे, भले कुंवारी रह जाउं. दिन भर हाथ में कटोरा और सिर पर पानी का घड़ा ढोते-ढोते ही जन्म बीत जाएगा."

जैसलमेर आज़ाद हिंदुस्तान की सीमा

पर है. बहुत अधिक विकास वहां नहीं हुआ है. बिजली की बत्तियां वहां जलने लगी हैं, एक रेस्तरां भी खुल गया है. पर अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं में सिकुड़ा हुआ राजस्थान का यह हिस्सा आज भी रेल के साधनों से वंचित है- आज की आगे बढ़ी हुई सभ्यता से विद्रूप भाव से सम्बद्ध और पिछड़ा हुआ है.

जैसलमेर के कुओं का पानी आज भी बहुत गहरा है और वहां की सुंदरियों के गले में आज भी पानी ढोने के प्रति एक खास शिकायत है.

मुझे तो जैसलमेर जाना ही था, लेकिन आज काठ के घोड़े की ज़रूरत नहीं है, न यही ज़रूरी है कि हमारा शरीर फौलादी हो. लोहे के कपड़े न हों, तो भी जैसलमेर पहुंचा जा सकता है.

जैसलमेर या तो बाड़मेर से लॉरी द्वारा जा सकते हैं अथवा पोकरन से. जोधपुर से पोकरन जानेवाली गाड़ी में बैठ कर मैं सुबह पोकरन पहुंच गया. वहां से लॉरी द्वारा सिर्फ़ 6-7 घंटे का ही रास्ता था.

जैसलमेर के बाहरी भाग में गड़ीसर तालाब है. इस शहर को पानी देने वाला एकमात्र स्थान. यह प्रकृति की कृपा के अनुसार ही जैसलमेर की जनता को पानी दे सकता है. लोगों का ऐसा विश्वास है कि जब तक कोई खास किस्म का और जबर्दस्त पाप नहीं हो जाता, गड़ीसर का पानी खत्म नहीं हो सकता.

जैसलमेर के चारों ओर खिंचा हुआ परकोटे का द्वार लारी के लिए खुल गया है. रेतीले मार्गों के पास से गुज़र कर हमारी लारी परकोटे में घुसी और मैं अपनी ससुराल पहुंच गया.

शाम को भोजन करने बैठा, तो गीतों की ध्वनि मेरे कानों में पड़ी. छह-सात गंधर्व-कन्याएं गीत गा रही थीं :

कांयसूं तो भीजी बाई थारी कांचली,
कांयसूं टूट्यो नवसर हार?
आसूं सूं भीजी कांचली,
डुसका सूं टूट्यो नवसार हार...
मेघड़ लो जड़ मोंडियो.

''बहन, तेरी कंचुकी किसके स्पर्श से गीली हो गयी है और किस आघात से तेरा नवलखा हार टूट-फूट गया है? सखि, आंसू से मेरी कंचुकी भीग गयी है और हिचकियों से मेरा नवलखा हार टूट गया है...''

सारा परिवार एक नये अतिथि का आदर-स्वागत कर रहा है. जैसलमेर छोटा है पर इसमें बहुत-कुछ है. प्रेम और विश्वास का यह दायरा बहुत मुलायम हृदय चाहता है. मुझे खेद है कि पत्थर का धड़ और लोहे के कपड़े पहन कर जैसलमेर जाने की बात कहनेवाले को मैं यह समझा नहीं सकूंगा.

पड़ौस की 'मां-सासू' ने बड़े प्यार से, मेरे चरण-स्पर्श-प्रणाम का उत्तर देते हुए कहा- ''हां बेटा, तुम जैसों को आकाश में ढूंढ़ रहे थे, धरती पर मिल गयेः आभे में जोवतां, धरती में लाभा!''

लारी में, बाड़ी, सागर, मूलसागर, के बागों के आनंद लेते हुए हम जैनियों के तीर्थस्थल 'लुघ्रवा' पहुंचे.

पवित्र, स्वच्छ मंदिरों के अतिरिक्त पांच-सात घर!

लुघ्रवे के पीछे हिस्से में पत्थर की बड़ी-बड़ी शिलाओं की एक मेड़ी (कुटिया) बनायी हुई है. यहां मूमल अपने प्रेमी महेंदर का इंतज़ार किया करती थी. यहीं उसने अपने प्राण विसर्जित कर दिये!

''...कथा पुरानी है'', मेरे मित्र, गोपीकिशन ने कहना आरंम्भ किया-

''...जैसलमेर की प्राचीन राजधानी थी, यहां लुघ्रवा में. यहां के नरेश की कन्या सुंदरी मूमल अमरकोट के महेंदर को प्यार करती थी. महेंदर अपनी सांढ़नी पर बैठकर रोज़ अपनी प्रेयसि के पास आता और नींद से झुक-झुक जाने वाली मूमल की आंखों में नशे के डोरे चमकने लगते.

''एक दिन मूमल की बहिन सूमल ने आग्रह किया कि वह भी उसके प्रियतम को देखेगी— केवल देखना भर चाहती है अपने जीजा को.

''मूमल ने उसे समझाया. वह न समझी, तो खुद समझ गयी. उसने सहज भाव से कह दिया- 'हां'

''सूमल पुरुष के वेश में पत्थर की मेड़ी में मूमल के साथ आ गयी. उधर महेंदर की दौड़ती हुई सांढ़नी की टांग में मोच आ-गयी. अतः महेंदर निश्चित समय तक नहीं आ सका और सुबह के प्रकाश के साथ खिन्न-मलिना मूमल की वेणी के फूल मुरझाने लगे. मूमल, सूमल को अपनी जांघ पर सुलाए महेंदर का इंतज़ार कर रही थी.

महेंदर आया, तो उसने मूमल को एक पुरुष के साथ देखा. प्रेम सहिष्णु हो सकता है, पर आत्मसम्मान से विहीन नहीं. उसने अपने जूते द्वार पर खोले और लौट गया. फिर वह मूमल के पास कभी नहीं आ सका. ज़िंदगी भर वह उसका इंतज़ार करती रही.''

...और उसी दिन चांदनी रात में लारी के पिछले हिस्से में बैठी महिलाओं ने मूमल गाना शुरू कर किया :

आकाश-पक्षी की तरह तैरते जानेवाली स्वर-लहरी, मूमल और महेंदर की आत्मा को किस हद तक शांत कर सकी, इस विषय में मैं स्वयं निरुत्तर हूं. पर, गीत की मिठास को मैं कभी भूल नहीं सकूंगा-

काली रे काली काजलिये री रेख हो,
हां रे कालोरे कांठल में चमके बीजली,
म्हारी बरसाले री मूमल,
हालै नी ए आलीजै रे देस.

न्हायो मूमले माथयियो रे मेट सूं
हांजी रे कड़िया तो राल्या मूमल केसड़ा
म्हारी जग मीठी मूमल
हालै नी ए आलीजै रे देस.

सीसड़लो मूमल रो सरूप नारेल ज्यूं
हांजी रे केसड़ला माड़ेची रा वासग-नाग ज्यूं

म्हारी जग वाली ए मूमल
हालै नी ए आलीजै रे देस.

नाकड़लो मूमल रो खांडइये री धार ज्यूं
हां जी रे आंखड़ल्या रंगभीनी री रतनालियां
म्हारी हरियाली ए मूमल
हालै नी ए अमराणै रे देस.

पेटड़लो मूमल रो पींपलिये रे पान ज्यूं
हांजी रे हिवड़लो मूमल रो सांचे ढालियो
म्हारी नाजुकड़ी मूमल
हालै नी ए रसीले रे देस.

जांघड़ली मूमल री देवलिये रे थंभ ज्यूं
हां जी रे साथलड़ी सपीठी पींडी पातली
म्हारी माड़ेची मूमल
हालै नी ए आलीजै रे देस.

जायी रे मूमल इये लोद्रवाणे रे देस में
हां जी रे माणी रे मूमल ने राणै महंदरे,
म्हारी जेसाणे री मूमल
हालै नी ए अमराणै रे देस.

"मूमल की सुंदर आंखों में कजरारे काजल की पतली रेखा, पर्वतों पर चमकने वाली बिजली की तरह चमक रही है. वर्षाऋतु की देवी मूमल, कंत के देश को चल.

"मूमल ने अपना सर मेट से धोया है, पीठ तक फैला दिये है सूखने के लिए केश. जगमीठी मूमल, आलीजा के देश को चलो न!

"मूमल की नाक खांडे की धार की तरह तीखी है. रतनारी और रस से भरी हुई है मूमल की आंखें. अमृत-भरी मूमल, अमरकोट चलो न!

"मूमल के होंठ रेशम के तारों की तरह बारीक और कोमल हैं. उसके दांत अनार के दानों की तरह है. पावस की हरियाली की तरह प्रेमियों के हृदय को सुगंधित करनेवाली मूमल, प्रेमी के देश की ओर चलो!

"मूमल का पेट पीपल के पत्ते की तरह है और वक्षस्थल सांचे में ढला हुआ. कोमलांगी मूमल, पिया के देश को चलो.

"मूमल की जंघा देवालय के खम्भ की तरह हैं- साथल-सपाट और पिंडली पतली है. हमारी माड़देश की मूमल, आलीजा के देश की ओर चलो.

"मूमल लोध्रवा में पैदा हुई, राणा महेंदर ने उसे मान दिया. जैसाणे की मूमल, अमरकोट की ओर चलो.

एक ओर किवदंती याद आती है. मूमल और महेंदर का विवाह हो गया था लेकिन जब वह मूमल को विदा करके ले जा रहा था, उस समय शत्रुओं से बहादुरी के साथ लड़ता हुआ मारा गया.

महेंदर अमरकोट का ऐतिहासिक व्यक्ति है. इतिहास की आंख से इस सम्बंध में बहुत कुछ खोजने को है. पर, जो महिलाएं अभी-अभी गीत गा रही थीं, वे जिस सहृदयता के साथ मूमल के प्रति आत्मीयता और सौंदर्य-सामीप्य महसूस कर रहीं थीं, उसके लिए किसी भी शर्त के साथ किसी भी दृष्टिकोण की आवश्यकता नहीं है.

(नवनीत, नवम्बर 1952)

शांति से मरूंगा मैं

• डॉ. रणजीत

शांति से मरूंगा मैं
बिना किसी कष्ट के
मैंने जीवन को भरपूर जिया है
भर-भरकर पिया है प्याला
और छलकाया उसे चारों ओर
संघर्ष किया है मैंने उदग्रीव- ऊर्ध्वबाहु
जुल्म से जबर से
यही नहीं कि सफल ही रहा हूं सदा
उसमें
हारा भी हूं
हुआ हूं हताश भी अनेक बार
पर गम नहीं पाला उस हार का
टूटा नहीं हूं कभी.

शांति से मरूंगा मैं
मुझे प्यार करती है
अब तक भी मेरी प्रिया
मान देते हैं मुझको
मेरे अपने बच्चे
मन में मेरे धधक नहीं रही है कोई
ईर्ष्या की आग
न ही धुंधवा रही है कोई
लोभ की लकड़ी
न उसमें जाले ही बुन रही है कोई
महत्त्वाकांक्षा की मकड़ी
एक दीया जलता है आत्मसम्मान का
अपने मनुष्य होने के भान का.

शांति से मरूंगा मैं
लुका-छिपा बंद कर
तिजोरियों में, कोठरियों में
मैंने नहीं रखा है जीवन का रस रंग
होली के रंगों की तरह
भर-भरकर पिचकारियों में, डोलचियों में
मारा है प्रियजनों के, परिजनों के तन-
मन पर
बाल्टी की बाल्टी उड़ेला है.

शांति से मरूंगा मैं
स्वप्न-ध्वंस भ्रमभंग मेरे सब हो चुके
कभी के
दंश उनके सहकर निकल आया मैं
पचास से पहले ही
अब नहीं है कोई भ्रम
टूटकर जो तोड़े मुझे.

सपना कुल संसार का
भरपेट सोने का
स्वस्थ-सुखी होने का
रखे है मुझको भी स्वस्थ सुखी.

शांति से मरूंगा मैं
नहीं हूं ऐसे किसी जन का सहारा मैं
बेसहारा जो हो जाए
मेरे मर जाने के बाद
छोड़ जाऊंगा मैं सबके लिए कुछ न कुछ
सभी धन्यवाद देंगे.

शांति से मरूंगा मैं
मेरी आंखें
अंधेरे में टटोल रही
किसी दलित अल्पसंख्यक को
शोषित-पीड़ित स्त्री को, बच्चे को
किन्हीं भी दो दृष्टिहीन लोगों को
देंगी नवजीवन का प्रकाश
गुर्दे भी काम आ जाएं शायद
किन्ही ज़रूरतमंदों के
नष्ट नहीं करूंगा लेकिन
शेष बचे तन को भी
जलाकर या दफना कर
पढ़ें इसे एक पाठ्य पुस्तक की तरह छात्र
चिकित्सा विज्ञान की प्रयोगशाला में
एक नया अर्थ मिले
इस निरर्थक अवशिष्ट को भी

यही सब सोचते हुए
शांति से मरूंगा मैं
बिना किसी कष्ट के!

कगार के दरख्त

• डॉ. कृष्णा श्रीवास्तव

गृह परिवार के बंधन किसी नारी के लिए कितने अजनबी-से होते हैं इसका अहसास मीना को शिद्दत से हो रहा था. कहां तो सोचती थी कहीं भी रहे क्या फ़र्क आता है, जब जी चाहा अपने बचपन के शहर की गाड़ी में बैठकर चल दो. लेकिन उसका यह सोच 'आकाश कुसुम' बनता जा रहा था. मन कितना भी मचले घर की ज़िम्मेदारियों से निजात कहां, छत पर जा प्रातः की लालिमा को महसूसना और संध्या-समय खुले क्षितिज में सूर्य का डुबकी लगाना केवल यादों में है वह भी कभी-कभी. नहीं तो घर के पचीसों झंझटों से दो-चार होते रहना ही पूरी दिनचर्या बन गया है.

कई वर्षों के अंतराल के बाद उसे बचपन के घर में जाने का अवसर सुलभ हो ही गया. वही बचपन की क्रीड़ा स्थली, पुराना घर, घर के बड़े-से आंगन में बाबूजी के हाथों रोपा वह अमरूद का पेड़ जिसके फल आज तक उसे खाने को नहीं मिले, फलों से लदा पड़ा था. कितनी हरीतिमा लिये हुए अम्मा कह रही थीं-

"देख. बिटिया, तोरे आवैं से ई बेरा कैसन लहलहाय कै फरा है?" पहले कितना फला यह तो वह नहीं जानती थी, परंतु इस समय हरे-हरे और कुछ पीलापन लिये अमरूद लटक रहे थे. वृक्ष फल-भार से झूल रहा था विनम्रता का प्रतीक बना. जितना चाहो उससे ले लो कोई अपेक्षा नहीं, मात्र हवा, पानी की दरकार तथा माटी का प्यार चाहिए. यह सब उसे निरंतर उपलब्ध था.

वृक्ष से स्वयं फल तोड़कर खाने का आनंद वह जानती थी. बचपन में न जाने कितने बेर कच्ची अमियां, गदराई इमली यहां तक कि उसके कोमल खट्टे पत्तों का स्वाद भी उसने लिया है. न जाने कितनी चीज़ें उदरस्त कर चुकी है. फिर मायके पहुंचते ही उम्र के किसी भी पड़ाव में बचपन उतर आता है अंतर में, उम्र का बंधन मन नहीं मानता, उसने बिना झिझक एक बड़ा-सा अमरूद तोड़ पोंछकर खाना शुरू कर दिया, अम्मा उसकी यह हरकत देख खुश हो गयी.

"मीना. खूब मीठ है कि नाहीं?"

"हां अम्मा. बड़े मीठे और स्वाददार हैं. हम तो पहली ही बार खा रहे हैं न?"

"हां. वही तो?" कहकर अम्मा तो बेटी के आगमन से उसके स्वागत सत्कार में लग गयी. आयु के भार से झुकी कमर

बड़ी दयनीय लग रही थी, पर बेटी के आंगन की चौखट से अतीत में झांकने लगी थी. जब वह बी.ए. कर रही थी तभी तो बाबूजी ने इलाहाबाद से खरीद कर उसको घर में रोपा था. बड़े प्यार और आशा से हम बढ़ना देख रहे थे. हर छुट्टियों में जब आते कई इंच उसे बढ़ा पाते.

उन्हीं दिनों बाबूजी के मित्र सैय्यद अली चाचा एक बार घर आये थे. बाबूजी के बचपन के मित्र उनके लगोंटिया यार. बाबूजी ने बड़े उत्साह से दिखाया था "देख यार. मैंने इलाहाबाद के अमरूद का पौधा लाकर आंगन में रोपा है."

सैय्यद चाचा ने पौधा देख मज़ाक उड़ाया था, "क्या रे शिवा. इसका इस जनम में कब फल खायेगा? रिटायर होकर कब्र में पैर लटकाये बैठा है. सीधे बाज़ार से फल न लाकर पेड़ लगा उसके इंतज़ार में बैठा रहेगा."

बाबूजी हंसे थे– "अरे सैय्यद. कितना स्वार्थी है कभी अपने से ऊपर उठ, मैं न सही, मेरे बच्चे और उनके बच्चे इसके फल ज़रूर खायेंगे. तू अगले जनम में आकर देखना. हर काम अपने लिए थोड़े ही करता हूं, अगली पुस्तों के लिए भी तो कुछ छोड़ जाना चाहिए. धन-दौलत तो है नहीं, औलाद ही मेरा धन है. उनके लिए ही ये वसीयत है. बड़ा होकर ही यह पेड़ हमारे होने का अहसास करायेगा. और अगर ईश्वर ने चाहा तो मैं और तुम भी इसके फलों का स्वाद चख पायेंगे.

सच ही कहा था बाबू जी ने. बाबू और सैय्यद चाचा दोनों ही उस वृक्ष के मीठे फलों का आनंद ले सके थे.

सैय्यद चाचा बाबू जी के सहकर्मी भी थे. दोनों की लम्बी दोस्ती में मज़ाक का तड़का लगता रहता था. वे मज़ाक बनाने का एक भी अवसर न छोड़ते और बाबूजी उनकी हर कोशिश को नाकाम करते या अतिरिक्त मोड़ देने में न चूकते. दोनों हंसते, पर कभी किसी बात में मन मुटाव जैसी स्थितियां नहीं पैदा होने देते थे यही उनकी दोस्ती का मूल मंत्र भी था. मध्यम काठी, भम्मो काली दाढ़ी फहराती हुई, सांवला रंग हमेशा शेरवानी और चूड़ीदार पैजामे में सजे, कभी-कभी सिर में लम्बी तुर्की टोपी भी होती. घर में सबसे छोटी बिटिया और छोटे भाई लल्लू का बेहद लाड़ करते, लेकिन लल्लू छोटेपन में उनको देख डर जाता था. अंदर भागता अथवा घर वालों के पीछे छिपकर चुपके-चुपके झांककर देखता. सैय्यद चाचा को चाय-पानी के लिए पूछना घर में छोटी होने के कारण उसके ही जिम्मे था. लल्लू को साथ देख वे आंखें मटकाते और लल्लू उसके पीछे छिप जाता था. नमस्ते चाचा जी कहते ही वे दुआ देते, "खुश रहो, जहीन हो."

लल्लू थोड़ा बड़ा हुआ तो वह बाबू जी के साथ अक्सर बैंक चला जाता, सैय्यद चाचा देखते ही उसे छेड़ते-बाबू जी हंसकर कहते थे– "सैय्यद यार. डरा मत बच्चे को. अपना यह रूप बदल, तो शायद तुम्हारे पास आये. सैय्यद चाचा ईद पर सीधे हलवाई से मिठाई बनवा उससे ही घर भिजवाते जिससे छुआछूत में गहरा विश्वास रखने वाली भाभी भी उन मिठाइयों का सेवन करें. घर आकर कहते, "देख यार मैंने मिठाई छुई नहीं. भाभी से कहना वे भी ईद की मिठाई खायें." बाबूजी संजीदा हो कहते– "देख यार मैं तो साथ रोज खाता हूं न. पुरानी परम्परा को तोड़ने में थोड़ा तो समय लगेगा न? इंसानियत का भी यही तकाजा है. समझाया तो है तुम्हारी भाभी को, देखो कब समझ आती है."

एक बार वह लल्लू का हाथ पकड़ अम्मा के कहने पर कुछ काम से बैंक गयी थी. फोन बिजली की कोई सुविधा तो थी नहीं, तो बात को बताने के लिए स्वयं जाना होता. क्या कहने गयी थी याद करने पर भी याद न आया, 'लेकिन वह स्थिति सजीव थी– बैंक के फाटक के पास से देखा सामने से सैय्यद चाचा तेज़ी से दफ़्तर की ओर चले आ रहे थे. उनकी लम्बी दाढ़ी हवा में लहरा रही थी. मोटा हो गया शरीर और दूर से तेज़ी से हिलते हाथ, शायद उन्हें देर हो गयी थी अथवा कोई और कारण रहा हो. पास आते ही बोली, नमस्ते 'चाचा जी.' उन्होंने दुआ दी रुककर–खुश रहो जहीन बनो बिटिया. लल्लू पास ही बड़ी हिम्मत [illegible] सिकुड़ा खड़ा था. चाचा ने प्यार से लल्लू सिर के बाल बिगाड़ते हुए छेड़ा- "कैसे हो कालू जी."

लल्लू तब छह वर्ष का चंचल लड़का था– बिना रुके तुरंत बोला, "अच्छा हूं भालू जी.'

इस उत्तर की कतई उससे अपेक्षा न थी. अब तक दब्बू बना रहने वाला छिप-छिप-छिपकर चाचा को देखने वाला इतनी शोखी से उत्तर देगा? अचम्भे में थी मैं और चाचा. चाचा का चेहरा तो देखने लायक था जैसे घड़ों पानी पड़ गया हो. पिता की उम्र के चचा से इतनी शेखी से बात करे? कुछ कहते न बना था उनसे. खिसियानी हंसी हंसते चले गये थे– "बड़ा वाचाल हो गया है."

घर लौटते समय उस पर बहुत नाराज़ हुई थी– "तुमने चचा से ऐसी बात क्यों की, बाबूजी नाराज़ होंगे. बड़ों से ऐसी बदतमीजी से बात करते हैं क्या? उन्हें भालू क्यों कहा भला?"

वह बड़े भोलेपन से बोला– "वे भी तो भालू जैसे दिखते हैं न? तुम ही तो मुझे भालू का नाच दिखाने ले जाती थीं. जैसे भालू करता था वैसे ही तो वे भी कर रहे थे, उसी की तरह तो चल रहे थे न?" उसके प्रतिउत्तर में चुप ही रहना ठीक समझा था.

शाम को बाबूजी को बैंक से वापस आया देख वह डरकर छिप गया था. बाबूजी ने उससे उस समय कुछ भी नहीं कहा था, परंतु बाद को समझाया था प्यार से, फिर

अगर प्यार से तुम्हें कोई कुछ कहे तो बड़ों को ज़वाब नहीं देना चाहिए समझे. वह भी चुपचाप जी कहकर हट गया था.

बाबूजी ने कई वर्ष बाद बताया था– सैय्यद चचा ने अंदर पहुंचकर बाबू जी से कहा था– ''यार, तेरा शर्मीला डरपोक बेटा तो बड़ा वाचाल हो गया है, मुझे भालू कह रहा था?''

बाबूजी ने भी उन्हें छेड़ा था– ''अरे वाह. क्या पहचाना है मेरे बेटे ने तुमको, मान गये, आज उसकी जाकर बलैय्या लूंगा. पहले भी कहता था तुमसे बेडोल मत बढ़ते जाओ, दाढ़ी को संवारो- नहीं तो आज अनजाने में लल्लू ने कहा है कल दूसरे भी कहने लगेंगे.'' दोनों ही ठहाका लगाकर हंसे थे.

अम्मा ने आवाज़ दी, ''आओ बिटिया कमरे में यही बैठें.'' मीना का ध्यान टूटा था. बैठकर एक दूसरे के दुख-सुख के क्षणों को आस-पड़ोस की एवं ससुराल की जानकारी ली-दी थी. दूसरे दिन बाबू जी किसी काम से बाहर गये थे. बाहर का दरवाजा खटका तो बचपन की आदत के अनुसार तुरंत उठकर उसने दरवाज़ा खोला. सामने सैय्यद चचा खड़े थे. एकदम सफेद दाढ़ी, थोड़ी पहले से कमज़ोर हो गयी काया- ''अरे आप चचा. नमस्ते.''

''नमस्ते बेटा. खुश रहो नाम कमाओ. कैसी हो कब आयी ससुराल से,'' एक साथ इतने प्रश्न, मिलने का परमानंद चेहरे पर पसरा था.

''कल ही आयी चचा. बड़े कमज़ोर हो गये हैं? क्या तबियत खराब है? आइए अंदर बैठिए. बाबू जी तो घर पर नहीं हैं.'' हाल-चाल पूछने पर उनके झुर्रीदार चेहरे पर धंसी आंखों में गीलापन उतर आया था.

बोले- ''इधर गांव से आना हुआ था, सोचा शिवा से मिल लूं. फिर कभी मिलना होता है या नहीं? हम तो कगार के दरख्त हैं, न जाने कब मिट्टी खिसक जाय. अच्छा हुआ तुम मिल गयी बिटिया, भाभी को हमारा सलाम कहना. तुम्हारा बेटा कहां है?''

वे पूछ ही रहे थे तभी बिल्लू दौड़ता हुआ बाहर आ गया पांच छह वर्ष के बिल्लू को देख वे हंसे– बोले ''अब इसे बिलौटा नहीं कहूंगा- कहीं यह भी तुम्हारे भाई जैसा कुछ कह बैठा तो अब तो मुंह छिपाते भी नहीं बनेगा.'' उनकी मजाकिया वृत्ति अब भी बनी हुई थी.

''देखो नाना जी आये हैं, नमस्ते करो.''

''नमस्ते नाना जी'', उसने हाथ जोड़ दिये, चचा ने झुककर बिल्लू की पेशानी चूम ली– ''खूब बड़े हो जाइए. अब चलूंगा बिटिया वह होता तो थोड़ी देर बैठता, कह देना मैं आया था, बहुत दूर हो गया हूं, अब चलना भी नहीं होता.'' उस दिन वे दरवाज़े से ही वापस चले गये थे. जाते-जाते फिर कहना न भूले थे कगार के दरख्त हैं हम तो अब बिटिया न जाने कब धक्का लगे और गिर जाएं.

एक हफ्ते बाद ही घर लौटना था. अंतिम दिन लौटने का समय था. बाबू जी के पास संदेशा आया था. उनके मित्र सैय्यद अली का कल इंतिकाल हो गया! ❑

जूले... कसम से...

● सतीश जायसवाल
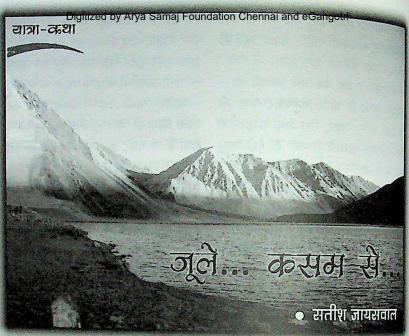
अपने स्कूली दिनों में मैंने एक यात्रा-निबंध पढ़ा था. वह सम्भवतः पेशावर से काबुल की रेल यात्रा पर केंद्रित था. उस यात्रा-निबंध में दुर्गम ऊंचाइयों वाले बंजर और ऊसर पहाड़ों को नंगे पहाड़ बताया गया था. स्कूली दिनों में पढ़े गये नंगे पहाड़ों का अर्थ इतने दिनों बाद लद्दाख में जाकर मैं समझ पाया.

लद्दाख में हरित हिमालय भी है और ऊसर काराकोरम भी. दोनों साथ-साथ चलते हैं. काराकोरम बंजर है और एकदम नंगा. इस पर एक हरी पत्ती की छाया तक नहीं. लद्दाख में मुझे न पेड़ों की छाया मिली, न पंछियों के बसेरे.

काराकोरम का दुर्गम फैलाव यहां से मध्य-पूर्व तक चला गया है. इस पर वह पुराना व्यापारिक मार्ग भी है, जिस पर से होकर, यहां से पश्चिम एशिया तक, व्यापारियों का आना-जाना बना रहता था. कारगिल के कश्मीरियों का व्यापार अमृतसर से लेकर पश्चिम एशिया में, यारकंद तक फैला हुआ था. वह व्यापार घोड़ों और याकों के ज़रिये होता था. लेकिन मुझे लद्दाख में घोड़े नज़र नहीं आये. आज व्यापारिक आवागमन के साधन बदल गये हैं. और लद्दाख में तो दुनिया की सबसे ऊंचाई पर बनी हुई वह सड़क है जिस पर मोटरों का आना-जाना होता है.

लद्दाख पहुंचने के लिए दो रास्ते हैं. एक हिमाचल की तरफ़ से आयें तो रोहतांग दर्रे से होकर. और दूसरा यह, सीधे श्रीनगर

से होकर, जो दुनियाभर में चिनार की रंगीन पत्तियों और केसर की क्यारियों के लिए जाना जाता है.

यह चिनार का मौसम नहीं था. फिर भी मैंने उसी रास्ते को पकड़ा तो इसलिए कि मैं कुछ देर तक 'सिंधु दर्शन यात्रा' के उन यात्रियों के साथ शामिल होना चाहता था जो मालूम नहीं कहां-कहां से आ रहे थे. इससे पहले हम कभी नहीं मिले थे. बाद में फिर मिलना हो या ना हो, कुछ पता नहीं.

गुजरात से आये किसी यात्री ने रास्ते में कहीं कश्मीर की चेरियां खरीदकर रख ली थीं. यही चेरी अब एक मुठ्ठी से दूसरी मुट्ठियों में होती हुई बस के सभी यात्रियों तक पहुंचने लगीं. थोड़ी-थोड़ी चेरियां और थोड़े-थोड़े मुट्ठियों के स्पर्श एक-दूसरे को आपस में जोड़ने लगे. सामने वाली सीट पर बैठी एक सुघड़ महिला ने पीछे मुड़कर मुझसे पूछा, ''पेंगांग झील देखने साथ चलेंगे ना? कल का कार्यक्रम बन रहा है.''

सोनमार्ग में मुझे अतुल, पुष्पहास और महेंद्र से मिलना था. लेकिन मैंने सुघड़ महिला से कहा, ''पेंगांग झील देखने हम साथ-साथ चलेंगे. मेरे लिए अपने पास जगह रखिएगा.''

इतनी-सी देर में आपसदारी के रिश्ते पनपने लगे थे. बस के ये लोग मुझे दिल्ली-श्रीनगर फ्लाइट में मिले उन लोगों से अच्छे और सभ्य लगे जो अति धार्मिकता से भरे हुए थे और अमरनाथ की पवित्र गुफा के दर्शन के लिए जा रहे थे. हवाई जहाज के उड़ान भरते ही उन्होंने सामूहिक रूप से जयकारे लगाये थे और बकाया यात्रियों को और किंगफिशर फ्लाइट के कर्मचारियों को भौंचक कर दिया था.

सोनमार्ग तक हरियाली वाला रास्ता था. सोनमार्ग पीछे छूटते ही हम बादल, बारिश और कंपकंपाती हवाओं से घिर गये. अब हम जोजीला दर्रे में दाखिल हो रहे थे. कश्मीर घाटी की हरियाली, यहां से पीछे छूटने लगती है. ऊंचे-ऊंचे पहाड़ और उन पहाड़ों का रास्ता ऊपर और इन पहाड़ों को ढंक लेने वाले बादल अब नीचे दिखने लगते हैं. नागपुर वाले यात्रियों ने गाड़ी रुकवायी और बादल, पानी, कटखनी हवाओं के बावजूद बाहर निकल आये. उन्होंने पहाड़ की कगार पर अपने ट्राई-पाट गड़ा दिये और अपने कैमरे दायें-बायें, ऊपर-नीचे घूमने लगे. तीनों अच्छे फोटोग्राफर हैं.

हमारे सामने एक असाधारण दृश्य था. कम-से-कम 5 हज़ार मी. नीचे, चंदनबाड़ी दिख रहा था. चंदनबाड़ी के शिविर दिख रहे थे. उन शिविरों में अमरनाथ के तीर्थयात्री टिके हुए थे और अपनी-अपनी बारियों के इंतज़ार में थे. वहां से चंदनबाड़ी के दोनों हेलीपैड भी दिख रहे थे. थोड़ी-थोड़ी देर के फासले में हेलीकॉप्टर उड़ रहे थे और तीर्थ-यात्रियों को ला और ले जा रहे थे. उड़ान भर रहे हेलीकॉप्टर हरी-हरी पहाड़ियों के बीच, कहीं गुम हो जाते और सहसा भीगी-भारी बदलियों पर उपककर दिखने लगते. इससे पहले हमने

हवाई जहाज को ज़मीन से ऊपर, आसमान की तरफ़ उड़ते देखा है. उनको देखने के लिए सिर ऊपर उठाना पड़ता है. वहां हम बादलों से ऊपर खड़े थे और हवाई जहाज की उड़ानें देखने के लिए नीचे झांक रहे थे.

जोजीला दर्रे से द्रास का पहाड़ी इलाका शुरू हो जाता है. हरियाली पीछे छूट चुकी होती है और बंजर पहाड़ों के बीच से निकलने वाला रास्ता ऊपर और ऊपर ही चढ़ता जाता है. बादल नीचे पड़ने लगते हैं. थोड़ी देर में बादल नीचे छूट गये और पहाड़ साथ चलने लगे. बदली, पानी में रास्ता भटक गयी धूप भी आकर साथ हो गयी. तीसरे पहर की थकी-मंदी धूप में हम द्रास पहुंचे. उस समय चाय की तेज़ तलब हो रही थी. वहां, बीच शहर में, तिराहे पर हमें एक बड़ा-सा और खुला-खुला-सा होटल मिला. हमने वहां बैठकर चाय पी.

होटल के ठीक सामने, बहुत बड़े दरवाज़े के भीतर लड़कियों का इस्लामी स्कूल था और दरवाज़े से बाहर उस स्कूल का साइन बोर्ड था. वह दरवाज़ा आगरा के बुलंद दरवाज़े की तरह दिख रहा था. और लड़कियों का वह स्कूल किसी किलेबंदी की-सी सुरक्षा में था या कैद में सुरक्षित था.

वह स्कूल छूटने का समय था और लड़कियां बाहर निकल रही थीं. सबने सलीकेदार सफेद कपड़े इस तरह पहन रखे थे कि उनके बाल और उनके कान ढंके रहें. शायद यह उनका ड्रेस-कोड होगा. बाज़ार में और सड़कों पर नज़र आने वाले लोगों के चेहरे लाल हो रहे थे. सुर्ख से कुछ कम, फिर भी खूब लाल. ऐसा यहां की खूब तीखी और कटखनी ठंड की वजह से होता है. चेहरा फटने लगता है और लाल चकत्ते पड़ने लगते हैं. यही 'स्नो बर्न' है. बर्फ से जलना?

द्रास को दुनिया में दूर नम्बर का सर्वाधिक शीतवाला रिहायशी इलाका बताया जाता है. यहां का तापमान शून्य से 40 डिग्री तक नीचे चला जाता है. शीत के ऐसे ही मौसम में भारत और पाकिस्तान के बीच कारगिल का वह युद्ध जैसी स्थिति कहा गया था. उस युद्ध जैसी स्थिति में सबसे भारी मारा-मारी इस द्रास सेक्टर में हुई थी. द्रास को लद्दाख का प्रवेश-द्वार कहा जाता है. और यहां के लोग इस प्रवेश-द्वार के रखवाले बताये जाते हैं.

द्रास से कारगिल की दूरी, मुश्किल से 60 कि. मी. होगी. हम सूर्यास्त से पहले पहुंच गये. सूर्य अभी तक बस्ती से बाहर ठहरा हुआ था.

करगिल आज मुस्लिम बहुल है लेकिन आज से ठीक पहले वाले दिनों में यह बौद्ध प्रधान था. और बौद्धों से भी पहले यह कबीलाई इलाका रहा होगा. इस्लाम का प्रवेश तो यहां अठारहवीं सदी में हुआ. फिर भी यहां के रहन-सहन में इसका कबीलाईपन अभी तक कायम मिलता है.

कारगिल शहर किसी कटोरे की तरह, चारों तरफ़ से पहाड़ों से घिरा हुआ है. वो कटखनी-ठंडी हवाएं यहां नहीं पहुंचती

जिनसे चेहरे झुलस जाते हैं. सियाचिन होटल के हमारे कमरे की खिड़की से पहाड़ एकदम नज़दीक दिखाई दे रहे थे. और उन पर बर्फ पड़ी हुई थी.

गहराती शाम के समय हम कारगिल में पैदल घूमते रहे. उस बस्ती को महसूस करने की कोशिश करते रहे जिसने दस बरस पहले किसी युद्ध जैसी स्थिति को झेला था. हमें वैसे कोई निशान नहीं मिले.

लद्दाख में हरित हिमालय भी है, और बंजर काराकोरम भी. दोनों शृंखलाएं साथ-साथ चलती हैं और संगीत की एक अनोखी पीत-हरित जुगलबंदी करती हैं. हिमालय तो हरा-भरा है ही, काराकोरम के बंजर विस्तार का बुनियादी रंग पीला है. किसी दृश्यबंध का एक स्वरलिपि में यह रूपांतरण जादुई होता है. और लद्दाख में वह जगह-जगह घटित होता है.

मेरी नींद में सपने होते हैं, सपनों में पानी और पानी के कई रूप. कभी नदी तो कभी समुद्र, झील होती है या नहीं? याद नहीं पड़ता. यदि सपनों में कोई झील होगी तो वह ऐसी स्फटिक की तरह पारदर्शी नीले जल वाली होगी, जैसी पेंगांग झील मेरे सामने थी. और मेरा मन बस के यात्रियों के बीच उस सुघड़ महिला को तलाश रहा था, जो सामने वाली सीट पर बैठी थी और उसने पीछे मुड़कर मुझे आमंत्रित किया था- "पेंगांग झील देखने चलेंगे ना?"

वहां सब कुछ थिरा हुआ था. सपने की तरह, झील भी, पहाड़ भी और आकाश भी. वहां पेड़-पत्तियां भी नहीं थीं जो हवा के साथ डोलती हैं और उनसे हलचल होती है. हम लोग वहां पहुंचकर सन्नाटा तोड़ रहे थे. झील में हल्की-हल्की लहरें चल रही थीं. संतूर की कोमल ध्वनितरंग-सी या फिर किसी अच्छी अनाहत नींद में उठ रही सांसों की हल्की लय-सी.

जब हमने झील का किनारा छोड़ा, तब झील में आकाश झांक रहा था. और नीले पारदर्शी जल में बंजर पहाड़ की पीली परछाई डुबकियां ले रही थी.

पेंगांग झील 134 कि.मी. लम्बी है. इसका मात्र 44 कि.मी. हिस्सा ही भारत में है. बकाया 90 कि.मी. चीन के हिस्से में है. झील का जल एकदम ठंडा था बर्फ की तरह. वह जल स्पर्श हमारी अनुभूतियों को सक्रिय करता है और हमें झील के उस छोर से जोड़ता है, जो चीन में है.

इस झील तक पहुंचने के लिए हमें चांग-ला दर्रा पार करना पड़ा. इतनी ऊंचाई पर हवा विरल हो जाती है और सांस लेने में दिक्कत होने लगती है. अनुभवी लोगों ने बताया कि कपूर की एक डली की पोटली बनाकर साथ रख लेनी चाहिए. बीच-बीच में उसे सूंघते रहने से सांस की तकलीफ महसूस नहीं होती.

लद्दाख हिम-मरु प्रदेश है. इसकी नुब्रा घाटी को दुनिया के सबसे बड़े हिम-मरुओं में गिना जाता है. इस हिम-मरु में पहाड़ों का रंग वैविध्य इतना मधुर है कि एक मन के सम्भाले सम्भाला नहीं जाता. और कोई आदमी अपने लिए दूसरा मन कहां से लेकर आये? एक तरफ़ हिमाच्छादित हिमालय की

नीली-बैंगनी झाईं मन को छूती है. दूसरे बाजू को पकड़कर ऊसर-घूसर काराकोरम हिमालय के साथ दौड़ रहा है, होड़ ले रहा है.

यहां पीले रंग का जादू था. और दूर निचले मोड़ पर निश्चित पड़ा एक अकेला हिम तेंदुआ धूप-स्नान कर रहा था. धूप के रंग के साथ उसका शरीर ऐसे घुल-मिल रहा था कि आंखों को धोखा होने लगे. फिर भी वह दिख रहा था. इससे पहले मैंने कोई हिम तेंदुआ नहीं देखा था. हिम तेंदुआ नुब्रा घाटी की शान है. नुब्रा घाटी यहां से अभी दूर है, फिर यह अकेला हिम तेंदुआ यहां कैसे चला आया? समझ में नहीं आया. हम खारदुंगा ला के रास्ते पर हैं.

पीछे छूटती जा रही काली पहाड़ी सड़क हमारे साथ लुका-छिपी का पारम्परिक खेल खेल रही थी. एक मोड़ के पीछे छिपती ती किसी अगले मोड़ पर झांकती मिलती. और उससे भी अगले मोड़ पर निकलकर एकदम से सामने आ जाती. अपनी तरफ बुलाती धूप में नदियां चमक रही थीं. पूरी घाटी किसी बड़े लैंडस्केप में बदल रही थी, जैसे ऊंचाई से नीचे आते हुए हवाई जहाज की खिड़की से दिखता है.

नीचे अभी तीखी धूप थी और गर्मी लग रही थी. हमने अपने गर्म कपड़े पीछे वाली सीटों पर फेंक रखे थे. अब ठंड लगने लगी. यहां तेज़ बर्फीली हवाएं चल रही हैं और हमारे गर्म कपड़े को भेदकर सीधे हड्डियां हिला रही हैं. हाथों में कंपकंपी है और पैर भी सीधे नहीं पड़ रहे हैं. लेह से खारदुंग ला की दूरी 40-45 कि.मी. से अधिक नहीं है. लेकिन इतनी-सी दूरी में मौसम में इतना फर्क?

सामने बहुत बड़े साइन बोर्ड पर लिखा है कि इस समय हम दुनिया की सबसे ऊंची

सड़क पर हैं. निशानी के तौर पर साथ ले जाने के लिए अच्छी और चुनिंदा उपहार सामग्रियां भी सेना की इस कैंटीन में मिलती हैं. मैंने कुछ रंगीन टोपियां, बोन चाइना की खूबसूरत प्लेटें और मग खरीदे. इन पर खारदुंग ला के चित्र बने हुए हैं. और लिखा है– खारदुंग ला 17, 800 फीट की ऊंचाई पर, दुनिया की सबसे ऊंची सड़क.

इतनी ऊंचाई पर पहुंचकर जहां मोटरों के आने-जाने लायक सड़क दुनिया में कहीं और नहीं, मेरे मन में एक अजब-सा कुतूहल जागा कि यहां से नीचे झांकने पर कैसा दिखेगा? निचले पहाड़ कैसे दिखेंगे, कोई छोटी-मोटी बस्ती सामने होगी, पड़ोसी देशों का नक्शा ज़मीन पर बिछा होगा? पूरब की तरह म्यांमार के उत्तर में चीन या पश्चिम में स्वात घाटी, जहां बामियान के विध्वंस से आहत बुद्ध की खंडित प्रतिमा इतिहास के सामने अपना साक्ष्य दर्ज करा रही होगी?

लद्दाख बौद्ध बहुल है. किसी बौद्ध विहार (मोनेस्ट्री) को दिन के तीसरे पहर में देखना मन को कितने बीहड़ सूनेपन से भर देने वाला होता है? यह बीहड़ सूनापन मैंने हेमिस विहार के एक वीतराग लामा की आंखों में देखा. वह निपट अकेला बैठा शून्य में निहार रहा था. जिस पहाड़ी श्रृंखला पर हेमिस का यह बहुमंजिला विहार है, उस पहाड़ी से लेकर, उतरते जून के सपाट आसमान तक वीतराग लामा की आंखों का शून्य व्याप्त था. इस शून्य में कहीं कोई जगह नहीं थी जहां उसकी दृष्टि को थोड़ा भी विराम मिल सके. वहां एक असहाय निस्सारता थी जिसमें जीवन के किसी भी अर्थ, किसी भी मान्यता के लिए कोई जगह नहीं बचती.

उसने गैरिक रंग का चीवर पहना हुआ था. किसी बौद्ध लामा की स्मृति-शून्य और रस-रंग विहीन जीवन में यह गैरिक रंग ही एकमात्र रंग होता है जिसका कामिक स्पर्श उसके मन को स्पंदित करता होगा. बौद्ध लामाओं को उनके बचपन में ही उनके माता-पिता और घर-परिवार से अलग करके विहारों में रखा जाता है. यहां उन्हें कठोर धार्मिक प्रशिक्षण दिया जाता है. एक बार विहार में प्रवेश के बाद वह लामा फिर कभी पारिवारिक जीवन में नहीं लौटता. उसकी स्मृतियों में ना परिवार होता है, ना जीवन.

हेमिस विहार को लद्दाख का सबसे बड़ा और धन-समृद्ध विहार बताया जाता है. वहां बताया गया कि इस समय डेढ़ हज़ार से भी अधिक लामा यहां रहते हैं. अर्थात एक छोटी-मोटी बौद्ध बस्ती?

एक के बाद एक सीढ़ियां चढ़ते हुए जब हम सबसे ऊपर वाली मंजिल पर पहुंचे, तब हमारी सांसें फूल रही थीं. और मैं सीढ़ियों की गिनती भूल चुका था. वहां एक नन्हे लामा ने मुस्कुराकर हमें देखा. उसकी उम्र मुश्किल से 8-10 वर्ष होगी. यह उसके हंसने और खिलखिलाने की उम्र थी. वह सीढ़ियों पर खड़ा दूर देख रहा था. वहां से सिंधु नदी दिख रही थी. उतरते सूर्य की धुंधली लालिमा नदी पर पड़ रही थी.

नदी का जल मटमैला दिख रहा था. नदी की धार मंथर थी.

विहार में रहनेवाले लामा अपने निस्तार के लिए उतनी दूर से पानी लाते होंगे. पानी लेकर लौटना और यह कठिन पहाड़ी चढ़ाई चढ़ना उनके नित्य-कर्म में शामिल होगा. यह कठोर दिनचर्या नन्हे लामा के लिए भी होगी?

बौद्ध विहारों के प्रार्थनागृह और गोंपा (बौद्ध मंदिर) सुबह के समय हलचलों से और ध्वनियों से भरे होते हैं. मंत्रों और धर्म-पदों के पाठ हो रहे होते हैं. ये पाठ ध्वनि प्रधान होते हैं. ध्वनियां किसी तार-वाद्य के सबसे मोटे तंत्र की तरह मोटी और धातुज होती हैं. ये ध्वनियां प्रार्थनागृह के अंधेरे को गूंज से भर देती हैं और बाहर, दूर तक फैलती चली जाती हैं. हेमिस विहार का प्रार्थना गृह भी वैसा ही है, अंधेरे की रहस्यमयता से भरा-भरा और एक किस्म के भारीपन से थिरा-थिरा, जैसे किसी बौद्ध विहार के प्रार्थना गृह होते हैं. लेकिन अभी प्रार्थना का समय नहीं था. इसलिए वहां नीरवता थी.

इस नीरवता पर अचानक ही कोलाहल का आक्रमण हुआ. दो-तीन बड़ी-बड़ी टैक्सियों में भरकर कहीं से कुछ टूरिस्ट अपने परिवारों सहित पहुंचे और उन्होंने अपनी धमा-चौकड़ी से प्रार्थना गृह को हिलाकर रख दिया. अपने लद्दाख पर्यटन के प्रमाण स्वरूप उन्होंने जहां-तहां खड़े होकर अपने फोटो खींचे-खिंचवाये. वहां जो भी स्पर्श वर्जित था, उसे छूकर देखा. वे सब किसी आंधी की तरह आये थे और अपने पीछे तबाही के निशान छोड़कर चले जाने वाले तूफान की तरह निकल गये.

मैं वहां कुछ देर ठहरकर वहां व्याप रही नीरवता के साथ संवाद करना चाहता था. लेकिन इस अप्रत्याशित आक्रमण ने मन को खिन्न करके रख दिया. बाहर वीतराग लामा था, उसकी सूनी आंखें भी और वहां व्याप रहे शून्य का विस्तार था. मैंने वीतराग लामा से कहा, "जूले!"

"जूले!" वीतराग लामा का जवाब मंत्रवत् था. लद्दाख में जब लोग मिलते हैं तो एक-दूसरे के अभिवादन में जूल कहते हैं. इसमें स्वागत भी है और विदा भी.

अभी से 50-60 बरस पहले जब वीतराग लामा को उसके माता-पिता ने इस विहार में लाकर छोड़ा होगा, तब यह भी 8-10 बरस का रहा होगा. तब नन्हे लामा की तरह इसकी आंखों में भी चमक रही होगी. लेकिन चेहरे की मुस्कान माता-पिता के साथ वहीं घर में छूट गयी होगी. तब किसने किससे कहा होगा-"जूले"?

इन दिनों लद्दाख के पहाड़ी बीहड़ों और बौद्ध लामाओं के बीहड़ जीवन पर केंद्रित ऐसी फिल्में बन रही हैं, जिनमें रस और रंग का स्पर्श होता है. और जीवन की स्मृतियां होती हैं. ऐसी फिल्मों में यहां के दुर्गम रास्ते आकर्षक लगते हैं. रास्ते भर मिलने वाले गोंपा और बौद्ध स्तूप एक अबूझ-सी धार्मिकता रचाते हैं. यथार्थ में भी यहां के गोंपाओं और स्तूपों की संख्या गिनी नहीं जा सकती. ऐसा लगता है कि

लद्दाख में गोंपा और स्तूप ज़मीन से उगते हैं.

सिंधु नदी को वेद वर्णित बताया जाता है, यह वर्णन मेरा पढ़ा हुआ नहीं है. सिंधु के साथ मेरा जुड़ाव पढ़े हुए होने का नहीं बल्कि अनुभूतियों का है. मेरी ये अनुभूतियां इतिहास-बोध से स्पंदित होती हैं. दुनिया की दो सबसे पुरानी सभ्यताएं जिन दो नदियों के किनारे विकसित हुईं, उनमें से एक है मिस्र की नील नदी और दूसरी यह सिंधु. यहां लद्दाख में मुझे उसके प्रथम दर्शन हुए.

लद्दाख के सदर मुकाम-लेह से कोई 10-12 कि.मी. पर सिंधु तट है. नदी तट को (सिंधु दर्शन महोत्सव) के लिए रंग-बिरंगी झाड़ियों और बंदनवारों से सजाया गया था. कनातों से घेरकर 'सिंधु दर्शन यात्रियों' के लिए बड़े-बड़े पंडाल बनाये गये थे. एक तरफ़ नदी-पूजा के लिए वैदिक कर्मकांडों की तैयारियां हो रही थीं. दूसरी तरफ़ श्रद्धालु यात्री नदी में उतरकर नहा रहे थे. और मैं? किनारे खड़ा ललचा रहा था. खुद को कोस रहा था. बदलने के लिए कपड़े साथ लेकर आया होता तो मैं भी सिंधु-स्नान करता. यहां नदी रेतीली है और उसका प्रवाह मंथर है. नदी-तट को पक्के घाटों से बांध दिया गया है. पिंडलियों भर पानी में उतरकर मैंने सिंधु जल को अंजुली में लिया और सूर्य को अर्घ्य दिया. फिर उस जल का आचमन किया.

यहां पहुंचने से पहले सिंधु का एक रूप मेरे मन में था. वह कोई वेगमयी नदी होगी और उसका जल हिम-शीतल होगा, जैसा एक पहाड़ी नदी को होना चाहिए, लेकिन सिंधु का जल यहां लाल मटमैला है. पहाड़ी नदी मुझे किसी मैदानी नदी की तरह शांत और थिरी हुई मिली. वह किसी प्रगल्भ नायिका की तरह मंदाक्रांत दिखी. जैसे उसे किसी एकांत की तलाश हो. जैसे उसे किसी से मिलना हो. लेकिन वहां यात्रियों की भीड़ थी, जो दूर-दूर से आये हुए थे.

लद्दाख के सामाजिक, राजनीतिक संदर्भों में यहां के विचारों या मोनेस्ट्रियों की बड़ी अहम भूमिकाएं होती हैं. और इन विहारों को नियंत्रित करनेवाले लामाओं के हाथों में निर्णायक शक्तियां होती हैं.

लद्दाख के सामाजिक, राजनीतिक संदर्भों में यहां के विचारों या मोनेस्ट्रियों की बड़ी अहम भूमिकाएं होती हैं. और इन विहारों को नियंत्रित करनेवाले लामाओं के हाथों में निर्णायक शक्तियां होती हैं. सिंधु महोत्सव के सांस्कृतिक, राजनीतिक स्वरूप को ऐसे शक्तिसम्पन्न लामाओं ने कुछ प्रत्यक्ष और कुछ परोक्ष रूप से स्वीकार कर लिया है. उनके सहयोग से यहां कुछ ऐसे प्रस्ताव रखे जा सके, जिनमें एक अलग किस्म के सांस्कृतिक-जातीय भूगोल की प्रस्तावना मिलती है. इसके सामाजिक संदर्भ भारत

में रहनेवाले विस्थापित तिब्बतियों के साथ बन रही किन्हीं नयी समितियों के संकेत देते हैं.

वहां भोट जनजातीय भाषा को राजभाषा का दर्जा देने और आठवीं अनुसूची में शामिल करने की मांग भी की गयी. लद्दाख के इस हिस्से में भोट जनजाति का प्राधान्य है. लेकिन आम बोल-चाल की भाषा, यहां हिंदी बोली जाती है. दुर्गम जनजातीय इलाकों में भी बहुत अच्छी हिंदी बोली जाती है, और बहुत अच्छे से समझी जाती है. जिन लोगों या संस्थानों के सम्बंध हिंदी के अभियान से जुड़े हुए हैं, उनके लिए यह समझना उपयोगी होगा कि यह कैसे हुआ और किनके प्रयासों से हुआ? और इस पर तो अभी सोच-विचार शुरू करना होगा कि लद्दाख में भोट को राजभाषा बनाने के प्रस्ताव पर हिंदी भाषायी समर्थन का स्वरूप क्या होगा.

उस समय सिंधु तट गीत-संगीत से गूंज रहा था. इस भाषा में कोई द्वंद्व, कोई संशय नहीं होता. संगीत की धुन पर लोग थिरक रहे थे. पहले कुछ लोग थे. फिर ऐसा हुआ कि पूरा पंडाल ही खाली हो गया और सबके सब उनके साथ मिलकर नाचने लगे.

कभी, किसी तीर्थाटन से घर लौट रही कोई सद्गृहिणी मुझे रास्ते में मिली थी. और जैसा होता है, रास्ता काटने के लिए आपस में बातें होने लगीं. बातों में अपने-अपने सुख-दुख शामिल हो गये. इसी बीच इच्छाएं भी पनपी होंगी. जो किसी और की स्त्री है वह किसी और के लिए परस्त्री ही हुई थी? लेकिन अब इच्छाओं की साझेदारी हो जाती है तो फिर अपने-पराये का भेद कहां रह जाता है? परस्त्री ने इच्छा जताई-वहां लद्दाख में तुम जो भी सुंदर अलौकिक देखो, वह मुझे बताते जाना.

नदी, पहाड़, पहाड़ों पर बने बौद्ध विहार-गोंपा, जहां भी सिग्नल मिलता वहां से मैं अपने सेल फोन पर उसे बताता रहा. और अब, कल सबेरे वाले जहाज से यहां से चल देना है तो मैंने उससे पूछा कि यहां से उसके लिए क्या लेकर आऊं?

परस्त्री ने रंगीन पत्थरों वाले एक कंठहार के लिए कहा. मैं वही ढूंढ़ता लेह के बाज़ार में घूम रहा हूं. यह बाज़ार प्राचीन तिब्बती कलाकृतियों या एंटिक्स की दुकानों से सजा-धजा है. बौद्ध परम्परा और तिब्बत के संदर्भों से सम्बंधित अंग्रेज़ी साहित्य भी इन दुकानों में भरपूर है. बाहर से आनेवाले सैलानी इसके अच्छे ग्राहक होते हैं.

शाम की रंग-बिरंगी रोशनियों में यह बाज़ार, बाज़ार कम कोई मीना बाज़ार अधिक लगता है. कांच के शो विंडोज में सजाकर रखे हुए रंगीन पत्थरों वाले आभूषणों पर रंग-बिरंगी रोशनियां पड़ती हैं तो यह मीना बाज़ार किसी कैलिडोस्कोप में बदलने लगता है, जिसके हर कोण से अनेक नयी आकृतियां झिलमिला रही होती हैं.

यह कैलिडोस्कोप इस समय बौद्ध मंत्रों वाले रहस्यमय संगीत की ध्वनियों से गूंज रहा है. दुकानों में इस बौद्ध संगीत के सी.डी. भरे हुए हैं और प्लेयरों पर बज

रहे हैं. इसमें रहस्यमयता के साथ-साथ शुचिता और पवित्रता भी व्याप्त है. किसी सुरम्य घाटी की गहराई से क्रमशः ऊपर उठती ध्वनि की तरह यह संगीत फैल रहा है. उसका स्पर्श अपने एकाकी मन को किसी आस्था से जोड़ता है

बाज़ार में दो तरह के दाम चलन में मिले. एक- घरेलू घुमंतुओं या वी. इंडियंस के लिए. और दूसरा- बाहर से आनेवाले 'ओव्हरसीज' सैलानियों के लिए. दोनों दामों में बड़ा फर्क मिला. मोल-भाव की जबर्दस्त गुंजाइश भी. यह ऊंचा बाज़ार भी है. इस ऊंचे बाज़ार के अलावा एक किफायती बाज़ार भी है. 'तिब्बती मार्केट' जहां यहां की तरह सजावटी दुकानें नहीं हैं, लेकिन सामान सब कुछ वही है जो यहां है. वहां दाम यहां से आधा होता है और मोल-भाव की गुंजाइश पूरी. इस नुस्खे को मैंने मज़बूती से पकड़ा और भरोसे के साथ आजमाया.

तिब्बती मार्केट में भोटिया स्त्रियों का आधिपत्य है. ये स्त्रियां कुशल दुकानदार होती हैं और ग्राहकों का विश्वास जीतना जानती हैं. मैंने कुछ कम उम्र की एक दुकानदार को विश्वास में लिया और उसे बता दिया कि मुझे किसी परस्त्री के लिए रंगी पत्थरों वाला एक कंठहार चाहिए. लेकिन मुझे कुछ समझ में नहीं आ रहा है.

उसने रंगीन पत्थरों वाला एक कंठहार निकालकर मेरे सामने रख दिया. फिर कम उम्र की उस लड़की ने पके हुए आत्मविश्वास के साथ कहा, ''इसे ले जाइए. उनको पसंद आयेगा. कसम से!'' फिर उसने एक जोड़ा कर्णफूल सामने रखा और कहा, ''यह कंठहार के जोड़ का है. यह भी साथ ले जाइए. उन पर खूब सजेगा. कसम से!'' उसने ऑफर दिया, ''एक साथ लेने पर मैं दाम कम कर दूंगी.''

जिसे वह जानती भी नहीं, उसकी पसंद और उसकी सजावट के बारे में वह कितने व्यावसायिक आत्मविश्वास के साथ बात कर रही थी. अपनी बात को वज़न देने के लिए वह बार-बार 'कसम से' कह रही थी. मोल-भाव के अपने नुस्खे को मैंने भरोसे के साथ आजमाया और उसके बताये दाम के आधे से अपनी बात शुरू की. इस पर उसने हताश होकर कहा, ''इतने में तो सर मेरी अपनी घर की खरीदी नहीं पड़ती कसम से.''

उसका यह 'कसम से' कहना मुझे बहुत अच्छा लगा. मैंने उसे बताया कि मैंने तो उसका नाम ही रख दिया है, कसम से.

कम उम्र की उस लड़की ने अपना यह नाम मंजूर किया. उसने मुझे धन्यवाद दिया और कहा, ''यह मैं अपने दोस्तों को बताऊंगी. कसम से!''

अब कल सबेरे जब मैं लेह के हवाई अड्डे से परस्त्री को फोन करूंगा तो उसे बताऊंगा कि यह दुनिया का सबसे ऊंचा हवाई अड्डा है. समुद्र तल से 10,082 फीट की ऊंचाई पर. फिर मैं उसे बताऊंगा कि मैं उसके लिए रंगीन पत्थरों वाला कंठहार लेकर आ रहा हूं और साथ में उसके जोड़ का कर्णफूल भी. ❑

नागालैंड का राज्यवृक्ष- भिदुर

• डॉ. परशुराम शुक्ल

भिदुर बेटुलासी परिवार का वृक्ष है जिसमें दो वंशों के वृक्ष पाये जाते हैं- 'बेटुला और एल्नस.' बेटुला वंश में बर्च समूह के वृक्ष आते हैं तथा एल्नस वंश में 'आल्डर' समूह के. इन दोनों समूह के वृक्षों में अनेक भिन्नताएं पायी जाती हैं. बर्च समूह के वृक्षों के फलों के कवच के शल्क पतले होते हैं और फल के साथ ही ज़मीन पर गिर जाते हैं, जबकि आल्डर वंश के वृक्षों के फलों के कवच मोटे और लकड़ी जैसे होते हैं. ये फल के ज़मीन पर गिरने के बाद भी छोटे से शंकु के रूप में वृक्ष पर बने रहते हैं.

भिदुर एल्नस वंश का वृक्ष है. विश्व में एल्नस वंश की 35 जातियां पायी जाती हैं. इस वंश के वृक्ष नाइट्रोजन योगिकीकरण का काम करते हैं. अतः बहुत प्रसिद्ध हो गये हैं. एल्नस वंश के वृक्ष बड़े विविधतापूर्ण होते हैं. इनमें झाड़ियों से लेकर विशाल वृक्ष तक पाये जाते हैं. भिदुर एक विशाल वृक्ष है. इसका वैज्ञानिक नाम एल्नस नेपालेन्सिस है. अंग्रेज़ी में यह 'आल्डर', 'इंडियन आल्डर' 'नेपालीज आल्डर' आदि नामों से जाना जाता है. नेपाल में भिदुर के वृक्ष बहुत हैं. यहां इसे 'यूटिस' कहते हैं. भिदुर वृक्ष म्यामार में भी बहुत अधिक संख्या में पाये जाते हैं. म्यामार में इन्हें 'माईबू' कहा जाता है.

भिदुर उपउष्णकटिबंधीय पर्वतीय क्षेत्रों का बहुत उपयोगी वृक्ष है. यह उप-उष्ण कटिबंधीय क्षेत्रों के ऊंचाई वाले भागों में अधिक संख्या में पाया जाता है. इसे सम्पूर्ण हिमालय क्षेत्र में 300 मीटर की ऊंचाई से

लेकर 3000 मीटर की ऊंचाई वाले भागों में बहुत बड़ी संख्या में देखा जा सकता है. भिदुर वृक्ष भारत, नेपाल और म्यामार के साथ ही पाकिस्तान, भूटान, चीन, जापान, इंडोनेशिया आदि में भी मिलता है.

यह मूल रूप से दक्षिण-पूर्व एशिया का वृक्ष है. इसकी उत्पत्ति हिमालय के पहाड़ी क्षेत्रों, म्यामार के पहाड़ों और चीन के उपउष्ण कटिबंधीय क्षेत्रों में हुई. यहां से यह जावा, फिलीपीन्स, कोस्टारिका, तस्मानिया, हवाई आदि स्थानों पर ले जाया गया. इन सभी स्थानों पर यह अच्छी तरह फल-फूल रहा है.. हवाई में इसे 300 मीटर से लेकर 1800 मीटर तक की ऊंचाई वाले भागों में उगाया जाता है.

भिदुर पतझड़ वाला वृक्ष है. किंतु इस पर अन्य पतझड़ वाले वृक्षों की अपेक्षा अधिक समय तक पत्तियां रहती हैं. अतः इसे अर्ध पतझड़ वाला वृक्ष कहा जा सकता है. यह नम ठंडे और पहाड़ी मानसून वाले मौसम में, जहां 500 मिलीमीटर से 2500 मिली मीटर तक वर्षा होती हो और वर्ष में 4 महीने से लेकर 8 महीने तक मौसम शुष्क रहता हो, जंगली रूप में मिलता है. अर्थात इस प्रकार की जलवायु वाले क्षेत्रों में भिदुर के वृक्ष स्वतः उगते हैं. अतः इनके प्राकृतिक जंगल बन जाते हैं.

इसे नदियों के पास के बीहड़ों में, भूस्खलन के बाद की खाली भूमि पर, चट्टानी स्थानों पर झूम खेती के बाद छोड़ी गयी ज़मीन पर तथा उत्तर की ओर मुंह वाले पर्वतीय ढलानों पर सरलता से लगाया जा सकता है. इसके लिए बहुत उपजाऊ मिट्टी की आवश्यकता नहीं होती. इसके विकास के लिए ऐसी मिट्टी होनी चाहिए, जो काफ़ी लम्बे समय तक पानी सोख सके. अर्थात मिट्टी में जल की मात्रा अधिक होनी चाहिए. किंतु पौधों क़े चारों ओर लम्बे समय तक पानी जमा नहीं रहना चाहिए. ऐसा होने पर पौधे सड़ जाते हैं. इसके विकास के लिए जड़ों के पास न रुकने वाला पानी सर्वोत्तम माना गया है. यह बाढ़ भी सहन कर लेता है. किंतु बाढ़ का पानी इसके आधार पर अधिक समय तक नहीं रुकना चाहिए.. इसमें साधारण पाला सहन करने की भी क्षमता होती है.

भिदुर वृक्ष के लिए सूर्य का प्रकाश आवश्यक है. सूर्य के प्रकाश में इसका विकास तेज़ और अच्छा होता है. यह साधारण छाया सहन कर सकता है किंतु अधिक छाया होने पर इसके पौधे मर जाते हैं. यह ऊंची पर्वतीय हवाएं भी नहीं सहन कर पाता और शीघ्र ही मर जाता है.

शीघ्र बढ़ने वाले इस विशाल वृक्ष की लम्बाई 8 मीटर से लेकर 15 मीटर तक होती है. कभी-कभी इससे अधिक ऊंचाई के वृक्ष भी देखे गये हैं. भारत और नेपाल में हिमालय के पर्वतीय क्षेत्रों में इसके 30 मीटर तक ऊंचे वृक्ष भी मिले हैं. भिदुर वृक्ष के तने का घेराव 1.2 मीटर से लेकर 1.8 मीटर तक हो सकता है. किंतु कभी-कभी 6 मीटर अथवा इससे भी अधिक घेराव वाले भिदुर वृक्ष देखने को मिल जाते

हैं. भिदुर के अधिक ऊंचे और अधिक घेराव वाले वृक्ष केवल भारत और नेपाल में ही मिलते हैं. इसे इसके मूल क्षेत्र के बाहर, जहां-जहां ले जाया गया है, वहां इसे लगाने में अवश्य सफलता मिली है, किंतु इन स्थानों पर इसके बहुत ऊंचे और अधिक घेराव वाले वृक्ष नहीं मिलते.

इस शानदार और सुंदर वृक्ष का तना सीधा और मज़बूत होता है. भिदुर के तने की छाल मोटी, खुरदरी, कठोर और कार्क जैसी होती है. इसका रंग रूपहले धूसर से लेकर गहरा हरापन लिये धूसर तक होता है तथा इस पर पीले रंग के धब्बे दिखाई देते हैं. भिदुर की छाल पर छोटे-छोटे और खड़े-खड़े लेन्टिकिल्स होते हैं. इनकी सहायता से इस वृक्ष को सरलता से पहचाना जा सकता है.

भिदुर वृक्ष के तने पर कुछ ऊपर उठने के बाद शाखाएं और उपशाखाएं निकलती हैं. इन्हीं शाखाओं और उपशाखाओं पर पत्तियां निकलती हैं. इसकी पत्तियां मोटी और अंडाकार होती हैं तथा इनका सिरा नुकीला होता है. भिदुर वृक्ष की पत्तियों की लम्बाई 7 सेंटीमीटर से लेकर 21 सेंटीमीटर तक और चौड़ाई 4 सेंटीमीटर से लेकर 13 सेंटीमीटर तक हो सकती है. इनकी ऊपर वाली सतह का रंग हल्का हरा होता है तथा इस पर हल्के रंग की शिराएं दिखाई देती हैं. पत्तियों की नीचे वाली सतह हल्के पीले रंग की होती है और इस पर शिराओं के साथ ही कत्थई रंग के शल्क से उभरे हुए दिखाई देते हैं. पत्तियों के डंठल मोटे और छोटे होते हैं. इनकी लम्बाई एक सेंटीमीटर से भी कम होती है.

इस वृक्ष पर शरद ऋतु में- सितम्बर-अक्टूबर के महीनों में फूल आते हैं. इसके फूल छोटे होते हैं तथा इनका आकार सिलेंडर के समान होता है. भिदुर के फूल वृक्ष की पतली-पतली शाखाओं के सिरों पर गुच्छों में निकलते हैं. इनमें एक ही वृक्ष पर नर और मादा दोनों फूल आते हैं. किंतु नर और मादा दोनों फूल अलग-अलग होते हैं. नर फूल का रंग पीला होता है और यह मादा से लम्बा होता है. मादा फूल छोटा और सीधा खड़ा हुआ होता है. यह पतली शाखाओं पर तने की ओर निकलता है तथा इसका शाखा से जुड़ा भाग कठोर, मज़बूत और लकड़ी वाल (ऊडी) होता है. फूल के ज़मीन पर गिर जाने के बाद भी यह भाग शाखा पर लगा रहता है.

इसके कत्थई रंग के फल छोटे डंठलों पर सीधे खड़े रहते हैं. ये अंडाकार, बहुत कड़े और लकड़ी जैसे शल्कों के बने होते हैं. भिदुर के फल बाहर से देखने पर पाइन परिवार के शंक्वाकार फल जैसे दिखाई देते हैं. इसके फलों के खोखले आवरण भी प्रायः वृक्षों पर मिल जाते हैं.

इसके बीज गोलाई लिये हुए चपटे होते हैं तथा इनका रंग कत्थई होता है. ये लगभग 2 मिलीमीटर लम्बाई-चौड़ाई वाले होते हैं और देखने में एक छोटी पत्ती जैसे लगते हैं. भिदुर के बीज बहुत हल्के होते हैं. एक किलोग्राम में इसके 16 लाख से लेकर 23 लाख तक बीज आ जाते हैं.

इसके बीजों पर भौगोलिक परिस्थितियों का सीधा प्रभाव पड़ता है. यही कारण है कि अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग समय पर बीज पकते हैं. इन्हें भौगोलिक परिवेश के अनुसार नवम्बर से मार्च तक पकते हुए देखा जा सकता है. अच्छी तरह सुखाकर रखे गये भिदुर के बीज लगभग एक वर्ष तक अथवा इससे भी कुछ अधिक समय तक सुरक्षित रहते हैं.

भिदुर वृक्ष की पत्तियों पर 'ओरीना एनोमाला' जाति के कीड़े तथा 'कोलियोप्टेरस लाखे' आक्रमण करते हैं और इन्हें नुकसान पहुंचाते हैं. इसी प्रकार 'बोटोसेरा' और 'ज्यूज़ेरा' नामक कीड़े इसके तने की लकड़ी में छेद कर देते हैं तथा इसे खोखला बना देते हैं. इस प्रकार की लकड़ी किसी उपयोग की नहीं रह जाती. इसका उपयोग केवल ईंधन के रूप में किया जा सकता है.

इस अत्यंत उपयोगी प्राचीन वृक्ष की लकड़ी, छाल, पत्तियां सभी हमारे काम आती हैं. चीनी दवाओं के शब्दकोश में भिदुर का उल्लेख किया गया है. इससे पैरों की सूजन और शरीर के जले भागों की औषधियां तैयार की जाती हैं. भिदुर की सहायता से पैर की सूजन की औषधि तैयार करने के लिए इसकी छाल को उबालते हैं. इससे जिलेटिन जैसा एक पदार्थ प्राप्त होता है. इसे सूजन पर लगाने से सूजन ठीक हो जाती है. इसी जिलेटिन जैसे पदार्थ को शरीर के जले हुए भागों पर लगाने से जलन कम होती है और घाव जल्दी भरता है.

भिदुर वृक्ष के औषधीय उपयोग के साथ ही सर्वाधिक उपयोग नाइट्रोजन यौगिकीकरण के लिए किया जाता है. इसे भूमिक्षरण रोकने के लिए भी लगाते हैं. वेस्ट जावा फॉरेस्ट सर्विस द्वारा इसे जावा के पर्वतीय ढलानों में होने वाले भूक्षरण को रोकने के लिए बहुत बड़ी संख्या में लगाया गया. इस कार्य में संस्थान को पर्याप्त सफलता मिली. भिदुर सरलता से उगने वाला और तीव्र गति से बढ़ने वाला वृक्ष है. अतः वनीकरण में भी इसका उपयोग किया जाता है. विख्यात वनस्पतिशास्त्री 'वानस्टीनिश' के अनुसार-वनीकरण के लिए यह वृक्ष उपयुक्त है. यह भूमिक्षरण वाली ढलानों और हमेशा नम रहने वाले क्षेत्रों में जो 700 मीटर से 1800 मीटर तक ऊंचे हैं, उपयोगी और सफल हैं.

भारत में भिदुर के वृक्ष भूमिक्षरण वाले स्थानों, भूस्खलनवाले भागों, झूम खेती वाले स्थानों, कोयले की खदानों के कारण बनी बंजर ज़मीनों तथा अन्य बंजर ज़मीनों पर लगाये जाते है. इससे भूमिक्षरण तो रुकता ही है साथ ही साथ ज़मीन की उर्वरक क्षमता भी बढ़ती है. इससे मिट्टी उपजाऊ और अधिक उपयोगी हो जाती है. भारत के साथ ही म्यामार में भी भिदुर वृक्ष नाइट्रोजन यौगिकीकरण करने के लिए और भूमिक्षरण रोकने के लिए लगाये जाते हैं. पूर्वी नेपाल में इस वृक्ष के नीचे इलायची

उगायी जाती है. नागालैंड में यह वृक्ष जंगली और सप्रयास लगाये गये दोनों रूपों में मिलता है. यहां के सीढ़ीदार ढलानों पर लगाये गये इसके वृक्ष ऊंचे-ऊंचे खम्भे जैसे लगते हैं. नागालैंड में किसान अच्छी फसल प्राप्त करने के लिए मक्का, जौ, मिर्च आदि के खेतों के मध्य भिदुर वृक्ष अवश्य लगाते हैं.

भिदुर वृक्ष का घनत्त्व 320 किलोग्राम प्रति घनमीटर से लेकर 370 किलोग्राम प्रतिघन किलोमीटर तक होता है. भिदुर की लकड़ी अच्छी होती है तथा हवा और पानी से बचाकर रखने पर लम्बें समय तक सुरक्षित बनी रहती है. इसकी लकड़ी मुलायम होने के कारण आसानी से कटती है. इसे आरी से काटना और बाद में पॉलिश करके सुंदर रूप देना बड़ा आसान होता है. इसीलिए कुछ लोग इसका फर्नीचर बनाते हैं. किंतु इसका फर्नीचर स्तरीय नहीं माना जाता. भिदुर की लकड़ी नमी, हवा, पानी आदि में बहुत जल्दी खराब हो जाती है. ऑक्सीकरण और कवक के संक्रमण के कारण कभी-कभी यह रंग भी छोड़ने लगती है.

भिदुर की लकड़ी को स्थानीय स्तर पर गृहनिर्माण और घरेलू उपयोग की वस्तुओं में काम में लिया जाता है. इसका औद्योगिक उपयोग भी है. इसकी लकड़ी से चाय की पेटियां, डिब्बे, माचिस की डिब्बियां, कागज़ आदि बनाया जाता है. भिदुर की लकड़ी शीघ्र सूखती है और सरलता से एक समान जलती है. अतः इसका बिजली उत्पादन में भी उपयोग किया जाता है. पर्वतीय भागों में बनाये जाने वाले रस्सियों के पुलों में भी इसकी लकड़ी का इस्तेमाल किया जाता है. किंतु लकड़ी के कमज़ोर होने के कारण और नमी, हवा एवं धूप से शीघ्र प्रभावित होने के कारण पुलों में भी इसका उपयोग अधिक नहीं होता.

हिमाचल प्रदेश के पर्वतीय ढलानों पर प्रतिवर्ष हज़ारों की संख्या में भिदुर के वृक्ष लगाये जाते हैं और इनका ईंधन के रूप में उपयोग किया जाता है. यहां पर एक वर्ष छोड़कर अगले वर्ष ईंधन के लिए वृक्ष की शाखाओं को काटा जाता है.

भिदुर वृक्ष की छाल का औषधीय महत्त्व तो है. इसके साथ ही इसका उपयोग चर्म उद्योगों में भी किया जाता है. चर्म उद्योग के लिए इसकी छाल विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण समझी जाती है. इससे चमड़े की सफाई और रंगाई की जाती है. इसका उपयोग रंगों को गहरा करने के लिए भी किया जाता है. भिदुर वृक्ष की पत्तियां तथा फूल भेड़ बकरियों का प्रिय भोजन है. किंतु इसे गाय-बैल जैसे जानवर नहीं खाते. पर्वतीय क्षेत्रों में मवेशियों का बिस्तर तैयार करने में भिदुर की पत्तियों का उपयोग किया जाता है. भिदुर की पत्तियों की खाद बहुत अच्छी मानी जाती है और स्थानीय स्तर पर इसका उपयोग किया जाता है. ☐

लघुकथा

चेत सके तो चेत

● भगवान वैद्य 'प्रखर'

दरवाज़े के समीप चींटियों के दो छेद थे. दोनों में लगभग दो फीट का अंतर था. कोई सौ चींटियों का झुंड एक मृत-प्राय काकरोच को घसीटकर छेद में ले जाने का प्रयास कर रहा था. चींटियां काकरोच को घसीटकर एक छेद के मुहाने तक लेकर जातीं. कुछ भीतर प्रवेश करके काकरोच को भीतर खींचतीं तो कुछ बाहर से भीतर की ओर ठेलतीं. असफल होने पर काकरोच को बाहर खींचकर उसे गोल घुमाकर फिर प्रयास करतीं. फिर भी जब सफल न होतीं तो वापस दूसरे छेद की ओर घसीट ले जातीं. वहां भी वही सारे प्रयत्न दुहराये जाते. बच्चे भी करीब से यह खेल देख रहे थे. चींटियों ने अपनी संघटित-शक्ति के बलपर काकरोच की मूंछ तोड़ डाली, फिर मैंने देखा कि उसकी एक टांग भी टूट गयी है. लग रहा था कि अब तो काकरोच को छेद में ले जाने में चींटियां सफल हो ही जाएंगी. पर ऐसा नहीं हो पा रहा था. काकरोच के शरीर का कोई न कोई हिस्सा मुहाने पर बाधा खड़ी कर देता, चींटियां असफल होतीं और वे काकरोच को घसीटकर दूसरे छेद की ओर ले जाने लगतीं. उनके अथक प्रयास से हम सभी दर्शक अभिभूत थे कि अचानक एक छिपकली कहीं से आ टपकी, उनके काकरोच को अपने मुंह में दबोच लिया और पलक झपकते नौ-दो-ग्यारह हो गयी.

प्रदीर्घ संघर्ष के बावजूद चींटियों को मिली असफलता से यद्यपि हम दर्शक खिन्न थे तथापि चींटियों की संघटना-शक्ति की तारीफ के पुल बांधे जा रहे थे. तभी कुछ चींटियों की हंसने की आवाज़ आयी. पूछने पर कहने लगीं, ''हमारे बारे में कितने अच्छे खयालात हैं आप लोगों के. दूर से देखनेवालों को हम कितनी संघटित नज़र आ रही थीं, है न! पर वस्तु-स्थिति कुछ और ही थी. काकरोच जब-जब छेद के मुहाने तक आता, हम पूरी ताकत से उसे भीतर ठेलने का प्रयास करतीं. लेकिन ठीक इसी वक्त हम में से कुछ चींटियां काकरोच को पीछे घसीटतीं. वे चाहती थीं कि हम काकरोच को पूरब की ओर के छेद से भीतर ले जाए जबकि हम उसे पश्चिम की ओर से भीतर ले जाना चाहती थीं क्योंकि पूरब की ओर का छेद कुछ दूर जाकर संकरा हो जाता है, यह हम जानती थीं. पर वे मानने को तैयार न थीं. ऐसा न होता तो हम सौ चींटियों ने मिलाकर इतने समय में एक तो क्या, दस काकरोच के टुकड़े करके छेद के भीतर ढेर लगा दिया होता. दुनिया हमारी संघटना-शक्ति का लोहा मानती है. पर ज़रा-से मतभेद के क्या परिणाम हो सकते हैं- यह भी आप लोगों ने देख लिया.''

बाबूजी की रचनाएं मेरी मार्गदर्शक हैं

• अमिताभ बच्चन

अमिताभ बच्चन से उनके पिता श्री हरिवंश राय बच्चन के बारे में यह बातचीत इस मायने में विशिष्ट है कि अमित जी ज़्यादातर फिल्मों के बारे में बात करते हैं, क्योंकि उनसे वही पूछा जाता है. अजय ब्रह्मात्मज ने उनके पिताजी के जन्मदिन 27 नवम्बर के संदर्भ में यह बातचीत की है. ग्लैमर की दुनिया एक आवरण रच देती है और हमारे सितारे सार्वजनिक जीवन में उस आवरण को लेकर चलते हैं. यहां एक संवेदनशील पुत्र बिना किसी आवरण के पिता को याद कर रहा है.

पिता जी की स्मृतियों को संजोने की दिशा में क्या सोच रहे हैं?

हम तो बहुत कुछ करना चाहते हैं. बहुत से कार्यक्रमों की योजनाएं हैं. बहुत से लोगों से मुलाकात भी की है मैंने. हम चाहते हैं कि एक ऐसी संस्था खुले, जहां पर लोग रिसर्च कर सकें. यह संस्था दिल्ली में हो या उत्तर प्रदेश में हो. हम लोग उम्मीद करते हैं कि आने वाले वर्षों में इसे सबके सामने प्रस्तुत कर सकेंगे.

आप उनके साथ कवि सम्मेलनों में जाते थे. आपने उनके प्रति श्रोताओं के उत्साह को करीब से देखा है. आज आप स्वयं लोकप्रिय अभिनेता हैं. आपके प्रति दर्शकों का उत्साह देखते ही बनता है. दोनों संदर्भों के उत्साहों की तुलना नहीं की जा सकती, लेकिन हम जानना चाहेंगे कि आप इन्हें किस रूप में व्यक्त करेंगे?

सबसे पहले तो पिता के रूप में हमेशा काफ़ी याद किया है. क्योंकि वे अक्सर मुझे अपने साथ ले जाया करते थे. उनका वह रूप भी मैंने देखा है. जिस तरह का उत्साह और जितनी तादाद में लोग रात-रात भर उन्हें सुनते थे, ऐसा तो मैंने इधर कभी देखा नहीं. लेकिन वह जो एक समां बनता था बाबूजी के कवि सम्मेलनों का, अद्भुत होता था. दिन भर बाबूजी दफ्तर में काम करते थे उसके बाद रात में कहीं कवि सम्मेलन होता था. यह ज़रूरी नहीं कि हम जिस शहर में थे उसी शहर में कवि सम्मेलन हो. पास के शहरों में भी होता था. कभी गाड़ी से जाना होता था, कभी ट्रेन से जाना पड़ता

था. रात को जाना वहां, पूरी रात कवि सम्मेलन में पाठ करना. अलस्सुबह वापस आना और फिर काम पर चले जाना, इस तरह का संघर्ष था उनका. उनके साथ कवि सम्मेलन में जो समय बीतता था, वो अद्‌भुत था.

अपने प्रति दर्शकों का उत्साह और उनके प्रति श्रोताओं के उत्साह के बारे में क्या कहेंगे?

दोनों अलग-अलग हैं. मुझे तो लोग भूल गये हैं. एक-दो साल में पूरी तरह भूल जाएंगे. बाबूजी को तो हज़ारों साल तक याद रखेंगे, क्योंकि उन्होंने साहित्य रचा है.

जन्मदिन समारोह में बच्चनजी को पुष्पगुच्छ देतीं तेजीजी

बच्चन जी ने आत्मकथा में लिखा है- 'मेरे 'मन की नारी' मेरे बड़े लड़के को मिली है' ... उनके इस निरीक्षण को आप कैसे व्यक्त करेंगे?

अब यह तो मैं नहीं बता पाऊंगा. यह उनका दृष्टिकोण था. पता नहीं उनका दृष्टिकोण क्या था, मैं नहीं कह सकता हूं. लेकिन मैं केवल इतने में ही खुश हूं कि यदि वो ऐसा सोचते हैं तो मैं अपने-आपको भाग्यशाली समझता हूं. उनके मन में जो भी मेरे प्रति या परिवार के प्रति आशाएं थीं, यदि मैं उन्हें पूरा कर पाया हूं तो इसे मैं अपना सौभाग्य मानता हूं.

उन्होंने इच्छा प्रकट की थी कि अमित को अपनी आत्मकथा लिखनी चाहिए. उनके शब्द हैं, 'अमित का जीवन अभी भी इतना रोचक, वैविध्यपूर्ण, बहुआयामी और अनुभव समृद्ध है- आगे और भी होने की पूरी सम्भावना लिये-कि अगर उन्होंने कभी लेखनी उठायी तो शायद मेरी भविष्यवाणी मृषा न सिद्ध हो. उन्होंने आपको भेंट की गयी प्रति में लिखा था, 'प्यारे बेटे अमित को, जो मुझे विश्वास है, जब अपनी आत्मकथा लिखेगा तो लोग मेरी आत्मकथा भूल जाएंगे?' पिता की इस भविष्यवाणी को आप सिद्ध करेंगे न?

मुझमें इतनी क्षमता है नहीं कि मैं इसे सिद्ध करूं. उनका ऐसा कहना पुत्र के प्रति उनका बड़प्पन है. लेकिन एक तो मैं आत्मकथा लिखने वाला नहीं हूं. और यदि कभी लिखता तो जो बाबूजी ने लिखा है, उसके साथ कभी तुलना हो ही नहीं सकती. क्योंकि बाबूजी ने जो लिखा है, आज लोग ऐसा कहते हैं कि उनका जो गद्य है वो पद्य से ज़्यादा बेहतर है. खास तौर से आत्मकथा. उनके साथ अपनी तुलना करना गलत होगा.

पिता की किन कृतियों का अवलोकन आप नियमित तौर पर करते हैं? उनकी कौन-सी पुस्तक हमेशा आप के साथ रहती है?

हमारे साथ पूरी रचनावली उनकी रहती है. प्रतिदिन तो मैं उसे नहीं पढ़ता हूं, लेकिन हमारे साथ रहती हैं. कहीं भी जाऊं, मैं उन्हें निश्चित रूप से साथ ले जाता हूं और

यदा-कदा उनकी आत्मकथा पढ़ता हूं, उनकी कविताएं पढ़ता हूं और जीवन का रहस्य, जीवन का दुख-सुख सब कुछ मुझे उसमें मिलता है. और उसमें बड़ी सांत्वना मिलती है मुझे. कई प्रश्नों का उत्तर जो कि हमारे उम्र के लोगों या हम जो कम उम्र के लोग हैं उनके जीवन में कई बार आते रहते हैं. उनकी रचनाएं हमारे लिए एक तरह से मार्गदर्शक बन गयी हैं.

आपने ब्लॉग के एक पोस्ट में लिखा है कि पिता की रचनाओं में आपको शांति, धैर्य, व्याख्या, उत्तर और जिज्ञासा मिलती है. इनके बारे में थोड़े विस्तार से बतायें?

जितना भी उन्होंने अनुभव किया अपने जीवन में, वो किसी आम इंसान के जीवन से कम या ज़्यादा तो है नहीं. जो भी उनकी अपनी जीवनी है या जो आपबीती है उनकी. उसमें संसार के जितने भी उतार-चढ़ाव हैं, सब के ऊपर उन्होंने लिखा है और उनका क्या नज़रिया रहा है. तो वो एक बहुत अच्छा उदाहरण बन जाता है हमारे लिए. हम उसका पालन करते हैं.

अभिषेक से जब मैंने यही सवाल पूछा था तो उन्होंने बताया था कि आपने आत्मकथा पढ़ने की सलाह दी थी और कहा था कि उसमें हर एक पृष्ठ पर कोई न कोई एक सबक है.

किसी भी पन्ने को खोल लीजिए कहीं न कहीं आपको कुछ ऐसा मिलेगा. लेखन के तौर पर, जो लोग भाषा सीख रहे हों या जिनकी भाषा अच्छी न हो, उसमें आपको बहुत ऐसी चीज़ें मिलती हैं. और जीवन का रहस्य, जीवन की जो समस्याएं हैं, जीवन की जो कठिनाइयां हैं या उसके ऊपर कोई एक बहस हो या उनकी विचारधारा हो ये पढ़कर बहुत अच्छा लगता है.

आपने अपने ब्लॉग पर अनेक बार किसी न किसी रूप में पिताजी का उल्लेख किया है. पिता की स्मृतियों का ऐसा जीवंत व्यवहार दुर्लभ है. उनके शब्दों से किस रूप में सम्बल मिलता है?

देखिए ये एक आम इंसान जो है, वो प्रतिदिन इसी खोज में रहता है कि ये जो रहस्यमय जीवन है, इसकी कैसी उपलब्धियां होंगी? क्या विचारधारा होगी. बहुत से प्रश्न उठते हैं उसके मन में. क्योंकि प्रतिदिन हमारे और आपके मन में कुछ न कुछ ऐसा बीतता है, जिसका कभी-कभी हमारे पास उत्तर नहीं होता. यदि हमें कोई ऐसा ग्रंथ मिल जाए जिसमें ढूंढ़ते ही हमें वो उत्तर प्राप्त हो जाए तो फिर हमारे लिए वो भगवान रूप ही होता. मैं ऐसा मानता हूं कि हम अपने जीवन में, जब हम लोग बड़े हो रहे थे या आपके जीवन में भी है, किसी भी आम इंसान के जीवन में ऐसा ही होता है जब हम किसी समस्या में होते हैं, जब कठिनाई में होते हैं तो सबसे पहले कहां जाते हैं? सबसे पहले अपने माता-पिता के पास जाते हैं कि आज मेरे साथ ये हो गया. क्या करना चाहिए? तो माता-पिता एक मार्ग दिखाते हैं. मार्गदर्शक बन जाते हैं. उनकी बातें हमेशा याद रहती हैं. क्योंकि जाने-अनजाने में आप चाहे पुस्तकें पढ़ लीजिए, विद्वान बन जाइए, लेकिन कहीं न कहीं जो माता-पिता की बातें होती हैं वो हमेशा हमें याद रहती हैं. क्यों याद बनी

रहती है, क्या वजह है इसकी, ये तो मैं नहीं बता सकता, बहरहाल वो बनी रहती हैं. वही याद आती रहती हैं. जब कभी भी हमारे सामने कोई समस्या आती है या कोई ऐसी दुविधा में हम पड़ जाते हैं तो तुरंत ध्यान मां-बाबूजी की तरफ़ जाता है और हम सोचते हैं कि यदि वो यहां होते और हम उनके पास जाते तो उनसे क्या उत्तर मिलता. उसी के अनुसार हम अपना जीवन व्यतीत करते हैं. क्या उन्हें ये ठीक लगता?

पिताजी की आखिरी चिंताएं क्या थीं? समाज और साहित्य के प्रति वे किस रूप में सोचते थे?

इस पर ज़्यादा कुछ अलग से उन्होंने कुछ नहीं बताया. सामान्य बातें होती थीं, देश-समाज को लेकर बातें होती थीं. साहित्यकारों से अवश्य वे साहित्य पर बातें करते थे, जिस तरह की कविता लिखी जा रही थी. जिस तरह से उनका स्तर गिर रहा था, उस पर वे बोलते थे.

'दशद्वार से सोपान तक' के बाद उन्होंने अपनी आत्मकथा को आगे नहीं बढ़ाया. क्या बाद की जीवनयात्रा न लिखने के कारण के बारे में उन्होंने कुछ बताया था?

उनका एक ध्येय था कि मैं यहां तक लिखूंगा और इसके बाद नहीं लिखूंगा. उनसे हमने इस बारे में कभी पूछा नहीं और न कभी उन्होंने कुछ बताया.

आपके जीवन को उनकी आत्मकथा के विस्तार के रूप में देखा जाता है.

ये तो मैं नहीं कह सकता. अगर उनके जीवन को देखा जाए तो बहुत ही विचित्र बात नज़र आती है. तकरीबन 60-65 वर्षों तक एक लेखक लिखता रहा. आम तौर पर लेखक दस-बारह साल लिखते हैं. उसके बाद लिखते नहीं या खत्म हो जाते हैं. एक शख्स लगातार 60-65 सालों तक लिखता रहा. यह अपने आप में एक उपलब्धि है.

घोर निराशा के क्षणों में आपने एक बार उनसे पूछ दिया था, 'आपने हमें पैदा क्यों किया?' इस पर उन्होंने 'नयी लीक' कविता लिखी थी. इस प्रसंग को पिता-पुत्र के रिश्तों के संदर्भ में आज किस रूप में आप समझाएंगे?

पहले तो मेरे पुत्र को मुझसे ये प्रश्न पूछना पड़ेगा, फिर मैं कुछ कह पाऊंगा. अभी तक उन्होंने पूछा नहीं. और ऐसी उम्मीद नहीं है कि वो मुझसे आकर पूछेंगे. वो अपने काम में लग गये हैं. एक उत्साह है उनके मन में वे प्रसन्न हैं. लेकिन यदि वो मुझसे पूछते तो मैं उनको बाबूजी की कविता पढ़ा देता.

इस प्रसंग को लेकर कभी व्यथा होती है मन में?

बिल्कुल होती है. बाबूजी के सामने कभी आंख उठा कर हमने बात नहीं की थी. और अचानक ऐसा प्रश्न पूछ देना. प्रत्येक नौजवान के जीवन में ऐसा समय आता है, जब जीवन से, समस्याओं से, काम से, अपने आप से निराश होकर हम ऐसे सवाल कर बैठते हैं. हम सब के जीवन में ऐसा समय आता है.

बच्चन जी ने लिखा है कि मेरे पुस्तकालय में आग लग जाए तो मैं 'बुद्धचर्या', 'भगवतगीता', 'गीत गोविंद', 'कालिदास ग्रंथावली', 'रामचरितमानस', 'बाइबिल', 'कम्पलीट शेक्सपियर', 'पोएटिकल वर्क्स

ऑफ ईट्स', 'दीवाने गालिब', 'रुबाइयात उमर खैयाम' और गुंजाइश बनी तो 'वार एंड पीस' और 'जां क्रिस्तोफ' लेकर भागूंगा. क्या ऐसी कुछ पुस्तकों की सूची आपने भी सोच रखी है?

मैं तो उनकी रचनावली लेकर भागूंगा.

विदेशों में साहित्यकारों के घर म्यूजियम बना दिये जाते हैं. अपने देश में कलाकारों और साहित्यकारों के प्रति यह सम्मान नहीं है. क्या आप 'सोपान' को म्यूजियम के रूप में परिवर्तित करना चाहेंगे?

बाबूजी की स्मृति में एक लाइब्रेरी ज़रूर होनी चाहिए. इस दिशा में हम लोगों ने कई बार सोचा है. नक्शे भी बने. फिर बनते-बनते वह योजना रह गयी है. हम चाहते हैं कि रिसर्च इंस्टीट्यूट बने. वहां उनकी पुस्तकें रखी जाएं. 'सोपान' हमारा निजी गृह है. उसे हम पब्लिक के लिए नहीं खोल सकते. 'सोपान' और यहां 'प्रतीक्षा' में उनकी चीज़ें ज्यों की त्यों रखी हुई हैं. हमारे लिए वे प्रेरणा हैं. हम उनका आदर करते रहेंगे. हां, अगर कोई उनका प्रेमी कुछ देखना चाहेगा और हमसे आग्रह करेगा तो हम इंकार नहीं करेंगे. आम जनता के लिए हम उन्हें नहीं खोलना चाहेंगे.

आपको 'मधुशाला' क्यों अत्यधिक प्रिय है?

सरल है और उसमें जीवन का सार मिलता है.

आपके पिताजी ने एक बार अपनी रचनाएं स्वयं रिकॉर्ड की थीं. उस रिकॉर्ड को जारी किया जाए तो आज की पीढ़ी उनकी रचनाओं का आनंद उनके स्वर में ले सकती है. हम कब तक इसकी उम्मीद कर सकते हैं?

हाल ही में हम लोगों ने बहुत खोजने के बाद कुछ रिकॉर्ड एकत्रित किये हैं. उम्मीद करते हैं कि आने वाले वर्षों में इसका एक संग्रह निकल सके. उस समय की रिकॉर्डिंग साधारण तरीके से की गयी है. तब न तो हमारे पास इतने साधन थे और न ऐसी समझ थी. आकाशवाणी में रिकॉर्ड हुई चीज़ें ठीक हैं. व्यक्तिगत तौर पर कुछ लोगों ने कवि सम्मेलनों आदि में उनकी रचनाएं रिकॉर्ड की हैं. जैसे मुम्बई में धर्मवीर भारती के यहां कभी कुछ रिकॉर्ड हो गया. कोलकाता में बिड़ला जी की संस्थाओं में कुछ रिकॉर्ड है. बहुत लोग लिखते हैं हमें कि उनके पास बाबूजी की चिट्ठियां हैं. बाबूजी हर किसी के पत्र का जवाब हाथ से लिखकर देते थे. हम उन सभी को एकत्रित कर रहे हैं. हो सकता है कि सभी पत्रों का एक संग्रह निकालें.

अपनी जीवन यात्रा में आपने पिता की मौजूदगी को कब सबसे ज़्यादा महसूस किया?

हर पल. जब छोटे थे तब, जब बड़े हो रहे थे तब, स्कूल जाते समय. हर वर्ष. प्रत्येक अरसा उनकी यादों से भरा हुआ है. ऐसा कहना मेरे लिए सम्भव नहीं होगा कि उम्र के किस पड़ाव में वे ज़्यादा करीब थे. उम्र बढ़ने के साथ रिश्ते का स्तर और आयाम बदल जाता है. लेकिन उनके प्रति कभी आदर-सम्मान कम नहीं हुआ. एक मर्यादा रही और बंधन रेखा का कभी उल्लंघन नहीं हुआ.

मां और पिता के सारे गुण और संस्कार आपमें समाहित हैं. हम जानना चाहेंगे कि पिता के किन गुणों पर आपने ज़्यादा गौर किया और उन्हें सायास अपने जीवन में उतारना चाहा?

वे बहुत ही सरल इंसान थे. सहनशीलता उनमें बहुत थी. चाहे वह शारीरिक हो या मानसिक. उनमें आत्मबल था. किसी चीज़ के बारे में एक बार सोच लिया और कहा कि इसे करूंगा तो जब तक वह पूरा नहीं हो जाता था तब तक उनका आत्मबल नहीं टूटता था.

हिंदी भाषा का संस्कार और शब्दों की समृद्ध पूंजी आपको पिता से मिली है. आपने निजी अभ्यास से उसे और विकसित एवं समृद्ध किया है. हिंदी की समृद्ध परम्परा से नयी पीढ़ी कैसे जुड़ सकती है?

उतनी नहीं मिली है, जितनी मैं चाहता हूं. इस बात का मुझे बहुत खेद है. लोग ऐसा मानते और देखते हैं कि मेरे पास भाषा की जबरदस्त पूंजी है. लेकिन ऐसा है नहीं. मैं अभी भी सोचता हूं कि मुझे बहुत कुछ सीखना है. प्रतिदिन कोशिश करता हूं कि बाबूजी के लेखन से या जो पत्रकार लिखते हैं, उनके लेखन से या कुछ पढ़कर अपना ज्ञान बढ़ा सकूं. यह काम अभी जारी है. भाषा एक समस्या है, जिसे मैं स्वीकार करता हूं. अपनी संतान से हमेशा कहता हूं कि जब तक आप अपनी भाषा ठीक से बोलना नहीं सीखेंगे, तब तक आप अपने कार्य में भी सफल नहीं हो पायेंगे. मेरा ऐसा मानना है कि अगर आप हिंदी फिल्मों में काम करते हैं तो सबसे पहले आपको हिंदी सीखनी चाहिए. अपनी भाषा सीखनी चाहिए. अगर आप मराठी फिल्मों में काम कर रहे हैं तो मराठी भाषा सीखें. अगर आप तमिल में काम कर रहे हैं तो आप तमिल सीखें. बंगाली भाषा में काम कर रहे हैं तो बंगाली सीखें. भाषा सीखना बहुत ज़रूरी है. भाषा से भाव बनता है. सही भाव समझ में आता है.

आपके पिता जी की दो पंक्तियां हैं- 'मैं गाऊं तो मेरा कंठ, स्वर न दबे औरों के स्वर से/जीऊं तो मेरे जीवन की औरों से हो अलग रवानी.' दुनिया से अलग और आगे रहने की बात वे हमेशा सोचते रहे. इसे आप अपने जीवन में कितना उतार पाये?

पहली बात तो यह है कि किस परिस्थिति और मानसिक स्थिति में उन्होंने ये पंक्तियां लिखीं, इसे जानना बहुत मुश्किल है. अगर आप इसे मेरे लिए एक उदाहरण बनाते हैं तो यह मेरे लिए कठिन हो जाता है. मैं केवल इतना कहना चाहूंगा कि मैं जानबूझकर या निर्धारित कर किसी अलग लीक पर जाने का प्रयत्न नहीं करता हूं. अगर वह भाग्य या परिस्थितिवश हो जाता है तो मैं उसे स्वीकार कर लेता हूं. जीवन में कई बार ऐसे क्षण आये हैं, जब लीक से हटकर कोई समस्या आयी हो या कोई मार्ग दिखा हो तो ऐसे अवसरों पर आम रवैया ही होता है कि भैया यह तो लीक से हटकर है. इस पर मत जाइए. पता नहीं यह रास्ता कहां जाएगा. हम केवल इतना कह सकते हैं और किसी घमंड से ऐसा नहीं कह रहे हैं कि कभी कोई ऐसा मार्ग दिखा है तो हमने चाहा है कि चलो इस पर भी चल कर देखते हैं. इस निश्चय से नहीं जाते कि यह लीक से हटकर है. यह हमारे मन में कभी नहीं रहा. ❑

आधी रात का दर्द

● हरिवंशराय बच्चन

श्यामा (पहली पत्नी) की ऊर्ध्व श्वास आधी रात तक चलती रही. उस अंधकार में डूबे (तब उधर बिजली की लाइन नहीं आयी थी), सुप्त-मौन मुहल्ले के एक घर के एक कमरे की एक चारपाई से उठता हुआ वह सांसों का स्वर कितना तीव्र लगता था! लगता था, जैसे कोई आरे से मुझे चीर रहा है.

कभी सोचता हूं कि जो भी जीवन में करुण है, कातर है, रहस्यपूर्ण है, रोमांचकारी है वह प्रायः आधी रात को ही क्यों घटित होता है. साहित्य में तो इसके सैकड़ों साक्ष्य हैं. हैमलेट अपने मृत पिता की प्रेतात्मा को आधी रात को देखता है. मैकबेथ राजा डंकन की हत्या आधी रात को करता है. रोमियो आधी रात को जूलियट के शयन-कक्ष में पहुंचता है.

फाउस्ट के आगे मेफिसटोफेलीज (शैतान) उसके स्वाध्याय कक्ष में आधी रात को प्रकट होता है, जिसके हाथ वह अपनी आत्मा का विक्रय करता है. कुमार सिद्धार्थ आधी रात को गृहत्याग करते हैं. राम आधी रात को लक्ष्मण के मूर्च्छित शरीर को हृदय से लगाकर विलाप करते हैं,

अर्ध राति गइ कपि नहीं आयउ।
राम उठाइ अनुज उर लायउ॥

दशरथ राम के वियोग में आधी रात को दृष्टि-शून्य होते हैं -

अर्धरात्रे दशरथः कौसल्यामिदमब्रवीत्।
न त्वां पश्यामि कौसल्ये साधु मां पाणिना स्पृश॥

आधी रात को ही उन्हें श्रवणकुमार को अनजाने शर-बिद्ध करने की बात याद आती है.

अर्धरात्रे दशरथः सोऽस्मरद् दुष्कृतं कृतम्।

और आधी रात को ही वे अपने प्राण त्यागते हैं.

गतेऽर्धरात्रे भृशं दुःखपीड़ितः
तदा जहौ प्राणमुदारदर्शनः।

आधी रात शायद प्रतीक मात्र है दो तनावों के बीच की स्थिति का. जिन तनावों को मनुष्य झेलता है, उन्हें नियति-प्रकृति भी झेलती हो तो क्या आश्चर्य.

कुछ अस्फुट कहते, कुछ कहने का प्रयास करते ही श्यामा की सांस की डोर अचानक टूट गयी और जीवन और मृत्यु के बीच वह परदा गिर गया जो सदा से अभेद्य रहा है.

मरण और जीवन के बीच कोई आदान-प्रदान नहीं. इस पार को उस पार से जोड़नेवाला कोई सेतु नहीं. मृत्यु अपने विषय में पूछे गये सारे प्रश्नों को केवल उनकी प्रतिध्वनि बनाकर लौटा देती है-

कर्म का चक्र, मनुज की मृत्यु
रही अनबूझ पहेली एक.

इस पार की शब्दावली में श्यामा अनंत निद्रा में सो गयी थी, ऐसे सपनों में खो गयी थी जो कभी टूटनेवाले नहीं थे और उसके प्रति निवेदित किसी बात का कोई अर्थ हो सकता था तो मेरे लिए, उसके लिए कुछ भी नहीं, कभी नहीं-

साथी, सो न, कर कुछ बात / बात करते सो गया तू,/ स्वप्न-में फिर खो गया तू,/ रह गया मैं और आधी बात, आधी रात. □

दीप ज्योति की सर्जना

● दिनेश शुक्ल

मिट्टी, पानी, आग, श्रम, दीपक, चाक, कुम्हार,
मिट्टी ने कितने रचे, रूप, रंग, आकार.

सदियों से मन में रही, उजियाले की आस,
दीप, ज्योति, बाती बनी, यह मिट्टी की प्यास.

मिट्टी की सोंधी महक, खिली अजानी गंध,
दीपक मिट्टी की कथा, उजियाले की छंद.

आवाहन मिट्टी करे, दीप अग्नि का मंत्र,
नभ पथ में विचरण करे, जगमग-ज्योति स्वतंत्र.

दीप जला हलचल मची, हुई गुलाबी सांझ,
पृथ्वी का ऐश्वर्य थी, अब मिट्टी यह बांझ.

दीप ज्योति की सर्जना, था मिट्टी का गर्व,
उजियाले का उत्स था, यह दीपों का पर्व.

रात अंधेरी सघनतर, जले अकम्पित दीप,
ज्यों स्वाती की बूंद पी, मोती गढ़ती सीप.

दीप प्रीत की साधना, भीगा अंतस् मोह,
स्वयं विसर्जित हो गया, यह मिट्टी का द्रोह.

पृथ्वी से ब्रह्मांड तक, हैं चीज़ें अभिभूत
सर्जक बना प्रकाश का, यह माटी का पूत.

ओढ़ शाम की चुप्पियां, गहन तिमिर एकांत,
सन्नाटे घर जल रहा, दीपक निश्छल शांत

निर्भय, लघुता, अग्नि, अणु, बीज-मंत्र संघर्ष,
दीप जला पुलकित हुआ, यह मिट्टी का हर्ष.

आभा खोयी सूर्य ने, सांझ हुई चहुं देश,
हंसकर मिट्टी ने रचा, दीपक एक 'दिनेश'.

कुरसी के आंसू

• गोपाल चतुर्वेदी

पूरे देश में हलचल है. लोग सन्न हैं. अचानक क्या हो गया! सिंहासन पर विराजमान इंसान को भले क्रोध आता हो, कुरसी ऐसी भावनाओं से निर्लिप्त है. अपना ख्याल है कि किसी भी मंदिर में स्थापित भगवान सी उसकी मुद्रा में भी कुछ-कुछ दया, करुणा, आशीर्वाद और मंद-मंद मुस्कान का सम्मिलित मिश्रण होता होगा? कुरसी प्रभुता का प्रतीक है. जब उसका अस्थाई स्वामी सत्ता की अदृश्य मूंछ मरोड़कर स्वयं को धन्य समझता है तो कुरसी तो स्थाई है. उसे कैसा दुख? कैसा दर्द कि आंसू बहे! यह तो उनकी नियति है जो कुरसी पर फिलहाल नहीं हैं या जिनकी उस तक पहुंचने की कोई भी सम्भावना तक शून्य है. दोनों को इंतज़ार है. एक की सतत प्रेरक प्रतीक्षा अधिकार की कुरसी है, दूसरे की रोटी. कहीं से कुछ मिले, पेट पले.

वह इसी की तलाश में घर से भटकते हैं, कहीं खेतों में मजदूरी के लिए, तो कभी शहरों में आदमियों को रिक्शे पर हांकने के खातिर! इक्कीसवीं सदी का यह अनूठा अजूबा है. विलक्षण दृश्य है, जैसे ऊंट या हाथी की सवारी. एक दुबला पतला, पसीने में नहाया, खांसता, कराहता आदमी, रिक्शे पर सवार दो मोटे-भद्दे इंसानी मुस्टंडों को ढोता हुआ. कौन जाने, कब पर्यटन विभाग इसे ताजमहल की तरह, विदेशी सैलानियों को जीते-जागते, चलते-फिरते आकर्षण के रूप में प्रचारित करना शुरू कर दे! "आ भाई देख! गजब तमाशा देख, भारी को हल्का ढोता है, देख, नज़ारा देख."

कभी सैलानी भारत को जादू-साधू का मुल्क मानते थे, उसके बाद मदारी और संपेरों का. वह दिन दूर नहीं है जब वह इसे चंद समृद्ध, भ्रष्ट नेता, नौकरशाह, लोक-नर्तक, जेब गायब करने के कलाकार, धार्मिक स्थलों के ठग तथा आदमी का भरा-पूरा बोरा बोझा हांकता, थका-हारा, अधनंगा, गरीब इंसान का देश निरूपित करें.

यदि कोई विदेशी शोध छात्र पधारे तो वह देखकर हैरान हो कि यहां स्कूल से लेकर विश्वविद्यालय तक प्राध्यापक, डिस्पैंसरी से लेकर अस्पताल तक डॉक्टर और अपने-अपने कार्यक्षेत्र से कर्मचारी-अफसर कैसे मिस्टर एक्स से, ओझल

रहते हैं. कोई मोबाइल से पूछे तो वह उपलब्ध हैं, रूबरू खोजे तो गायब. वह यहां की व्यवस्था से परिचित होकर इस सुखद निष्कर्ष पर पहुंचे कि जो अपने कर्तव्य से जितना उदासीन है, वह अपने वर्तमान से ऊंची अधिकार की कुरसी के प्रति उतना ही सचेत.

यह कतई 'कुरसी का कपटी, काहिली उसूल' है. इसके अनुसार हर कामचोर को विश्वास है कि तरक्की की कुरसी पर उस का उतना ही हक है जितना कार्यकुशल का. यह अंग्रेज़ी के पीटर्स प्रिंसिपल का विशुद्ध स्वदेशी पर्याय है जो जीवन के हर निजी-सरकारी दायरे में लागू है.

जिसके पास नहीं है, वह उसे पाने को बेताब है. जो कुरसी पर काबिज है, वह उससे बेहतर का तलबगार है. इतने दिनों से बस वही कुरसी. कोई बदलाव नहीं. देखते ही उसे खीझ आती है. पृष्ठ भाग में बैठते ही जैसे उसे कांटे चुभते हैं. आगे-पीछे, दायें-बांयें बैठने वाले वर्मा, शर्मा, त्यागी, कुरील सब बड़की कुरसी पर सवार हैं. आलम यह है कि वह अब सपने तक में बड़बड़ाता है- ''अंधे हैं तो क्या, सब कम्बख्त सोर्स वाले चमगादड़ हैं.'' वह रात-दिन सबको कोसता है, शीशे के सामने खड़े होकर खुद को भी-'' आंख वालों को कौन पूछता है? जमाना खालिस उल्लुओं का है. दिन भर आकाओं का हुकुम बजाते हैं, बिना सही-गलत देखे-समझे, रात को इंटरनेट पर पॉर्न की नयी-नयी साइट तलाशते हैं.''

उसे कम्प्यूटर से भी सिद्ध है. उसके समय में कम्पू-भैया मुल्क में नहीं पधारे थे. अब तो हर मेज पर एक चमचमाता 'टर्मिनल' है. दीगर है कि वह ज़्यादातर के लिए 'कम्पू' सजावट की साम्रगी है. रख-रखाव का उसका ठेका भी है. पर जैसी रीत है, उसमें भी कमीशन है. कागज़ों में चुस्त-दुरुस्त है, सब. सड़क पर, बिल्डिंगों में कमीशन के गड्ढे हैं. कहीं-कहीं तो स्कूल-पुल सिर्फ़ सरकार की फाइलों में है, ज़मीन पर नदारद हैं.

गनीमत है कि फिलहाल नाम के वास्ते दफ्तरों का अस्तित्व है, काम के लिए हो न हो. नहीं तो क्या पता, ऐसा मुबारक दिन भी आये कि कार्यालय वेतन-भत्ते के वास्ते केवल लेखाकार के कागज़ों में दर्ज हो कोई दफ्तर खोजने जाए तो पाये कि किसी सत्ताधारी भू-माफिया के सरगने ने कहां बहुखंडी रिहाइशी इमारत बनवा दी है, सब कुछ आका के चुनावी वादे के अनुसार है. अपने वचन का पक्का है, वह. उसका संकल्प था कि वह हर बेघर के सिर पर छत देगा. उसने जो कहा, कर दिखाया. अभी इस बहुखंडी की एक छत करोड़ के ऊपर की है, धीरे-धीरे कम होगी.

एक ही कुरसी पर टिके बाबू को अंदर ही अंदर यकीन है. यह जो कम्पू है, महज नये युग का चोंचला है, फैशन है. यह ज्ञान का भंडार किसी और देश में होगा, यहां तो बस पॉर्न का दुकानदार है. जाने क्यों, इस पावन माटी का ऐसा करिश्माई असर है कि अधिकतर मानव ही नहीं, मशीनें भी

बीमार हैं. अस्पताल गरीबों के इलाज के नहीं, उन्हें ऊपर उठाने की त्वरित सेवा के मुफ्तिया केंद्र हैं. यही बदहाली मशीनी उपकरणों की है.

अगर कम्पू भैया इतने ही प्रभावी होते तो रोज़ नाक के नीचे घपला कैसे होता? घोटाला-प्रधान देश होने की अंतर्राष्ट्रीय शौहरत हम कैसे कमाते! बाबू भूलता है कि नैतिकता इंसान की फितरत है, मशीन बस मशीन है. अश्लील हरकतें और करतब आदमी की करतूतें हैं, मशीन की नहीं. जिसके कपड़े ही नहीं है, वह उन्हें क्या खाक उतारेगी? बहरहाल, बाबू को अपनी खामी का ठीकरा किसी और के ऊपर फोड़ना है. पहले उस ने 'सोर्स' को गरियाया, फिर कम्पू को. वह जानता है. दोनों में से किसी का कुछ बिगाड़ने की उसकी हैसियत नहीं है. मन ही मन, उस की एक ही हसरत है. उसका भी कोई सोर्स होता! काबिल वो है, जो कामयाब है, सही सोर्स पकड़ने में. वह तो कतई नालायक है. यह भी नहीं कर पाया. वह कभी-कभी खुद को भी धिक्कारता है पर ऐसे पल दुर्लभ हैं. उसे तत्काल ख्याल आता है. उसके उसूल हैं. सिद्धांत हैं. सम्भव है कि वह समय के अनुरूप न हों, उसे बड़ी कुरसी दिलवाने में असफल हैं पर उसका श्रेष्ठता का मुगालता बनाये रखने में सक्षम हैं.

कुरसी सर्वव्याप्त है और उसे हथियाने की साध भी. आज कुरसी आदमी के कद का अहसास है. कभी सेवा का रही होगी, अब उसमें सिर्फ़ आदमखोर सत्ता की बू है जैसे किसी अस्पताल में दर्द, पीड़ा और रोग की दुर्गंध. सेवा का ढोंग नेता तो करते ही हैं, दूसरे का खून चूस कर, हिपोक्रेटीस की कसम लेकर निजी प्रैक्टिस करने वाले डॉक्टर किससे पीछे हैं? उनमें पैसे की प्रतियोगिता है. किसकी फीस ज़्यादा है? कौन रोज़ कितने मरीज निबटाता है? आयकर को कैसे चूना लगता है? किसके कितने फॉर्म हाउस हैं, कितनी कोठी-कारें.

कैसा आश्चर्य यदि वह सरकारी अस्पताल के हमपेशा लोगों को खुद से कमतर मानें. यों दोनों के पास भीड़ है, इतनी कि सिर उठाने की फुरसत न मिले. बस छोटा-सा अंतर है. एक मुफ्तिया है, दूसरा फीसिया. हमें कभी-कभी लगता है कि हालिया वक्त में धन और जीवन कुछ गड्ड-मड्ड हो गये हैं, खासकर समाज के सम्पन्न वर्ग में. सरकार का डॉक्टर अपनी तुलना सफल निजी डॉक्टर से करता है और अकारण उदास हो जाता है– "हम से जूनियर था, मेडिकल कॉलेज में और आज प्राइवेट प्रैक्टिस में सबके कान काट रहा है."

कोई यह नहीं सोचता कि वह आदमी है कि मुद्रा कमाने की मशीन. नाते-रिश्ते, दोस्त, सम्बंध सब सुविधा के हैं. कौन-से क्या मिले? कैसे प्रैक्टिस बढ़े या नर्सिंग होम की ज़मीन? उन्हें पता है कि सोने की रोटी और रत्नों की दाल-सब्जी, इंसानी

खुराक नहीं है पर उसके संग्रह से उन्हें संतोष है. उन्हें भ्रम है कि बैंक-बैलेंस, समृद्ध बस्ती में घर, हर मॉडल की कार, क्लिनिक या अस्पताल के स्वामित्त के चार खम्बों पर, सामाजिक स्टेटस का पूरा फर्नीचर निर्भर है वर्ना सोफा, मेज, कुरसी तीन टांग के न रह जायें!

शिक्षा-संस्थान, दफ्तर, दुकान, अदालत, वकील, डॉक्टर, नेता-अफसर, मंत्री-ठेकेदार, दादा-माफिया किसी का भी बिना कुरसी गुजारा नहीं है. उसका आकार, ऊंचाई, साइज, डिजाइन, कुषन वगैरह घट-बढ़ सकते हैं पर एक अदद कुरसी तो होना ही होना. देखने में आया है कि निजी-सरकारी दफ्तरों के आस-पास कुछ ऐसे बिचौलिये टाइप व्यक्ति भी मंडराते हैं जिन्होंने अपनी पूरी ज़िंदगी वहां की कुरसी को समर्पित कर दी है. कुरसी पर बैठने वाला, तबादले, तरक्की या सेवा निवृत्ति से भले बदले, ऐसों को कोई फर्क नहीं पड़ता है. उन के पास कोई हुनर है कि उस कुरसी पर स्थापित होनेवाला हर इंसान उन्हें अपना 'खास' समझता है. उन्होंने उस दफ्तर के विषय में ऐसी विशेषज्ञता हासिल की है कि वहां का कोई भी काम उनकी मदद के बिना मुमकिन नहीं है.

इस रोचक और कार्यालयों के व्यावहारिक तंथ्य से अपरिचित ही रह जाते यदि हमें एक दिन ट्रांसपोर्ट कार्यालय के सामने से गुज़रते यह ख्याल न आता कि पत्नी का ड्राइविंग लाइसैंस 'रिन्यू' होना है. हम स्कूटर रोककर उतरे तो एक अनजान सज्जन पास आकर बोले– ''कहिये, क्या काम है?''

''बस एक ड्राइविंग लाइसैंस का नवीनीकरण करवाना है.''

''दिखाइए, हो जायेगा?''

''फिलहाल तो घर पर है, लाना पड़ेगा.''

उन्होंने हमें आश्वस्त किया कि यह मामूली-सा मसला है. इस पर हमें अपना कीमती समय बर्बाद करने की कोई दरकार नहीं है. अपने नाम और नम्बर का कार्ड उन्होंने पेश किया– ''हफ्ते में किसी भी दिन आइए हम अकसर यहां रहते हैं, नहीं तो अपने 'सेवा-सुभीता' केंद्र में. लाइसैंस और दो सौ रुपये दीजिए, अगले दिन कहिए तो 'होम-डिलीवरी' वर्ना यहीं से आप ले जा सकते हैं.'' उन्होंने एक और सुझाव भी दिया- ''आने-जाने की जहमत से बचना चाहें तो हम आप के घर से भी लाइसैंस मंगाकर वापस भेज देंगे पर इस का खर्चा अलग होगा.''

हमें उनका प्रस्ताव रास आया फिर भी दफ्तर के सामने रुके हैं तो अंदर झांकने का मन हम बना ही रहे थे कि हमारा इरादा उन्होंने ताड़ लिया– ''आज सारा काम-काज ठप है.''

स्वाभाविक उत्सुकतावश हमने जानना चाहा ''क्यों?''

''अफसर की कुरसी रो रही है.''

जड़ कुरसी का रोना हमें अविश्वसनीय

लगा. अपनी भी कार्यालय में कुरसी थी. थोड़ी पुरानी. उखड़ा पेंट, फटी गद्दी. पर उसे आज तक हमने वैसा का वैसा निर्विकार ही देखा था. भाव-शून्य. न खुश, न दुखी. अच्छी-खासी उम्रदार कुरसी थी वह. हमारे एक पूर्वज उस पर बैठते थे. लोग उन्हें अकसर याद करते हैं. गाली के फूल, श्रद्धा से उनकी स्मृति को चढ़ाते हैं– "ऐसा मतलबी था कि कैंटीन में चाय पीकर भी समय में अड़ंगा लगाया. कभी साहब से शिकायत कर छुट्टी 'सेंक्शन' नहीं होने दी, कभी फंड की अर्जी पर मनमाना ऐतराज लगा दिया. उसने पूरी नौकरी साहबों के सामने दुम हिलाते निकाल दी." ऐसी पुण्यात्मा की सेवा निवृत्ति के बाद भी कुरसी ने कोई प्रतिक्रिया नहीं व्यक्त की जबकि पूरे दफ्तर ने उन्हें घड़ी, छड़ी और फूल-मालाओं से लादकर राहत की सांस ली. इतना ही नहीं, उनकी सदाशयता, सहयोगियों की सहायता, कार्य-निष्ठा, परिश्रम जैसे अभी तक गुप्त रहे गुणों के कसीदे भी पढ़े गये.

फिर क्या हो गया जो गम, खुशी, जज़्बात जैसी दुनियावी फिजूलियात से ऊपर उठी कुरसी की आंख भर आयी. हमें ख्याल आया कि कुरसी के हत्थे हैं, पाये हैं पर आंखें तो हैं ही नहीं, वह कैसे रोयेगी भला? हमने यही जिज्ञासा सूचना देने वाले सज्जन से जतायी– "बात आपकी ठीक है पर इतनी ओ.बी. वैन खड़ी है, चैनलों की. रोती कुरसी का आंखों देखा हाल प्रसारित हो रहा है जैसे कोई क्रिकेट मैच हो. चलिए, आप भी यह अद्भुत नज़ारा देख लें."

ट्रांसपोर्ट दफ्तर के उस हर कार्य-सिद्ध करवाने वाले कलाकार के साथ हम अंदर पहुंचे तो अफसर के खाली कमरे में तिल रखने को जगह न थी. टी.वी. वाले, दफ्तर के कर्मचारी और हमारे ऐसे बाहरी इतने भरे थे कि लोग कुर्सियों पर खड़े होकर रोती कुरसी के साक्षी बन रहे थे. हम जैसे अविश्वासी भाव से अंदर गये, वैसे ही लौट भी आये बाहर भी रोती कुरसी चर्चा में थी. "यार, सब फिजूल का स्टंट है, कुरसी भी रोती है, भला?"

'भैया, जब गणेश जी गटागट दूध पी सकते हैं, तो कुरसी क्यों नहीं रो सकती है!"

एक अन्य बोला– "यार! हमने तो कुरसी को रोते देखा ही नहीं. प्रत्यक्षदर्शी बताते हैं कि उस के चारों पायों से आंसू बूंद बनकर इतने टपक रहे थे कि ज़मीन गीली थी. उनके स्वर से संशय टपक रहा था. हम भी इस सुनी-सुनायी से सशंकित थे कि एक अन्य ने ज़ोर देकर प्रवचन दिया– "भगवान के दर्शन कितनों ने किये हैं? बहुत-सी चीज़ें ऐसी हैं जिन पर बिना देखे भी यकीन करना पड़ता है. हमने मुल्क की हरियाली हर ली है. जंगल के जंगल बेरहमी से काट दिये हैं. शहरों के हरे-भरे पार्क पत्थर लगाकर निर्दयता से उजाड़े हैं. कुरसी भी तो लकड़ी की पैदाइश है. पुरखों के दर्द में उसका दुखी होना कौन अचम्भे

की बात है? आदमी काठ हो गया है. कौन कहे, उसकी थोड़ी बहुत संवेदना कुरसी में आ गयी हो?''

हम ट्रांसपोर्ट के सिद्ध संत के साथ कुरसी-कक्ष से बाहर आये तो एक शंकालु दूसरे को बता रहा था– ''प्रवचक का उपदेश सुना आपने? इन्हीं लोगों ने मुल्क का कबाड़ा किया है. ऐसों को क्या? अपनी आवाज़ सुनने का शौक है, बस धारा-प्रवाह बोलना है. ऐसे बकबकानंदों की पूरी जमात है, हर गली-मोहल्ले में.''

जब अपनी कुरसी पर पहुंचे तो उस ने बैठने पर चूं-चर्र की तो हमें शक हुआ. हमने चोरी-छिपे नीचे नज़र डाली. कुरसी हमारे भार से कराहती तो रोज़ है, आज, देखा-देखी, रोने तो नहीं लगी. हर चैनल पर कुरसी के आंसू, ब्रेकिंग न्यूज हैं. एक चैनल पर बुद्धिजीवियों की परिचर्चा चल रही है. हर परिचर्चा धीरे-धीरे परचर्चा बनती है. बुद्धि के एक ठेकेदार फरमा रहे हैं– ''जैसे आम आदमी त्रस्त है, आम कुरसी भी. वह हेय भावना से परेशान है. ऊंची बड़की कुर्सियां करोड़ों में खेल रही हैं, तुलना में यह छुटकी सिर्फ़ कौड़ियों में. अपनी इस दुर्दशा पर वह रोये नहीं तो क्या खिलखिलाये?''

हमें भरोसा है. न जानवर हंस सकता है, न कुरसी रो सकती है. यों आज के टी. वी. चैनल सब करवाने में समर्थ हैं. ❑

दो ग़ज़लें

● विज्ञान व्रत

(1)

घर के आगे पूजाघर है
देखो उसको कितना डर है

चुप रहता था क्या करता
वो तनहा था क्या करता

कोई भी पहचान नहीं
शहर नया था क्या करता

उसका कोई नाम न था
सिर्फ़ पता था क्या करता

आखिर उसको मौत मिली
सच कहना था क्या करता

वैसे वो सुकरात न था
ज़हर बचा था क्या करता

(2)

जब तक एक विवाद रहा मैं
तब तक ही आबाद रहा मैं

महलों के लफ़्फ़ाज़ कंगूरे
गूंगी सी बुनियाद रहा मैं

काल-पात्र में ज़िक्र नहीं था
लेकिन सबको याद रहा मैं

उनकी सब परिभाषाओं में
एक प्रखर अपवाद रहा मैं

शब्दों के उस कोलाहल में
अनबोला संवाद रहा मैं

● शरद पगारे

'मुहब्बत कितना प्यारा लफ़्ज़ है. लेकिन उसका अंजाम कितना बुरा होता है.' प्यार में चोट खाये मुगल बादशाह औरंगजेब का यह कथन प्रेमियों की त्रासदी को रेखांकित करता है. प्रेम अमीर करे या गरीब बिछोह और दुखद अंत उसकी नियति है. समाज का रूढ़ीवादी संकुचित नज़रिया, ऊंच-नीच, धर्म-जाति के बंधन प्रेमियों को परिवार की इज़्ज़त की सूली पर चढ़ा देते हैं. इनके विषैले दांतों से गिने-चुने भाग्यवान ही बच पाते हैं. जिनकी मुहब्बत परवान चढ़ती है अधिकांश को हिंसात्मक विरोध का सामना करना पड़ता है. अठारहवीं सदी के प्रेमी इसके अपवाद नहीं थे. दोनों राज परिवार से थे. प्रेमी तो अपने वक्त का शक्तिशाली और प्रतिभाशाली इतिहास-प्रसिद्ध नायक था. जिसकी तलवार का लोहा सारा हिंदुस्तान मानता था. विशाल घुड़सवारों की सेना के साथ जिस दिशा में निकल जाता उस इलाके के शासकों के दिल पीपल के पत्तों से कांपने लगते. जिसके सिर पर हाथ रख देता राजा बन जाता.

कथानायक की मर्दाना सुंदरता बेमिसाल थी. उसका व्यक्तित्व अत्यंत ही आकर्षक और मोहक था. वो चितपवन ब्राह्मण था. महाराष्ट्र में चंद्रसेनिय कायस्थ प्रभु जाति के बाद चितपवन अपनी अप्रतिम सुंदरता, प्रतिभा और विद्वता के लिए प्रसिद्ध है. कथानायक पेशवा बाजीराव के दादा विश्वनाथ, पिता बालाजी राव पंत और मां राधाबाई अपने दैहिक सौंदर्य के लिए जाने जाते थे. पेशवा बालाजी पंत के बारे में इतिहासकार प्रमोद ओक, 'पेशवा घराण्याचा इतिहास' में लिखते हैं, 'बालाजी राव का व्यक्तित्व विशाल था. गौर वर्णीय चेहरा

और विलक्षण चातुर्य था उसमें. राजनीति और कूटनीति का कुशल खिलाड़ी. तलवार का धनी और सैन्य संचालन में श्रेष्ठ. दुश्मन की हर कमज़ोरी को भांप उसका भरपूर फ़ायदा उठाने में माहिर. राजनीतिक चालों में असफल होने पर तत्काल सैन्य कार्यवाही करने को तत्पर. कला-साहित्य का प्रेमी. गुणीजनों का सम्मान करने वाला था बालाजी पंत पेशवा.'

और मां राधा बाई! साहूकार दादाजी जोगदेव बर्वे की अप्रतिम रूपसी बेटी थी. गोरी-गुलाबी रंगत. मध्यम ऊंचाई, बड़ी-बड़ी गम्भीर आंखें. सुंदर नाक और आकर्षक चिबुक. चालाक साहूकार दादाजी बर्वे ब्याज-बट्टे का धंधा करता था. मुहीम के लिए पेशवा उससे कर्ज़ा लेते. उनसे सख्ती से बेमुरव्वत ब्याज सहित रकम वसूलता. साहूकार घराने के सारे गुण राधा को विरासत में मिले. सुंदरता के साथ चतुर, बुद्धिमान और दबंग स्वभाव की होने से परिवार ही नहीं पेशवा दरबार और मराठा राजनीति में भी दखल देती थी. मराठा सरदारों पर भी हुक्म चलाती थी. पेशवा की अनुपस्थिति में शासन की बागडोर उसी के हाथों में रहती.

बालाजी-राधा के आकर्षक एवं मनमोहक रूप-गुणों का सर्वोत्तम समन्वय था बाजीराव. गठीला कसरती बदन. गोरा-गुलाबी वर्ण. यूनानी देवता के समान सांचे में ढली देह. बड़ी-बड़ी आंखें और सुंदर नाक. अजान बाहू तथा चौड़ी छाती. पुरुष सुंदरता का नायाब नमूना. रसिक और शौकीन मिजाज़. बढ़िया वस्त्र-आभूषणों से सजा-धजा रहता. सोने-चांदी के तारों की कशीदाकारी तथा मोतियों से टंका अंगरखा पहनता था. पेंचदार पेशवाई पगड़ी हीरे मोतियों की लड़ियों से सज्जित रहती. कानों में पन्ने के बुंदे और अंगुलियों में हीरे जड़ी अंगूठियां. गले में हीरे पन्ने-लाल जड़ित कंठा पहनता. उसकी मखमली जूतियां भी सोने-चांदी के तारों से मोतियों-जड़ी थीं. सिंधिया सरदार राणोजी शिंदे अपने पेशवा मालक की इन अमूल्य जूतियों को सावधानीपूर्वक अपनी छाती से लगाये रखता था. मालक पेशवा बाजीराव के आते ही आदर-श्रद्धा से मुजरा कर पहनाता था. पेशवा की रसिकता और शौक को पूरा करने सारे हिंदुस्तान से कपड़ों, आभूषणों, हीरे-जवाहरातों के व्यापारी पूना दरबार में सलाम करने पहुंच अच्छा मुनाफा कमाते. बाजीराव नाच-गाने के रसिया भी थे. अतः कलाकारों,

नृत्यांगनाओं का तांता पूना के लिए लगा रहता.

मनमोहने वाले बाजीराव के रूप-गुणों की चर्चा सारे हिंदुस्तान में थी. उससे प्रभावित हो निजाम-उल-मुल्क और उसकी बेगमों ने बाजीराव का चित्र बनाने के लिए एक चित्रकार को पूना भेजा. बाजीराव से मिलने पर चित्रकार पेंटिंग बनाना भूल अपलक देखता ही रह गया. चित्र तो बाद में याददाश्त के सहारे बना, निजाम को भेंट किया. बाजीराव से व्यक्तिगत रूप से मिलने पर निजाम ने अपने प्यारे दुश्मन के प्रति स्नेह-आदर प्रकट किया. उत्तर भारत में मराठा दबदबा कायम करने बाजीराव ने विशाल पागा के साथ दिल्ली कूच किया. दिल्ली पहुंचने के पहले ही राजधानी और मुगल हरम उसकी पुरुषोचित सुंदरता की चर्चा से गुंजरित था. पेशवा के दर्शन हेतु रास्ते के लोगों और दिल्ली वासियों की भीड़ लग गयी. दीवान-ए-खास में पेशवा ने जब बादशाह मुहम्मद शाह से मुलाकात की तो उसके दीदार हेतु हरम की बेगमात, शहज़ादियां, कनीज़ें और बांदियां चिलमन से आ चिपकी थीं. बादशाह ने फर्जंद (बेटा) कह बाजीराव का इस्तकबाल किया. बाजीराव एक सम्पूर्ण पुरुष था.

खूबसूरती और कला के बल पर इतिहास में जिन तीन रूपसियों ने कालजयी जगह बनायी, वे थीं- आम्रपाली, रानी रूपमती और मस्तानी. सौंदर्य का प्रतिमान थीं तीनों. मस्तानी अठारहवीं सदी की सर्वश्रेष्ठ सौंदर्य साम्राज्ञी थी. ईरानी मां और बुंदेला राजपूत महाराजा छत्रसाल की यह बेटीईरानी-राजपूतानी खूबसूरती का सर्वश्रेष्ठ समन्वय थी. इतिहास ईरानी सौंदर्य की गवाही बेगम नूरजहां और मुमताज़ बेगम के रूप में देता है. और राजपूतानी रूप-लावण्य जग प्रसिद्ध है. मस्तानी दोनों के मिश्रण का दिलकश, नायाब नमूना थी. नाच, गाने के रियाज़ ने मस्तानी को सर्वश्रेष्ठ नर्तकी-गायिका बनाया. राजपूतानी परम्परानुसार छत्रसाल ने प्यारी बेटी को कुशल घुड़सवार, निशाने पर सटीक भाला फेंकने तथा तलवारबाज़ी में माहिर कर दिया. इतिहासकार डॉ. भगवानदास एवं डॉ. एच.एन. सिन्हा लिखते हैं, 'मस्तानी जब भी पेशवा बाजीराव के साथ मुहिम पर गयी सदैव हथियार बंद रहती थी. उनकी बगल में रकाब-ब-रकाब घुड़सवारी कर श्रेष्ठ घुड़सवार होने का परिचय देती थी.' यदि बाजीराव सम्पूर्ण पुरुष था तो मस्तानी रूप-गुण सम्पन्न सम्पूर्ण नारी.

इतिहास प्रसिद्ध सुंदरियों की जन्म कहानी विवादों-भ्रमों से घिरी है. इतिहास, साहित्य, लोक जीवन में उसके बारे में अनेक किवदंतिया मिलती हैं. इतिहासबोध की कमी इसका मुख्य कारण है. मस्तानी भी इनके घेरे में थी. नाच, गायन, वादन की कला-साहित्य से जुड़ी रूपसियों को तवायफ माना गया. संगीतकारों को भांड मिरासी जैसे हेय शब्द से नवाज़ा गया. समाज उन्हें सम्माननीय दर्जा देने को तैयार नहीं था. उन्हें मनोरंजन और दिल बहलाने वाला माना जाता था. सांस्कृतिक कला का दर्जा तो उन्हें सदियों बाद मिला.

पेशवा बाजीराव के दरबार में हाज़िरी लगाने देशभर के कलाकार, साहित्यकार पूना आते रहते थे. कद्रदान पेशवा से अच्छा इनाम-इकराम पाते. जनश्रुति के अनुसार सदी की मशहूर-ओ-मारूफ बेहद हसीन तवायफ मस्तानी भी मुजरा करने पूना पहुंची. मस्तानी की बौरा देने वाली खूबसूरती, मुजरे की दिलकश अदाओं ने रूमानी बाजीराव के दिल को हिला दिया. दिल खोलकर पुरस्कारों की बरसात तो की ही दिल के हाथों मज़बूर पेशवा ने उसे पत्नी बनाने का प्रस्ताव भी रख दिया. महान योद्धा और प्रभावशील सुदर्शन व्यक्तित्व के पेशवा के प्रस्ताव को ठुकराना मस्तानी के दिल के बस में नहीं था. कुछ शर्तों के साथ बाजीराव की पेशकश मंज़ूर कर ली. मस्तानी चाहती थी कि पेशवा से उत्पन्न संतान को भी वही दर्जा तथा सम्मान मिले जो उनके बेटे नाना साहेब को प्राप्त है. पेशवा ने मंज़ूर कर लिया.

'पेशवा घराण्य चा इतिहास' के लेखक श्री प्रमोद ओक एक रोचक जानकारी देते हैं. वे लिखते हैं, 'मस्तानी हैदराबाद के निजाम की अत्यंत खूबसूरत शहज़ादी थी. दक्षिण भारत में वर्चस्व को लेकर निजाम और पेशवा में संघर्ष होता रहता था. निजाम को शिकस्त देने में बाजीराव सदैव सफल रहता था. संघर्ष को पारिवारिक रिश्ते में बदलने का सुझाव निजाम की बेगम ने दिया. निजाम से कहा-''हमारी बेटी दुल्हन बनने लायक हो गयी है. उसे बाजीराव को दे देना चाहिए. दूल्हा (बाजीराव) लायक, मेहनती और योग्य है. उसका (मस्तानी) निकाह बाजीराव से कर पारिवारिक रिश्ते बढ़ाना चाहिए.'' नवाब (निजाम) को बात जम गयी. उसने कोशिश शुरू कर दी. रीति-रिवाज के मुताबिक विवाह सम्पन्न हुआ. बेटी को अकूत दान दहेज दिया. हाथी, पागा (घोड़े) तथा बांदियां भी दी गयीं. अनेक जवाहरात, कीमती वस्त्र-आभूषण बड़ी मात्रा में दिये. अपनी बेटी को पूना वालों को देना चाहिए यही एक रास्ता (मित्रता का) है. निजाम ने यही किया. शहज़ादी का नाम मस्तानी था. उसके घोड़ों की पागा, हाथियों और दहेज में मिले अकूत सामान के लिए पुणे के (पेशवा) महल में अलग से महल का इंतजाम किया गया. जो 'मस्तानी महल' कहलाया. उसने दो बेटों को जन्म दिया. वह रही नहीं (उसकी मृत्यु हो गयी). उसके एक बेटा हुआ. उसका नाम समशेर बहादुर रखा गया. अन्य पुत्रों के समान उसकी योग्यता का सम्मान हुआ. उसका निकाह कर सरदारी दी गयी. बाद में नाना साहेब (बाजीराव के वारिस) ने उसे नौबत, सोने का दंड व छत्र प्रदान किये. आलीजा बहादुर उसका (शमशेर बहादुर) का बेटा था. उसे भी वही

इज़्ज़त बख्शी गयी. 'काव्ये इतिहास संग्रह पत्रे' नामक किसी मराठी ग्रंथ में इस घटना का उल्लेख है. इसका समर्थन अन्य समकालीन इतिहास की पुस्तकें नहीं करती. निजाम-पेशवा की कट्टर दुश्मनी को देखते हुए यह सम्भव नहीं लगता.

मस्तानी के बारे में एक मनोरंजक कहानी और मिलती है. दक्षिण में निजाम को हराने के बाद पेशवा बाजीराव का छोटा भाई चिमाजी अप्पा पूना लौट रहा था. रास्ते के पड़ाव पर संयोग से अप्पा की भेंट नर्तकी मस्तानी से हुई. चिमाजी उसकी खूबसूरती व नाच-गाने की महारत से बहुत प्रभावित हुए. अपने साथ पूना ले आया. नृत्य-संगीत के शौकीन अपने बड़े भाई पेशवा बाजीराव को भेंट कर दिया. यह किंवदंती महत्त्वहीन है. चिमाजी अप्पा ने मां राधाबाई से मिल बाजीराव-मस्तानी के प्रेम सम्बंधों का न केवल तगड़ा विरोध किया वरन दोनों को अलग करने का पूरा प्रयास किया. अतः उसके द्वारा मस्तानी को बाजीराव से मिलाना सम्भव नहीं लगता. पेशवा बरवर में इसका उल्लेख है. लेकिन इसका ऐतिहासिक आधार नहीं है.

मराठा और बुंदेलखंड के बहुसंख्यक इतिहासकार मस्तानी को महाराज छत्रसाल की औरस बेटी मानते हैं. इनमें इतिहासकार ग्रांट डफ, डॉ. भीमराव, कैप्टन हडसन तथा 'पेशव्यांच बखरीत' के आधार पर डॉ. भगवानदास 'महाराजा बुंदेला' में इसका समर्थन करते हैं.

इतिहासकार द.ग. गोंडसे एक रोचक जानकारी अपनी पुस्तक में दफ्तनी के हवाले से देते हैं. इसके अनुसार सन 1707 में औरंगजेब की मृत्यु के बाद उसके बेटों में उत्तराधिकार का संघर्ष छिड़ गया. इसका फायदा उठाते हुए छत्रसाल ने मालवा पर हमला कर दिया. बुंदेली सेना ने सूबेदार अनवर खान को भेलसा किले में घेर लिया. उसकी रसद काट दी. एक माह तक युद्ध चलता रहा. हारकर अनवर खान ने संधि की पेशकश की. हजनि के रूप में छत्रसाल ने एक बड़ी रकम और मालवा के कई इलाकों की मांग की. सूबेदार अनवर खान ने संदेश भिजवाया, 'आपके पिता श्री चतुर सिंह (चम्पत राय) मेरे पगड़ी बदल भाई थे. आपसे भेंट करना चाहता हूं.' मध्यस्थ की मदद से उनकी भेंट हुई. अनवर खान ने छत्रसाल को गले लगाया और कहा, 'आपके पिता महाराज चतुर सिंह (चम्पत राय) और हमने बादशाही फौज में पंद्रह साल साथ-साथ नौकरी की है. एक दूसरे की जान की हिफाज़त की. एक नाजुक मौके पर आपस में पगड़ी बदल भाई बनने की कसम खायी. देखिए मेरे सिर की पगड़ी आपके पिताजी की दी है. 'ऐसा कह चतुर सिंग (चम्पत राय) द्वारा दी पगड़ी अनवर खान ने छत्रसाल के हाथों में रख दी. अपने पिताश्री की पगड़ी छत्रसाल ने पहचान ली. खान से गले मिले.

संधि की शर्तों के अनुसार खान ने दो लाख रुपए हर्जाना बतौर दिये. कुछ इलाके भी छत्रसाल को मिले. छत्रसाल मालवा में कोई कार्यवाही न करे इसलिए खान ने अपनी खूबसूरत बेटी की बुंदेली प्रथानुसार छत्रसाल की कटार से शादी कर दी. उसने मस्तानी

नामक बेहद हसीन बेटी को जन्म दिया. अनवर खान और मस्तानी की मां दोनों ईरानी मूल के थे. छत्रसाल ही सर्वसम्मति से मस्तानी के पिता थे. मगर मां तय नहीं है. एक अन्य जानकारी के अनुसार तलवार और कलम के धनी कवि छत्रसाल के दरबार में एक ईरानी तवायफ मुजरा पेश करने आयी थी. उसकी अलौकिक खूबसूरती और नृत्य-संगीत की महारत से प्रभावित महाराज ने उसे उपपत्नी बना लिया. उसके लिए अलग से महल बनाया. उससे समशेर खान और खानजहा नामक दो पुत्र और एक पुत्री हुई. यही पेशवा बाजीराव को पेश की जाने वाली मस्तानी थी. डॉ. भगवानदास द्वारा 'महाराजा छत्रसाल' नामक पुस्तक में प्रस्तुत इस तथ्य का समर्थन इतिहासकार ग्रांट डफ भी करते हैं. मस्तानी को तवायफ मां से कला-संगीत और अलौकिक खूबसूरती मिली तो राजपूतानी शौर्य पिता से प्राप्त हुआ.

मस्तानी का धर्म

मस्तानी के धर्म को लेकर अनेक भ्रांत धारणाएं मिलती हैं. सामान्यतया धर्म शास्त्र पिता के धर्म को ही संतान का धर्म मानते है. मस्तानी के साथ ऐसा नहीं हुआ. मुसलमान मां की बेटी होने से उसे भी मुसलमान माना गया. जबकि उसके हिंदू पिता छत्रसाल प्रणामी सम्प्रदाय के अनुयायी होने से भगवान श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त थे. मस्तानी भी पिता के समान भगवान कृष्ण भक्त थी. दशहरा, दीवाली, नवरात्र तथा रामजन्म एवं कृष्ण जन्मोत्सव पर उपवास रख उन्हें धूमधाम से मनाती थी. भगवान राम और कृष्ण की मूर्तियों की पूरे कर्मकांड के साथ पूजा कर भजन गाते हुए नृत्य भी करती थी.

धार्मिक मामले में छत्रसाल अत्यंत उदार और धर्मसहिष्णु थे. अपनी ईरानी पत्नी और उसके बच्चों को इस्लाम धर्म मानने की पूरी छूट दे रखी थी. मस्तानी हिंदू त्यौहार, उपवास, पर्व मनाती थी. साथ ही ईद और रमजान भी मनाती थी. पिता के समान धार्मिक मामलों में उदार थी. हिंदू संत-महात्माओं के समान मुसलमान पीर-फकीरों में भी उसकी आस्था थी. पेशवा परिवार में पहुंचने के बाद परिवार और पूणे के कट्टर ब्राह्मण समाज ने मस्तानी को मुसलमान ही माना. इसके विपरीत गैर ब्राह्मण मराठा समाज और सरदार मल्हार राव होल्कर, राणोजी शिंदे, उदाजी पंवार, रघुजी भोंसले आदि मस्तानी के धर्म को महत्त्वहीन मानते थे.

क्या मस्तानी तवायफ थी?

मराठा इतिहास और साहित्य में मस्तानी को कंचनी कहा गया है. कंचनी का मतलब कवि रसलीन के शब्दों में 'कनक

छरी सी कामिनी' कंचन (सोने)-सी काया वाली पेशवा दफ़्तर के कागज़ों में मस्तानी को मस्तान कलावंत दर्शाया है. इतिहासकार विलियम इरविंग उसे कंचनी मस्तानी, एक नाचने वाली मानते हैं. महाराष्ट्र में तवायफ को कंचनी कहते हैं. इसी आधार पर कंचनी मस्तानी को भी तवायफ मान लिया गया. इसमें कोई संदेह नहीं की मस्तानी की मां तवायफ थी. मगर किसी कोठे की मालकिन नहीं. छत्रसाल की उपपत्नी थी. पिता छत्रसाल बुंदेला राजपूत थे इस हिसाब से वो राजपूत राजकुमारी थी. कला, नृत्य, संगीत प्रेमी, कवि छत्रसाल ने अपनी लाड़ली को इन कलाओं में पारंगत बनाया. कलावंत मस्तानी की कला ही उसके खिलाफ़ इस्तेमाल की गयी. उसे नाचने गाने वाली तवायफ निरूपित किया गया. नाच-गाने, वादन की सांस्कृतिक कला को किसी भी युग में सामाजिक मान्यता और सम्मान नहीं मिला. नृत्य-संगीत के श्रेष्ठ कला गुण मस्तानी के लिए अवगुण साबित हुए. उस चंद्रबदनी के सर्वोत्तम गुणों पर मां के मुसलमान और तवायफ होने ने ग्रहण लगा दिया. तंगदिली नज़रिये वाले परिवार-जाति ने छत्रसाल की बेटी होने को महत्त्व न देते हुए बाजीराव मस्तानी के जीवन में त्रासदी का सृजन किया.

छत्रसाल की गजेंद्र गति :

औरंगजेब की मौत के बाद अराजकता अव्यवस्था और विद्रोह की बाढ़ आ गयी. शहजादों में उत्तराधिकार का संघर्ष छिड़ गया. मराठों, जाटों, सिखों, बुंदेलों ने भी फायदा उठाया. बादशाह मोहम्मद शाह का नियंत्रण नाम मात्र को रह गया. सूबेदार स्वतंत्र आचरण करने लगे. छत्रसाल ने अराजकता का फायदा उठाते हुए मालवा के सूबेदार अनवर खान से सागर, झांसी तथा बुंदेलखंड से लगे कई इलाके छीन लिये. दो लाख की खंडनी भी ली. रूहेलखंड के सूबेदार मुहम्मद शाह बंगश, छत्रसाल के बढ़ते प्रभाव से भयभीत हो उठा. बुंदेलों के पर कतरने में असमर्थ एवं असहाय था. बंगल का जवाब पेशवा ही था. जिनकी धाक सारे देश में थी. छत्रसाल ने मदद के लिए बाजीराव को विनय पत्रिका भेजी.

'जो गति भई गज-ग्राह की सो गति भई आज.

बाजी बुंदेलन की राखो बाजी लाज॥'

दशहरे के उत्सव के बाद बाजीराव मुगल, दरबार में मराठा दबदबा कायम कर दक्षिण में चौथ और सरदेशमुखी वसूलने का अधिकार प्राप्त करने दिल्ली जाने को निकलने वाले थे कि महाराजा छत्रसाल का पत्र मिला. तत्काल पागा का रुख बुंदेलखंड की ओर मोड़ दिया. सूबेदार मल्हारराव होल्कर, राणोजी शिंदे, रघुनाथ, हरि नेवालकर, गोविंद वल्लाल खेर साथ थे. गुप्तचरों की जानकारी का लाभ लेते हुए बंगश को जा घेरा. उसकी रसद-पानी काट दिये. विरोध करने वाले मारे गये. कुछ दिन असफल सामना करने के बाद बंगश को घुटने टेक संधि हेतु मज़बूर कर दिया. बुंदेलखंड के हथियाए इलाके बंगश ने वापस किये. छत्रसाल पर भविष्य में हमला नहीं करने तथा पेशवा को चौथ-सरदेशमुखी देने

और बादशाह से मज़ूरी दिलाने का वचन दिया. हर्जाने के रूप में दस लाख रुपये दिये. बाजीराव ने बाजी पलट दी.

हुस्न की मल्लिका मस्तानी से मुलाकात : मुहब्बत का आगाज़

बंगश की पराजय के बाद बाजीराव को सम्मानित करने तथा आभार प्रकट करने छत्रसाल उन्हें ओरछा ले गये. मस्तानी और बाजीराव की पहली मुलाकात के बारे में इतिहास खामोश है. इसने अनेक किंवदंतियों को जन्म दिया. निश्चय ही बाजीराव और मस्तानी छत्रसाल के राजमहल में ही मिले होंगे. पहली मुलाकात के समय मस्तानी सोलह साल की सुंदरी थी. बाजीराव उससे दस वर्ष बड़े थे. काशीबाई से उनका विवाह हो चुका था. नाना साहब नामक बेटा भी था. 'तारीख-ए-बुंदेलखंड' के अनुसार सन् 1729 में उनकी पहली मुलाकात मस्तानी से हुई. बाजीराव के सुदर्शन व्यक्तित्व और वीरता की कहानियों से पहले से परिचित मस्तानी उनकी आशिक थी. उसने आगे बढ़कर पेशवा से पत्नी बनने का प्रस्ताव रखा. जिसे बाजीराव ने ठुकरा दिया. मस्तानी के दबाव डालने पर छत्रसाल के विधिवत पेशवा से निवेदन करने पर बाजीराव ने प्रस्ताव मंजूर कर लिया. बुंदेला प्रथानुसार बाजीराव की कटार से मस्तानी का विधिवत विवाह हुआ. इसमें अनेक खामियां हैं. राजसी शिष्टाचार, नियम, कायदों में पली-बढ़ी मस्तानी द्वारा ऐसा अमर्यादित कदम उठाना सम्भव नहीं. इस कथा से यह भी पता नहीं चलता है कि दोनों ने एक दूसरे को कब, कहां और कैसे और किन परिस्थितियों में देखा या मुलाकात हुई. पेशवा बरवर सूचना देती है कि मस्तानी की खूबसूरती और नृत्य-संगीत की चर्चा सुनकर बाजीराव अपना दिल दे बैठा. इतिहास के दोनों ग्रंथ आधी अधूरी जानकारी देते हैं.

एक सम्भावना और हो सकती है. बंगश पर जीत की खुशी मनाने हेतु छत्रसाल ने जश्न का आयोजन किया होगा. इस जश्न में उनकी लाड़ली बेटी ने सोलह शृंगार के साथ नृत्य और गायन पेश किया. बाजीराव मस्तानी की बहुचर्चित, बहुप्रशंसित, अलौकिक, मदहोश करने वाले रूप लावण्य और नाच की दिलकश अदाओं और मदमाती जवानी पर मर मिटा. अपने दिल पर नियंत्रण नहीं रह गया. उसने बेझिझक महाराज छत्रसाल से मस्तानी मांग ली. छत्रसाल भी शायद दिल ही दिल में यही चाहते होंगे. उनके मन की मुराद पूरी होने जा रही थी. दामाद के रूप में पेशवा बाजीराव का मिलना खुशनसीबी होगी. दोनों की मुलाकात की व्यवस्था की गयी. बाजीराव की

जीवनसंगिनी बनने के पहले चतुर मस्तानी कुछ बातें साफ़ कर लेना चाहती थी. पेशवा की नज़रों की तीव्र आसक्ति भांप गयी थी. समझ गयी थी कि उसे पाने के लिए बाजीराव सब कुछ मान लेगा. छत्रसाल ने बेटी के निर्णय से सहमति जतायी. अपनी ज़िंदगी के भविष्य को तय करने का अधिकार दे पेशवा से बात करने का मौका दिया. बाजीराव भी मिलने को उत्सुक थे.

बाजीराव के नाम से विरोधियों के दिल दहल जाते थे. मस्तानी से मुलाकात के विचार मात्र से उनके दिल की धड़कने तेज़ हो गयी. गोरी गुलाबी देह भावनात्मक उद्वेलन की हल्की उत्तेजना का अनुभव करने लगी. यदि मना कर दिया तो? लाख टके का सवालिया निशान बन गया. बड़े से बड़ा तुर्रम खान भी नाज़नीन हसीना के सामने असहाय अनुभव करता है. धड़कते दिल से मस्तानी के सजे राजसी कमरे में प्रवेश करने की इजाज़त मांगी, 'आ सकता हूं.'

'आइए! तशरीफ लाइए. इस नाचीज़ का आदाब कबूलिए.' गुलाबी अंगूठे को जूही की कली सी अंगुलियों से जोड़, हल्के से सिर झुका बड़ी अदा से मस्तानी ने आदाब किया.

कालीन बिछे फर्श पर मखमली कुर्सियां सजी थीं. दीवार पर छत्रसाल के पिता स्वर्गीय महाराज चम्पतराय तथा अन्य पूर्वजों के पेंटिंग थे. बाजीराव पलकें झपकाना भूल गया. अपलक देखता रहा. संगेमरमर की तराशी मूरत. स्वर्ग की अप्सरा उर्वशी सामने थी. संज्ञा शून्य देखता रहा. उस दिन भरे दरबार में टकटकी लगा निहारना अशिष्टता मानी जाती. आज के एकांत में ऐसा कोई बंधन नहीं था. फिर मस्तानी सिर झुकाये नीची नज़र बतिया रही थी.

'विराजिए.' मस्तानी के वीणा विनंदित मधुर वाणी से संज्ञा लौटी.

'अं...अं...हां... ...हां...धन्यवाद ...धन्यवाद.' उत्तर में फुसफुसाहट, थोड़ी-सी हकलाहट भी थी. बैठते-बैठते कहा, 'आप भी विराजिए ना.'

'धन्यवाद.' हौले से बड़ी अदा से मस्तानी कुर्सी पर बैठी. पेशवा बरवर के अनुसार, अबोला बाजीराव ने तोड़ा. जिसकी एक आवाज़, हुक्म पर हज़ारों सैनिक सरदार लड़ मरने को तैयार रहते थे. एक कमसीन सोलह साला लड़की के सामने अपने को व्यक्त करने में हिचकिचा रहा था. 'अं.....ह.....अं.....हां.....बात ये है, हमारे कहने का मतलब ये है. हम आपको अपनाना चाहते हैं.' जल्दी से बोल धड़कते दिल से उत्तर की प्रतीक्षा करने लगा. गोरा गुलाबी मुख तनाव में आ गया.

मस्तानी ने तत्काल जवाब नहीं दिया. सोच-विचार की गम्भीर मुद्रा में बैठी रही. कमसीन होते हुए भी अपने भावी जीवन और सम्भावित संतान के भविष्य को लेकर चिंतित हो आयी. अबोले का एक-एक पल बाजीराव पर भारी पड़ रहा था.

'हम कुछ निवेदन करना चाहते हैं.' पहली बार बेजिझक नज़रें पेशवा पर गड़ा दी. क्या कहना चाहती हैं?, उद्वेलित भावनाओं के कारण तेज़ चल रही सांसों पर काबू पाने

की असफल कोशिश की. पहली नज़र के प्यार का भविष्य दांव पर लगा था. "हमें आपका प्रस्ताव मंज़ूर है लेकिन..." लेकिन सवालिया निशान बन गया. धड़कन बढ़ गयी. चिंतित निगाहों से मस्तानी के मनमोहन और मादक नयनों को निहार पूछा, 'लेकिन से आपका क्या मतलब?'

"महाराज का हुक्म सर आंखों पर, लेकिन हमारी इच्छा कबूलनी होगी?"

"जो मांगना हो बेझिझक मांग लीजिए." बाजीराव का आत्मविश्वास लौट आया, "दिल में कोई शक-शुबहा मत रखिए."

"यदि हमने आपके बेटे को जन्म दिया तो उसे भी आपके बेटे नाना साहेब जैसी मान्यता के साथ आपके राज्य में हिस्सा मिलना चाहिए." मस्तानी नहीं, एक मां की शर्त थी.

"यदि हमारे से आपको बेटा हुआ तो उसे भी वही दर्जा मिलेगा जो नाना का है. हमारे संस्थान में भी उसे बराबरी का दर्जा मिलेगा." किसी भी कीमत पर बाजीराव अपने प्यार को पाने को उतावला था.

"महाराज का प्रस्ताव हमें मंज़ूर है." लज्जा से मस्तानी का मुख अधिक लाल और मोहक हो आया.

मंज़ूरी के बाद कसमसाती बांहों और मचलते मन को अधिक देर रोक पाना बाजीराव के लिए सम्भव नहीं था. एकांत का फायदा उठाते हुए आगे बढ़ मस्तानी को आलिंगन में ले लिया. चूमने हेतु सिर झुकाया. नारी सुलभ सतर्कता का परिचय देते मस्तानी ने तर्जनी बाजीराव के ओठों पर रख शरारती मुस्कान से फुसफुसाया,' "ना. अभी नहीं. विवाह के बाद." बाजीराव ने अंगुली चूम ली.

राज परिवार और राजधानी में खुशी की लहर दौड़ गयी. सबसे अधिक प्रसन्नता मस्तानी की मां और महाराज छत्रसाल को हुई. मस्तानी की मां ने शुक्राने की नमाज़ अदा की. देश के सबसे ताकतवर पेशवा को दामाद के रूप में पाना बुंदेलों की सबसे बड़ी उपलब्धि थी. बाजीराव बुंदेला राज्य की सुरक्षा की गारंटी थे. बुंदेली प्रथानुसार बाजीराव की कटार से मस्तानी का विवाह रीतिरिवाज और बड़ी धूमधाम से किया गया. छत्रसाल ने बेटी मस्तानी को दिल खोलकर दान दहेज दिया. सोने-चांदी के तारों, हीरे-मोती टंके कीमती वस्त्र, हीरे जवाहरात के गहने, सोने-चांदी के कीमती बर्तन, दास, दासियां, हाथी-घोड़े भी दहेज में दिये. दामाद बाजीराव को तीसरा बेटा मान राज्य के तीसरे हिस्से के रूप में बांदा, झांसी और सागर का इलाका दिया. जिनकी आमदनी दस लाख रुपये सालाना से अधिक थी. इसमें पांच लाख रुपये सालाना का सरंजाम मस्तानी के

व्यक्तिगत खर्च के लिए था. मराठी में इसे चोली-बांगड़ी (ब्लाउज तथा चूडियां) खर्च कहते हैं.

बाजीराव ने सागर में अपने विश्वस्त सरदार गोविंद बलाल खेर (गोविंद पंत बुंदेले) को, झांसी में रघुनाथ हरि नेवालकर तथा बांदा में मस्तानी की पसंद के सूबेदार को रखा गया. छत्रसाल के वंशजों और बुंदेला राज्य की सुरक्षा की जवाबदारी इन सरदारों को सौंपी गयी. बंगश पर ऐतिहासिक जीत ने बाजीराव के गौरव में वृद्धि की. चौथ-सरदेशमुखी के अधिकारों के अलावा बुंदेलखंड में मिले इलाकों ने मराठा प्रभाव का विस्तार किया. हुस्न की मल्लिका मस्तानी बेशकीमती विजयी उपहार के रूप में अलग से मिली.

जीवनसाथी बाजीराव के साथ मराठा सरदारों से घिरी मस्तानी नयी नवेली दुल्हन के समान पुणे ससुराल हेतु डोली में बिदा नहीं हुई. उसने क्रांतिकारी कदम उठाया. पेशवा की बगल में रकाब-ब-रकाब घुड़सवारी करते पुणे पहुंची. मस्तानी के साहस से प्रसन्न बाजीराव को लगा सच्ची जीवनसंगिनी मिली है. जैसे सदियों से उसीका इंतज़ार कर रहा था. पेशवा परिवार, शहर पुणे ही नहीं महाराष्ट्र में हड़कंप मच गया. परिवार ने नाक-भौंह सिकोड़ नयी दुल्हन का स्वागत किया. परिवार के विरोध को देखते हुए बाजीराव ने अपनी प्रिया का प्रबंध पुणे के पास पाबल नामक गांव की एक हवेली में कर दिया. सुरक्षा और सारी व्यवस्था राजसी स्तर पर की गयी. बाजीराव का अधिकांश समय पाबल में मस्तानी की सोहबत में गुज़रने लगा.

परिवार-समाज का विरोध

मुसलमान तवायफ की बेटी मस्तानी को दूसरी और चहेती पत्नी बनाने पर दबंग मां राधाबाई, भाई चिमाजी अप्पा और परिवार के अन्य सदस्य सख्य नाराज थे. मात्र पत्नी काशीबाई चुप रही. पूना के जाति बंधू कट्टर चितपवन ब्राह्मणों ने भी विरोध जताया. बाजीराव पहला नहीं था जिसने दूसरी औरत रखी थी. उसके पिता पेशवा बालाजी पत्नी राधाबाई के विरोध के बाद भी दूसरी औरत ले आये थे. जिससे भिकाजी नाम का बेटा था. राधाबाई उससे घृणा करती थी. लेकिन बाजीराव उसे भाई मान पूरा सम्मान देते थे. उसे जागीर भी दी. छत्रपति साहू की भी अनेक रखैलें थीं. यहां तक विरोध करने वाले अनेक चितपवनों ने भी दूसरी औरत रखी थी. अतः पेशवा पर लगाया आरोप बेबुनियाद था.

मस्तानी से खास शिकायत थी. उसके कारण बाजीराव अपना कीमती वक्त पेशवा दफ़्तर का काम निपटाने की बजाय नाच-गाने की महफिलों, शिकार, नौका-विहार, तथा भोग-विलास में बर्बाद कर रहा था. प्यार के पहले ज्वार में यह होता है.

इसमें कोई शक नहीं कि मस्तानी की सुरभित चांदनी देह से मिलने वाला यौन सुख और सर्वगुण सम्पन्नता के मोहपाश में बाजीराव ऐसा फंसा कि रोजमर्रा के कामों की भी उपेक्षा करने लगा. बंगश पर निर्णायक जीत के बाद पेशवा को सतारा जा छत्रपति

शाहू को पूरा ब्यौरा पेश करना था. लेकिन बाजीराव गया नहीं. चिमाजी अप्पा और सरदारों के दबाव डालने पर मस्तानी समेत बाजीराव ने सतारा पहुंच शाहू के दरबार में हाज़री लगा ब्यौरा पेश किया. राजकीय शिष्टाचार के अनुसार पेशवा को छत्रपति को मुजरा करने हर रोज़ दरबार में हाज़िर होना चाहिए था. लेकिन बाजीराव दरबार में हाज़िर होने से कतराने लगा. छत्रपति के ध्यान में आया कि पेशवा अनमने मन से कभी-कभी ही दरबार आते हैं. अपना अधिकांश समय मस्तानी के साथ गुज़ारते हैं. इसकी शिकायत शाहू ने बाजीराव के अभिन्न मित्रों गोपालराव जोशी और नारायण राव अनगल से की. शाहू ने चेतावनी दी, 'यदि बाजीराव राजकाज की ओर ध्यान नहीं देंगे तो हमें नये पेशवा का प्रबंध करना पड़ेगा.' जोशी और अनगल ने सम्पूर्ण हालात की जानकारी बाजीराव को दी. पानी सर से ऊपर गुज़रे इसके पहले मस्तानी ने अपने प्रभाव का उपयोग किया. उसने बाजीराव को प्रतिदिन दरबार में हाज़िरी लगाने ही नहीं उत्तर हिंदुस्तान तथा मुगल दरबार में मराठा प्रभाव के विस्तार की योजना पेश करने हेतु समझाया. पेशवा हर दिन दरबार में उपस्थित होने लगा और उत्तर सम्बंधी योजना भी पेश की. शाहू से स्वीकृति मिलते ही बाजीराव पूना लौटा और उत्तर जाने की तैयारी में लग गया.

पेशवा के सरदारों ने पुणे में अपने-अपने महलनुमा बाड़े बना लिये थे. पेशवा का अपना कोई बाड़ा (महल) नहीं था. बाजीराव ने मूथा नदी के किनारे भाई चिमाजी अप्पा और गोविंद राव की देखरेख में शानदार सात खंड के बाड़े का निर्माण कराया. मस्तानी के लिए बगल में अलग से मस्तानी महल बनवाया. एक दरवाज़े से दोनों जोड़ दिये गये.' कला-सौंदर्य प्रेमी मस्तानी ने उसे अपनी सुरुचि के अनुरूप सजाया-संवारा. गायन और नृत्य रियाज़ के लिए अलग से बड़ा-सा कमरा बनवाया. इसी में बाजीराव के मनोरंजन हेतु नाच-गाना (मुजरा) पेश करती थी. पेशवा महल शनवार वाडा नाम से प्रसिद्ध हुआ.

बड़े धीरज और शांति से मस्तानी पेशवा परिवार तथा चितपवन समाज के मौन मुखर विरोध का सामना कर रही थी. उसे अनुभव हुआ कि बड़ी सौत काशीबाई ने मौन विरोध के साथ हालात से समझौता कर लिया है. लेकिन मुखर विरोध सास मातुश्री राधाबाई, देवर चिमाजी अप्पा, ननद भीऊबाई और अनुबाई तथा चितपवन समाज की ओर से सबसे अधिक था. पूरे मन से मस्तानी ने पेशवा परिवार में घुलने-मिलने की कोशिश की.

इस हेतु उसने पेशवा परिवार तथा महाराष्ट्रीय समाज के रीति-रिवाजों, परम्पराओं तथा धार्मिक आस्थाओं के अनुरूप अपने को ढालने का प्रयत्न किया. अपने महल में एक पूजा घर बनवा उसमें भगवान कृष्ण की मूर्ति की स्थापना की. पेशवा परिवार भगवान गणेश का अनन्य उपासक था. मस्तानी भी गणेश उपासना करने लगी. देवालय में गणेश जी की मूर्ति के साथ भगवान शिव और देवी पार्वती की भक्ति भी करने लगी. इतिहास गवाही देता है कि मस्तानी कृष्णजन्माष्टमी, रामनवमी तथा शिवरात्रि का उपवास करती थी. इन पर्वों पर भगवान कृष्ण एवं राम की मूर्तियों के समक्ष भजनों के साथ नृत्य भी पेश करती थी. उसके विरोधी अधिक ताकतवर थे. वे अपने ही रिश्तेदार थे. बाहर वालों से तो लड़ा जा सकता है. उनकी मुखालफत भी की जा सकती है. अपनों के साथ यह सम्भव नहीं. अपने प्रिय बाजीराव को मस्तानी दिलोजान से प्यार करती थी. इसलिए विरोधियों के सभी हमलों को चुपचाप सह रही थी. प्यार और मुहब्बत के उसके हर कदम को विरोधियों ने ठुकराया. उसने उफ तक नहीं की. अपनी कोशिश जारी रखी. बाजीराव भी सब समझ रहा था. मगर मातुश्री और भाई-बहनों के सामने लाचार था. पूना से बाहर रहने पर ही सुकून मिलता था.

परिवार के व्यवहार से परेशान तथा छत्रपति शाहू को दिये वचन को पूरा करने के लिए उसने उत्तर भारत का रुख किया. बादशाह से दक्षिण में चौथ वसूली का अधिकार पाना था. जिन मुगल सूबों पर कब्जा कर लिया था, उनके लिए बादशाह से मंज़ूरी लेनी थी. निमाड़ व मालवा में मल्हारराव होल्कर, उज्जैन-मंदसौर-गुना-ग्वालियर में राणोजी शिंदे, धार-देवास में उदाजी पंवार, नागपुर-बरार में रघुजी भोसले, सागर में गोविंद पंत बुंदेले, झांसी में रघुनाथ हरि मेवालकर को उसने सूबेदार नियुक्त किया था. इन्हें मान्यता दिलानी थी. और राजस्थान से चौथ वसूलनी थी. सैनिक वेश में मस्तानी भी साथ थी. पूना से सूरत, बुरहानपुर, खरगोन होते हुए सनावद के पास रावेखेडी में नर्मदा पार की. मांडू, धार, देवास, ग्वालियर होते दिल्ली पहुंचे. रास्ते के इन गांवों, कस्बों और शहरों के निवासी उनकी प्रेम कहानी और खूबसूरती की दास्तान से पहले ही परिचित हो चुके थे. पहली बार वे एक हसीना को तलवार बांधे, हाथ में भाला लिये प्रेमी के साथ रकाब-ब-रकाब घुड़सवारी करते आश्चर्य से देख रहे थे. उन्हें भीड़ भरे रास्तों से गुज़रना पड़ता. जब तक दिल्ली रहे, उन्हें देखने दिल्ली वाले भीड़ लगाये रहे.

अपनी मुहब्बत को सफलतापूर्वक परवान चढ़ाने वाले बहुचर्चित-बहुप्रशंसित प्रेमी जोड़े को देखने-मिलने बादशाह, अमीर उमरा से अधिक शाही हरम उतावला था. जो हरमवालियां नहीं कर सकीं मस्तानी ने कर दिखाया था. नियम समय पर सरदारों से घिरे तलवार पर बांया हाथ रखे, सीना ताने पेशवा-मस्तानी दीवान-ए-आम में दाखिल हुए. झुककर तीन बार सलाम किया. खूबसूरत जोड़े को देख दरबारियों के चेहरे

ईर्ष्या-प्रशंसा से चमकने लगे.

'खुशामदीद.....खुश आमदीद.....' बादशाह ने स्वागत किया, 'तशरीफ रखिए पेशवा बहादुर' 'शुक्रिया.....शुक्रिया....' पुनः तीन सलाम कर कुर्सियों पर जा बैठे. पेशवा के इशारे पर सेवकों ने बादशाह को नज़र भेंट की. बादशाह ने छूकर स्वीकार किया. बादशाह की ओर से किमरबाब के कीमती वस्त्रों का सिरोमावा तथा सोने की कुछ मुहरें पेशवा-मस्तानी को भेंट की गयी. अदब से खड़े हो उन्होंने सलाम के साथ स्वीकार किया. शाही रस्मों-रिवाजी खत्म होते ही चोपदार ने दरबार बरखास्तगी की घोषणा की. दूसरे दिन पुनः निर्धारित वक्त पर दीवान-ए-खास में बादशाह, वजीर-उल-मुल्क तथा खास-खास अमीरों के साथ पेशवा से संधि पर चर्चा हुई. मराठों द्वारा अधिकार में लिये सूबों को बादशाह मान्यता दे. दक्षिण चौथ वसूली का अधिकार मिले. दिल्ली की रक्षा मराठा सेना करेगी. उसका खर्च बादशाह वहन करेंगे. मुगल दरबार में पेशवा अपना वकील नियुक्त करेंगे. संधि की शर्तें कठोर थीं मगर कमज़ोर असहाय बादशाह में उन्हें ठुकराने का साहस नहीं था. मराठों ने दिल्ली घेर रखी थी. पेशवा के एक इशारे दिल्ली लुट जाएगी. थोड़ी बहस और ना नुकुर के बाद संधि पर हस्ताक्षर कर शाही मोहर लगा दी. पेशवा फौरन से पेश्तर दिल्ली से बिदा करना चाहता था. शाही खज़ाना खाली होने से हर्जाना देने में असहाय था. पेशवा ने दीवान-ए-आम में रखे मयूर तख्त-ए-ताउस के ऊपर की हीरे जड़ी चांदी की कई किलो की छत उखाड़ सिक्के ढलवाये. उन सिक्कों और हीरों से हर्जाना वसूला. बाजीराव की सफल कूटनीति और दबंगता पर मस्तानी दिलोजान से निछावर हो गयी. वापसी में बाजीराव ने राजस्थान से चौथ वसूली. सतारा पहुंच छत्रपति को उपलब्धियों से अवगत कराया. शाह ने अपने हाथ से पान-बीड़ा दे पेशवा को सम्मानित किया.

पेशवा-मस्तानी का दुःखद अंत

बाजीराव की उपलब्धियों पर परिवार ने मस्तानी के कारण पानी फेर दिया. किसी भी कीमत पर वे बाजीराव को मस्तानी से अलग करने पर तुले थे. नाना साहेब अक्सर सौतेली मां मस्तानी से मिलने जाया करता था. षड़यंत्र से दोनों के सम्बंधों की अफवाह फैलायी गयी ताकि बाजीराव चरित्रहीन मस्तानी से किनारा कर ले. लेकिन बाजीराव को पक्का विश्वास था कि मस्तानी नाना को बेटे के समान स्नेह करती है. अतः विरोधियों की यह चाल असफल हो गयी. विषैले पारिवारिक वातावरण के कारण बाजीराव-मस्तानी परेशान थे. एक घुटन और तनावग्रस्त

जीवन जी रहे थे. इसी माहौल में मस्तानी ने बाजीराव के बेटे को जन्म दे उसके प्रति अपने प्यार की मुहर लगा दी. बेटे का नाम मस्तानी ने कृष्ण सिंह रखा. जबकि बाजीराव ने उसे शमशेर बहादुर नाम दिया.

शमशेर के जन्म का परिवार ने स्वागत नहीं किया. उन्हें लगा कि इससे उत्तराधिकार की समस्या पैदा होगी. पेशवा की सम्पत्ति और संस्थान में उसे भी हिस्सा देना पड़ेगा. यह भी डर लगा कि मस्तानी से असीम प्यार करने वाला बाजीराव कहीं उसे अपना वारिस न बना दे. बाजीराव अपने बेटे शमशेर को हिंदू बनाना चाहता था. इसलिए उसने अपने दूसरे बेटे रघुनाथ राव के साथ शमशेर को भी जनेऊ देनी चाही. परिवार का शक पक्का हो गया. कर्मकांडी चितपवन पंडितों के साथ मिलकर बाजीराव का तगड़ा विरोध किया. उन्होंने तो पेशवा परिवार को धर्म और जाति से बहिष्कृत करने की धमकी तक दे डाली. मस्तानी के समझाने पर मज़बूरन बाजीराव ने कदम पीछे खींच लिया.

शमशेर बहादुर और मस्तानी के प्रति दिन-दिन बढ़ती बाजीराव की आसक्ति ने परिवार को भयभीत कर दिया. उन्हें अलग करने का निर्णय ले लिया. मस्तानी के महल पर सख्त कर दिया. बाजीराव तनाव में आ गया. आंतरिक घुटन के कारण बुखार आने लगा. मस्तानी अलग तनावग्रस्त थी. कलहपूर्ण वातावरण से छुटकारा पाने हेतु बाजीराव उत्तर की मुहिम पर निकल पड़ा रास्ते भर मस्तानी-शमशेर की चिंता बेचैन किये रही. परिजनों के सामने लाचार था. बड़े से बड़े दुश्मन को घुटने टिकाने वाले पेशवा ने परिजनों के सामने घुटने टेक दिये. नर्मदा किनारे के रावेखेड़ी में उसने पड़ाव डाला. वैद्य साथ थे लेकिन दवाई असर नहीं कर रही थी. मस्तानी के विछोह ने इतना आकुल-व्याकुल कर दिया था कि चैन नहीं पड़ रहा था. दवाई लेने को मन नहीं करता था. वैद्यों और सरदारों के मना करने पर भी नर्मदा में तैर कर स्नान करना बंद नहीं किया. इससे बुखार बढ़ गया. बुखार की बेहोशी में भी मस्तानी को याद करता रहता. पेशवा को मस्तानी से अलग कर परिवार ने ठीक नहीं किया. यह बात समझ आते ही सरदारों ने मस्तानी को बुलाने हेतु ज़रूरी संदेश भेजा. मातुश्री ने मस्तानी के बजाय काशीबाई को भेज दिया. बाजीराव ने पहले तो बुखार की बेहोशी में काशीबाई को मस्तानी समझा लेकिन सच्चाई का पता चलते ही गहरी निराशा में डूब गया. हालात और बिगड़ गये. बाजीराव की गम्भीर स्थिति का पता चलने पर मस्तानी भी परेशान हो उठी. मगर लाचार थी. घुटन और तनाव में जी रहे बाजीराव को बेहोशी में ही नर्मदा तट पर मुक्ति मिली. सरदारों ने महान पेशवा का अंतिम संस्कार नर्मदा मैय्या के किनारे कर समाधि का निर्माण करा दिया. बाजीराव के देहावसान का समाचार मिलते ही मस्तानी ने भी प्राण त्याग दिये. पाबल में उसे एक फकीर की खानकाह में सुपुर्दे खाक कर दिया गया. इस तरह अठारहवीं सदी की अमर महान प्रेम कहानी का त्रासद अंत हुआ. □

दस्तक

● डॉ. सुनील केशव देवधर

नदी-नदी का बदन चूमती हवा,
अब हम तक आ पहुंची है,
और हमारे
दरवाज़े पर दस्तक दी है,
पहले तो हर आहट पर
सब चौंक-चौंक जाते थे
लेकिन अब सब समझ चुके हैं,
आदी हैं सब इस दस्तक के,
ये स्वर अब पहचाने से हैं,
लेकिन फिर भी
कुछ लोग प्रतीक्षारत हैं
और हर दस्तक से एक उम्मीद बांधे हैं,
जब उस आहट तक पहुंचते हैं,
तो वहां
सिवा अरूप हवा के
और कुछ नहीं होता,
उम्मीदें मिट जाती हैं,
ऐसा लगता है
हमने अपना प्राप्त खो दिया है,
खो दिया है अपना हासिल,
नहीं जानते कहां
नहीं जानते क्यों,
शायद फिर किसी
दस्तक के इंतज़ार में.

वाल्मीकि रामायण

एकोनषष्टितमः सर्गः

षाड्गुण्यस्य पदं वेत्ति नीतिकर्ता स राघवः।
सर्वज्ञः सर्वदर्शी च रामो रमयतां वरः ।।23।।

'वे संधि-विग्रह आदि छहों गुणों के प्रयोग के अवसरों को जानते हैं. श्री रघुनाथजी न्याय करनेवाले हैं. वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं. श्रीराम दूसरों के मन को रमानेवाले पुरुषों में श्रेष्ठ हैं.

स सामः स च मृत्युश्च स यमो धनदस्तथा।
वह्निः शतक्रतुश्चैव सूर्यो वै वरुणस्तथा ।।24।।

'वे ही चंद्रमा हैं, वे ही मृत्यु हैं, वे ही यम, कुबेर, अग्नि, इंद्र, सूर्य और वरुण हैं.

तस्य त्वं ब्रूहि सौमित्रे प्रजापालः स राघवः।
अनाज्ञप्तस्तु सौमित्रे प्रवेष्टुं नेच्छयाम्यहम् ।।25।।

'सुमित्रानंदन, श्रीरघुनाथजी प्रजापालक हैं. आप उनसे कहिए. मैं उनकी आज्ञा प्राप्त किये बिना इस भवन में प्रवेश करना नहीं चाहता.'

आनृशंस्यान्महाभागः प्रविवेश महाद्युतिः।
नृपालयं प्रविश्याथ लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत् ।।26।।

यह सुनकर महातेजस्वी महाभाग लक्ष्मण ने दयावश राज-भवन में प्रवेश करके कहा—

श्रूयतां मम विज्ञाप्यं कौसल्यानन्दवर्धन।
यन्मयोक्तं महाबाहो तव शासनजं विभो ।।27।।

"कौसल्या का आनंद बढ़ानेवाले महाबाहु श्रीरघुनाथजी! मेरा यह निवेदन सुनिए. आपने जो आदेश दिया था, उसके अनुसार मैंने बाहर जाकर कार्यार्थी को पुकारा.

श्वा वै ते तिष्ठते द्वारि कार्यार्थी समुपागतः।
लक्ष्मणस्य वचः श्रुत्वा रामो वचनमब्रवीत्।
सम्प्रवेशय वै क्षिप्रं कार्यार्थी योऽत्र तिष्ठति ।।28।।

'इस समय आपके द्वार पर एक कुत्ता खड़ा है, जो कार्यार्थी होकर आया है.' लक्ष्मण की यह बात सुनकर श्रीराम ने कहा— 'यहां जो भी कार्यार्थी होकर खड़ा है, उसे शीघ्र इस सभा के भीतर ले आओ.'

प्रक्षिप्तः सर्गः२

श्रुत्वा रामस्य वचनं लक्ष्मणस्त्वरितस्तदा।
श्वानमाहूय मतिमान् राघवाय न्यवेदयत् ।।1।।

श्रीराम का यह वचन सुनकर बुद्धिमान लक्ष्मण ने तत्काल उस कुत्ते को बुलाया और श्रीराम को उसके आने की सूचना दी.

दृष्ट्वा समागतं श्वानं रामो वचनमब्रवीत्।
विवक्षितार्थं मे ब्रूहि सारमेय न ते भयम्।।2।।

वहां आये हुए कुत्ते की ओर देखकर श्रीराम ने कहा— 'सारमेय! तुम्हें जो कुछ कहना है, उसे मेरे सामने कहो. यहां तुम्हें कोई भय नहीं है.'

अथापश्यत तत्रस्थं रामं श्वा भिन्नमस्तकः।
ततो दृष्टवा स राजानं सारमेयोऽब्रवीद् वचः।।3।।

कुत्ते का मस्तक फट गया था. उसने राजसभा में बैठे हुए महाराज श्रीराम की ओर देखा और देखकर इस प्रकार कहा—

राजैव कर्ता भूतानां राजा चैव विनायकः।
राजा सुप्तेषु जागर्ति राजा पालयति प्रजाः ।।4।।

'राजा ही समस्त प्राणियों का उत्पादक और नायक है. राजा सबके सोते रहने पर भी जागता है और प्रजाओं का पालन करता है.

नीत्या सुनीतया राजा धर्मे रक्षति रक्षिता।
यदा न पालयेद् राजा क्षिप्रं नश्यंति वै प्रजाः ।।5।।

'राजा सबका रक्षक है. वह उत्तम नीति का प्रयोग करके सबकी रक्षा करता है. यदि राजा पालन करे तो समस्त प्रजाएं शीघ्र नष्ट हो जाती हैं.

राजा कर्ता च गोप्ता च सर्वस्य जगतः पिता।
राजा कालो युगं चैव राजा सर्वमिदं जगत् ।।6।।

'राजा कर्ता, राजा रक्षक और राजा सम्पूर्ण जगत् का पिता है. राजा काल और युग है तथा राजा यह सम्पूर्ण जगत है.

धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः।
यस्माद् धारयते सर्व त्रैलोक्यं सचराचरम् ।।7।।

'धर्म सम्पूर्ण जगत को धारण करता है, इसीलिए उसका नाम धर्म है. धर्म ने ही समस्त प्रजा को धारण कर रखा है; क्योंकि वही चराचर प्राणियों सहित सारी त्रिलोकी का आधार है.

धारणाद् विद्विषां चैव धर्मेणारञ्जयन् प्रजाः।
तस्माद् धारणमित्युक्तं स धर्म इति निश्चयः ।।8।।

'राजा अपने द्रोहियों को भी धारण करता है. (अथवा वह दुष्टों को भी मर्यादा में स्थापित करता है) तथा धर्म के द्वारा प्रजा को प्रसन्न रखता है; इसलिए उसके शासनरूप कर्म को धारण कहा गया है और धारण ही धर्म है; यह शास्त्र का सिद्धांत है.

एष राजन् परो धर्मः फलवान् प्रेत्य राघव।
नहि धर्माद् भवेत् किंचिद् दुष्प्रापमिति मे मतिः ।।9।।

'रघुनंदन! यह प्रजापालन रूप परम धर्म राजा को परलोक में उत्तम फल देनेवाला होता है. मेरा तो यह दृढ़ विश्वास है कि धर्म से कुछ भी दुर्लभ नहीं है.

दानं दया सतां पूजा व्यवहारेषु चार्जवम्।
एष राम परो धर्मो रक्षणात् प्रेत्य चेह च ।।10।।

'श्रीराम! दान, दया, सत्पुरुषों का सम्मान और व्यवहार में सरलता यह परम धर्म है. प्रजाजनों की रक्षा से होने वाला उत्कृष्ट धर्म इहलोक और परलोक में भी सुख देनेवाला होता है.

त्वं प्रमाणं प्रमाणानामसि राघव सुव्रत।
विदितश्चैव ते धर्मः सद्भिराचरितस्तु वै ।।11।।

'उत्तम व्रत का पालन करने वाले रघुनंदन! आप समस्त प्रमाणों के भी प्रमाण हैं. सत्पुरुषों ने जिस धर्म का आचरण किया है, वह आपको भलीभांति विदित ही है.

धर्माणां त्वं परं धाम गुणानां सागरोपमः।
अज्ञानाच्च मया राजन्नुक्तस्त्वं राजसत्तम।।12।।

'राजन्! आप धर्मों के परम धाम और गुणों के सागर हैं. नृपश्रेष्ठ! मैंने अज्ञानवश ही आपके सामने धर्म की व्याख्या की है.

प्रसादयामि शिरसा न त्वं क्रोद्धुमिहार्हसि।
शुनः स वचनं श्रुत्वा राघवो वाक्यमब्रवीत् ।।13।।

'इसके लिए मैं आपके चरणों में मस्तक रखकर क्षमा चाहता और आप से प्रसन्न होने के लिए प्रार्थना करता हूं. आप यहां मुझ पर कुपित न हों.' कुत्ते की यह बात सुनकर श्रीरघुनाथ जी बोले–

किं ते कार्यं करोम्यद्य ब्रूहि विस्रब्ध मा चिरम्।
रामस्य वचनं श्रुत्वा सारमेयोऽब्रवीदिदम्।।14।।

'तुम निर्भय होकर बताओ. आज मैं तुम्हारा कौन-सा कार्य सिद्ध करूं. अपना काम बताने में विलम्ब न करो.' श्रीराम की यह बात सुनकर कुत्ता बोला–

विज्ञान

प्रौद्योगिक अध्यात्म का हाई-टेक विमर्श

● राजेश जैन
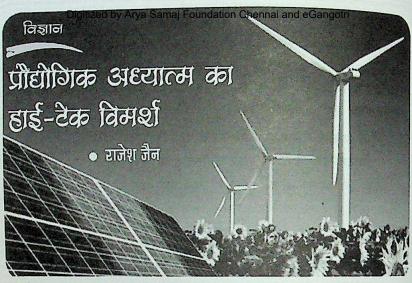
'प्रौ द्योगिक अध्यात्म प्रबंधन (टेकनो-स्प्रिच्युअल मैनेजमेंट) इस तथ्य पर आधारित है कि आज के युग में तकनीकी विकास के समांतर आध्यात्मिक विमर्श का भी उतना ही बोलबाला है. मौजूदा 'टी. एस.' (टेकनो-स्प्रिच्युअल) समय में जहां 'हार्डवेयर' लौकिक उपकरण के रूप में नयी-नयी सुविधाएं आविष्कृत हो रही हैं, वहीं 'सॉफ्टवेयर'- अलौकिक यानी अदृश्य चिंतन शक्ति को भी सम्पूर्णता का अविभाज्य अंग माना जा रहा है, उतना ही महत्त्वपूर्ण भी.

सृष्टि की संरचना में जिन पांच तत्त्वों की चर्चा की जाती है, उनमें 'आकाश' यानी 'स्पेस' एक है. अगर तार्किक तौर पर इन पांच तत्त्वों को क्रमानुसार रखा जाए तो सर्वप्रथम 'स्पेस' को रखना पड़ेगा— जब सृष्टि बनी होगी तो सबसे पहले 'स्पेस' ही अस्तित्व में आया होगा— वह यूं कि उसके बाद जितने भी 'विचार' या जितनी भी 'वस्तुएं' जन्मी वे सब 'स्पेस' में ही समाहित हुईं और अभी भी हैं. ये 'वस्तुएं' विभिन्न आकार की होती हैं. चाहे बड़े-बड़े ग्रह हों या सूक्ष्म कण. सबका अस्तित्व इसी 'स्पेस' में है. 'सूक्ष्मता' की विवेचना की जाये तो हमारी समझ 'परमाणु' पर पहुंचती है. सूक्ष्मतम इलेक्ट्रॉन के कण जो अपने आप में स्वतंत्र हैं, ऊर्जावान और गतिशील हैं, उनके इसी स्वभाव के कारण सम्पूर्ण सृष्टि भी परिवर्तनशील है— हर क्षण इन परमाणुओं की स्थिति एवं गति में बदलाव आता है, फलस्वरूप कर्म पुंज और बंध बनते हैं— उस विशुद्ध मूल ऊर्जा से ही 'वस्तु' और 'विचार' उभरते हैं, इसलिए सृष्टि को चेतना के एक तंत्र के रूप में रखकर उसकी तुलना विद्युत' से की जा सकती है. 'ग्रिड' यानी 'तंत्र' जो परस्पर तारों से जुड़ा है— बिजली व्यवस्था में 'ग्रिड'

का मलतब है, जेनरेटर्स, ट्रांसफॉरमर्स, पारेषण वितरण एवं उपकरणों से परस्पर सम्बंद्ध तारों का जंजाल-जिसमें जेनरेटर्स विद्युत शक्ति का योगदान करते हैं— और उपकरणों के माध्यम से उपभोक्ता उसे खींचते हैं— 'इलेक्ट्रोन्स' का यह 'देना-लेना' अगर संतुलित रहता है अर्थात जितनी बिजली बन रही है, उतनी ही उसकी खपत है, तो हम कहते हैं— 'ग्रिड' 50 सायकिल प्रति सेकेंड फ्रीक्वेंसी पर स्टेबल (स्थिर) है.

अगर विद्युत का 'उत्पादन' कम हुआ और 'खपत' ज़्यादा हो तो फ्रीक्वेंसी 'लो' होने लगती है तब हम 'लोड शेडिंग' अपनाते हैं अर्थात बिजली की कटौती. फीडर काट कर 'ग्रिड' का लोड कम किया जाता है— अन्यथा की स्थिति में अगर उत्पादन ख़पत से ज़्यादा है, तो फ्रीक्वेंसी बढ़ने लगती है. 51 के ऊपर फ्रीक्वेंसी का बढ़ना घातक है उपकरणों के लिए. अतः तब उत्पादन कम कर दिया जाता है. 'ग्रिड' का यह 'डायनामिक' स्वभाव प्रतिक्षण असरदार रहता है— परिर्वतनशील है...

यही तथ्य चेतना की 'ग्रिड' पर भी लागू होता है. जहां 'स्पेस' यानी जगह है. वहां ऊर्जा है— और यह तंत्र परस्पर हर 'वस्तु' और 'विचार' से जुड़ा है. एक-दूसरे पर न केवल निर्भर है वरन अपनी गतिविधियों से दूसरे को प्रभावित भी करता है.

यह भी सर्वमान्य सत्य है कि 'ग्रिड' में ऊर्जा का 'मान' एक सा रहता है. उसकी कुल मात्रा निश्चित है— उसे न तो 'क्रियेट' किया जा सकता है और न ही नष्ट किया जा सकता है. बस उसे स्वरूप में परिवर्तन किया जा सकता है. हमारे हर कर्म और उपक्रम से वास्तव में ऊर्जा के स्वरूप का परिर्वतन ही होता है— उदाहरणार्थ बिजली मूलतः कहीं पैदा नहीं होती... वह कोयले में समायी ऊर्जा का बदला हुआ स्वरूप है- कोयला ज़मीन से निकालकर पावर हाउस में जलाया जाता है— उससे ताप ऊर्जा, वाष्प के रूप में टरबाइन घुमाती है— यानी 'मेकेनिकल एनर्जी' बन जाती है और उससे जुड़े जनरेटर से फिर विद्युत ऊर्जा तारों के रास्ते अपने गंतव्य पर आगे बढ़ जाती है. वह आगे उपकरणों के माध्यम से जो कार्य करती है— उसका प्रभाव सृष्टि में ही मौजूद रहता है यानी सब कुछ 'सायकिल' (आवृति) के तहत क्रियाशील है.

नींद के समय हम चेतना की सर्वव्याप्त ऊर्जा को 'ग्रिड' से जुड़कर '50 सायकिल' की अवस्था में अनायास आ जाते हैं— चेतना में 'ध्यान' करने से यह अवस्था और भी प्रभावशाली ढंग से हासिल की जा सकती है— तब चेतना की 'ग्रिड' से हम विशुद्ध ऊर्जा को हस्तगत करते हैं— मोबाइल की बैटरी की तरह अपनी मानस को 'चार्ज' करते हैं—

इस परिदृष्य को अगर हम 'ग्रिड देवता' की आराधना की संज्ञा दें तो शायद अन्यथा नहीं होगा! आइंस्टीन द्वारा प्रतिपादित $E\text{-}mc^2$ का परिष्कृत रूप होगा $E\text{-}Esc^2$... m यानी मैटर/मास की जगह 's' यानी 'स्पेस' को रखकर भी बहुत कुछ सोचा और खोजा जा सकता है. ❑

वेदोऽखिलो धर्ममूलम् । वेदो नित्यमधीयताम् ।
वेदाः वयं वः शरणं प्रपन्नाः । वेदा ये नः परं धनम् ॥

अद्वैत विद्याचार्य महाराज साहेब

श्री गोविन्द दीक्षितर पुण्य स्मरण समिति (पंजीकृत)

'श्री गोविंद दीक्षिता घटिका स्थानम' 29-30, ईस्ट अयन स्ट्रीट,४ कुम्बकोणम्, धंजावुर जिला,
तमिलनाडु-612001 भारत. टेली नं. (0435) 2425948, 2401789,
पाठशालाः 2422866, 2401788, Email: rajavedapatasala@dataone.in,
Website: www.rajavedapatasala.org

वेद और शास्त्र निहित धरोहर को प्राचीन पारम्परिक गुरुकुल प्रणाली द्वारा सुरक्षित रखने के लिये निवेदन

राज वेद काव्य पाठशाला, कुम्बकोणम् की स्थापना ई.स. 1542 में तीन नायक राजाओं के प्रधानमंत्री संत **अद्वैत विद्याचार्य महाराजा साहेब भगवान श्री गोविन्द दीक्षितर** ने की। यह थंजावुर स्थित पवित्र कावेरी नदी के दक्षिणी तट पर स्थित है। जिसका उद्देश्य है वेदों और शास्त्रों का प्रचार-प्रसार। यह तमिलनाडु क्या पूरे भारत वर्ष में एकमात्र पाठशाला है, जो बिना किसी रुकावट 470 वर्षों से कार्यरत है. यहां निर्धारित पाठ्यक्रम के तहत तीनों वेद-ऋग्, यजु (शुक्ल और कृष्ण) तथा सामवेद की शिक्षा एक ही संकुत के नीचे 8-10 वर्ष के बाल-विद्यार्थियों को दी जाती है। यहां 170 विद्यार्थियों को छह से दस वर्ष तक प्रशिक्षण दिया जाता है। आवास-निवास, खान-पान, यात्रा व शिक्षा की सुविधा आदि समिति अपनी ओर से मुफ्त में करती है। इन विद्यार्थीओं को पाठशाला के 20 वरिष्ठ अध्यापकों के सान्निध्य में वेद-शास्त्रों की शिक्षा दी जाती है. वैदिक शिक्षा की सफल समाप्ति पर उन्हें वेद व शास्त्रों की उच्चतर शिक्षा के लिए पाठशाला के विद्वान अध्यापकों द्वारा प्रोत्साहित किया जाता है.

पाठशाला की इन सब गतिविधियों पर होने वाले बढ़ते व्यय के निरूपण हेतु कांची के कामकोटि मठ के श्री जयेंद्र सरस्वती स्वामिगल द्वारा दि. 21-6-2004 को नवनिर्मित पाठशाला भवन श्री गोविंद दीक्षितर घटिका स्थानम् (13,500 वर्ग फीट) को वैदिक विद्यार्थियों हेतु समर्पित किया गया।

पाठशाला के बढ़ते हुए खर्च की समस्या कम करने हेतु निम्नलिखित योजनाओं के अंतर्गत अनुदान का स्वागत है, कृपया अपना फ़ोन नंः(STD कोड के साथ) मोबाइल नम्बर / इ-मेल पता व पिन कोड अवश्य लिखें.

योजना का नाम	अनुदान (आंशिक व्यय)	स्थाई अनुदान
वैदिक विद्यार्थी भोज (समाराधना)		
घरेलू भोजन	रु. 700/-	रु. 9000/-
विशेष समाराधना	रु. 2500/-	रु. 30,000/-
चावल और दाल हेतु - (75 किलोग्राम)	रु. 1600/-	रु. 20,000/-
वेद (शिक्षा एवं संक्षण हेतु) प्रति विद्यार्थी	रु. 12,000/- प्रतिवर्ष	रु. 1,50,000/-

अनुदान क्रास चेक, डी.डी. **'ए.वी.एम.एस.जी.डी.पी.एस. समिति'** के पक्ष में 'कुम्बकोणम्' पर देय होना चाहिए। पत्राचार हेतु उपरोक्त पते पर अध्यक्ष एवं कोषाध्यक्ष से सम्पर्क करें।

एक नोबल यह भी

• विष्णुप्रसाद चतुर्वेदी

विज्ञान नीरस विषय नहीं है और वैज्ञानिक भी शुष्क स्वभाव के नहीं होते हैं. किसी वस्तु या घटना को हास्य व व्यंग्य के कोण से देखने की क्षमता वैज्ञानिकों में सामान्य से अधिक होती है. यह संदेश है अमेरिका में व्यंग्य-विनोद भरे आयोजन 'आईजी नोबल पुरस्कार' सम्मान समारोह का. स्वीडन में नोबल पुरस्कार समारोह की तर्ज पर 1991 से प्रति वर्ष हो रहे इस आयोजन में विज्ञान व अन्य क्षेत्रों के उन सृजन कार्यों को सम्मान हेतु चुना जाता है जो पहले हंसाते हैं तथा बाद में गम्भीरता से सोचने को मज़बूर करते हैं.

आईजी रोमन लिपि में लिखे 'इग्नोबल' शब्द के प्रथम दो अक्षर हैं. 'इग्नोबल' का शाब्दिक अर्थ है अधम या नीच कुल में उत्पन्न. हास्य-व्यंग्य को छोड़ दें तो ऐसा कुछ नहीं होता जिसे नीच कहा जा सके. लगता है व्यंग्य भाव लाने के लिए इस शब्द का उपयोग किया गया है. आयोजन के स्तर का अनुमान इस तथ्य से किया जा सकता है कि अनेक नोबल पुरस्कार विजेता इस आयोजन में पूर्ण रुचि से इसका हिस्सा बनते हैं.

हास्य से जुड़े होने के कारण ही आयोजन की गम्भीरता को कम नहीं आंका जाना चाहिए. ब्रिटिश सरकार के प्रमुख वैज्ञानिक सलाहकार ने ब्रिटेन के वैज्ञानिकों को आईजी नोबल के लिए नहीं चुनने की मांग की थी. उन्हें आशंका थी कि आईजी नोबल मिलने पर किसी आविष्कार को हल्का समझा जा सकता है. ब्रिटेन के अनेक वैज्ञानिकों ने ही उनका विरोध कर उनकी आशंका को निर्मूल बता दिया. सम्भावना यह रहती है कि आज का आईजी नोबल विजेता कल सचमुच नोबल पुरस्कार विजेता बन जावे. एंड्रे गेइम को पहले आईजी नोबल मिला बाद में सचमुच का नोबल भी मिल गया.

'आईजी नोबल पुरस्कार' समारोह का आयोजन वैज्ञानिक विनोद पत्रिका 'एनल्स ऑफ इम्प्रोबेबल रिसर्च' द्वारा किया जाता है. कुछ अन्य संस्थाएं जैसे 'हॉवर्ड रेडक्लिफ विज्ञान कथा संघ', 'हॉवर्ड रेडक्लिफ भौतिकी विद्यार्थी समिति', 'हॉवर्ड कम्प्यूटर सोसाइटी' आदि आयोजन में सहयोग करती हैं. हॉवर्ड विश्वविद्यालय के ऐतिहासिक सभागार सैंडर्स

थियेटर में होने वाले इस आयोजन को विश्व वैज्ञानिक बिरादरी व विनोद प्रिय बुद्धिजीवियों का आशीर्वाद प्राप्त है. 'आईजी नोबल पुरस्कार' विजेताओं के भाषण मेसाच्यूट्स प्रौद्योगिकी संस्थान में आयोजित किये जाते हैं.

'आईजी नोबल' पुरस्कारों से यह तथ्य उभर कर आता है कि पुरस्कार केवल प्रशंसा ही नहीं करते, किसी की आलोचना करने या किसी पर व्यंग्य करने के लिए भी पुरस्कारों का उपयोग किया जा सकता है. अब तक दिये 'आईजी नोबल पुरस्कारों से इस बात की पुष्टि अनेक बार हुई है.

प्रतिवर्ष 10 'आईजी नोबल पुरस्कार' दिये जाते हैं. इनमें पांच विषय तो वास्तविक नोबल पुरस्कारों के समान ही हैं. सितम्बर 2012 में 22वें 'आईजी नोबल पुरस्कार' समारोह में साहित्य का 'आईजी नोबल' अमेरिकी सरकार के सामान्य जवाबदारी विभाग को उनकी रिपोर्टों की रिपोर्ट और फिर उसकी रिपोर्ट.... पर दिया गया. मई 2012 में उक्त विभाग ने रिर्पोर्टों पर होने वाले खर्चों व प्रभाव को जानने के लिए फिर एक रिपोर्ट तैयार करने की आवश्यकता प्रतिपादित की थी. स्पष्ट है कि 'आईजी नोबल पुरस्कार' देकर सरकारी विभाग की कार्य प्रणाली पर गहरा व्यंग्य किया गया है. ऐसा ही व्यंग्य शांति के 'आईजी नोबल पुरस्कार' में भी छुपा है. शांति का 'आईजी नोबल पुरस्कार' रूस की एसकेएन कम्पनी को रूस के पुराने हथियारों को नये हीरों में बदलने के लिए दिया गया. विश्व में विभिन्न सरकारों में उच्च स्तर पर व्याप्त भ्रष्टाचार के कारण व्यापक स्तर पर हो रहे हथियारों के अनावश्यक व्यापार पर व्यंग्य 'आईजी नोबल पुरस्कार' में छिपा है.

आपके आगे चलती महिला की पीठ पर, पेंडुलम की तरह लहराती, उसकी वेणी को देख आपके मन में कैसे विचार आते हैं यह हम नहीं जानते, पर तीन अमेरिकी वैज्ञानिकों ने वेणी की उस गति का गहराई से अध्ययन किया है. उन्होंने वेणी की विशिष्ट गति के लिए जिम्मेदार विभिन्न बलों के संतुलन स्थिति की गणना की है. 2012 का भौतिकी का 'आईजी नोबल पुरस्कार' उन्हीं तीन अमेरिकी वैज्ञानिकों को दिया गया है. 2012 का रसायन का 'आईजी नोबल पुरस्कार' भी बालों पर ही केंद्रित है. स्वीडन के जॉहन पीटरसन नामक वैज्ञानिक को स्वीडन के एंडरस्लोव कस्बे के कुछ घरों के निवासियों के बालों के हरे हो जाने के रहस्य की गुत्थी सुलझाने पर दिया गया है. औषध का पुरस्कार फ्रांस के दो वैज्ञानिकों को कोलोनोस्कोपी द्वारा मलाशय से रुकावट हटाने के बाद रोगी द्वारा गैस का विस्फोट करने की सम्भावना को न्यूनतम करने के उपाय बताने के लिए दिया गया है. व्यक्ति द्वारा गैस छोड़ना सदैव हंसी का कारण रहा है. गैस के विस्फोट की बात सुन हंसी का विस्फोट होना स्वाभविक ही है. मनोविज्ञान का 'आईजी नोबल पुरस्कार' निदरलैंड व पेरू के तीन वैज्ञानिकों को संयुक्त रूप से उनकी इस
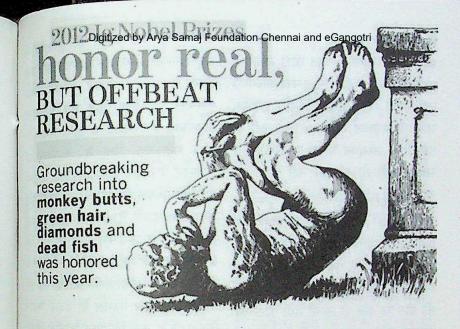
खोज के लिए दिया गया है कि बायीं ओर झुककर देखने पर एफिल टॉवर छोटा किस कारण दिखाई देता है. आप जब पेरिस जायेंगे तो एफिल टॉवर देखते हुए यह खोज आपकी मदद करेगी.

किसी वक्ता के लम्बे भाषण से आप भी कभी बहुत बोर ज़रूर हुए होंगे. उसे बैठाने का कोई उचित उपाय नहीं होने के कारण आपको मन मसोस कर बैठा भी रहना पड़ा होगा. आपको अब ऐसे परेशान नहीं होना होगा यदि आपके पास 'भाषण रोको' यंत्र होगा. इस बार ध्वनि विज्ञान का 'आईजी नोबल पुरस्कार' दो जापानी वैज्ञानिकों को उनके आविष्कार 'भाषण रोको' यंत्र (स्पीच जैमर) के लिए दिया गया है. 'भाषण रोको' यंत्र बिना ताकत आजमाये, किसी भी वक्ता को भाषण समाप्त करने पर मज़बूर कर देता है. स्पीच जैमर के चालू करने पर वक्ता भाषण कुछ विलम्ब के साथ उसके कानों में गूंजने लगता है. वक्ता को बोलने में परेशानी होने लगती और वह भाषण समाप्त करने को मज़बूर हो जाता है. जापान के उच्च व्यावसायिक विज्ञान संस्थान केंद्र में विकसित स्पीच जैमर यंत्र का प्रमुख उद्देश्य वक्ताओं को अपना प्रवचन प्रभावकारी बनाने में मदद करना है. द्रव-गतिकी के 'आईजी नोबल पुरस्कार' में भी आपकी रुचि हो सकती है क्योंकि जिस स्थिति के अध्ययन का 2012 का 'आईजी नोबल पुरस्कार' दिया गया है, ऐसी स्थिति से आपका भी वास्ता पड़ता रहता है. यह पुरस्कार अमेरिका के दो वैज्ञानिकों को संयुक्त रूप से इस अध्ययन के लिए दिया गया है कि कप

में कॉफी भर कर ले जाते समय कॉफी छलक क्यों जाती है. बात छोटी लगती है मगर अब तक किसी ने इसका अध्ययन नहीं किया तभी अधभरी गगरी छलकत जावे की कहावत अभी तक चल रही है. इस विशद अध्ययन के कई सामरिक महत्त्व सामने आयें तो आश्चर्य नहीं होगा.

आकारिकी का 'आईजी नोबल पुरस्कार' नीदरलैंड व अमेरिका के दो अनुसंधान कर्ताओं को संयुक्त रूप से दिया गया है. इन शोधकर्ताओं ने एक मजेदार तथ्य खोज निकाला है कि चिम्पैंजी अपने किसी साथी की पीठ की ओर से खींची गयी फोटो को देखकर उसे पहचान सकते हैं. यह आश्चर्य की बात तो है ही क्योंकि हम पीठ की ओर से व्यक्ति को पहचानने में कई बार भारी भूल कर जाते हैं. तंत्रिका विज्ञान का पुरस्कार चार अमेरिकी डॉक्टरों को दिया गया है. इन अनुसंधानकर्ताओं ने पता लगाया है कि मस्तिष्क पर शोध करने वाले वैज्ञानिक अत्यंत महंगे उपकरणों पर बहुत सरल तथ्यों के आधार पर मरी हुई सोनोमोन मछली में उपयोगी मस्तिष्क गतिविधियां देख सकते हैं. पुरस्कार में अनुसंधानकर्ताओं की तारीफ है या आलोचना इसका फैसला आप ही करें. 'आईजी नोबल पुरस्कार' के लिए चुने गये मनोरंजक अनुसंधान व रचनाओं के साथ सम्मान भी बहुत मनोरंजक होता है. कार्यक्रम का संचालन वैज्ञानिक विनोद पत्रिका 'एनल्स ऑफ इम्प्रोबेबल रिसर्च' के सम्पादक मार्क अब्राहम्स करते हैं. वक्ता द्वारा लम्बा भाषण देने पर उन्हें हूट करने की परम्परा प्रचलित है. ऑपेरा गायकों के सानिध्य में होने वाले इस मनोरंजक समारोह की एक परम्परा मंच पर कागज़ के हवाई जहाज फेंकना भी है. कुल मिलाकर 'आईजी नोबल पुरस्कार' समारोह विश्व विज्ञान जगत की अद्भुत वार्षिक घटना होती है. समारोह यह सिद्ध करता है कि विज्ञान में भी हंसने गुदगुदाने के अवसर उपस्थित हैं. वैज्ञानिक अनुसंधान में भी परिस्थितिजन्य हास्य की विपुल सम्भावना रहती है. पूर्व में दिये गये 'आईजी नोबल पुरस्कारों' के विषय में पढ़ना हास्य-व्यंग्य की रचना पढ़ने-सा आनंद देता है. ☐

खुदा दीमक से बचाये

मैं सोचता हूं मेरी मृत्यु के बाद मेरी लिखी हुई रचनाओं के लिए रेडियो और लाइब्रेरियों के दरवाज़े खुल जायेंगे. और मेरी कहानियों का भी ऐसा ही स्वागत होगा, तो मेरी आत्मा आश्वस्त हो जायेगी. इस बेचैनी को ध्यान में रखते हुए, आज तक मुझसे जो व्यवहार हुआ, उससे मैं संतुष्ट हूं. खुदा मुझे दीमक से बचाये.

– मंटो

उपभोक्तावाद के अभिमन्यु

● रमेश जोशी

आजकल अमेरिका के ओहायो राज्य की सम्मिट काउंटी के स्टो कस्बे में हूं. छोटे पौत्र नीरज और निरंजन नज़दीक के पब्लिक स्कूल में क्रमशः दूसरी और के.जी. में पढ़ते हैं. अपने भारत में पब्लिक स्कूल का मतलब होता है- निजी महंगे स्कूल. 'तीन लोक से मथुरा न्यारी' की तर्ज़ पर अमेरिका में 'पब्लिक स्कूल' का मतलब होता है- सरकारी स्कूल. वैसे देखा जाए तो ठीक भी है, जिसमें 'साधारण पब्लिक' जा सके उसी का नाम 'पब्लिक स्कूल' होना चाहिए. भारत की दृष्टि से देखा जाए तो यह भी ठीक है कि जिस स्कूल का सारा काम सरकार की किसी सहायता के बिना, उस स्कूल में पढ़ने वाले बच्चों के अभिभावकों (उस स्कूल की पब्लिक) के पैसों से चलता हो उसे पब्लिक स्कूल कहना ठीक ही है.

नाम के अलावा एक भिन्नता और भी है कि भारत में पब्लिक स्कूल (निजी स्कूल) वाले विभिन्न व्यापारिक संस्थाओं से मिलकर उनके विज्ञापन करते हैं और बिना कोई टैक्स दिये पैसे कमा लेते हैं. इन स्कूलों में एन.सी.ई.आर.टी या एस.सी.ई.आर.टी. की किताबें नहीं, बल्कि निजी प्रकाशकों की कहीं घटिया किंतु महंगी किताबें बच्चों से खरीदवायी जाती हैं और स्कूल प्रशासन पर्याप्त कमीशन खाता है. मैंने बंगलूरु में देखा कि एक स्कूल बच्चों को 'रीबॉक' के महंगे जूते खरीदने के लिए बाध्य करता है. पता नहीं जूतों की कीमत का पढ़ाई से क्या सम्बंध है? हां, पद या चांदी के जूते के बल पर बोर्ड और विश्वविद्यालयों से मिलकर नम्बर अवश्य बढ़वाये जा सकते हैं. हमारे ज़माने की बात और थी कि हमने पांचवी कक्षा तक बिना जूतों के ही पढ़ाई कर ली थी. सुदामा तो नंगे पांवों ही कृष्ण से मिलने में सफल हो गये थे.

भारत में सरकारी स्कूलों में बाहरी विज्ञापन एजेंसियों की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि सरकार ही सारा खर्चा उठाती है. वहां विज्ञापन का धंधा निजी स्कूल करते हैं. यहां बात उल्टी है. यहां निजी स्कूल जमकर पैसा लेते हैं और बच्चों को दबाकर पढ़ाते हैं. उन्हें विज्ञापनों से पैसे कमाने की आवश्यकता नहीं पड़ती. यहां सरकारी स्कूल स्थानीय, प्रांतीय और केंद्र सरकार की सहायता से चलते हैं. और सब जानते हैं कि सभी सरकारों की नज़र

में शिक्षा पहली प्राथमिकता नहीं है, बल्कि कहा जाए तो एक बेमन से किया गया कार्य है जो वोट के लिए करना पड़ता है. और अब तो अमेरिका की अर्थव्यवस्था गिरावट की ओर है. समय पर वर्षा, किसान-मज़दूर की मेहनत और भूमि की उपजाऊ-शक्ति और अपार खनिज सम्पदा के बावज़ूद अमेरिका में आर्थिक स्थिति खराब होने का क्या कारण है, यह एक अलग और आश्चर्यजनक विषय है.

भले ही बड़े-बड़े सी.ई.ओ. और नेता पूरी सुविधाएं, वेतन, बोनस और पेंशन पेल रहे हैं, मगर आर्थिक मंदी के बहाने से सरकारी विद्यालयों का बजट ज़रूर कम किया जा रहा है. इसलिए सरकारी स्कूल अपनी आय बढ़ाने के लिए ऐरे-गैरे सब से विज्ञापन लेकर धन जुटाने में लगे हैं. वैसे यह बात नहीं है कि अच्छी आर्थिक स्थिति में भी यहां के स्कूल विज्ञापन का सहारा नहीं लेते थे.

तो बात पौत्रों के स्कूल की हो रही थी. वे दोनों जब स्कूल से आये तो दोनों के पास कोई छह-सात सौ पेज की एक किताब थी जिसे वे अपनी किताब मानकर गौरवान्वित हो रहे थे, क्योंकि यहां बच्चों को न तो किताबें लेकर स्कूल जाना पड़ता है और न ही किताबें लेकर स्कूल से आना पड़ता है. यदि कोई थोड़ा बहुत गृह कार्य दिया भी जाता है तो एक अलग से पन्ने पर.

यह किताब बच्चों को मुफ्त दी गयी थी. जब ध्यान से देखा तो पाया कि यह कोई किताब नहीं बल्कि विभिन्न व्यापारिक प्रतिष्ठानों के 'खरीद-कूपनों' का संग्रह था, जिन्हें दिखाकर आप कुछ प्रतिशत छूट पर खरीदारी कर सकते हैं. खरीदारी में छूट का क्या मतलब होता है यह आज के ज़माने में भारत में कौन नहीं जानता! क्या कभी कोई व्यापारी किसी को कोई छूट दे सकता है ? हमारा तो मानना है कि यदि कोई व्यापारी बिलकुल मुफ्त में भी कोई चीज़ दे रहा है तो भी नहीं लेनी चाहिए, क्योंकि व्यापारी किसी और को तो क्या, अपने बाप तक को भी कुछ फ्री नहीं देता.

फ्रेंकफर्ट के हवाई अड्डे पर आधा लीटर पानी के पांच डॉलर लेने वाली बाज़ारी सभ्यता में कुछ भी फ्री होने की उम्मीद वैसे ही है जैसे कि किसी बाज़ारी औरत से ब्याहता पत्नी जैसी वफ़ा की उम्मीद करना. हमारी उम्र के लोगों को याद होगा कि जब भारत में चाय नयी-नयी चली थी तब चाय वाले बाज़ार में लोगों को मुफ्त चाय पिलाया करते थे. और आज ब्याज सहित सब कुछ निकाल लिया कि नहीं? हालत यह कि आज लोगों को दो-तीन सौ रुपए किलो में जो चाय बेची जा रही है उसकी भी शुद्धता की गारंटी नहीं है.

किताब के मुख-पृष्ठ पर लिखा था- 'एंटरटेनमेंट' / 'द एक्रन एरिया संस्करण' / 'ओवर, सेविंग्स इनसाइड'. एक्रन ओहायो राज्य के इस जिले-सम्मिट का एक शहर है, जहां विश्वविद्यालय भी है. जब इस इलाके के लिए एक संस्करण छपा है तो सारे अमेरिका में पता नहीं कितने करोड़

इस प्रकार की विज्ञापन पुस्तिका छपी होगी! यदि आप इस पुस्तक में दिये गये सभी कूपनों का 'सदुपयोग' (?) करें तो आप कोई बाईस हज़ार डॉलर बचा सकते हैं. आर्थिक मंदी से जूंझ रहे अमेरिका के लिए कितना सरल उपाय है और भारत जैसे मुक्त और पारदर्शी होकर बाज़ार में बैठे देश के लिए कितना प्रेरणादायी!

बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती. के.जी. का छात्र पौत्र निरंजन थोड़े बहुत अक्षर ही पढ़ना जानता है, मगर उसकी समझ और दृष्टि इतनी सूक्ष्म है कि वह अनुमान से ही बहुत कुछ पढ़ लेता है. उसे एक फोटोस्टेट किया हुआ कागज़ भी उस विज्ञापन पुस्तिका के साथ दिया गया, जिसमें विभिन्न प्रसिद्ध 'फास्ट फूड चेनलों' के प्रतीक चिह्न छपे हुए थे.

फास्ट फूड वाले इन चेनलों के बारे में सब जानते हैं कि यह फूड सस्ता तो ज़रूर होता है लेकिन स्वास्थ्यप्रद नहीं. इसमें बहुत ही घटिया चिकनाई का उपयोग किया जाता है. एक साथ ही लाखों पिज्ज़ा या बर्गर कारखानों में बनते हैं और फ्रीज़रों में पड़े रहते हैं. जहां आवश्यकता होती है वहां बड़े-बड़े ट्रेलरों से पहुंचा दिया जाता है. जब भी ग्राहक मांगता है तत्काल गरम करके दे दिया जाता है, फास्ट. वैसे अमेरिका में सभी पिज्ज़ा या बर्गर ऐसे ही नहीं आते. ऐसे भी भोजनालय हैं जहां तत्काल अच्छी सामग्री से आपके सामने ही ताज़ा भोजन तैयार किया जाता है, मगर वे इन चेनलों वाले फूड की तरह न तो सस्ते होते हैं और न ही फास्ट.

तो बच्चे को मिले कागज़ में फूड चेनलों के प्रतीक चिह्न कुछ इस क्रम से रखे गये थे कि उसी क्रम से बोलने पर एक शिशु गीत जैसा कुछ बनता था. बच्चे निरंजन को स्कूल से आते-आते यह गीत पूरी तरह से याद हो गया था. गीत कुछ इस प्रकार से बनता है–

डीयर फेमिली,
आई कैन सिंग दिस सोंग ओर बुक!
प्लीज लिसन टू मी रीड/सिंग !
यू कैन ईवन सिंग अलोंग विथ मी !
बर्गर किंग, बर्गर किंग, टाको बेल, बर्गर किंग.
बर्गर किंग, बर्गर किंग, टाको बेल, बर्गर किंग..
मेकडो.. नल्ड मेकडो... नल्ड.
टाको बेल, बर्गर किंग.
मेकडो... नल्ड, मेकडो.. नल्ड.
टाको बेल, बर्गर किंग.

अब देखिए, कहां तो हम शिशु-गीतों के द्वारा सोने के लिए तैयार बच्चे के कोमल मन को चांद, तितली और परियों के रंगीन और मधुर संसार में ले जाते हैं और कहां उसे सोते हुए भी किसी खास कम्पनी के अविश्वसनीय और अप्रामाणिक और हो सकता है कि हानिकारक खाद्य पदार्थों से बाहर नहीं निकलने देना चाहते. यह शिक्षा है या आनंद या एक बाल-मन के साथ क्रूर व्यापारिक खेल जो विद्यालयों के माध्यम से खेला जा रहा है! हो सकता है कि एक वर्ग ऐसा भी हो जिसे इसमें कोई बुराई नज़र नहीं आती हो, जैसे कि

सूअर की कल्पना कीचड़ से आगे नहीं हो सकती. हो सकता है कि पाठकों को याद हो कि देश की स्वतंत्रता की स्वर्ण जयंती पर आधी रात को आयोजित संसद के विशेष सत्र में लता मंगेशकर द्वारा एक गीत गाया जाना था और उसके पास कोकाकोला का एक विज्ञापन लगाये जाने की योजना थी. भगवान का शुक्र है कि देश इस राष्ट्रीय शर्म से बच गया.

उस दिन बच्चे एक और पैम्पलेट लेकर आये जो थे फास्ट फ़ूड वालों के शैक्षणिक सरोकारों को और अधिक मुखरता से प्रकट करते हैं.

विज्ञापन का एक प्रसिद्ध वाक्य है जो कहता है कि 'कैच देम यंग', मतलब कि गर्भावस्था में ही अभिमन्यु की तरह उसे मैकडोनल्ड के चक्रव्यूह में घुसा दो जिससे वह तो क्या उसकी सात पीढ़ियां तक बाहर न निकल सकें.

इसी अमेरिका में बहुत से ऐसे लोग भी हैं जो इस फास्ट फूड संस्कृति के खिलाफ हैं और बहुत से निजी स्कूलों में अभिभावकों के कहने पर वहां की विद्यालय कैंटीनों में बच्चों को फास्ट फूड और कोक उपलब्ध नहीं करवाये जाते.

अमेरिका के स्कूलों के माध्यम से बाल-मन में विज्ञापनों की इस घुसपैठ से आप कहां तक सहमत हैं? ❑

बच्चे को क्या मालूम

लबलबी दबी-पिस्तौल से झुंझलाकर गोली बाहर निकली.

खिड़की में से बाहर झांकने वाला आदमी उसी जगह दोहरा हो गया. लबलबी थोड़ी देर बाद फिर दबी- दूसरी गोली भिनभिनाती हुई बाहर निकली. सड़क पर -माशकी की मश्क फटी, वह औंधे मुंह गिरा और उसका लहू मश्क के पानी में मिलकर बहने लगा. लबलबी तीसरी बार दबी- निशाना चूक गया, गोली एक गीली दीवार में जज़्ब हो गयी. चौथी गोली एक बूढ़ी औरत की पीठ में लगी, वह चीख भी न सकी और वहीं ढेर हो गयी. पांचवीं और छठी गोली बेकार गयी, न कोई हलाल हुआ और न जख्मी. गोलियां चलाने वाला भिन्ना गया. तभी सड़क पर एक छोटा-सा बच्चा दौड़ता हुआ दिखाई दिया. गोलियां चलाने वाले ने पिस्तौल का मुंह उसकी तरफ़ मोड़ा.

उसके साथी ने कहा, "यह क्या करते हो?"

गोलियां चलाने वाले ने पूछा, "क्यों?"

"गोलियां तो खत्म हो चुकी हैं!"

"तुम खामोश रहो... इतने-से बच्चे को क्या मालूम?"

– मंटो

दो कविताएं

● राजी सेठ

प्रजा-राजा

जल धो देता है
दूध नहीं धोता

तरलता धो देती है
धवलता नहीं धोती

पारदर्शिता धोती है
प्रगाढ़ता नहीं धोती

जल त्याग सकता है
दूध नहीं त्यागता

जल निश्छल है
दूध में गरिमा संचित

जल प्रवाही
दूध ग्राही

जल प्रजा है
दूध राजा

जल लोक है
दूध परलोक

दूध में जल निहित है
जल में दूध कहीं नहीं

दुख उनको भी थे

दुख उनको भी थे; मुझे भी
चीरते टीसते सालते उन्हें भी रहे मुझे भी
घट दुर्घट
अरक्षा आघात
उन पर भी रहे मुझपर भी

मेरा दुख महत्त बना
क्योंकि मेरे पास शब्द हैं
कह पाने के हथियार
सह पाने की अक्षमता

तभी तो वे सब चुप हैं
मैं कह रही हूं
रचनारत क्या कभी सहता है
हर दुख की
संहिता बनाकर रहता है

प्रकृति

कोंकण का कृष्णकमल

• अरुणेंद्र नाथ वर्मा

कण-कण में भगवत्दर्शन करने वाली अपनी धार्मिक आध्यात्मिक परम्पराओं में पलकर बड़े होनेवाले भारतीयों के लिए सहज स्वाभाविक होता है कि वे भारत के कोने-कोने में बिखरे हर धार्मिक स्थल पर साक्षात प्रभु के अवतरण की जनश्रुतियों पर विश्वास करते चलें. अनगिनत जागृत मठों-मंदिरों से लेकर प्राचीन मंदिरों के भग्नावशेषों को दिखाते हुए, स्थानीय लोग या मार्गदर्शक उस स्थान के नदी-तालाब, पत्थर-पोखर कुछ भी दिखाते हुए, बता डालते हैं कि पौराणिक आख्यानों एवं आस्थाओं के अनुसार अमुक पत्थर पर वनवास को जाते हुए श्रीराम के चरण पड़े थे जिनकी छाप आज भी स्पष्ट बनी हुई है. भले ही वे पदचिह्न प्रकृति में निरंतर चलते क्षरण का परिणाम हों या किसी अकुशल नौसिखिये शिल्पकार द्वारा अपनी प्रेयसी के चरण चिह्नों को उकेरने का असफल प्रयास. कहीं सीता जी की रसोई दिखायी जाती है भले ही वह किसी प्राचीन बौद्ध स्तूप पर सनातन धर्मी हिंदू आस्था का प्रत्यारोपण हो. हिम मंडित शिखरों के बीच गरम पानी का कुंड वही जल होता है जो क्षत्रियों के संहार को निकले परशुराम के क्रुद्ध संतप्त हाथों के स्पर्श से अभी तक उबल रहा है. पत्थरों के बीच सहज रूप से निर्मल जलधारा फूटकर बह रही हो तो श्रद्धापूर्वक बताया जाता है कि इसी स्थान पर शर शय्या पर लेटे भीष्म पितामह के मुख में जल की बूंदें डालने के लिए अर्जुन ने अपने बाण से धरती का वक्ष चीर दिया था. इन पौराणिक आख्यानों से सभी श्रद्धा से अभिभूत हो जाएं यह आवश्यक नहीं. पर यदि कह दिया जाये की इसी समुद्र तट पर कई सदी पहले किसी को स्वप्न में विघ्नेश्वर गणपति ने आदेश दिया था कि उनकी पूजा अर्चना हो तो सब बाधाओं पर विजय मिलेगी, तो उस स्थान का नाम ही गनपतिपुले अर्थात गणपति ग्राम रख लिया जाता है. आस्था हो तो भगवान का

दर्शन हो ही जाता है.

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने लेख 'भूमि को देवत्व प्रदान' में इन्हीं परम्पराओं का विश्लेषण किया है. पर्वतों के ऊपर देवताओं के वास में आस्था रखकर वयोवृद्ध भी ऊंचे शिखरों पर चढ़ जाते हैं. विश्व के सर्वाधिक ऊंचे गुरुद्वारे हेमकुंड साहेब की दुर्गम पथरीली पगडंडियों पर नंगे पैर चढ़ते श्रद्धालु, अमरनाथ के हिम शिवलिंग के दर्शन को आतुर, डॉक्टरी जांच में अपना हृदयरोग छिपाकर बाद में यात्रा के बीच हृदयाघात से अमरनाथ की बजाय सीधे वैकुंठवासी हो जाने वाले तीर्थयात्री, कैलाश मानसरोवर यात्रा में तन-मन-धन, तीनों न्यौछावर करने वाले यात्रीगण, सभी की संख्या लगातार बढ़ ही रही है.

प्रकृति प्रेम और प्रभु प्रेम में तादात्म्य का स्थापित होना केवल नदी, पर्वत जैसी जड़ वस्तुओं तक ही सीमित नहीं है. फल, फूल से आध्यात्मिक, धार्मिक सम्बंध बनाने की परम्परा भी उतनी ही सुदृढ़ दीखती है. तभी तो गोल-गोल गेंद सरीखे कदम्ब के हरे पीले फलों के कटहल जैसे कांटों को देखकर उसके वृक्ष की छांव तले वंशी वादक श्रीकृष्ण के पीताम्बरी परिधान का ध्यान आता है. बिल्वपत्र, बेल या श्रीफल और धतूरे से शिवजी का, कमलपुष्प पर विराजती वीणावादिनी सरस्वती का और शक्ति को कमल के स्थान पर अपने कमल सरीखे नेत्रों की भेंट चढ़ाने को आतुर श्रीराम का सहज ही ध्यान आता है. वंदनवार, तोरण में अशोक और आम्र पल्लव का और सत्यनारायण के मंडप में केले के स्तम्भ और पत्तों का उपयोग, प्रकृति प्रेम, आस्था और धर्म का विस्मयकारी सम्मिश्रण दिखाता है. पूरे का पूरा ही पूजा जाने वाला पीपलवृक्ष जब अपने पूजा अर्चन से संतुष्ट नहीं होता तो अपने ऊपर निवास करने के लिए प्रेतयोनियों को आमंत्रित करने की धमकी दे डालता है. पर इतने सारे नदी पर्वत, फल-फूल और वृक्षों के होते हुए भी ऐसी किसी वस्तु को पाना कठिन है जो अपनी सुंदरता से मुग्ध कर दे, अपनी सुगंध से सम्मोहित कर दे और स्वयं में किसी पौराणिक आख्यान का दर्शन करा दे.

ऐसा अद्भुत फूल जो प्रकृति की सुंदरता का बेजोड़ नमूना भी हो और मानवीय परिकल्पना का भी, जो हमारी संस्कृति से जुड़े किसी आख्यान का जीवंत चित्र हो, जिसमें प्राकृतिक सौंदर्य और धार्मिक भावनाओं का अनूठा संगम हो, कोंकण की हरे-भरे वनों से आच्छादित पर्वतमालाओं के बीच घूमते सैलानियों को अनायास ही दीख जाता है. इस अद्भुत फूल का नाम है- 'कृष्णकमल'.

लगभग तीन इंच व्यास वाले वृत्त में एक चिपटी डिबिया का आकार लिये हुए गहरे मयूर्नील वर्ण के इस फूल का सौंदर्य तो मनमोहक है ही, इसकी सुगंध इतनी मादक और विशिष्ट है कि किसी ऐसी सुगंध

का उदाहरण [illegible] वर्णन करना दुष्कर है. कृष्णकमल की परिधि को नीचे से घेरती है सौ गहरे नीलवर्ण की पंखुरियां जिनके ऊपर बीच में हरीतिमा लिये पराग की थैली होती है. इनसे निकले तीन तंतुओं का छत्र-सा बना होता है जिसके आधार में श्वेत चक्राकार आकृति होती है. अब आप महाभारत के ताने बाने से बुनी जन श्रुतियों की काव्यात्मक उड़ान देखिए. कल्पनाएं धार्मिक भावनाओं और श्रद्धा के पंख लगाकर उड़ान भरती हैं और नीचे की सौ पंखुड़ियों को कौरव बंधुओं के रूप में देखती हैं. इसके ऊपर पांच श्वेत पंखुरियां पांच पांडवों-सी लगती हैं और फिर हरी पराग की थैली पांडवों की सुरक्षा के बीच में बैठी द्रौपदी लगती है. फिर ऊपर का श्वेत चक्र श्री कृष्ण के सुदर्शन चक्र को छोड़कर और क्या होगा?. इन सबके ऊपर छत्र बनाते हुए तीन तंतुओं में साक्षात ब्रह्मा, विष्णु, महेश की त्रिमूर्ति का अवलोकन होता है. कल्पना की यह उड़ान केवल कोंकण तक सीमित नहीं है. पाश्चात्य परिकल्पना में कैथोलिक धर्मानुयाई देशों में भी धार्मिक परम्पराओं एवं आख्यानों से इस फूल को जोड़ा गया है. वहां इसका श्वेत रंग पवित्रता का और नील वर्ण स्वर्ग का प्रतीक माना गया है; इसकी सौ पंखुड़ियां ईसा मसीह के सर पर रखे जाने वाले कांटों के ताज की याद दिलाती हैं और अंदर वाली पंखुड़ियों को वे यीशु के शिष्यों के रूप में देखते हैं जो जीवन पर्यंत ही नहीं अपितु पुनर्जीवित होने के बाद भी यीशु के संदेश [illegible] के बीच के [illegible] वृत्त वाले भाग को जहां भारतीय परम्परा ने सुदर्शन चक्र से जोड़ा है और ऊपर की गोल थैली में द्रौपदी की छवि देखी है उसी से कैथोलिक ईसाईयों को उस पवित्र प्याले (होली ग्रिल) का ध्यान आता है, जिसे जोसेफ ने यीशु के रक्तस्राव के नीचे रख कर उनका पवित्र रक्त इकट्ठा किया था. तात्पर्य यह है कि कृष्ण कमल में पौराणिक आख्यानों से उकेरे हुए बिम्ब और दैवी चरित्र जैसे आकार देखना केवल भारतीय परम्परा ही नहीं है, अन्य धर्मावलम्बी भी उसके अंदर अपने आराध्य देवों से सम्बंधित चित्रों का दर्शन कर नत-शिर हो जाते हैं.

मज़ेदार बात यह है कि वैज्ञानिक और तकनीकी दृष्टि से संसार की हर वस्तु से प्रेरणा पाने वाले इजराइलियों और जापानियों को इस फूल का आकार घड़ी के डायल की याद दिलाता है तभी वे इसे 'क्लोक फ्लावर' या 'क्लोक प्लांट' (जापानी भाषा में 'तोकिसो') कहते हैं. कृष्णकमल से सम्बंधित धार्मिक एवं सांस्कृतिक कल्पना केवल कोंकण की ही नहीं है, हिमाचल, उत्तरांचल व सुदूर उत्तर पूर्व भारत में तराई के जंगलों में भी कृष्णकमल कहीं-कहीं मिल जाता है. जहां उसकी आकृति पर आधारित नामकरण किया गया है- पंच पांडव. आकृति की सम्पूर्ण परिकल्पना वही है जो कृष्णकमल कहने वाले कोंकण में है. कृष्ण कमल भारत व दक्षिण पूर्व एशिया में कहीं अधिक मिलता है. अमेरिका में ओहिओ से कैलिफोर्निया तक के क्षेत्र में यूरोप में, स्पेन

में, दक्षिण अमेरिका में और न्यू गिनी से लेकर ऑस्ट्रेलिया एवं न्यूज़ीलैंड के सघन वनों में भी वह मिलता है. आकार हर जगह वही है पर पंखुडियों का रंग गहरे नील वर्ण के अतरिक्त श्वेत व पीला भी होता है. वनस्पति शास्त्रियों को इस अद्‌भुत फूल ने इतना मोह लिया है की अबतक इसकी पांच सौ से अधिक प्रजातियां पहचानी जा चुकी हैं.

पाश्चात्य और भारतीय संस्कृतियों एवं विचारधारा में एक बड़ा अंतर दीखता है इस फूल के नाम का. जहां भारत के श्रद्धालु इसको कृष्णकमल और पंच पांडव कह कर इसके सामने नमन करते हैं वहीं पाश्चात्य देशों ने इसका नाम रखा है- 'पैशन-फ्लावर'. कोंकण रेलवे के उच्च अधिकारियों को अपने क्षेत्र में पाये जाने वाले इस अद्‌भुत फूल का नाम पैशन फ्लावर ही मालूम रहा होगा. तभी तो मुम्बई से रत्नागिरी जाने वाली तीव्र गति की जो गाड़ी इन अप्रतिम सौंदर्य वाले पर्वतों पर चढ़ती, उतरती, उसकी सुरंगों में लुकाछिपी खेलती, उसके झरनों से क्रीड़ा करती हुई इठलाती, अठखेलियां करती अल्हड़ षोडशी सी चाल चलती है उसी पर रीझ कर उसका नाम उन्होंने दिया है- 'कोंकण कन्या'. इस नाम को लेकर शायद किसी ने उन्हें छेड़ा होगा तो दूसरी ट्रेन का नाम रख दिया राज्यरानी. 'पैशन फ्लावर' तक पहुंचाने वाली गाड़ियां कोंकणकन्या और राज्य-रानी नाम पाने की अधिकारिणी तो अवश्य हैं पर नाम रखने वाला उच्च अधिकारी भी रसिक स्वभाव का ही रहा होगा.

अपनी कहूं तो, धार्मिक दृष्टि से नहीं, केवल कलात्मकता की दृष्टि से भी इस अद्‌भुत फूल के आकार, विन्यास और सौंदर्य में महाभारत के पात्रों की छवि देखने वाली इन जनश्रुतियों से ही मैं सबसे अधिक प्रभावित हूं. प्रकृति के अद्‌भुत चित्रों जैसे ये फूल अधिक सम्मोहित करने वाले रंगों से बनाये गये हैं या राजा रवि वर्मा की तूलिका से उभरे हुए पौराणिक पात्रों का रंगरूप अधिक सम्मोहित करने वाला है, यह कहना उस आकाशीय कलाकार के प्रति धृष्टता होगी जो कभी अपनी तूलिका के रंगों से जन्मे कृष्णकमल को देखता होगा, कभी अपनी अद्‌भुत कृति के मानवीय कल्पना से उकेरे हुए पात्रों का परिचय पाकर मुस्कराता होगा. ❑

स्त्री-पुरुष

पुरुष समाज का न्याय है, स्त्री दया. पुरुष प्रतिशोधमय क्रोध है, स्त्री क्षमा, पुरुष शुष्क कर्तव्य है, स्त्री सरस सहानुभूति और पुरुष बल है, स्त्री हृदय की प्रेरणा.

- महादेवी वर्मा

साहित्य, संगीत और मीडिया

अश्विन कुमार

नेशनल पब्लिशींग हाउस, 2/35 अंसारी रोड, नयी दिल्ली-02 मूल्य- 250 ₹

इस पुस्तक में साहित्य, संगीत और मीडिया के अंतर्सम्बंधों को उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है. संगीत से जुड़े होने के चलते लेखक ने साहित्य और मीडिया के संगीत से गहरे सम्बंध को व्यक्त करने के लिए कुछ रचनाकारों एवं मीडियाकर्मियों के साक्षात्कारों के अंश भी प्रस्तुत किये हैं. साहित्य एवं मीडिया से जुड़े लोगों के लिए संगीत से सम्बंध का संक्षिप्त परिचय पुस्तक को उपयोगी बनाता है.

अंधेरे में कत्थक

सुभाष रस्तोगी

सूर्य भारती प्रकाशन, नयी सड़क, दिल्ली-06 मूल्य- 200 ₹

51 कविताओं का यह लेखक का पंद्रहवां काव्य-संग्रह है. ये कविताएं मनुष्य के भीतर के अंधेरों को पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करने के साथ ही उन अंधेरों के खिलाफ़, जो कहीं न कहीं हम सबके भीतर विराजमान हैं, संघर्ष करती हैं. कवि का अंधेरे को देखना, व्यक्त अंधकार को भेदकर, इस तरह झांकना और यह जान लेना है कि करुणा और मुक्ति के कई-कई अर्थ ध्वनित होने लगते हैं. कविताओं में वह सम्भावना भी शेष छोड़ी गयी है कि पाठक उनपर अपना प्रकाश डाल सकें.

हिंदी पथ

सुशीला गुप्ता

लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-1 मूल्य- 350 ₹

अंग्रेज़ी से हिंदी सीखने के लिए यह पुस्तक उपयोगी है. हिंदी को सरल तथा सुग्राह्य रूप में यहां प्रस्तुत किया गया है. इसके दस अध्यायों में हिंदी के शब्दों एवं वाक्यों को रोमनलिपि में लिखा गया है जिससे हिंदी सीखने के आरम्भिक काल में कठिनाई कम हो. बाद के अध्यायों में अंग्रेज़ी के वाक्य हिंदी के साथ और अंत में कुछ प्रचलित एवं बहुपयोगी शब्दों की सूची दोनों भाषाओं में दी गयी है.

अलकनंदा

नंदकिशोर नौटियाल

वाणी प्रकाशन, 4695, 21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-02 मूल्य- 160 ₹

317 पृष्ठों के इस उपन्यास की कथा उत्तराखंड के परिवेश से जुड़ी है. कहानी में दो अलकनंदा हैं- एक नायिका अलकनंदा और दूसरी अलकनंदा नदी. उपन्यास के पात्रों में सम्पादक, वकील और रिपोर्टर हैं जो अपनी-अपनी दृष्टि से नैनीताल और गढ़वाल सहित पूरे उत्तराखंड के परिप्रेक्ष्य में अपनी राय रखते चलते हैं. विभिन्न घटनाक्रमों के अतिरिक्त उत्तराखंड के जनजीवन एवं परिवेश को जानने-समझने की दृष्टि से भी उपन्यास पठनीय है.

लेखक क
में घटित
तथा अन्य
हुए संकट
स्पष्टता
समसामयि
उनका गह
उत्पन्न म
पाठकों के
और अर्थ
ही पाठको
पायेगा.

अरूज की
निर्भर है.
और ग़ज़
त्रुटियां हैं.
का इस
ज्ञान और
इनका स्व
पाठकों के
नियम व

बेगाने मौसम

रमेश जोशी

थिंकिंग हर्ट्स- डी-1403 लेबरनम, ब्रिगेड मिलेनियम, जेपी नगर, 7वां फेस, बेंगलूरु 560078 मूल्य- 120 ₹

82 ग़ज़लों का यह संग्रह लेखक का पहला काव्य संग्रह है. दुनिया में घटित राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा अन्य परिस्थितियों के फलस्वरूप पैदा हुए संकटों की छाया इन कविताओं में स्पष्टता से झलकती है. कवि-हृदय समसामयिक घटनाओं से खुद को जोड़कर उनका गहन विश्लेषण करता है और इससे उत्पन्न मनोभावों को ग़ज़ल की शक्ल में पाठकों के समक्ष रखता जाता है. गम्भीर और अर्थपूर्ण ग़ज़लों का यह संग्रह निश्चय ही पाठकों का मस्तिष्क क्रियाशील कर पायेगा.

आसान अरूज

डॉ. आज़म

शिवना प्रकाशन, पी.सी. लैब, सम्राट कॉम्प्लेक्स बेसमेंट, बस स्टैंड, सीहोर म.प्र. मूल्य- 300 ₹

अरूज शाइरी को परखने का ज्ञान है. इल्मे अरूज की बुनियाद शब्दों की आवाज़ पर निर्भर है. वर्तमान समय में बहुपठित ग़ज़लों और ग़ज़लकारों में अनेक व्याकरणिक त्रुटियां हैं. न तो पाठक और न ही विद्वानों का इस पर ध्यान होता है. बह्र का सही ज्ञान और उनका उपयोग न होने के चलते इनका स्वरूप ही बदल गया है. यह पुस्तक पाठकों को ग़ज़ल से सम्बंधित व्याकरणिक नियम व शु लेखन से परिचय कराती है.

कुछ और किताबें

❖ **मेरी शरण में आजा** (गीता, भागवत की प्रस्तुति)
रघुनाथ प्रसाद सराफ, भीलवाड़ा वाले
विनीत सराफ चेरीटेबल ट्रस्ट, रामनाम मार्ग, कोपरखैरा, नयी मुम्बई-709 मूल्य- 100 ₹

❖ **तुम न होगे तो** (काव्य संग्रह)
डॉ. जीवन शुक्ल
साहित्य रत्नालय, 37/50, गिलिस बाज़ार, कानपुर-208001 मूल्य-100 ₹

❖ **शब्द चित्र** (काव्य संग्रह)
सं.- जे.एल. राठोड़ प्रभाकर
अनीता राठोर, प्रांजलि प्रकाशन, दीनदयाल नगर, सागर (म.प्र.) मूल्य- 200 ₹

❖ **नारी यदि चाहे तो** (कहानी संग्रह)
पूजाश्री
मनोज बुक्स, प्लॉट नं.-100, डी-5, गोराई भाग-1, बोरीवली (प.) मुंबई मूल्य- 150 ₹

❖ **मथुरा की महिमा**
युगल किशोर चतुर्वेदी
डॉ. सत्येंद्र चतुर्वेदी, सम्पादक-लोकशिक्षक, अशोक मार्ग, जयपुर, राजस्थान मूल्य- 50 ₹

❖ **शत सांकेतिक प्रश्न** (वेद विषयक प्रश्न)
वी. उपेंद्रराव
गंगा प्रकाशन मंदिर, एच-128, पुरुषार्थ-सदनम्, राजहर्ष कालोनी, अकबरपुर, कोलार रोड, भोपाल- 462042 मूल्य- 35 ₹

भवन-समाचार

विवेकानंद अध्ययन केंद्र परियोजना

स्वामी विवेकानंद की 150वीं जयंती के अवसर पर भवन के कोयम्बटूर केंद्र ने 'विवेकानंद अध्ययन केंद्र' की शुरूआत की. रामकृष्ण आश्रम, हरीपद, केरल के अध्यक्ष स्वामी वीरभद्रानंदजी महाराज द्वारा इस परियोजना का उद्‌घाटन किया गया. अध्ययन केंद्र की शाखाएं कोयम्बटूर, तिरुपूर, पेरियार व निलग्रिस जिलों के 150 विद्यालयों में स्थापित की जाएंगी. इस अवसर पर शिक्षाविद् तथा विभिन्न विद्यालयों के प्रधानाचार्य उपस्थित थे.

'मानवीय उत्कृष्टता' विषय पर वर्कशॉप

भवन्स के कोच्चि केंद्र द्वारा मुम्बई की 'शिक्षण भारती संस्था' के साथ मिलकर 'मानवीय उत्कृष्टता' विषय पर शिक्षकों के लिए वर्कशॉप का आयोजन किया गया. वर्कशॉप का उद्‌घाटन आई.ए.एस. अजित पाटील ने किया तथा कार्यक्रम का संचालन शिक्षण भारतीय संस्था के निदेशक राकेश सक्सेना द्वारा किया गया. वर्कशॉप में 'मूल्य चेतना बढ़ाने के व्यावहारिक चित्र' तथा 'शिक्षण में शिक्षा के मूल्यों को एकत्रित करना' विषयों पर व्याख्यान आयोजित किये गये. इस वर्कशॉप में देशभर के शिक्षकों ने भाग लिया.

श्रावण संगीत लहरी समारोह आयोजित

भारतीय विद्या भवन के तिरुपति केंद्र द्वारा श्रावण महीने का स्वागत करने के लिए 'श्रावण संगीत लहरी' कार्यक्रम का आयोजन किया गया. कार्यक्रम में कलाईममानी अवसरला कन्या कुमारी मुख्य अतिथि के तौर पर उपस्थित थीं. उन्होंने वायलिन बजाकर दर्शकों का मन मोह लिया.

श्रावण महीने का स्वागत करने के लिए सांस्कृतिक कार्यक्रम का भी आयोजन किया गया. कार्यक्रम में विद्यार्थी व केंद्र के कर्मचारी उपस्थित थे.

तिरुवनंतपुरम केंद्र का रजत जयंती समारोह

तिरुवनंतपुरम केंद्र की 25वीं वर्षगांठ के अवसर पर समारोह का आयोजन किया गया.

कार्यक्रम का उद्‌घाटन त्रावणकोर के महाराजा श्री पद्‌मनभा दासा उथराडम तिरुनाल मार्तंड वर्मा द्वारा किया गया.

इस अवसर पर सांस्कृतिक कार्यक्रम भी आयोजित किये गये. जिसका उद्‌घाटन स्वास्थ्य मंत्री, श्री वी. एस. शिवकुमार ने किया. कार्यक्रम के दौरान केंद्र के कर्मचारियों को तथा शिक्षकों को सम्मानित किया गया.

कलिकट भवन विद्यालय का राजाजी ब्लॉक

चित्र में: कलिकट केंद्र के अध्यक्ष डॉ. के. माधवन कुट्टी भवन विद्यालय के चौथे ब्लॉक का उद्‌घाटन करते हुए. इस ब्लॉक का नाम 'राजाजी' रखा गया व अन्य तीन नवनिर्मित ब्लॉकों का नामकरण कुलपति मुनशी, स्वामी विवेकानंद तथा महात्मा गांधी के नाम से किया गया.

संयुक्त राष्ट्र मॉडल सम्मेलन आयोजित

चंडीगढ़ के भवन विद्यालय द्वारा 'संयुक्त राष्ट्र मॉडल-2012' सम्मेलन का आयोजन किया गया. सम्मेलन में 125 देशों के 40 विद्यालयों से 251 विद्यार्थियों ने भाग लिया. इस सम्मेलन में विद्यार्थियों के बीच चर्चा-सत्र, वक्तृत्व स्पर्धा व अन्य सृजनात्मक कार्यक्रम आयोजित किये गये. सम्मेलन के मुख्य अतिथि भारत के विदेश सचिव व कई अन्य देशों के राजदूत रह चुके डॉ. कंवल सिब्बल थे. तीन दिन तक चले इस सम्मेलन में- निजी क्षेत्र में बढ़ता भ्रष्टाचार, मंदी, लिंग भेद आधारित असमानताएं जैसे विषयों पर विद्यार्थियों ने अपने विचार रखे.

वर्तमान महानायकों को समर्पित '59वां वार्षिक भवन्स जर्नल'

भवन्स जर्नल का 59वां वार्षिक अंक वर्तमान के महानायकों तथा ख्यातिप्राप्त व्यक्तियों को समर्पित किया गया. जिसे डॉ. ए. पी. जे. अब्दुल कलाम के हाथों विमोचित किया गया. अंक को उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण व संग्रहणीय सामग्री बताया. 'द हिंदु' अखबार ने भी अंक को एक सराहनीय प्रयास का दर्जा दिया है.

उन्नीसवीं पावस व्याख्यानमाला

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति और पं. रविशंकर शुक्ल हिंदी भवन न्यास, भोपाल द्वारा 19वीं पावस व्याख्यानमाला आयोजित की गयी जो हिंदी के चार शताब्दी पुरुषों- विष्णु प्रभाकर, भवानीप्रसाद मिश्र, गोपाल सिंह नेपाली व भवानीप्रसाद तिवारी पर केंद्रित रही. तथा 'हिंदी व्यंग्य का वर्तमान रूप और सम्भावनाएं' विषय पर व्यंग्यकारों ने अपने विचार भी व्यक्त किये. कार्यक्रम का उद्घाटन करते हुए महाराष्ट्र साहित्य अकादमी के उपाध्यक्ष डॉ. दामोदर खडसे ने हिंदी व अन्य भारतीय भाषाओं को आगे बढ़ाने के लिए प्रयास करने पर ज़ोर दिया. राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के मंत्री संचालक कैलाशचंद्र पंत ने पावस के इतिहास व उद्देश्यों पर प्रकाश डाला.

जीवनी 'आवारा मसीहा' के लेखक विष्णु प्रभाकर के शताब्दी स्मरण के अंतर्गत 'जीवनी साहित्य और आवारा मसीहा' विषय पर विमर्श हुआ. साहित्य आलोचक डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय ने विचार रखे. भवानीप्रसाद मिश्र पर केंद्रित 'गीत फरोश कवि : विविध आयाम' सत्र की अध्यक्षता विजय बहादुर सिंह ने की. गोपालसिंह नेपाली और भवानीप्रसाद तिवारी के व्यक्तित्व और कृतित्व पर केंद्रित सत्रों की अध्यक्षता क्रमशः साहित्यकार डॉ. सुशील त्रिवेदी तथा समालोचक व कथाकार प्रो. रमेश दवे ने की.

'हिंदी व्यंग्य का वर्तमान रूप और सम्भावनाएं' विषय पर विमर्श में हिंदी व्यंग्य की चार पीढ़ियों के व्यंग्यकार- डॉ. नरेंद्र कोहली, डॉ. ज्ञान चतुर्वेदी, प्रो. मूलाराम जोशी, डॉ. प्रेम जन्मेजय, श्रीमती सूर्यबाला, श्रीकांत आप्टे और शांतिलाल जैन ने वैचारिक भागीदारी की.

गोइंका साहित्य पुरस्कार वितरण समारोह

नयी दिल्ली के 'भारतीय सांस्कृतिक सम्बंध परिषद सभागृह' में 'कमला गोइंका फाउंडेशन' एवं 'व्यंग्य यात्रा' के संयुक्त तत्त्वावधान में आयोजित समारोह में कमला गोइंका फाउंडेशन के न्यासी श्री श्यामसुंदर गोइंका के हाथों डॉ. गोपालदास नीरज को 'गोइंका हिंदी साहित्य सारस्वत सम्मान' तथा वरिष्ठ आलोचक डॉ. नामवर सिंह को 'महादेवी वर्मा हिंदी साहित्य पुरस्कार, सुप्रसिद्ध व्यंग्यकार श्री गोपाल चतुर्वेदी को 'स्नेहलता गोइंका व्यंग्यभूषण पुरस्कार एवं लेखिका डॉ. नताशा अरोड़ा को 'रत्नीदेवी गोइंका वागदेवी पुरस्कार से सम्मानित किया गया.

समारोह के सहसंयोजक डॉ. प्रेम जनमेजय ने पुरस्कार समारोह का संचालन किया व उपस्थित विभूतियों व दर्शकों का आभार ज्ञापन किया.

हिंदी दिवस

हिंदी दिवस के अवसर पर महाराष्ट्र हिंदी साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कार वितरण समारोह का आयोजन किया गया. जिसमें वरिष्ठ साहित्यकार और उपन्यासकार जगदम्बा प्रसाद दीक्षित को 'अखिल भारतीय हिंदी सेवा' पुरस्कार से नवाजा गया. इसके अलावा डॉ. सूर्यबाला, प्रो. सु. मो. शाह, श्रीमती सुधा अरोड़ा, डॉ. विजय कुमार, श्रीमती लीना मेहेंदले. डॉ. अचला नागर व अन्य हस्तियों को साहित्य में उनके योगदान के लिए राज्यस्तरीय पुरस्कारों से सम्मानित किया गया तथा डॉ. चंद्रकांत पाटिल, श्री कुमार शैलेंद्र, श्री सुरेश नारायण कुसुंबीवाल, डॉ. कृष्णा श्रीवास्तव व अन्य साहित्यकारों को 'विधा पुरस्कार' से सम्मानित किया गया.

हिंदी साहित्य अकादमी के कार्याध्यक्ष डॉ. दामोदर खड़से ने 'डॉ. धर्मवीर भारती और कमलेश्वर फेलोशिप' की घोषणा भी इस अवसर पर की.

दीपक सिन्हा व्याख्यानमाला आयोजित

हिंदू कॉलेज, दिल्ली में हिंदी साहित्य सभा द्वारा 'दीपक सिन्हा व्याख्यानमाला' में 'मीडिया- साहित्य और संस्कृति' विषय पर लेखक व जनसत्ता के सम्पादक ओम थानवी द्वारा व्याख्यान आयोजित किया गया. ओम थानवी ने अपने व्याख्यान में कहा कि "अच्छी भाषा के बाद ही संस्कृति-कला और साहित्य की बात आती है". मीडिया के बारे में उन्होंने कहा कि "हमें यह ध्यान देना होगा कि जूते के कारोबार और अखबार में फर्क है क्योंकि सिर्फ़ सूचना देना ही मीडिया का काम नहीं बल्कि पाठकों की जिम्मेदारी बढ़ाना भी मीडिया का कर्तव्य है. सभा महासचिव शैलेश शुक्ल ने आभार ज्ञापित किया. व्याख्यान में विद्यार्थी व शोधार्थी भी शामिल थे.

सार्थक मूल्य

सुदासराम माली कमल का एक सुंदर फूल महाराज प्रसेनजीत को इस आशा से भेंट करने पहुंचा कि एक-दो स्वर्ण मुद्राएं मिल जायेंगी. महल के द्वार पर मिले एक आगुंतक ने सुदास पूछा, "इसका क्या मूल्य है?" सुदासराम ने कहा "श्रीमान, मैं तो इसे महाराज से एक स्वर्ण मुंद्रा की कामना से लाया हूं."

वह व्यक्ति बोला, "मैं तुम्हें एक स्वर्ण मुद्रा देता हूं. यह कमल का फूल मुझे दे दो. मैं इसे यहां आये हुए भगवान बुद्ध को अर्पित करूंगा.

इतने में महाराज प्रसेनजीत सादे भेष में महल से बाहर निकले. उन्होंने भी सुंदर फूल का मूल्य पूछा.

"श्रीमान, यह फूल तो मैं इन्हें एक स्वर्ण मुद्रा में बेच रहा हूं."

"मैं तुम्हें दस स्वर्ण मुद्रा देता हूं."

"तो मैं बीस दूंगा"

फूल की बढ़ती कीमत देख सुदासराम चकित था. उसने निश्चय के स्वर में कहा, "किसी भी कीमत पर नहीं बेचूंगा." इतना कह वह भगवान बुद्ध के पास पहुंच, अपने फूल उनके चरणों में अर्पित कर, वहीं बैठ गया. भगवान बुद्ध मुस्करा कर बोले, "क्या चाहते हो वत्स?" सुदासराम ने अवरुद्ध कंठ से कहा "मेरी अब कोई कामना नहीं है. आपके पास पहुंच मुझे जीवन का सार्थक मूल्य मिल गया."

– डॉ. सी.बी. सिंह

पी. वी. शंकरनकुट्टी द्वारा *भारतीय विद्या भवन*, क. मा. मुनशी मार्ग, मुंबई – 400 007 के लिए प्रकाशित तथा *सिद्धि प्रिंटर्स, 13/14, भाभा बिल्डिंग, खेतवाड़ी, 13 लेन*, मुंबई 400 004 में मुद्रित.
ले-आउट एवं डिज़ाइनिंग : समीर पारेख – *क्रिएटिव पेज सेटर्स*, गोरेगांव, मुंबई–104 फ़ोनः 98690 08907
सम्पादक : विश्वनाथ सचदेव

दिसम्बर, 2012

20 रुपये

नवनीत

हिन्दी डाइजेस्ट

छमा बड़न को चाहिए...

"मेरा भविष्य,
सुरक्षित"

पाठकनामा

सितम्बर अंक में हिंदी के मौजूदा स्वरूप को लेकर आवरण-कथा में प्रकाशित आलेख तथ्यपूर्ण हैं. समाचारपत्रों और चैनल की भाषा में भाषा का लालित्य खोता जा रहा है. भाषा का दावानल रचते माध्यम इसके स्वरूप को विकृत कर रहे हैं. बाढ़ का पानी 'घुस' गया, यहां 'प्रवेश' शब्द होना चाहिए. पी.एम. ने मांग ठुकरायी, यहां पी.एम. की जगह पर प्रधानमंत्री अधिक प्रभावी है. भाषा को दावानल से बचाना ज़रूरी है. यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि जिन माध्यमों पर भाषा को सजाने-संवारने का दायित्व है, वही इसे विकृत कर रहे हैं.

● **मनोहर मंजुल, निमाड़, म. प्र.**

सितम्बर का 'नवनीत' देखा तो देखता ही रह गया. कुछ नहीं, बहुत कुछ अलग है इसमें. आवरण-कथा का तीन शब्दों का सार 'भाषा बहता नीर' अभिधा, व्यंजना और लक्षणा तीनों में विषय को परत-दर-परत खोलकर रख देता है. प्रियदर्शन का आलेख हिंदी की जिन चुनौतियों का वर्णन करता है, वस्तुतः वे चुनौतियां पूरे हिंदी समाज के सामने हैं. अधिक विन्यास और वैचारिक अभिव्यक्ति के लिए अंग्रेज़ी पर निर्भरता हमारी गरीबी नहीं, बीमार मानसिकता का परिचायक है. 'नवनीत' ने इसे रेखांकित कर चुनौतियों के मुकाबले के नये आयाम खोले हैं.

● **रामसहाय शर्मा, मुज्जफरपुर, उत्तर प्रदेश**

'प्रज्ञापिता धर्मवीर भारती' पढ़ना एक अनुभव से गुज़रना था. बेटी ने पिता के बारे में जो कुछ बताया वह साहित्यकार धर्मवीर भारती को समझने की एक नयी खिड़की खोलता है. लेकिन हिंदी के साहित्यकार की बेटी की अंग्रेज़ी पर इतनी निर्भरता समझ में नहीं आती.

● **निवेदिता सांखला, जोधपुर (राजस्थान)**

अक्टूबर में श्री रमेश थानवी की अन्वेषणीय दृष्टि से निकला पंक्ति की अनिवार्यता को शिक्षण-व्यवस्था में वरजता लेख, दिनेश थपलियाल तथा डॉ. सुधा की कहानी, नारायण दत्त का 'देवदारु' एवं कृष्ण बिहारी मिश्र का आध्यात्मिक अनुभव 'बटो' ने रात्रि में ही यह पत्र लिखने को प्रवृत्त किया.

क्षमा करें. कविता व ग़ज़ल चयन करने में आपका हाथ ढीला है. इस अंक की ग़ज़लें यही कहती हैं.

● **सलीम खां फरीद, हसामपुर, राजस्थान**

अक्टूबर अंक में 'कलुआ बना कालनेमी' कहानी आज की राजनीति का सारा घिनौना चेहरा बेनकाब करती है. कुलपति उवाच

व महाभारत जारी है अत्यंत सुंदर व ज्ञानवर्धक हैं. सम्पादकीय के द्वारा गांधीजी के बारे में बहुत सही-सही तथ्य रखे गये हैं. आज जब पत्रकारिता लेखन धन के लोभ से प्रभावित होकर भटक चुकी है, वहीं आपकी पत्रिका देश को ज्ञान देने में जुटी है. आपकी पत्रिका में छपी कविताएं और कहानियां भी पाठक को वास्तविक ज्ञान कराती हैं. हर अंक को पढ़ने की उत्सकुता बनी रहती है.

● राजेंद्र यादव रशल विश्वमित्र, भाऊपुर, कानपुर

व्याख्यान के अंतर्गत 'बदलती भाषा का सच', बादल सरकार के लेख के सम्पादित अंश नाटक के किरदारों और प्रेक्षकों के लिए मनन करने योग्य है. 1982 में मौलाना अबुल कलाम आज़ाद स्मृति व्याख्यानमाला के ये मार्मिक अंश रंगमंच के अस्तित्व के साथ सदैव प्रासंगिक रहेंगे.

● हुकमचंद सोगानी, उज्जैन, मध्य प्रदेश

अक्टूबर अंक में प्रकाशित पहली सीढ़ी 'वस्तु-चेतना' पत्रिका के उच्च स्तर का प्रमाण है. इस कविता में चीज़ों की प्रभुता को आत्मा से भी ज्येष्ठ बताया गया है. इसमें लय का प्रवाह और तारे-सारे इकाई प्रभविभु आदि की तुक कविता को एक विलक्षण नवगीत बना देती है. प्रकाश परिमल जी को कविता के लिए शत्-शत् बधाई.

● छाया गुप्ता, जयपुर, राजस्थान

आज जब हिंदी पत्रिकाओं का स्तर पहले जैसा नहीं रह गया, पाठकवर्ग में 'नवनीत' अपनी धुरी पर कायम एक स्वस्थ और आदर्श पत्रिका मानी जाती है. एक लम्बे समय से अपनी संस्कृति, साहित्य और जीवन को नवनीत की तरह प्रस्तुत करने वाली इस पत्रिका की सराहना किन शब्दों में की जाए. कामना ही कर सकता हूं कि पत्रिका स्वस्थ रहे और सभी को ज्ञान-विज्ञान की रश्मियों से आलोकित करती रहे.

● बल्लभ डोबाल, नोएडा

अक्टूबर अंक में छपे लेख 'आज अगर गांधीजी होते?' इस प्रश्न का उत्तर नहीं प्राप्त हुआ. जब गांधीजी थे तो विभाजन रोक नहीं पाये. इसी प्रकार, आज वे कुछ कर पाते यह सम्भावना नहीं के बराबर है.

आज प्रश्न यह होना चाहिए कि यदि शास्त्रीजी होते तो क्या करते. मेरा मत है कि यदि वे होते तो देश वर्तमान अवस्था में नहीं होता. यह देश ज़रा परावलम्बी होने की दिशा में अग्रसर नहीं होता. भ्रष्टाचार भयभीत रहता तथा सबल नेतृत्व होता.

● **रतनलाल जैन, सुभाष नगर, जयपुर**

अक्टूबर का अंक पढ़ रही थी. हमेशा की तरह सबसे पहले कहानियों पर ही नज़र गयी. प्रस्तावना पढ़ रही थी. कहानी का नाम था- 'सेल्फ हीलिंग.' लगा कि अरे, ये तो मेरी ही कहानी का प्लॉट है. प्रस्तावना के अंत में खुलासा हुआ कि 'सेल्फ हीलिंग' मेरी कहानी 'ऑनर किलिंग' का सीक्वेल है.

सुश्री सुधाजी की आभारी हूं कि उन्होंने मेरी कहानी को इतनी तवज्जो दी और उसे एक पॉजिटिव मोड़ दे दिया.

हम हिंदुस्तानी लोग वैसे भी 'सुखांत' के ज़्यादा प्रेमी होते हैं. 'जैसे उनके दिन फिरे' वाली हैप्पी एंडिंग हमें बहुत भाती है. पर ऐसा हमेशा कहां हो पाता है.

वैसे भी- 'है सबसे मधुर वो गीत, जिसे हम दर्द के सुर में गाते हैं.'

● **मालती जोशी, भोपाल**

अक्टूबर अंक के कहानी खंड में पहली कहानी मेरी हमनाम सुधा की है- 'सेल्फ हीलिंग.' कुछ मित्रों ने पूछा कि कहानी मैंने लिखी है क्या? मैंने कहा- "मैं अपने आधे नाम से क्यों लिखूंगी भला. कहानी को अब मैंने पढ़ा तो समझ में आया कि यह कहानी मालती जोशी की एक सशक्त कहानी 'ऑनर किलिंग' पर एक रचनात्मक प्रतिक्रिया है जो नवनीत के फरवरी अंक में छपी थी. उनकी हर कहानी की तरह इसमें भी एक लड़की की सामाजिक स्थिति पर तीखा और बेधक कटाक्ष था.

कहानी यथार्थ के जिस धरातल से शुरू होती है, वहीं टिकी रहती है. सुधा की 'सेल्फ हीलिंग' में कहानी को एक आदर्शवादी मोड़ दिया गया है. यहां एक आशावादी स्वर है कि उसके लिए एक विकल्प सामने है. जीवन के यथार्थ में ऐसे उदारमना प्रेमियों के विकल्प सिर्फ़ कहानियों में ही गढ़े जा सकते हैं. जीवन में उनकी उपस्थिति संदिग्ध तो नहीं पर अविश्वसनीय अवश्य है.

मेरी दो आपत्तियां हैं - एक तो इस तरह की रचनात्मक प्रतिक्रिया को कहानी का दर्जा नहीं दिया जाना चाहिए. उसे एक प्रतिक्रिया की तरह ही छापें.

दूसरा, कथा लेखिका से विनम्र अनुरोध है कि वे अपना पूरा नाम लिखें. हिंदी साहित्य में सुधा नाम की लेखिकाएं बहुत हैं- सुधा सिंह, सुधा उपाध्याय, सुधा श्रीवास्तव, सुधा चौधरी, सुधा अरोड़ा- सभी साहित्य के पटल पर उपस्थित हैं. सिर्फ़ सुधा लिखकर इन सारी सुधाओं को क्यों धर्मसंकट में डाला जाए? इससे बेहतर है कि पांडिचेरी निवासी लेखिका सुधा अपने संक्षिप्त नाम को पूरा कर लिखें ताकि उनके लेखन का श्रेय उन्हें ही मिले, अन्य सुधाओं को नहीं.

● **सुधा अरोड़ा, मुंबई**

तोड़ दो वह कड़ी

कर्म और उसके फल के बीच आसक्ति को त्याग देने का यह अर्थ नहीं है कि कर्म को अविचार पूर्वक, बिना किसी योजना के या ऐसे ढंग से किया जाए, जिसका उसके हेतु से कोई सम्बंध न हो. इसका अर्थ वास्तव में यह है कि हाथ में लिये हुए काम को करते समय उसे सम्पूर्ण रूप से करने के लिए जीवन की समस्त शक्तियों को एकाग्र कर लेना चाहिए. और यह काम करने से कितना लाभ होगा- इस विचार का प्रभाव काम पर न पड़ने देना चाहिए. यह है कर्म-योग, जो मनुष्य को कर्म बंधन से छुड़ाता और परमेश्वर रूपी परमपद तक पहुंचने का मार्ग सरल बनाता है.

परंतु इस चढ़ाई का पहला और सबसे कठिन छोर किस प्रकार पार किया जाए? इसके लिए आवश्यक वस्तु यह है- मेरा ध्यान, मेरे जीवन की प्रत्येक शक्ति, प्रतिक्षण कर्म की ओर मुड़नी चाहिए, उसके हेतु या फल की ओर नहीं. मैं अपना काम अच्छी तरह करूंगा, तो उसका योग्य परिणाम अपने आप होगा. इसके विपरीत, यदि इस काम से मिलने वाले फल का मैं विचार करूंगा, तो मुझे इसके विषय में आसक्ति होगी. मैं उसकी चिंता करता रहूंगा. फल को गंवा देने के विचार से मैं कांप उठूंगा. चिंता, अधीरता और बेचैनी से मेरे ध्यान में व्यग्रता आ जाएगी. सर्जनशील ध्यान के जिस अखंड प्रवाह के बिना, चिरस्थायी परिणाम कभी प्राप्त नहीं होते, वह ध्यान मेरे काम की ओर नहीं मुड़ेगा. फल-स्वरूप मेरी मानसिक शक्ति नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगी. मेरे अपने सत्य के लिए प्राण बिछा देने का संकल्प-जो मेरी सर्वशक्तियों का मूल-स्रोत है- छिन्न-भिन्न हो जाएगा. अवांछित परिणाम होंगे. सिद्धि या असिद्धि के कारण मेरे बंधन-राग, भय और क्रोध-अधिक दृढ़ होंगे. इसका तादृश वर्णन श्रीकृष्ण ने किया है- 'विषयों का चिंतन करने वाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है और आसक्ति से उन विषयों की कामना उत्पन्न होती और कामना में विघ्न होने से क्रोध उत्पन्न होता है. क्रोध से अविवेक-मूढ़भाव उत्पन्न होता है और अविवेक से स्मरण शक्ति भ्रमित हो जाती है. स्मृति के भ्रमित हो जाने से बुद्धि या ज्ञान शक्ति का नाश हो जाता है.'

इसलिए प्रधान बात यह है कि कर्म-फल के बीच आसक्ति और उनके बीच की कड़ी तोड़ दी जाए.

(कुलपति के. एम. मुनशी भारतीय विद्या भवन के संस्थापक थे)

नवनीत
हिंदी डाइजेस्ट

समय... साहित्य... संस्कृति... का समग्र संसार

• भारतीय विद्या भवन का मासिक •
भवन की पत्रिका 'भारती' से समन्वित

वर्ष : 60 अंक : 12 • दिसम्बर 2012

संस्थापक
कनैयालाल मुनशी • श्रीगोपाल नेवटिया

सम्पादक
विश्वनाथ सचदेव

वरिष्ठ उपसम्पादक
राधारमण त्रिपाठी

उपसम्पादक
विकास जोशी

प्रसार-सहायक
राजाराम पाल • आज़ाद आलम
कार्यालय सहायक - हंसमुख परमार

सम्पादकीय कार्यालय
भारतीय विद्या भवन
क. मा. मुनशी मार्ग, चौपाटी, मुंबई - 400 007
फ़ोन : 022-23634462/ 1261/ 1554
फ़ैक्स : 022-23630058
प्रसार-विभाग : 022-23514466/ 23530916
ई-मेल : navneet.hindi@gmail.com
bhavan@bhavans.info

एक नज़र में

कथा पहुंची कहानी से उपन्यास तक

• आनंद गहलोत

'कहानी' शब्द आधुनिक हिंदी भाषा के तीव्र विकास-युग के प्रथम चरण की देन है. संस्कृत-युग में तो 'कहानी' शब्द की कल्पना तक नहीं की गयी थी. तब 'कथा' शब्द प्रचलन में था जो संस्कृत की 'कथ्' धातु से बना हुआ था.

'कथ्' ने संस्कृत के बाद की प्राकृत भाषाओं के युग में रूप धरे- 'कह', 'कध', 'कत्थ'. फिर हिंदी, मराठी, गुजराती में 'कहना', 'कहजें' और 'कथवुं' के रूप में प्रचलित हुआ. ऐसा लगता है कि हिंदी 'कहानी' ने 'कहना' से व मराठी 'कहानी' ने 'कहजें' से जन्म लिया होगा. लेकिन दोनों ही शब्दों का जन्म संस्कृत के 'कथनिका' शब्द से हुआ है. 'कथनिका' का अर्थ है कहानी. संस्कृत में 'कथा' के अन्य पर्याय जैसे कि 'आख्यान', 'आख्यायिका', 'गल्प', 'जल्प' आदि हिंदी में अपनी जगह नहीं बना सके.

रही बात 'उपन्यास' की. अंग्रेज़ी के 'नॉविल' शब्द के लिए 'उपन्यास' शब्द हिंदी में संस्कृत से नहीं आया. संस्कृत में 'उपन्यास' का अर्थ है- 'भूमिका बांधना', 'उपक्रम', 'विचार उपस्थित करना'. दक्षिण भारतीय भाषाओं में 'उपन्यास' और 'उपन्यास' से बने विकृत शब्दों के संस्कृत से विरासत में मिले अर्थ ही हैं. लेकिन बाङ्ला लेखकों ने जब अंग्रेज़ी साहित्य की नयी विधा- 'नॉवेल्स' (कई पात्रों की आपस में गुंथी हुई, विस्तृत घटनाओं की कल्पित लम्बी कहानी) जैसे नये ढंग का मौलिक साहित्य लिखना शुरू किया तो आंशिक भाव-सादृश्य के आधार पर उसे नया नाम दिया, 'उपन्यास'.

हिंदी में इस नये अर्थ में 'उपन्यास' शब्द का प्रचलन 1873 के बाद हुआ. भारतेंदु हरिश्चंद्र ने पहली बार अपने द्वारा प्रकाशित 'हरिश्चंद्र मैगज़ीन' में लेखों की सूची में 'नॉविल' शब्द इस्तेमाल किया. बाद में बाङ्ला की देखादेखी हिंदी के सम्पादकों, लेखकों और पाठकों ने 'उपन्यास' अपना लिया.

मराठी में 'नॉविल' शब्द 'कथा-साहित्य' का ही नवीन रूप है. मराठी साहित्यकारों को सातवीं शताब्दी के बाणभट्ट प्रणीत संस्कृत के नये प्रकार के 'कथा-साहित्य' से 'कादम्बरी' की याद आयी. 'कादम्बरी' के नाम पर 'नॉविल' को उन्होंने नाम दिया- 'कादम्बरी'. 'कादम्बरी' (सरस्वती) वास्तव में 'कादम्बरी' की नायिका थी. कुछ मराठी लेखकों ने एक नया नाम भी जोड़ा. 'नॉविल' को उन्होंने 'नवल कथा' के नाम से पुकारा. संस्कृत का 'नवल' जिसका अर्थ 'नवीन', 'नव', 'नूतन' ही यूरोपीय आबोहवा में 'नॉविल' हो गया. अर्थ वही रहा लेकिन अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में 'उपन्यास' नया अर्थ भी जुड़ गया.

।। आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः ।।

क्षमा करो

• रवींद्रनाथ ठाकुर

यदि पथ चलते पिछड़ जाऊं कभी
तो मेरी उस क्लांति को क्षमा करना प्रभु.

यह जो मेरा हृदय इस तरह कांप रहा है थर-थर
मेरी इस वेदना को क्षमा करना प्रभु.

यदि पथ चलते कभी पीछे मुड़कर देखूं
तो मेरी उस दीनता को क्षमा करना प्रभु.

यदि प्रखर धूप के ताप से
पात्र में ही सूख जाए पूजा की माला
तो उस म्लानता को क्षमा करना प्रभु.
क्षमा करना, क्षमा करना, क्षमा करना प्रभु.

('गीतवितान' से)

अनुवाद : आलोक भट्टाचार्य

सम्पादकीय

आइए, मनुष्यता को समझें

यीशू के हाथों-पैरों में कीले ठोंककर जब उन्हें क्रॉस पर टांग दिया गया तो उन्होंने कहा था, ''हे प्रभु, इन्हें क्षमा कर देना, यह नहीं जानते यह क्या कर रहे हैं''. क्षमा के सतरंगे इंद्रधनुष का एक सिरा यह है, दूसरा वह जहां रामधारी सिंह 'दिनकर' कहते हैं, ''क्षमा सोहती उस भुजंग को जिसके पास गरल है''. वस्तुतः यह क्षमा की सीमाएं नहीं हैं. यह विस्तार है जो क्षमा को मानवीय उदारता के चरम शिखर तक ले जाता है. मनुष्य को देवत्व नहीं देता क्षमा करने का यह अधिकार, यह उसे सही अर्थों में मनुष्य बनाता है. किसी को दंड देना अथवा किसी से बदला लेना मुश्किल काम नहीं है. बदला तो जानवर भी लेते हैं और दंड आसुरी ताकत वाला कोई व्यक्ति भी दे सकता है, लेकिन बहुत मुश्किल काम होता है स्वयं को मनुष्य कहने वालों के लिए किसी को क्षमा करना. क्षमा करने का अर्थ है हम कथित अपराध करने वाले को न केवल कोई सज़ा नहीं देना चाहते हैं, बल्कि उसे सुधरने का एक मौका भी देना चाहते हैं. पर क्षमा का अर्थ एवं महत्त्व यहीं तक सीमित नहीं है. शेक्सपियर ने दया को दुहरे गुण वाला हथियार बताया था- दया के पात्र और दया करने वाले, दोनों को दया का लाभ मिलता है. क्षमा भी ऐसा ही अस्त्र है. क्षमा पाने वाला ही नहीं, क्षमा करने वाला भी इससे लाभान्वित होता है— क्षमा पाने वाले को सुधरने का मौका मिलता है और क्षमा करने वाले को अपने मनुष्य होने को सार्थक करने का एक अवसर. क्षमा करना आसान काम नहीं है, इसी तरह क्षमा मांगना भी आसान नहीं होता है. बहुत बड़ा नैतिक साहस चाहिए व्यक्ति में यदि वह ईमानदारी से क्षमा मांग रहा है. जैन धर्म में तो क्षमा मांगने को पर्व का रूप दे दिया गया है. क्षमा मांगना भी पुण्य है, क्षमा करना भी.

क्रिसमस वाले इस माह में यही क्षमा हमारी आवरण कथा का विषय है. गंगाप्रसाद विमल, डॉ. आनंदप्रकाश दीक्षित, हुकमचंद भारिल्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, नर्मदाप्रसाद उपाध्याय आदि विद्वान लेखकों के माध्यम से हमने मानवीयता को परिभाषित करने वाले इस गुण को समझने का प्रयास किया है. बापू से जुड़ा एक संस्मरण क्षमा का एक अनूठा अध्याय हमारे सामने लाता है. इस अंक में बाबा आमटे के बारे में एक लम्बा लेख है. बाबा ने अपने कृतित्व से करुणा को साकार किया था. आइए, क्रिसमस की खुशियों के साथ मनुष्यता को समझने की एक कोशिश करें.

छमा बड़न को चाहिए...

● गंगा प्रसाद विमल

क्षमा एक जादुई वृत्ति है. परिष्कार का एक अंतः निबद्ध मनोलोकीय परिकल्प है. एक ऐसा विधान जिसका वादी-प्रतिवादी दोनों पर तत्काल प्रभाव पड़ता है. यह एक ऐसा मूल्य है जिसका उल्लेख आर्ष ग्रंथों में सर्वोच्च मूल्य के रूप में किया जाता है. इससे जुड़ी तमाम दूसरी चीज़ें भी पवित्रता की उस कोटि की हैं जिन्हें हम अतुलनीय मानते हैं. बौद्ध और जैन धर्मों में तो यह एक महत्तम मूलाधार है. वहां शिक्षण और प्रशिक्षण दोनों में एक ऐसे गुणधर्म के रूप में शनैः शनैः विकसित होने वाला तत्त्व है जो अन्वेषी या योगी या श्रमण को उत्तरोत्तर उच्चता की ओर ले जाता है. बौद्ध-जैन धर्मों का यह स्तम्भ दूसरे धर्मों में भी उच्चतर साधनाओं से संभव माना गया है. न्याय और युद्ध के लिए किये गये धार्मिक अभियानों में यह निर्विकल्प रूप से ज़्यादा कारगर और यहां तक कि मारक औजार के रूप में देखा गया है. अर्थात अहंकार को मारने वाला औज़ार सिर्फ़ क्षमा ही है. नीतिकथन में क्षमा बड़प्पन की निशानी है. इसीलिए सूक्ति के रूप में बार-बार दुहराया जाता है

कि 'छमा बड़न को चाहिए, छोटन को उत्पात.'

भारतीय पुराणों, मध्य एशिया के गल्पों में अनेकानेक कथाएं हैं जो वीरों, सत्पुरुषों द्वारा क्षमा के उत्कृष्ट वृत्तांतों में गिनी जाती हैं. परंतु, क्षमा मात्र एक भाषिक स्तर की दान क्रिया नहीं है. क्षमादान सर्वोत्कृष्ट दान है क्योंकि वह ऐसे व्यक्तित्व की वृत्ति है जो सांसारिक उपलब्धियों को तुच्छ समझता है. इस लिहाज से सांसारिकता और दिव्यता को जाना जा सकता है. राजनीतिक सांसारिकता की ओर उन्मुख है. उसमें आक्रामकता, प्रतिहिंसा, वर्चस्व कायम करने की आकांक्षा और प्रभुत्व की चाह है. परंतु क्षमाशील व्यक्ति के लिए ऐसी किसी आकांक्षा की ज़रूरत नहीं है. एक संत अपने आश्रम में शिष्यों के साथ रहते थे. किसी शिष्य को सांप ने डंस लिया तो शिष्य मंडली सांप को मार डालने के लिए खड़ी हो गयी. संत ने उन्हें सांप मारने से बरजा. उन्होंने कहा, ''आत्मरक्षा के लिए सांप का डंसना उसकी मूल प्रवृत्ति है. मनुष्य की मूल प्रवृत्ति डंसना नहीं है. वह सचल, सवाक् और विवेकवान है. सांप सचल है परंतु सवाक् नहीं. वह आपको ध्वनि का कोई कारगर संकेत नहीं दे सकता. उसमें विवेक मनुष्य की कोटि का नहीं है. अतः तुलनात्मक रूप से कहा जा सकता है कि सांप-संरक्षण का दायित्व आदमी का है.'' पर्यावरण प्रदूषण चाहे अबोले जानवरों से फैल रहा हो या प्रकृति के कोप से, इस समूचे का संरक्षण

आदमी को ही क[illegible] है किंतु [illegible] इस दायित्व को दूसरों पर थोपता है. वह सोचता है जानवरों की करतूत है तो हिंसक होकर वह जानवरों को दंडित करता है. जानवरों को बेहिचक मारता है. वह अंधाधुंध दोहन के व्यापारिक काम में लगा रहता है. वह प्रकृति के कोप के शमन के लिए प्रार्थनाओं का सहारा लेता है परंतु अपने दायित्व की ओर देखने का समय उसके पास नहीं है.

दक्षिणी अमेरिका में उरगवे के कुछ लोग हैं जो अपने पितरों की स्मृति में बहादुरी के कारनामे करते हैं. उस बहादुरी में 'क्षमा' भी एक तत्त्व है. परंतु अपने यहां यानी पूर्व के कुछ अपूर्व लोग हैं जो क्षमा को शक्तिहीनों का अलंकार समझते हैं. वे कहेंगे, ''क्षमा- अरे यह तो शक्तिहीनों का गहना है.'' आप उन्हें चाहे जिस तर्क से समझाएं, बताएं कि शक्तिवान के पास ही क्षमा का गुण होता है. वे कहेंगे, ''अरे! इस विसंगत कथन के व्याकरणिक रूप की पड़ताल तो करो. देखो शक्ति होती तो लड़ मरता, अपने प्रतिपक्षी से लोहा लेता. शक्ति है नहीं, बस भाषा की जादूगरी जानता है तो कहेगा क्षमा शक्तिवानों की शक्ति है. शक्तिवान ही आत्मत्याग कर सकता है.'' ऐसा मानने वाले एक कदम आगे बढ़कर बतायेंगे कि आत्मोत्सर्गी क्षमा जैसे लिजलिजे गुण से परे ही रहता है. हमारे आज के समाजों में क्षमाशीलता कमज़ोर आदमी के समर्पण के पर्याय के रूप में ही देखी जाती है.

थोड़ा गहराई से विचार करें. क्षमाशीलता आत्मत्याग की, उत्सर्ग की आधारशिला है.

सहारा भी क्षमा का भाव है...

शक्तिवान कभी भी प्रदर्शनकामी नहीं होता. विनम्रशीलता शक्ति के ज्योतिपुंज को कभी भी प्रदर्शनकामी छिछोरेपन में व्यक्त नहीं होने देती. कविवर दिनकर की पंक्तियां याद आती हैं- 'क्षमा सोहती उस भुजंग को, जिसके पास गरल हो.' भुजंग का उल्लेख हुआ तो लौटें उन संत की ओर जिन्होंने शिष्यों को सांप की हत्या से बरजा था. विष के प्रभाव से श्रीहीन होते उस शिष्य की ओर गुरु मुड़े और बोले- ''विष के प्रभाव से तुम्हारी मृत्यु सम्भव है.'' आसन्न मृत्यु से ग्रस्त शिष्य अपनी शक्तिहीनता में थोड़ा हंसा. बहुत धीमी आवाज़ में बोला- ''आपने उस विषधर को जीवन दिया है. उसे मेरे साथियों से बचाया है. मैं आपके प्रति श्रद्धा सहित कृतज्ञ हूं और अपनी इस असहाय स्थिति में अबल होने पर भी कहीं भीतर से मेरे मन में भाव उठ रहा है कि उस विषधर

बदला या दंड हिंसा है...

को क्षमा कर दूं.''

संत ने संज्ञाहीन होते शिष्य के सिर पर हाथ रखा तो शिष्य ने आंखें खोल दीं. क्षमा ने मनुजोचित मलिनता का भाव उसकी आंखों से मिटा दिया था. संत ने सभी को सम्बोधित कर कहा, ''तप का यह सर्वोच्च अनुभव है जो योग से विकसता है. हमारा शिष्य अब मृत्यु के फंदे से बाहर है. उसे क्षमा ने जीवनदान दिया है.''

संत और शिष्यों का संवाद चाहे जैसा हो. क्षमा का दान सभी दानों में श्रेष्ठ है. ऐसा आर्ष वाणी कहती है. अनेक प्रकार के दानों की चर्चा पौराणिक साहित्य में है किंतु सर्वोत्तम दान 'क्षमा दान' ही है जो कीर्ति-पुरुषों की पहचान बनता है. नीतिशास्त्र जिस क्षमा की चर्चा करता है वह बड़ों अर्थात वर्चस्ववादी, शीर्षाधिकारी, शक्तिसम्पन्न लोगों से अपेक्षा रखता है कि उनमें क्षमाशीलता हो. परंतु व्यावहारिक जीवन में इससे एकदम उलट अनुभव होता है. बड़ा आदमी न सिर्फ़ भ्रष्ट है, वह अहंकारी भी है, वह ठग विद्या में निपुण ही नहीं है, बल्कि जन-जन को ठगने के लिए नयी-से-नयी चीज़ ईजाद करता है. आज ऐसे असंख्य उदाहरण मिल जाएंगे. खासतौर से पूंजीपति घरानों में तो अंतःकलह का मुख्य कारण धन और प्रतिष्ठा की होड़ है, उस जानलेवा होड़ में सब कुछ हड़पने की प्रवृत्ति जागती है. एक अस्पताल बनाना ज़्यादा फायदेमंद है. वह अस्पताल को व्यापार के रूप में आरम्भ करता है. समाज की सेवा को जो पहला स्फुरण हुआ था वह फुर्र से उड़ गया. उसने व्यापारिक कारणों से न सिर्फ़ अस्पताल को रुपया कमाने का ज़रिया बनाया बल्कि अपनी दवा कम्पनी से महंगी दवाएं बनाना आरम्भ किया. वह नैतिक मूल्यों से दूर जा पहुंचा. फल यह हुआ कि धन संग्रह में वह जीवन के आनंद से वंचित हो गया. आज ज़्यादातर युवा लोग ऐसे ही जीवन में लिप्त हैं. कारण साफ़ है कि प्रतिस्पर्धा के चलते सही मानवीय मूल्यों का लोप हो गया है. कुछ लोग कहेंगे कि यह वैश्विक स्थिति है सिर्फ़ हमारे देश में ही ऐसा नहीं, सभी जगह ऐसा ही चल रहा है किंतु इसने जीवन में अन्य अभावों की जो धारा प्रवाहित कर दी है उससे कहीं हम खोखले न हो जाएं. इस खातिर छोटे स्तर पर ही सही, पारिवारिक इकाई से शक्तिशाली के

पास क्षमा के शक्तिवान तत्त्व की आवाजाही जारी रखें.

उच्चासनों बैठे लोगों को ही यह सम्बोधित है. रामायण का एक प्रसंग जो क्षमा के साथ अन्य गुणों को भी अंतर्सम्बंधित किये हुए है- यहां याद आता है राक्षस राज रावण का भाई विभीषण सत्याचरण के परामर्श पर रावण, इंद्रजीत, अन्य सभासदों की भर्त्सना का शिकार बनता है. इस प्रसंग की अनेक व्याख्याएं की जाती हैं. इसमें न्याय दर्शन की बहुत महीन तात्त्विक चीज़ें विद्यमान हैं. विभीषण, राम के पास शरणागत आते हैं तो वानर लोग शंकित हो उठते हैं. कहीं यह शरण की चाल में दुष्टता तो नहीं करेगा? सुग्रीव तक उसे शरण देने के पक्ष में नहीं हैं. हनुमान मौन हैं. कारण हनुमान पहले ही विभीषण की शरण वत्सलता का अनुमान पा लेते हैं. अब तो सर्वोच्च को निर्णय देना है. वहां राम समाहार के रूप में शरणागत को अभय देने की न्यायपूर्णता स्थापित करते हैं. यह शरणागतता राक्षसी वृत्ति को क्षमादान देने की है परंतु दैवीय न्याय का अपना अलग रूप है. वह एक साथ अनेक क्षमा प्रकरणों को उद्‌घाटित कर डालता है तथापि न्याय की तुला को तर्कहीन पक्षधरता से मलिन नहीं करता. कुछ लोग जान-बूझ कर व्याख्या करते हैं कि रामायण का मूल आशय धर्मकीर्ति फैलाना है जबकि राम- कथा पूरी की पूरी तत्कालीन ही नहीं सभी कालों के राजनैतिक मंतव्यों का खुलासा करती है. आवश्यकता सिर्फ़ यह है कि हम संकेतों के मर्म जानें और दैवीय अवधारणाओं से परे उसके पार्थिव आशयों को जानें. हमें कम हैरानी नहीं होगी कि क्षमा सम्बंधी कथाओं में, चाहे वे जिस धर्म की हों, शास्त्र की बहुत-सी विगूढ़ सैद्धांतिक प्रवृत्तियों को कथारूपों में ढालकर वह उन्हें अधिक सम्प्रेष्य बनाने की कला से हमारा परिचय कराती है.

क्षमा को रणनीतिकार अनेक पक्षों से देखते हैं. मुख्यतया जब सब चीज़ें विफल हो जाती हैं तो क्षमा एक कारगर निराकरण के रूप में उभरती है. मनोवेत्ताओं ने मनस्ताप के असाध्य अंधकार को भेदने के लिए स्वायत्त ढंग की क्षमाशीलता को मानवीय गुणों की विलक्षण आविष्कृति के रूप में इसे अचूक औषधि की संज्ञा दी है. भगवान महावीर से जब जिज्ञासुओं ने यह जानने की उत्कट अभिलाषा व्यक्त की कि जीवन में क्या-क्या खोना श्रेयस्कर है तो उन्होंने अपरिग्रही की भांति सभी विलासिता की वस्तुओं, स्वभावगत अहंकार, ज्ञानाश्रित संचयन और हर प्रकार की कामनाओं के त्याग की चर्चा की और पाने के लिए मांगी ऐसी क्षमाशीलता जो सृष्टि के अभ्युदय के लिए अनिवार्य है.

क्षमा इस अर्थ में मनुष्य के गुणधर्मी स्वरूप का लक्ष्य है, क्योंकि अंततः मनुष्य को ही सृष्टि के उत्तरोत्तर विकास के रेखांकों को जीवनानुरूप गति प्रदान करनी है. अतः क्षमा मूल्याधारी सीमांतों से आगे बढ़ कर जीवनदायी अनुराग की प्रेरक शक्ति भी है. ❑

आवरण-कथा

परिक्रमा नहीं, यात्रा है क्षमा

• नर्मदा प्रसाद उपाध्याय

मेरे सामने शरद पूर्णिमा का पूर्ण खिला हुआ चंद्रमा है. मैं धरती पर खड़ा उसे एकटक निहार रहा हूं. आज मेरे जैसे कई हैं जो उसे निहार रहे हैं, इस उम्मीद से कि वह शीतलता का आरोग्य अमृत अर्द्धरात्रि को दूध में टपकायेगा और फिर जिस दूध में वह अमृत टपकेगा उस दूध को पीकर हम निरोग बने रहने की आश्वस्ति पा लेंगे. इस चांद की याद शरद पूर्णिमा को आती है. अमावस को नहीं आती. दूज के चांद को, ईद के चांद को हम खोजते हैं, लेकिन नहीं सोचते कि यह चांद आज पूरा खिला हुआ क्यों नहीं है ? संकट में घिरे चांद के प्रति भी हममें संवेदना नहीं होती. जब उसे ग्रहण लगता है तो हम उसे देखने से भी परहेज पाल लेते हैं लेकिन चंद्रमा अपनी प्रकृति नहीं बदलता. वह हर शरद पूर्णिमा को अपनी शीतलता से हमें अमृत स्नान कराने के लिए, हमें आरोग्य का अमृत बांटने के लिए तत्पर रहता है.

यही सब सोचते-सोचते मैं कहीं अपराध बोध से भर जाता हूं. कितना उदार है यह चांद और कितना अवसरवादी हूं मैं ? चांद की यही उदारता तो प्रणम्य है जो सृष्टि से आरम्भ से आज तक मनुष्य को यह स्मरण कराती आयी है कि उदारता ही शांति और शीतलता का स्रोत है. उदारता ही कहीं शाश्वत और अनश्वर है और यही वह उदारता है जिसकी आत्मा वह क्षमा है जिसको धारण कर चंद्रमा शीतलता के अक्षय स्रोत के रूप में सृष्टि के उदय से लेकर आज तक अपने धवल अस्तित्व में स्थिर है.

हम चंद्रमा से सीखते तो कुछ नहीं लेकिन उससे आरोग्य के अमृत की अपेक्षा ज़रूर करते हैं. लेकिन इस सृष्टि पर मनुष्य की अस्मिता यदि बची है तो इसलिए क्योंकि चंद्रमा की तरह क्षमा को धारण करने वाले मनुष्य इस धरती पर हुए. कृष्ण हुए, राम हुए, बुद्ध, महावीर, नानक और ईसा हुए. जाने कितनी कथाओं से हमारे पुराण भरे पड़े हैं जिनमें क्षमा की महनीयता को उजागर किया गया है. जाने कितने दर्शन और काव्य हैं जिनमें क्षमा की वंदना की गयी है. क्षमा को बड़प्पन और पुरुषार्थ से

जोड़ा गया है. हमारे कानों में यह दोहा सदियों से गूंज रहा है,

छमा बड़न को चाहिए, छोटन को उत्पात,
का प्रभुजी को घट गयो, जो भृगु मारी लात.

भृगु ने प्रभु पर अपने पद का प्रहार किया लेकिन विष्णु तब भी विष्णु थे और आज भी हैं. क्षमा को वीरों का भूषण कहा गया, 'क्षमा वीरस्य भूषणम्'.

जैन दर्शन में क्षमा को उच्चतम शीर्ष पर स्थापित किया गया है. जैन दर्शन के जो प्रमुख तत्त्व हैं, उनमें क्षमा सबसे पहले है. पर्यूषण पर्व के समापन पर जैन समुदाय क्षमा वाणी पर्व मनाता है, इस दिन जैन समुदाय प्रत्येक परिचित से वर्षभर में हुई त्रुटियों के लिए 'मिच्छामि दुक्कड़म्' कहकर क्षमा मांगता है. क्षमा नैसर्गिक गुण है मनुष्य का. क्षमा से मनुष्यता की पहचान बनती है, क्षमा से सृजन होता है. सर्जक और अधिनायक क्षमा के होने और न होने से ही पहचाने जाते हैं. यदि क्षमा हो अंतर्मन में तो यात्रा थमती नहीं और सृष्टि के बीच मनुष्य के अस्तित्व की सार्थकता स्थापित होती है.

आज का युग प्रतिस्पर्धा का है जिसमें क्षमा का भाव तिरोहित-सा हो गया. प्रतियोगिता यदि स्वस्थ न हो तो यह भाव विलुप्त हो जाता है. अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा में महत्त्वाकांक्षा चरम पर होती है. महत्त्वाकांक्षा का जितना विस्तार होता है उतना ही उदारता का क्षेत्रफल घट जाता है. उदारता का घटना, क्षमा का क्षरण है. इसलिए आज के समय में जिस प्रतियोगिता के आधार पर उत्कृष्टता को हासिल करने की चेष्टा की जा रही है उसका दूसरा पक्ष है कि हम नैसर्गिकता को खोकर उस यांत्रिकता पर अवलम्बित होते जा रहे हैं. जिस यांत्रिकता के पास केवल मर्महीन क्रूरता है. यह क्रूरता मनुष्य को भौतिक समृद्धि तो दे देती है लेकिन उससे मनुष्य होने का अर्थ छीन लेती है.

आज का यक्ष प्रश्न यह नहीं है कि मनुष्य कैसे बच पाये, मनुष्य ने तो अपने आप को बचाने के लिए बहुत से उपाय कर लिए हैं लेकिन यक्ष प्रश्न यह है कि मनुष्य होने के अर्थ को कैसे बचा लिया जाए? इस प्रश्न का समाधान तभी हो पायेगा जब हम उस उदारता को अंगीकार कर लेंगे जिसके मूल में क्षमा है.

हमारे पुरखों ने कभी कहा था,

अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम-
उदार चरितानां च वसुधैव कुटुम्बकम्.

पूरी पृथ्वी मेरा कुटुम्ब हो, यह उदार चेतना वाला व्यक्ति ही सोचेगा, वह नहीं सोचेगा जो अपने सरोकारों को साथ लेने के लिए भूमंडलीकरण का पैरोकार है.

'वसुधैव कुटुम्बकम्' की अवधारणा पहले भी थी और आज भी है लेकिन इन दोनों अवधारणाओं में मूलभूत अंतर है. हमारे पुरखों की अवधारणा के मूल में उदारता थी, क्षमाभाव से भरपूर. ऐसी उदारता जो अपने स्नेह के बाहुबंधनों में समूचे विश्व को समेट लेने के लिए

लालायित रहती थी. लेकिन आज की जो भूमंडलीकरण की अवधारणा है, उसका अंधेरा पक्ष यह है कि वह अपने स्वार्थ के बंधनों में विश्व को जकड़ लेना चाहती है.

समेटने और जकड़ लेने में अंतर है. समेट लेने में कहीं खुद के सिमट जाने का भाव है जबकि जकड़ लेने में केवल अपने आप को विस्तारित करने की महत्त्वाकांक्षा. इसलिए 'वसुधैव कुटुम्बकम्' को वास्तविकता के धरातल पर इस आकांक्षा के साथ उतारा जाए कि उसकी आधारशिला वह क्षमा होगी जो उदारता की आत्मा है.

यह आदर्श वाक्य या उपदेश नहीं है. हमारे आज के समय के प्रश्नों के उत्तर हैं. प्रश्न अनुत्तरित न रहें इसलिए समाधान खोजने ज़रूरी हैं और समाधान उपदेशों में नहीं हैं, कर्मों में हैं. तब यह प्रश्न उठेगा कि कर्म क्या हो? कर्म यदि परिभाषाओं में बंधे तो फिर वे अनुष्ठान हो जाएंगे, उस रीति में बदल जाएंगे जिससे हम बचना चाहते हैं. इसलिए कर्म यदि परिभाषाओं के बंधन में न बंधकर मानवीय भाव से ही बंधे रहें, तभी वे समाधान बनेंगे.

परिभाषाएं अलग हो सकती हैं लेकिन मानवीय भाव पूरे संसार में एक से हैं. 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की सार्थकता तभी है जब इसे मानवीय भाव से जोड़े रहा जाए और क्षमा ही वह मानवीय भाव है जो पूरे विश्व को एक दूसरे से जोड़ेगा और विभाजन का अंत करेगा.

क्षमा का अर्थ न तो कायरता है, न ही दैन्य. क्षमा का अर्थ भीरुता कदापि नहीं है. क्षमा का अर्थ विनय है, ऐसी विनय जिसमें कातरता नहीं है, बल्कि जिसमें तेजस्विता है, ओज है, अपने स्वाभिमानी होने का भाव है. उसमें कहीं दर्प या दम्भ नहीं है. जिस क्षमा में अभिमान हो वह क्षमा है ही नहीं, वह कोरा दम्भ प्रदर्शन है जिसका दिखावा क्रूर सम्राट और अधिनायक करते आये हैं. क्षमा दी नहीं जा सकती. देने में कहीं अपने सामर्थ्य के बोध का अनुभव कराना छुपा होता है. क्षमा किया जाता है. चुपचाप, बिना यह जताये कि क्षमा नहीं भी किया जा सकता था, अपितु दंड भी दिया जा सकता था.

क्षमा का अर्थ विनय है, ऐसी विनय जिसमें कातरता नहीं है, बल्कि जिसमें तेजस्विता है, ओज है, अपने स्वाभिमानी होने का भाव है. उसमें कहीं दर्प या दम्भ नहीं है.

क्षमा करने में यह निहित है कि मैं समर्थ हूं लेकिन मैं अपना सामर्थ्य नहीं जता रहा हूं. क्षमा करने में यह निहित है कि मैं इतना विनयशील हूं कि किसी का मन रख सकता हूं. लेकिन इसका अर्थ अपने स्वाभिमान को खोना नहीं है. किसी अविवेकी के क्रोध का शमन यदि उसका मन रखने से होता है तो

यह आपकी उदारता है.

क्षमा अपने अपमान को सहन करने का औचित्य नहीं है बल्कि अपने स्वाभिमान को गरिमा प्रदान करने वाला वह ओजस्वी वलय है जो आपके व्यक्तित्व को महनीय बना देता है. महापुरुषों के मस्तिष्क के पीछे आलोक से भरपूर जो वलय दिखाई देता है उसकी किरणें क्षमा की भाव किरणें हैं.

क्षमा क्रोध से पार पाने का अमोघ अस्त्र है. आपने जैसे ही किसी को क्षमा किया आप विजयी हो जाते हैं. क्रोध की पराजय क्षमा की विजय है और क्रोध की विजय क्षमा का पराभव. क्रोध क्षमा का सबसे बड़ा शत्रु है इसलिए जहां क्षमा होगी वहां क्रोध होगा ही नहीं. यदि क्रोध नहीं होगा, अमर्ष नहीं होगा तो मुखमण्डल पर ऐसी आभा विराजेगी जो शांति का संदेश देगी. बुद्ध और महावीर के मुखमंडलों पर जो आभा छायी है वह क्षमा की है. ऐसे सभी महापुरुष जिनकी हम अभ्यर्थना करते हैं, उनके मुखों की ओर देखें वे क्षमा की आभा से जगमगाते दिखाई देंगे. हम जितने महापुरुषों को प्रणाम करते हैं, जितने भगवानों की आराधना करते हैं और जितने देवताओं को पूजते हैं, वे क्रोधी नहीं हैं. उनके मन में कहीं अमर्ष नहीं है और इसीलिए वे पूजनीय हैं. राम इसलिए आराध्य हैं क्योंकि वे परशुराम को क्षमा कर देते हैं, उनके क्रोध से विचलित नहीं होते और परशुराम तभी प्रणम्य होते हैं, जब वे अपने क्रोध को त्यागकर राम की विनय पूरित होकर वंदना करने लगते हैं.

क्षमा में निहित है नम्रता, उसमें निहित है नेह, उसमें निहित है नमन करने की ऋजुता, जो व्यक्ति की नियति को ऐसा गढ़ देती है कि फिर वह व्यक्ति आत्मकेंद्रित नहीं रह जाता, लोककेंद्रित हो जाता है, वह केवल अपने वृत्त में घूमते-घूमते परिक्रमा नहीं करता बल्कि लोक के सरोकारों से जुड़कर लोक कल्याण के लिए यात्रा करने लगता है. क्षमा करना अपने आप में तप है, त्याग है, ऐसी अकिंचनता है जो अपने लिए नहीं, दूसरों के लिए है और ऐसा समर्पण है जो जीवन के लिए नहीं है, जीवन मूल्यों के लिए है.

क्षमा की व्यंजना में जाएंगे तो फिर कभी हम अपनी ओर नहीं लौटेंगे. क्षमा में लौटना होता ही नहीं, सिर्फ़ आगे बढ़ना होता है. क्षमा का अभ्यास हो जाए तो फिर व्यक्ति का स्वरूप बदल जाता है. वह नहीं चाहता कि वह अपने पुराने स्वरूप में लौट आये, वह क्षमा को अपने में समाविष्ट करने के बाद अपने पुराने व्यक्ति-केंद्रित स्वरूप में लौट भी नहीं सकता. इसलिए कि क्षमा ऐसा मिश्रण नहीं है उन गुणों का जिन्हें एक बार मिलाकर अलग-अलग किया जा सके. वह तो यौगिक है, ऐसा यौगिक कि जिसमें एक बार सब गुण मिल जाएं तो वे मिलकर एक हो जाते हैं, अपने मूल स्वरूप में नहीं लौटते और निर्मित कर देते हैं वह क्षमा जिसमें निहित है, नम्रता, नेह, नमन करने की ऋजुता और भरपूर उदारता सहित वे समस्त उत्कृष्ट गुण जो मनुष्यता की पहचान स्थापित करते हैं. ❑

क्षमा तो स्वयं से भी मांगनी होती है!

● हुकमचंद भारिल्ल

दशलक्षण महापर्व के तत्काल बाद मनाया जानेवाला क्षमावाणी पर्व एक ऐसा महापर्व है, जिसमें हम वैर-भाव को छोड़कर एक-दूसरे से क्षमायाचना करते हैं; एक-दूसरे के प्रति क्षमाभाव धारण करते हैं. इसे क्षमापना भी कहा जाता है.

इस अवसर पर सारे भारतवर्ष में लाखों रुपयों के बहुमूल्य कार्ड छपाये जाते हैं, उन्हें चित्रित सुंदर लिफाफों में रखकर हम इष्टमित्रों को भेजते हैं; लोगों से गले लगकर मिलते हैं, क्षमायाचना भी करते हैं; पर यह सब यंत्रवत चलता है. हमारे चेहरे पर मुस्कान भी होती है, पर बनावटी. हमारी असलियत न मालूम कहां गायब हो गयी है?

हम माफ़ी मांगते हैं; पर उनसे नहीं जिनसे मांगना चाहिए, जिनके प्रति हमने अपराध किये हैं; अनजाने में ही नहीं, जानबूझकर; हमें पता भी है उनका, पर... हम क्षमावाणी कार्ड भी भेजते हैं, पर उन्हें नहीं जिन्हें भेजना चाहिए; चुन-चुनकर उन्हें भेजते हैं, जिनके प्रति हमने न कोई अपराध किये हैं और न जिन्होंने हमारे प्रति ही कोई अपराध किया है. आज क्षमा भी उन्हीं से मांगी जाती है जिनसे हमारे मित्रता के सम्बंध हैं, जिनके प्रति अपराध-बोध भी हमें कभी नहीं हुआ है. बताएं ज़रा, वास्तविक शत्रुओं से कौन क्षमा मांगता है?

क्षमायाचना जो कि एकदम व्यक्तिगत चीज़ थी, आज बाज़ारू बन गयी है. क्षमायाचना या क्षमा करना एक इतना महान कार्य है, इतना पवित्र धर्म है कि जो जीव का जीवन बदल सकता है; बदल क्या सकता है, सही रूप में क्षमा करने और क्षमा मांगनेवाले का जीवन बदल जाता है. पर न मालूम आज का यह दोपाया कैसा चिकना

घड़ा हो गया है कि इस पर पानी ठहरता ही नहीं. उसकी कारी कामरी पर कोई दूसरा रंग चढ़ता ही नहीं.

धन्य है इसकी वीरता को. कहता है 'क्षमा वीरस्य भूषणम्'. अनेकों क्षमावाणियां बीत गयीं, पर इसकी वीरता नहीं बीती. अभी भी ताल ठोंककर तैयार है- लड़ने के लिए, मरने के लिए. और तो और- क्षमा मांगने के मुद्दे पर भी लड़ सकता है, क्षमा मांगते-मांगते लड़ सकता है, क्षमा नहीं मांगने पर भी लड़ सकता है, बलात् क्षमा मांगने को बाध्य भी कर सकता है.

इसमें न मालूम कैसा विचित्र सामर्थ्य पैदा हो गया है कि माफ़ी मांगकर भी अकड़ा रह सकता है, माफ़ करके भी माफ़ नहीं कर सकता है. कभी-कभी तो माफ़ी भी अकड़कर मांगता है और माफ़ी मांग लेने का रोब भी दिखाता है.

जिनसे झगड़ा हुआ हो, एक तो हम लोग उन लोगों से क्षमा-याचना करते ही नहीं. कदाचित हमारे इष्टमित्र सद्भाव बनाने के लिए उनसे क्षमा मांगने की प्रेरणा देते हैं, बाध्य करते हैं, तो हम अनेक शर्तें रख देते हैं. कहते हैं- "उससे भी तो पूछो कि वह भी क्षमा करने को तैयार है या नहीं?"

यदि वह भी तैयार हो जाता है तो फिर इस बात पर बात अटक जाती है कि पहले क्षमा कौन मांगे? इसका भी कोई रास्ता निकाल लिया जाए तो फिर क्षमा मांगने और करने की विधि पर झगड़ा होने लगता है- क्षमा लिखित मांगी जाए या मौखिक.

यदि यह मसला भी किसी प्रकार हल कर लिया जाय तो फिर क्षमा मांगने की भाषा तय करना कोई आसान काम नहीं है. मांगने वाला इस भाषा में क्षमा मांगेगा कि "मैंने कोई गलती तो की नहीं है, फिर भी आप लोग नहीं मानते हैं तो मैं क्षमा मांगने को तैयार हूं लेकिन..." कहकर कोई नयी शर्त जोड़ देता है.

इस पर क्षमादान करने वाला अकड़ जाएगा, कहेगा- "पहले अपराध स्वीकार करो, बाद में माफ़ करूंगा."

इन सब बातों को निपटाकर यदि क्षमायाचना या क्षमाप्रदान कार्यक्रम समारोह सानंद सम्पन्न भी हो जाए, तो भी क्या भरोसा कि यह क्षमाभाव कब तक कायम रहेगा? कायम रहने का प्रश्न ही कहां उठता है? जब हृदय में क्षमाभाव आया ही नहीं, सब-कुछ कागज़ में या वाणी में ही रह गया है. इस प्रकार की क्षमावाणी क्या निहाल करेगी? यह भी एक विचार करने की बात है.

'क्षमा करना, क्षमा करना' रटते लोग तो पग-पग पर मिल जाएंगेः किंतु हृदय से वास्तविक क्षमायाचना करने वाले एवं क्षमा करने वालों के दर्शन आज दुर्लभ हो गये हैं. क्षमावाणी का सही रूप तो यह होना चाहिए कि हम अपनी गलतियों का उल्लेख करते हुए विनयपूर्वक आमने-सामने या पत्र द्वारा शुद्ध हृदय से क्षमायाचना करें एवं पवित्रभाव से दूसरों को क्षमा करें अर्थात क्षमाभाव धारण करें.

क्षमावाणी का वास्तविक भाव तो यह था

कि पर्वराज पर्यूषण में दशधर्मों की आराधना से हमारा हृदय क्षमाभाव से आकंठ-आपूरित हो उठना चाहिए. और जिस प्रकार घड़ा जब आकंठ-आपूरित हो जाता है तो फिर उबलने लगता है, छलकने लगता है; उसी प्रकार जब हमारा हृदयघट क्षमाभावादिजल से आकंठ-आपूरित हो उठे, तब वही क्षमाभाव वाणी में भी छलकने लगे, झलकने लगे; तभी वह वस्तुतः वाणी की क्षमा अर्थात क्षमावाणी होगी. किंतु आज तो क्षमा मात्र हमारी वाणी में रह गयी, अंतर से उसका सम्बंध ही नहीं रहा है

मायाचारी के क्रोध-मान वैसे प्रकट नहीं होते जैसे कि सरल स्वभावी के हो जाते हैं. प्रकट होने पर उनका बहिष्कार, परिष्कार सम्भव है; पर अप्रकट की कौन जाने? अतः क्षमाधारक को शांत और निरभिमानी होने के साथ सरल भी होना चाहिए.

क्षमा कायरता नहीं, क्षमा धारण करना कायरों का काम भी नहीं; पर वीरता भी तो मात्र दूसरों को मारने का नाम नहीं है, दूसरों को जीतने का नाम भी नहीं.

कुटिल व्यक्ति क्रोध-मान को छिपा तो सकता है, पर क्रोध-मान का अभाव करना उसके वश की बात नहीं है. क्रोध-मान को दबाना और बात है तथा हटाना और. क्रोध-मानादि को हटाना क्षमा है, दबाना नहीं.

यहां आप कह सकते हैं कि क्षमा तो क्रोध के अभाव का नाम है; क्षमाधारक को निरभिमानी भी होना चाहिए, सरल भी होना चाहिए आदि शर्तें क्यों लगाते जाते हैं?

यद्यपि क्षमा क्रोध के अभाव का नाम है; तथापि क्षमावाणी का सम्बंध मात्र क्रोध के अभावरूप क्षमामार्दवादि दशों धर्मों की आराधना एवं उससे उत्पन्न निर्मलता से है.

क्षमा मांगने में बाधक क्रोधकषाय नहीं, अपितु मानकषाय है. क्रोधकषाय क्षमा करने में बाधक हो सकती है, क्षमा मांगने में नहीं.

जब हम कहते हैं:-

खामेमि सव्व जीवा, सव्वे जीवा खमन्तु मे।
मित्ती में सव्वभूएसु, वैरं मज्झं ण केण वि॥

(सब जीवों को मैं क्षमा करता हूं, सब जीव मुझे क्षमा कर सब जीवों से मेरा मैत्रीभाव रहे, किसी से भी बैरभाव न हो.)

तब हम 'मैं सब जीवों को क्षमा करता हूं,' कहकर क्रोध के त्याग का संकल्प करते हैं या क्रोध के त्याग की भावना व्यक्त करते हैं तथा 'सब जीव मुझे क्षमा करें' कहकर मान के त्याग का संकल्प करते हैं. इसी प्रकार सब जीवों से मित्रता रखने की भावना मायाचार के त्यागरूप सरलता प्राप्त करने की भावना है.

इसलिए क्षमावाणी को मात्र क्रोध के त्याग तक सीमित करना उचित नहीं. एक बात यह भी तो है कि इस दिन हम क्षमा करने के स्थान पर क्षमा मांगते अधिक हैं. भले ही उक्त छंद में 'मैं सब जीवों को क्षमा करता हूं' वाक्य पहले हो, पर सामान्य

व्यवहार में हम यही कहते हैं- 'क्षमा करना.' यह कोई कहता दिखाई नहीं देता कि 'क्षमा किया.' इसे 'क्षमायाचना' के रूप में ही देखा जाता है, 'क्षमा करना' दिवस के रूप में नहीं.

क्षमावाणी का वास्तविक अर्थ तो क्षमादिवाणी है. क्षमा आदि दशों धर्मों की आराधना से आत्मा में उत्पन्न निर्वैरता, कोमलता, सरलता, निर्लोभत, सत्यता, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मलीनता से उत्पन्न समग्र पवित्र भाव का वाणी में प्रकटीकरण ही वास्तविक क्षमावाणी है. जब तक भूमिकानुसार दशों धर्म हमारी परिणति में नहीं प्रकटेंगे तब तक क्षमावाणी का वास्तविक लाभ हमें प्राप्त नहीं होगा.

इसमें एक बात और भी विचारणीय है. वह यह कि इसे हमने मनुष्यों तक ही सीमित कर रखा है, जबकि आचार्यों ने इसे जीवमात्र तक विस्तार दिया है.

वे यह नहीं लिखते-

खामेमि सव्व जैनी, सव्वे जैनी खमन्तु मे
खामेमि सव्व मनुजा, सव्वे मनुजा खमन्तु मे.

बल्कि यह लिखते हैं—

खामेमि सव्व जीवा, सव्वे जीवा खमन्तु मे.

वे सब जैनियों या सर्व मनुष्यों मात्र से क्षमा मांगने या क्षमा करने की बात न करके, सब जीवों को क्षमा करने और सब जीवों से क्षमा मांनगे की बात करते हैं. इसी प्रकार वे मात्र जैनियों या मनुष्यों से मित्रता नहीं चाहते, किंतु प्राणीमात्र से मित्रता की कामना करते हैं. उनका दृष्टिकोण संकुचित नहीं, विशाल है.

यहाँ एक प्रश्न सम्भव है कि जब कोई जीव हमसे क्षमा मांगे ही नहीं, तो हम उसे कैसे क्षमा करें?

क्षमायाचना या क्षमा करना दो प्राणियों की सम्मिलित क्रिया नहीं है, यह एकदम व्यक्तिगत चीज़ है, स्वाधीन क्रिया है. क्षमावाणी एक धार्मिक परिणति है, आध्यात्मिक क्रिया है. उसमें पर के सयोग एवं स्वीकृति की आवश्यकता नहीं होती. यदि हम क्षमाभाव धारण करना चाहते हैं, तो उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि जब कोई हमसे क्षमायाचना करे, तब ही हम क्षमा कर सकें अर्थात क्षमा धारण कर सकें. अपराधी द्वारा क्षमायाचना नहीं किये जाने पर भी उसे क्षमा किया जा सकता है. यदि ऐसा नहीं होता तो फिर क्षमा धारण करना भी पराधीन हो जाता. यदि किसी ने हमसे क्षमायाचना नहीं की, तो उससे स्वयं की मानकषाय का त्याग नहीं किया और यदि हमने उसके द्वारा क्षमायाचना किये बिना ही क्षमा कर दिया तो हमने अपने क्रोधभाव का त्याग कर उसका नहीं, अपना ही भला किया है.

यही कारण है कि आचार्यों ने अन्य जीवों द्वारा क्षमायाचना की प्रतीक्षा किये बिना ही सब जीवों को अपनी ओर से क्षमा करके तथा 'कोई क्षमा करेगा या नहीं'- इस विकल्प के बिना ही सबसे क्षमायाचना करके अपने अंतःस्थल में 'उत्तमक्षमामार्दवादि' धर्मों को धारण कर लिया.

कोई जीव हमसे क्षमा मांगे, चाहे नहीं; हमें क्षमा करे, चाहे नहीं; हम तो अपनी ओर से सबको क्षमा करते हैं और सबसे क्षमा

मांगते हैं- इस प्रकार हम तो अब किसी के शत्रु नहीं रहे और न हमारी दृष्टि में कोई हमारा शत्रु रहा है. जगत हमें शत्रु माने तो माने, जाने तो जाने; हमें इससे क्या? और हमारा दूसरे की मान्यता पर अधिकार भी क्या है?

हम तो अपनी मान्यता सुधार कर अपने में जाते हैं, जगत की जगत जाने-ऐसी वीतराग परिणति का नाम ही सच्चे अर्थों में क्षमावाणी है.

वस्तुतः बात यह है कि हमारी परिणति तो क्रोधादिमय हो रही है और शास्त्रों में क्षमादि को अच्छा कहा है; अतः हम शास्त्रानुसार अच्छा बनने के लिए नहीं, वरन् अच्छा दिखने के लिए किसी क्रोध के रूप को ही क्षमा का नाम देकर क्षमाधारी बनना चाहते हैं.

क्षमा कायरता नहीं, क्षमा धारण करना कायरों का काम भी नहीं; पर वीरता भी तो मात्र दूसरों को मारने का नाम नहीं है, दूसरों को जीतने का नाम भी नहीं. अपनी वासनाओं को, कषायों को मारना; विकारों को जीतना ही वास्तविक वीरता है. युद्ध के मैदान में दूसरों को जीतने वाले, मारने वाले युद्धवीर हो सकते हैं; धर्मवीर नहीं. धर्मवीर ही क्षमाधारक हो सकता है; युद्धवीर नहीं.

वीरता के क्षेत्र को भी हमने संकुचित कर दिया है. अब वीरता हमें युद्धों में ही दिखाई देती है; शांति के क्षेत्र में भी वीरता प्रस्फुटित हो सकती है, यह हमारी समझ में ही नहीं आता. यही कारण है कि हमें 'क्षमा वीरस्य भूषणम्' को स्पष्ट करने के लिए हत्या दिखाना आवश्यक लगता है. हत्या दिखाये बिना वीरता का प्रस्तुतीकरण हमें सम्भव ही नहीं लगता.

जिस महापुरुष की लेखनी से यह महावाक्य प्रस्फुटित हुआ होगा, उसने सोचा भी न होगा कि इसकी ऐसी भी व्याख्या की जाएगी. एक हत्या भी क्षमा का एवं वीरता का प्रतीक बन जाएगी.

एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि जिन दशधर्मों की आराधना के बाद यह क्षमावाणी महापर्व आता है, उनकी चर्चा आचार्य उमास्वामी ने मुनिधर्म के प्रसंग में की है. दशधर्मों की आराधना का समग्र प्रतिफलन जिस क्षमावाणी में प्रस्फुटित होता है, वह क्षमावाणी कैसी होती होगी या होनी चाहिए- यह गम्भीरता से विचारने की वस्तु है.

उसे मुनिराज पार्श्वनाथ की उस उपसर्गावस्था में भली-भांति देखा जा सकता है, जिसमें कमठ का उपसर्ग और धरणेंद्र द्वारा उपसर्ग निवारण किया जा रहा था और पार्श्वनाथ का दोनों के प्रति समभाव था.

कहा भी है-

कमठे धरणेंद्रे च स्वोचितं कर्म कुर्वति ।
प्रभुस्तुल्य मनोवृत्तिः पार्श्वनाथः जिनोस्तु नः ॥

अथवा उन मुनिराज के रूप में चित्रित की जा सकती है जो कि गले में मरा सांप डालने वाले राजा श्रेणिक और उस उपसर्ग को दूर करने वाली रानी चेलना को एक-सा आशीर्वाद देते हैं. क्षमा के वास्तविक पौराणिक रूप तो ये हैं.

जिस अपराध के लिए क्षमायाचना की गयी है, यदि वही अपराध हम निरंतर दुहराते रहे तो फिर उस क्षमायाचना से भी क्या लाभ? जिस अपराध के लिए हम क्षमायाचना कर रहे हैं, वह अपराध हमसे दुबारा न हो- इसके लिए यदि हम प्रतिज्ञाबद्ध न भी हो सकें तो संकल्पशील या कम से कम प्रयत्नशील तो हमें होना ही चाहिए. अन्यथा यह सब गजस्नानवत निष्फल ही रहेगा.

क्षमायाचना और क्षमादान, ये दोनों ही वृत्तियां हृदय को हल्का करने वाली उदात्त वृत्तियां हैं? बैरभाव को मिटाकर परमशांति प्रदान करने वाली हैं. प्रदान करने वाली भी क्या, अंतर में प्रकट शांति का प्रतिफलन ही है. सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस अज्ञानी आत्मा ने दूसरों से तो अनेक बार क्षमायाचना की है दूसरों को भी अनेक बार क्षमा प्रदान भी है, पर आजतक स्वयं से न तो क्षमायाचना ही की है और न स्वयं को क्षमा ही किया है. इसीलिए अनंत दुखी भी है.

यहां आप कह सकते हैं कि स्वयं से क्या क्षमा मांगना और स्वयं को क्षमा करना भी क्या? पर भाई साहब! आप यह क्यों भूल जाते हैं कि क्या आपने अपने प्रति कम अपराध किये हैं? कम अन्याय किये हैं? क्या अपने प्रति आपने कुछ कम क्रोध किया है? क्या अपना कुछ कम अपमान किया है? इस तीन लोक के नाथ को विषयों का गुलाम और दर-दर का भिखारी नहीं बना दिया है? इसे अनंत दुख नहीं दिये हैं? क्या इसकी आपने आज तक सुध भी ली है?

ये हैं वे कुछ महान अपराध जो आपने आत्मा के प्रति किये हैं और जिनकी सज़ा आप स्वयं अनंतकाल से भोग रहे हैं. जब तक आप स्वयं अपनी आत्मा की सुध-बुध नहीं लेंगे, उसे नहीं जानेंगे, नहीं पहचानेंगे, उसमें नहीं जम जाएंगे, नहीं रम जाएंगे, तब तक इन अपराधों और अशांति से मुक्ति मिलने वाली नहीं है.

निजात्मा के प्रति अरुचि ही उसके प्रति अनंत क्रोध है. जिसके प्रति हमारे हृदय में अरुचि होती है, उसकी उपेक्षा हमसे सहज ही होती रहती है. अपनी आत्मा को क्षमा करने और उससे क्षमा मांगने का आशय मात्र यही है कि हम उसे जानें, पहचानें और उसी में रम जाएं. स्वयं को क्षमा करने और स्वयं से क्षमा मांगने के लिए वाणी की औपचारिकता की आवश्यकता नहीं है. निश्चयक्षमावाणी तो स्वयं के प्रति सजग हो जाना ही है, उसमें पर की अपेक्षा नहीं रहती. तथा आत्मा के आश्रय के क्रोधादिकषायों के उपशांत हो जाने से व्यवहार क्षमावाणी भी सहज की प्रस्फुटित होती है.

अतः दूसरों से क्षमायाचना करने एवं क्षमा करने के साथ-साथ हम स्वयं को भी क्षमा कर स्वयं में ही रम जाएं और अनंत शांति के सागर निजशुद्धात्म तत्त्व में निमग्न हो अनंत काल तक अनंत आनंद में मग्न रहें.

('धर्म के दशलक्षण' पुस्तक से सम्पादित अंश)

क्षमा की भारतीय अवधारणा
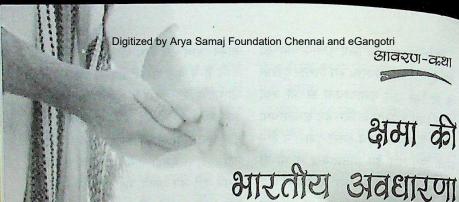
● आनंदप्रकाश दीक्षित

क्षमा मनुष्य का एक सदगुण है. एक इसलिए कि मनुष्य में अन्यान्य सदगुणों का निवास है. धृति, दम, अस्तेय, शौच तथा इंद्रियनिग्रह आदि अन्य सदगुणों के साथ क्षमा की भी गणना की गयी है. क्षमा प्रथमतः सहन करने की शक्ति या क्षमता अथवा सामर्थ्य का नाम है. इसी को सहिष्णुता अथवा सहनशीलता कहा जाता है. हमारे यहां इसी सहनशीलता को पृथ्वी का सहज गुण मानकर उसका एक नाम 'क्षमा' भी बताया गया है. क्षमा का दूसरा अर्थ है किसी अपराधी अथवा दुर्गुणी व्यक्ति को अधिकारी द्वारा उदारता, दया अथवा करुणावश, स्वेच्छया अथवा उसके याचना करने पर उसे निर्धारित दंड से मुक्त कर देना, मुआफ करना. सर्वशक्तिमान ईश्वर क्षमा-सिंधु है. वे अजामिल और गणिका जैसे पापियों द्वारा अजाने ही अपना नाम लिये जाने पर भी कृपालु होकर उन्हें क्षमा कर देते हैं और भक्तों द्वारा विनयपूर्वक अपना नाम स्मरण किये जाने पर उन्हें वत्सलतापूर्वक क्षमा करके उनका अभीष्ट पूरा कर देते हैं. श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने क्षमा को अपनी ही विभूति बताया है.

भारतीय धर्म-साधना में अहिंसा को परमधर्म माना गया है. जैनों, बौद्धों में तो यह जीवन का मूल मंत्र ही है. 'अहिंसा परमो धर्मः' सर्वश्रुत और सर्वमान्य कथन है. इस 'परम धर्म' के विश्वासी समाज में क्षमा का आचरण अपेक्षाकृत सहज सम्भव है. अहिंसक व्यक्ति की राग-द्वेष, दम्भ, क्रोध आदि दुर्वृत्तियों का प्रायः शमन हुआ रहता है. दया, करुणा और प्राणिमात्र के प्रति उसके हृदय का समत्वभाव इस प्रकार जाग्रत रहता है कि अपराधी के प्रति क्षमा और अनुद्वेग उसके लिए अस्वाभविक नहीं रहते. वह शांतचित्त, सहनशील अथवा क्षमी बन जाता है. गीता में श्रीकृष्ण ने 'क्षमी अर्थात क्षमाशील', शांत अथवा सहनशील व्यक्ति का यही लक्षण बताया है. 'क्षमी व्यक्ति' द्वेषभावहीन, सबका मित्र, करुण या दयालु,

ममत्वहीन, अहंकार रहित, सुख दुःख में समभावयुक्त होता है-

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च

निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी *12/13*

हरिवंश पुराण में क्षमा की महिमा बताते हुए उसे धर्म, सत्य, दान, यशरूप तथा सर्वोपरि रूप में स्वर्ग का सोपान बताया गया है- मत्स्यपुराण में भी ययाति देवयानी को क्षमा का उपदेश देते हुए दिखाई देते हैं. महाभारत में धृतराष्ट्र की जिज्ञासाओं का शमन करते हुए महात्मा विदुर ने अनेकशः क्षमा की महत्ता और स्वरूप का बखान किया है. जैन धर्म में तो क्षमाप्रार्थना का एक पर्व ही स्वीकार कर लिया गया है. भगवान महावीर का कथन है- ''मैं सब जीवों को क्षमा कर दूं और सब जीव मुझे क्षमा करें. समस्त प्राणियों के प्रति मेरा मैत्रीभाव हो तथा किसी के प्रति मेरा वैरभाव न रहे.''

लेकिन क्षमादान या क्षमा याचना, दोनों ही इतने सरल कार्य नहीं हैं. न सब क्षमा के अधिकारी ही होते हैं. क्षमा का सम्बंध 'वचने किं दरिद्रता' से नहीं है कि इधर किसी ने क्षमा मांगी और आपने कह दिया कि 'जा, क्षमा किया.' क्षमा अंतर्मन से दी जाने पर ही क्षमादान कहलाने योग्य होती है. अन्यथा मन में द्वेष, वैरभाव या प्रतिकार भावना पालकर चलने पर वचन से किया गया क्षमादान आडम्बर बनकर रह जाता है. मन का मैल मिट जाए तभी सच्ची क्षमा होगी

भर्तृहरि ने महात्माओं में अन्यान्य प्रकृतिसिद्ध गुणों की गणना कराते हुए उनके अभ्युदय-काल से क्षमा का सम्बंध जोड़ा है (विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा) और दुरात्माओं में 'सुजन बंधुजनेष्णसहिष्णुता' बतायी है. यह केवल सहिष्णुता तथा असहिष्णुता का ही भेद नहीं है, अपितु दोनों की विशेषीकृत स्थितियों के भेद से उनके चरित्र की उदात्तता-अनुदात्तता का भी गम्भीर निर्देश है. अभ्युदय अर्थात उन्नति अथवा बड़ा अधिकारपद प्राप्त कर लेने पर जबकि बहुतेरों का सिर फिर जाता है, महात्माजनों में स्वभावतः क्षमाशीलता आ जाती है. दुरात्माओं में अन्यान्य अवगुणों क़े साथ-साथ बिन बात स्वभावसिद्ध रूप में सुजनों तथा स्वजनों के प्रति असहिष्णुता व्यक्त हुआ करती है. भर्तृहरि एक अन्य श्लोक में भी मनुष्य के विभिन्न भावों, स्थितियों और गुणों के विभूषणों का व्याख्यान करते हुए क्षमा को सामर्थ्य अथवा अधिकार (प्रभावितु) का विभूषण घोषित करते हैं. भर्तृहरि के अनुसार अधिकार अथवा सामर्थ्य को क्षमाशीलता सुशोभित या अलंकृत करती है.

महात्मा विदुर ने इसी प्रभुता (राजपद अथवा अधिकार पद) के विषय में महाराज धृतराष्ट्र से कहा है- ''हे राजन्! जो मनुष्य राजा या प्रभु (समर्थ) होकर भी क्षमा करता है और जो दरिद्र होकर भी दान करता है. ये दोनों ही स्वर्ग से भी ऊपर या उत्तम (ब्रह्म अथवा बैकुंठ) लोक में निवास करते हैं अभिप्राय यह कि राजनीति में यद्यपि दंडविधान ही प्रमुख है तथापि राजा चाहे तो अपनी अतिरिक्त शक्ति (सामर्थ्य) का उपयोग करके दंडनीय अथवा दंडित अपराधी को क्षमा भी कर सकता है. अन्यत्र उन्होंने

स्पष्ट कहा है कि जो राजा लोगों में विश्वास उत्पादन करना जानता है, दोषियों को यथोचित दंड देता है, यह जानता है कि किसको कितना दंड देना है. क्षमा के योग्य व्यक्तियों को क्षमा करनेवाले उस राजा को लक्ष्मी सम्पूर्ण रूप से सेवन करती है.

विदुरनीति में क्षमा को कहीं मनुष्य के लिए अत्याज्य छह गुणों में, कहीं धर्म के आठ मार्गों में, कहीं लक्ष्मी को बढ़ानेवाली सात बातों में, कहीं आयुवर्द्धक गुणों में और कहीं नाना प्रकार के व्यक्तियों के बल विशेष को बताते हुए गुणियों के बल के रूप में गिनाया गया है. क्षमा को महात्मा विदुर ने अपने-अपने कारणों से समर्थ और सबल तथा असमर्थ और अबल के लिए हितकर बताया है. सबल के संदर्भ में वह क्षमा करने के और अबल के संदर्भ में सहन करने के अर्थ में हितकर है. निरुपाय और निर्बल सहन नहीं करेगा, विरोध करेगा तो शक्तिशाली के हाथों मारा-पीटा और विनष्ट ही किया जाएगा. अतः उसका चुप लगा जाना ही उसके लिए हितकर है. विदुर धृतराष्ट्र से कहते हैं-

नातः श्रीमत्तरं किंचिदन्यत्पथ्यतमं मतम्
प्रभविष्णोर्यथा तात क्षमा सर्वत्र सर्वदा
क्षमेदशक्तः सर्वस्य शक्तिमान्धर्म कारणात्
अर्थानर्थौ समौ यस्य तस्य नित्यं क्षमा हिता

महात्मा विदुर ने बड़ी पते की एक बात यह कही है कि क्षमा करनेवाले मनुष्य को लोग असमर्थ या निर्बल समझते हैं. क्षमा करने में यही एक दोष है, दूसरा नहीं. परंतु क्षमा को दोष नहीं समझना चाहिए क्योंकि क्षमा एक बड़ा भारी बल है. असमर्थ के लिए तो क्षमा गुण है और समर्थ के लिए क्षमा भूषण है.

विदुर क्षमा की महिमा का गान करते हुए उसे वशीकरण मंत्र और तलवार कहकर उसे सर्वजनमोहकता तथा रक्षक शस्त्रास्त्र की विजयिनी शक्ति से मंडित करते हैं. क्षमा (शांति/शांत चित्रता) वह तलवार है जिसके धारण करने पर दुर्जन धारयिता का कुछ नहीं बिगाड़ सकते. तृणरहित स्थल में गिरी हुई अग्नि जैसे आपसे-आप बुझ जाती है.(और स्थान ज्यों का त्यों सुरक्षित रहता है) वैसे ही क्षमाशील अथवा शांतचित्त व्यक्ति के सामने उसके विपक्ष में किये गये सभी दोषारोपण अथवा झगड़े स्वयं शांत हो जाते हैं. परंतु क्रोधी तथा अशांत व्यक्ति बातों पर वृथा कलह बढ़ाकर कष्ट उठाया करते हैं -

क्षमा वशीकृतिर्लोके क्षमया किं न साध्यते
क्षान्तिखड्गः करे यस्य किं करिष्यति दुर्जनः
अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति
अक्षमावान्परं दोषैरात्मानं चैव योजयेत्

हिंदी के रीतिकालीन महाकवि वृंद ने अपनी रचना 'नीति सतसई में उक्त दोनों श्लोकों का सार एक दोहे में इस प्रकार दिया है-

छमा खड़ग लीने रहै, खल को कहा बसाय
अगिन परी तृन रहित थल, आपहिं ते बुझि जाय

❑

भीष्म को क्षमा नहीं किया गया!

● हजारीप्रसाद द्विवेदी

मेरे एक मित्र हैं, बड़े विद्वान, स्पष्टवादी और नीतिमान. वह इस राज्य के बहुत प्रतिष्ठित नागरिक हैं. उनसे मिलने से सदा नयी स्फूर्ति मिलती है. यद्यपि वह अवस्था में मुझसे छोटे हैं, तथापि मुझे सदा सम्मान देते हैं. इस देश में यह एक अच्छी बात है कि सब प्रकार से हीन होकर भी यदि कोई उम्र में बड़ा हो, तो थोड़ा-सा आदर पा ही जाता है. मैं भी पा जाता हूं. मेरे इस मित्र की शिकायत थी कि देश की दुर्दशा देखते हुए भी मैं कुछ कह नहीं रहा हूं अर्थात इस दुर्दशा के लिए जो लोग ज़िम्मेदार हैं उनकी भर्त्सना नहीं कर रहा हूं. यह एक भयंकर अपराध है. कौरवों की सभा में भीष्म ने द्रौपदी का भयंकर अपमान देखकर भी जिस प्रकार मौन धारण किया था, वैसे ही मैं और मेरे जैसे कुछ अन्य साहित्यकार चुप्पी साधे हैं. भविष्य इसे उसी तरह क्षमा नहीं करेगा जिस प्रकार भीष्म पितामह को क्षमा नहीं किया गया. मैं थोड़ी देर तक अभिभूत होकर सुनता रहा और मन में पापबोध का भी अहसास हुआ. सोचता रहा, कुछ करना चाहिए, नहीं तो भविष्य क्षमा नहीं करेगा. वर्तमान ही कौन क्षमा कर रहा है? काफ़ी देर तक मैं परेशान रहा- चुप रहना ठीक नहीं है, कम्बख्त भविष्य कभी माफ़ नहीं करेगा. उसकी सीमा भी तो कोई नहीं है. पांच हज़ार वर्ष बीत गये और अब तक बिचारे भीष्म पितामह को क्षमा नहीं किया गया. भविष्य विकट असहिष्णु है.

काफ़ी देर बाद भ्रम दूर हुआ. मैं भीष्म नहीं हूं. अगर हिंदी में लिखनेवाला कोई भीष्म हो जाता हो, तो भी मुझे कौन पूछता

है? बहुत ज्ञानी-गुणी भरे पड़े हैं. मुझसे अवस्था में, ज्ञान में, प्रतिभा में बहुत आगे. मुझे कोई डर नहीं है. 'भविष्य' नामक महादुरंत अज्ञात मुझे किसी गिनती में लेनेवाला नहीं है. डरना हो तो वे ही लोग डरें, जिनकी गिनती हो सकती है. तुम क्यों घबराते हो, मनसा-राम, तुम तो न तीन में, न तेरह में! बड़ी राहत मिली इस यथार्थबोध से.

मगर यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि थोड़ी देर के लिए ही सही, भीष्म मुझ पर छाये रहे. प्राचीनकाल में भीष्म जैसा धर्मज्ञ और ज्ञानी खोजना कठिन है. महाभारत का शांतिपर्व इसका गवाह है. कोई समस्या तो भले आदमी ने छोड़ी नहीं. प्राचीन काल के ज्ञानियों में भीष्म मुझे सबसे अधिक प्रभावित करते हैं, अपने अगाध इतिहासबोध के कारण. युधिष्ठिर के हर प्रश्न के उत्तर में वह प्रायः यह कहकर शुरू करते हैं- 'अत्राप्युदाहरंतीमितिहासं पुरातनम्.' (यहां भी लोग इस पुराने इतिहास की नज़ीर देते हैं.)

किस प्रकार पुराने इतिहास से वह वर्तमान समस्या के सही स्वरूप का उद्घाटन करते हैं और उसका विकासक्रम समझा देते हैं, वह चकित कर देता है. हर प्रश्न की तह में जाने की उनकी पद्धति आधुनिक युग में भी उपयोगी है. ज्ञान और धर्म के सच्चे रूप को पहचानने में उन्हें कमाल की सफलता मिली थी. यह कहना गलत होगा कि भीष्म के प्रति भारतवर्ष ने कृतज्ञता नहीं दिखायी. आज भी श्रद्धावान लोग भीष्माष्टमी को अपनी श्रद्धा उनके प्रति निवेदन करते ही हैं, परंतु जिस समय मेरे मित्र अत्यंत प्रभावशाली शैली में भीष्म को मेरे ऊपर आरोपित कर रहे थे, उस समय थोड़ी देर के लिए भीष्म का आवेश सचमुच मेरे ऊपर आ गया था. प्रभावशाली भाषा में जादुई शक्ति होती है. उसी से कवि पाठक को अभिभूत करता है, वक्ता उसी के बल पर श्रोता पर छा जाता है. मैं भी कुछ आविष्ठ हुआ. भीष्म की ही शैली में बोलने की प्रेरणा जाग्रत हुई थी... अत्राप्युदाहरंतीमितिहासं पुरातनम्.'

एक पुराना इतिहास मुझे भी स्मरण हो आया था.

वह इतिहास यह है. बात सन् 35-36 की है. उन दिनों मैं शांतिनिकेतन में था. एक दिन प्रातःभ्रमण के लिए निकला था. मैं साधारणतः प्रातःभ्रमण के लिए तभी निकलता हूं, जब किसी ऐसे उत्साही घुमक्कड़ से, जो श्रद्धेय कोटि के होते हैं, प्रेरणा मिलती है. उन दिनों श्रद्धेय आचार्य क्षितिमोहन सेन की प्रेरणा से प्रातः भ्रमण के लिए निकलता था. सही बात तो यह है कि निकलते वह थे, मैं पीछे हो लेता था. तो उस दिन भी मैं उनके साथ ही निकला. भाग्य उस दिन प्रसन्न था. देखा, गुरुदेव धीरे-धीरे अपने बगीचे में टहल रहे थे. कुछ गम्भीर मुद्रा में थे. आचार्य सेन ने कहा, 'चलो प्रणाम कर लें.' वह आगे चले, मैं पीछे-पीछे. धीरे-धीरे दबे पांव हम लोग उनके पास पहुंच गये. चरण छूकर प्रणाम निवेदन किया. उनका ध्यान भंग हुआ. देखकर प्रसन्न हुए. उन्होंने उस दिन मुझे सम्बोधित करके कहा- "तुमने कभी सोचा है कि भीष्म को अवतार क्यों नहीं माना गया

और श्रीकृष्ण को ही क्यों अवतारस्वरूप में सम्मान दिया गया?''

मैंने कभी ऐसा सोचा ही नहीं था. क्या जवाब देता? मैं मन-ही-मन अपने सोचने की शक्ति की दरिद्रता पर लज्जित हो रहा था. आचार्य सेन ने रक्षा की. वह बोले- ''हम लोग तो ऐसे प्रश्नों का उत्तर आपसे ही सुनने की आशा रखते हैं.'' गुरुदेव ने हंसते हुए कहा- ''आपने तो कुछ सोचा ही होगा. मगर मैं इस पंडित को ही छेड़ना चाहता था. अभी नौजवान है, नया खून है, मार खाने की अभी शक्ति है, मेरी पीठ तो जर्जर हो चुकी है.'' कहकर गुरुदेव खूब प्रसन्न भाव से हंसे. मैंने विनीत भाव से कहा- ''ऐसा प्रश्न तो मेरे मन में कभी उठा ही नहीं, परंतु आप कहते हैं तो सोचूंगा. परंतु क्या सोचूं, यह बता दें.'' गुरुदेव के शब्द याद नहीं है, पर उनके कथन की मेरे मन पर जो छाप रह गयी है, वह यह है कि शर-शय्या पर पड़े भीष्म ने जब भयंकर नरसंहार देखा होगा, उनके जैसे ज्ञानी के मन में अपनी प्रतिज्ञा, उसके परवर्ती परिणाम आदि बातें क्या उठी नहीं होंगी? मैंने सोचना शुरू किया था. कई प्रतिभाशाली मित्रों से भी सोचने को कहा था, पर सोचता ही रह गया. जिन्होंने सोचने के लिए उकसाया था, वह चले गये. आज मेरे मित्र ने कहा कि भीष्म को क्षमा नहीं किया गया तो बात फिर उमड़कर नये रूप में मानसपटल पर हहरा उठी. लहरायी तो क्या होगी!

भीष्म शर-शय्या पर सोये उपयुक्त काल की प्रतीक्षा कर रहे थे- मरने के लिए. जैसे-तैसे, जब-तब, जहां-तहां मरना भी ठीक नहीं होता. उचित मुहूर्त में मरना चाहिए. साधारण मनुष्य मुहूर्त का विचार किये बिना ही मर जाते हैं. भीष्म ऐसे नहीं थे. उन्हें इच्छामृत्यु का वरदान प्राप्त था. जब तक उत्तम मुहूर्त न आ जाये तब तक वह मृत्यु नहीं चाहते थे. इसका फायदा उठाया युधिष्ठिर ने. सारी शंकाएं उनसे कह डालीं और उत्तर भी वसूल कर लिये. मेरे एक आदिगुरु ने शर-शय्यावाली कहानी सुनायी थी. उनके कहने का मतलब था कि भीष्म पितामह अनेक बाणों की नोक पर सोये हुए थे. उनका तकिया भी बाणों की नोक का ही बना था. मेरा बालक-मन बहुत व्याकुल हो गया था. वह हज़ार ब्रह्मचारी रहे हों, उन्हें बाणों की नोक तो चुभती ही होगी! बिचारे वृद्ध करवट भी नहीं बदल पाते होंगे. जब बदलते होंगे तब बाण बुरी तरह चुभ जाते होंगे. और उसी में युधिष्ठिर प्रश्नों की बौछार कर रहे होंगे. यद्यपि वह (युधिष्ठिर) तो दयालु थे, तथापि उस समय थोड़ी और दया दिखाते, तो क्या बिगड़ जाता? मैं जब उस दृश्य की कल्पना करता था, तब मुझे बड़ी पीड़ा होती थी, दूसरे बच्चे ब्रह्मचर्य की महिमा का अनुभव करते थे और प्रसन्न होते थे. उनकी दृष्टि में ब्रह्मचारी के लिए यह कोई कष्ट की बात ही नहीं थी. मैं भी उसकी महिमा तो समझता था, पर न जाने क्यों मेरा मन दुखी हो उठता था. बाद में मेरे एक विद्वान बुजुर्ग ने बताया कि 'शर' सरकंडे को कहते थे. उसी से बाण बनते थे, इसलिए 'शर' का अर्थ बाण

हो गया. भीष्म वस्तुतः बाणों की सेज पर नहीं, सरकंडों की चटाई पर लेटे थे! यह व्याख्या ठीक है या नहीं, पर मेरे बालक-मन को इससे बड़ी राहत मिली थी. सो, भीष्म शर-शय्या पर थे अर्थात सरकंडों की चटाई पर लेटे हुए थे. वैसे, जर्जर वृद्ध के लिए यह भी कम कठोर शय्या नहीं थी, पर चुभनेवाली नहीं होगी. समर्थ पौत्रों ने उसे कुछ तो तरीके से बनवाया ही होगा. युधिष्ठिर ने अच्छा ही किया जो उनका मन बातचीत में उलझाये रखा, परंतु जब युधिष्ठिर और अन्य लोग उन्हें विश्राम करने के लिए छोड़कर चले जाते होंगे, तब एकांत में इस बूढ़े के मन में क्या चिंता रहती होगी? कुछ तो सोचते ही होंगे. श्रद्धालु लोग तो कहेंगे कि वह तुरंत ब्राह्मी स्थिति में चले जाते होंगे. भगवान श्रीकृष्ण ने तो कहा ही है कि ब्राह्मी स्थिति प्राप्त हो जाने पर कोई मोह होता ही नहीं. पर जिन्हें श्रद्धा का इतना सम्बल प्राप्त नहीं है, वे क्या करें? उन्हें लगता है कि भीष्म जैसा ज्ञानी भी कुछ सोचता ज़रूर होगा.

गुरुदेव पूछते हैं कि भीष्म को अवतार क्यों नहीं माना गया, मेरे यह मित्र कहते हैं कि भीष्म को क्षमा नहीं किया गया. क्या दोनों बातों का अर्थ एक ही है? शायद भीष्म को क्षमा नहीं किया गया, इसीलिए उन्हें अवतार नहीं माना गया. कुछ बात है अवश्य. भारतवर्ष किसी बात पर मौन भी रह जाता है, तो उसका कुछ अर्थ होता है. किसी ने नहीं कहा कि भीष्म को अमुक-अमुक कारणों से अवतार नहीं माना गया. और श्रीकृष्ण को अमुक-अमुक कारणों से अवतार माना गया. एक को विष्णु का अवतार नहीं कहा गया, क्योंकि वह नहीं थे, एक को मान लिया गया, क्योंकि वस्तुतः थे. हमारे मनीषियों ने इसी ढंग से सोचा है.

दिनकरजी महामना और उदार कवि थे. उनसे क्षमा मिल जाने की आशा से इतना तो कहा ही जा सकता है कि भीष्म अपने बम-भोलानाथ गुरु परशुराम से अधिक संतुलित, विचारवान और ज्ञानी थे. पुराने रिकॉर्ड कुछ ऐसा सोचने को मज़बूर करते हैं. फिर भी परशुराम को दस अवतारों में गिन लिया गया और बिचारे भीष्म को ऐसा कोई गौरव नहीं दिया गया. क्या कारण हो सकता है?

एकांत में भीष्म सरकंडों की चटाई पर लेटे-लेटे क्या अपने बारे में सोचते नहीं होंगे? मेरा मन कहता है कि ज़रूर सोचते होंगे. भीष्म ने कभी बचपन में पिता की गलत आकांक्षाओं की तृप्ति के लिए भीषण प्रतिज्ञा की थी- वह आजीवन विवाह नहीं करेंगे. अर्थात इस सम्भावना को ही नष्ट कर देंगे कि उनका पुत्र होगा और वह या उसकी संतान कुरुवंश के सिंहासन पर दावा करेगी. प्रतिज्ञा सचमुच भीषण थी. कहते हैं कि इस भीषण प्रतिज्ञा के कारण ही वह देवदत्त से 'भीष्म' बने. यद्यपि चित्रवीर्य और विचित्रवीर्य तक तो कौरव रक्त रह गया था तथापि बाद में वास्तविक कौरव रक्त समाप्त हो गया, केवल कानूनी कौरव वंश चलता रहा! जीवन के अंतिम दिनों में इतिहास-मर्मज्ञ भीष्म को यह बात क्या खली नहीं होगी?

भीष्म को अगर यह बात नहीं खली तो और भी बुरा हुआ. परशुराम चाहे ज्ञान-विज्ञान की जानकारी का बोझ ढोने में भीष्म के समकक्ष न रहे हों, पर सीधी बात को सीधे समझने में निश्चय ही वह उनसे बहुत आगे थे. वह भी ब्रह्मचारी थे-बालब्रह्मचारी. पर भीष्म जब अपने निर्वीर्य भाइयों के लिए कन्याहरण कर लाये और एक कन्या को अविवाहित रहने को बाध्य किया, तब उन्होंने भीष्म के इस अशोभन कार्य को क्षमा नहीं किया. समझाने-बुझाने तक ही नहीं रुके, लड़ाई भी की. पर भीष्म अपनी प्रतिज्ञा के शब्दों से चिपटे रहे. वह भविष्य नहीं देख सके, वह लोककल्याण को नहीं समझ सके. फलतः अपहृता अपमानित कन्या जल मरी!

नारदजी भी ब्रह्मचारी थे. उन्होंने सत्य के बारे में शब्दों पर चिपटने को नहीं, सबके हित या कल्याण को अधिक ज़रूरी समझा था- 'सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत् !'

भीष्म ने दूसरे पक्ष की उपेक्षा की थी. वह 'सत्यस्य वचनम्' को 'हित' से अधिक महत्त्व दे गये. श्रीकृष्ण ने ठीक इससे उलटा आचरण किया. प्रतिज्ञा में 'सत्यस्य वचनम्' की अपेक्षा 'हितम्' को अधिक महत्त्व दिया. क्या भारतीय सामूहिक चित्त ने भी उन्हें पूर्णावतार मानकर इसी पक्ष को अपना मौन समर्थन दिया है? एक बार गलत-सही जो कह दिया, उसीसे चिपट जाना 'भीषण' हो सकता है, हितकर नहीं! भीष्म ने 'भीषण' को ही चुना था.

भीष्म और द्रोण भी, द्रौपदी का अपमान देखकर भी क्यों चुप रह गये? द्रोण गरीब अध्यापक थे, बाल-बच्चेवाले थे. गरीब ऐसे कि गाय भी नहीं पाल सकते थे. बिचारी ब्राह्मणी को चावल का पानी देकर दूध मांगनेवाले बच्चे को फुसलाना पड़ा था. उसी अवस्था में फिर लौट जाने का साहस कम लोगों में होता है, पर भीष्म तो पितामह थे. उन्हें बाल-बच्चों की फिक्र भी नहीं थी, भीष्म को क्या परवाह थी. एक कल्पना यह की जा सकती है कि महाभारत की कहानी जिस रूप में प्राप्त है, वह उसका बाद का परिवर्तित रूप है. शायद पूरी कहानी जैसी थी, वैसी नहीं मिली है. लेकिन आजकल के लोगों को आप जो चाहें कह लें, पुराने इतिहासकार इतना गिरे हुए नहीं होंगे कि पूरा इतिहास ही उलट दें. सो, इस कल्पना से भी भीष्म की चुप्पी समझ में नहीं आती. इतना सच जान पड़ता है कि भीष्म में कर्तव्य-अकर्तव्य के निर्णय में कहीं कोई कमज़ोरी थी. वह उचित अवसर पर उचित निर्णय नहीं ले पाते थे. यद्यपि वह जानते बहुत थे, तथापि कुछ निर्णय नहीं ले पाते थे. उन्हें अवतार न मानना ठीक ही हुआ. आजकल भी ऐसे विद्वान मिल जाएंगे, जो जानते बहुत हैं, करते कुछ भी नहीं. करनेवाला इतिहास-निर्माता होता है, सिर्फ़ सोचते रहनेवाला इतिहास के भयंकर रथचक्र के नीचे पिस जाता है. इतिहास का रथ वह हांकता है, जो सोचता है और सोचे को करता भी है.

❑

वह बापू से क्षमा मांगने आया था

● मनु गांधी

गांधीजी के भतीजे श्री जयसुखलाल की बेटी मनु गांधी दस वर्ष की उम्र में मातृहीन हो जाने के बाद से ज़्यादातर समय गांधीजी और कस्तूरबा के पास सेवाग्राम में पली थीं. 1942 के 'भारत छोड़ो' आंदोलन के सिलसिले में जब बापू और बा पुणे के आगा खां पैलेस में कैद थे, तब भी वे उनकी सेवा के लिए उनके पास रहीं.

आज़ादी आने के ठीक पूर्व और पश्चात भड़के साम्प्रदायिक दंगों में उमड़ी हिंसा और साम्प्रदायिक दुर्भावना के ज्वार को शांत करने के लिए गांधीजी ने नोआखली और बिहार में जो पैदल यात्राएं कीं, उनमें भी वे उनके साथ थीं और उनकी चर्चा की साक्षी थीं. उस समय वे महज 19 साल की लड़की थीं. उस ऐतिहासिक दौर में मनु बहन प्रतिदिन का वृत्तांत गुजराती में अपनी डायरी में लिखती थीं और बापू उसे पढ़कर तथ्य और भाषा की कोई भूल हो तो उसे सुधार दिया करते थे. इस तरह उन वर्णनों पर प्रामाणिकता की मोहर लगी हुई है.

बिहार-यात्रा के दौरान मनु बहन की लिखी डायरी 1962 में 'विराट दर्शन' नाम से नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद से प्रकाशित हुई. जिसका हिंदी अनुवाद 1969 में इसी शीर्षक से छपा. प्रस्तुत लेख उसी का एक अंश है.

उनकी अन्य पुस्तकें हैं- 'एकला चलो रे', 'बिहार की कौमी आग में', 'कलकत्ते का चमत्कार', 'बापू और बा की शीतल छाया में'.

बिहार के भयंकर कौमी (साम्प्रदायिक) दंगे के समय बापू जनता के अपराधी वर्ग को कानून के ज़ोर से दबाने के पक्ष में नहीं थे, वे प्रेम और क्षमा के व्यवहार से ऐसे लोगों का सच्चा हृदय-परिवर्तन करना चाहते थे, ताकि वे दुबारा कभी ऐसे अपराध न करें. इस दृष्टि से बिहार के मंत्रियों से सलाह करने के बाद बापू ने एक प्रार्थना सभा में घोषणा की, "जो कोई मेरे पास आकर अपना अपराध स्वीकार कर लेगा, उसे बिहार सरकार कोई सज़ा नहीं देगी." बापू इस प्रयोग में कुछ हद तक सफल हुए. जब भयंकर अपराधी अपने हथियार बापू के चरणों में रखकर अपने अपराध उनके सामने स्वीकार करते, उस समय बापूजी एक वात्सल्यपूर्ण पिता की तरह सांत्वना देकर उन्हें सच्चा रास्ता बताते थे...

बिहार में एक भयंकर हत्यारा था. उसे पकड़ने के लिए बिहार सरकार ने एक बड़ी रकम के इनाम की घोषणा की थी. यह अपराधी रोज़ अलग-अलग वेश बदलकर बापू की प्रार्थना में आता, उनके कार्यकलाप में शरीक होता. मुझे भी वह कई बार (हरिजन) फंड के पैसे गिनने में मदद करता. बापू के दैनिक कार्यक्रम के बारे में मुझसे पूछता. उस समय मैं जानती नहीं थी कि यह वही आदमी है, जिसे बिहार सरकार तलाश रही है. मैं तो ऐसा मानती थी कि यह बापू का कोई भक्त होगा और दूसरे लोग जैसे मुझ पर तरस खाकर मेरे काम में हाथ बंटाने आ जाते हैं उसी तरह यह भी आता होगा.

एक बार हम राज्य के बिहार शरीफ जिले के गांवों में यात्रा कर रहे थे. बापूजी एक गांव की शाला में ठहरे थे. उन गांवों में धर्म के नाम पर जो दंगे हुए थे और लोगों ने पक्के मकानों को भी जलाकर राख कर दिया था, उससे बापूजी को गहरी मानसिक वेदना हुई थी. ...एक ज़मींदोज़ हुए मकान को देखने के लिए जाते समय बापू को रास्ते में पत्थर की ठोकर लग गयी, जिससे उनके पैर में खून निकल आया. कुछ क्षणों के लिए वे बेहोश से हो गये. चोट के कारण उन्हें थोड़ा बुखार भी आ गया.

रात में बापू को जल्दी सुलाकर मैं बादशाह खान अब्दुल गफार खां के लिए खाना बना रही थी. इतने में वही जाना-पहचाना भाई यहां भी आ पहुंचा. मैंने उससे पूछा, ''तुम पटना से यहां कैसे आ गये? बापू की तुम बहुत सेवा करते हो. लेकिन अपना काम-धंधा छोड़कर अगर तुम बापू के पीछे गांवों में न भटको, तो तुम्हारी सेवा अधूरी नहीं रहेगी. और दो दिन बाद तो हम पटना आने वाले ही हैं.'' उसकी आंखों से आंसुओं की धार लग गयी. मैंने पूछा, ''रोते क्यों हो? किसी ने कुछ कहा तो नहीं?'' वह बोला, ''मुझे किसी ने कुछ नहीं कहा, बहन! पर आज बापूजी जो मकान देखने गये थे, वहां उन्हें पत्थर की ठोकर लगने से पैर में खून निकल आया, उन्हें कुछ चक्कर भी आ गये, वे पीले पड़ गये और बड़ी कठिनाई से पड़ाव पर पहुंचे- इस सबका अपराधी मैं ही हूं.''

मैं उस भाई की बात सुनकर अवाक् हो गयी. मेरे हाथ की संड़सी जहां की तहां रह गयी. मैं स्तब्ध बनी खड़ी रही. समझ ही नहीं पायी कि वह भाई क्या कह रहा है.

मैंने उससे पूछा, ''भाई, तुम क्या कह रहे हो?''

''बहन, मैं बिलकुल सच कह रहा हूं.''

पांच हाथ के उस ऊंचे-पूरे कद्दावर और बलवान आदमी की आंखों से फिर झर-झर आंसू गिरने लगे.

मेरे पांवों के पास बैठकर वह बोला, ''बहन, तुम मेरी सगी बहन जैसी हो. मैं पिछले एक महीने से तुम्हें, बापू को और दूसरे सब लोगों को देख रहा हूं. तुम सबको इस भयंकर आग में जलाने का पाप मेरे सिर पर है. अब मुझे यह पाप नहीं करना है. इसलिए तुम बापू से जाकर कह दो कि मैं वही आदमी हूं, जिसकी बिहार सरकार खोज कर रही है और जिसे पकड़ने के लिए उसने हज़ारों का इनाम घोषित किया है. मुझे तो फांसी की सज़ा हो

तो भी मैं अपने भयंकर पाप से मुक्त नहीं हो सकता. लेकिन बापू के चरणों में बैठकर यह पाप स्वीकार करके मुझे पावन होना है. लोग बापू के चरणों में हीरे-मोती और जवाहरात रखते हैं, लेकिन मुझे उनके चरणों में अपना यह पाप धरना है.''

मैं उसके नाम से तो परिचित थी, क्योंकि उसके नाम की चर्चा मंत्रिमंडल में भी अच्छी तरह हुई थी और एक हत्यारे के नाते उसका नाम बदनाम हो चुका था. परंतु जब एक हत्यारे के नाते मैंने उसे जाना तो मैं भी घबड़ा गयी. मन में आशंका हुई कि वह आदमी कहीं बापूजी की और हम सबकी हत्या तो नहीं कर डालेगा? पर मैंने मन का भय उसे जानने नहीं दिया, न मैं वहां से हटी. मैं उसकी बातें सुनते मूढ़ की तरह खड़ी रही. लेकिन वह भाई मुझसे आग्रह करता रहा, ''बहन, तुम इसी समय जाओ. अभी बापू सोये नहीं होंगे. अब मैं प्रायश्चित में देर करने का पाप अपने सिर नहीं लेना चाहता. बहन, तुम जल्दी जाओ.''

मैं दुविधा में पड़ गयी. अगर मैं जाकर बापू को यह सब बताऊं और उसके फलस्वरूप कहीं हज़ारों की हत्या करने वाला यह आदमी बापू की हत्या कर दे, तो मैं दुनिया को क्या मुंह दिखाऊंगी? इसके सिवा, बापू के पत्र मैं लिखती थी, उनका निजी कामकाज भी सब मैं ही करती थी; परंतु बाहर से आने वाले लोगों की मुलाकात की व्यवस्था मृदुला बहन (साराभाई) करती थीं, जिससे कोई अनुचित बात न हो जाए और गलत ज़िम्मेदारी मेरे सिर पर न आ पड़े. फिर, उन दिनों मैं शरीर से और मन से भी बहुत छोटी थी, इसलिए बापू से इस अपराधी को मिलाने की सारी ज़िम्मेदारी मैं अपने सिर नहीं लेना चाहती थी.

सब यह जानते थे कि बापूजी इस समय सोने जाने वाले हैं. इसलिए मृदुला बहन और मंडली के दूसरे सब लोग लोक-सम्पर्क के लिए बाहर निकल गये थे. सिर्फ़ मैं, बापूजी, बादशाह खान और आसपास चौगान में एक-दो आदमी और रहे होंगे.

कुछ सूझता नहीं था कि क्या करूं? अगर नहीं जाती तो यह भाई मन में दुखी होगा. शायद बाद में पता चलने पर बापू मुझसे कहें, ''तू मुझे जिलाने वाली कौन होती है? रामजी को मुझसे सेवा लेनी होगी तब तक वे मुझे जिलायेंगे. उससे ज़्यादा एक पल के लिए भी वे मुझे ज़िंदा नहीं रखेंगे.'' दूसरा विचार मन में आता कि अगर जाती हूं तो भारी खतरा मोल लेती हूं.

आखिर में भगवान का नाम लेते बापू के पास गयी. वे अभी जाग ही रहे थे. मैं चुपचाप मच्छरदानी के पास खड़ी रही. तुरंत उन्होंने पूछा, ''कौन?'' मैंने उत्तर दिया, ''मैं हूं, बापूजी. आपकी तबीयत कैसी है?''

बापूजी बोले, ''बुखार तो मेरा बढ़ने वाला ही है. लेकिन हम तो रामजी के नचाये नाचते हैं. इसलिए तू मेरी चिंता छोड़ दे. खान साहब को जिमाया? तूने खाना खाया? जल्दी सोने आ जाना.'' इस तरह बापू ने दो चार वाक्य एक साथ कह डाले.

मैंने कहा, ''बापूजी, मैं एक मुसीबत में पड़ गयी हूं.''

उन्होंने तुरंत पूछा, ''कौन-सी मुसीबत?''

मैंने सारी बात विस्तार से कह सुनायी. बापू बोले, "ओहो, इसमें घबराने की क्या बात है? उसके हाथ से मेरी हत्या होने वाली होगी, तो तू क्या मुझे बचा सकेगी?"

बापूजी उठ बैठे. अपनी मच्छरदानी उन्होंने ऊंची कर दी. फिर कहा- "जा, उस भाई को बुला ला."

इस ओर, बिहार में भयंकर अपराधी माने जानेवाले इस आदमी का चेहरा अत्यंत दीन बना हुआ था. उसके शरीर के प्रत्येक हावभाव में प्रायश्चित की अपूर्व भावना दिखाई पड़ती थी. वह हाथ जोड़कर खड़ा था. मैं उसे बापू के पास ले गयी. लम्बी-चौड़ी काया वाला वह भाई सिर से पैर तक थर-थर कांप रहा था. बापू के चरणों में सिर रखकर वह खूब रोया. "भाई, शांत हो जाओ" कहकर बापू उसके सिर पर और पीठ पर प्रेम से हाथ फिराने लगे. बापू ने उसे खूब रोने दिया. फिर मुझसे कहा, "इस भाई के लिए तू नींबू के पानी में शहद मिलाकर ला और इसे देकर चली जा." बापू ने सोचा होगा कि मेरे सामने उस भाई को उनसे क्षमा मांगने में शायद संकोच हो.

मैं शहद और नींबू का पानी ले आयी. उस भाई से बापूजी ने कहा, "देखो, जिस तरह नींबू के पानी में शहद मिल गया है, उसी तरह तुम भी अब कौमी एकता के कार्य में घुलमिल जाओ. तुम्हारे पाप का प्रायश्चित फांसी नहीं है. इस दुनिया में आये हुए प्रत्येक जीव को एक समय तो मरना है. इसीलिए अगर तुम्हें फांसी दी जाए तो तुम इस शरीर से तो छूट जाओगे, लेकिन तुम्हें मोक्ष नहीं मिलेगा. जो मनुष्य जीवन में पाप करके उसका प्रायश्चित करता है, वही महान है, फांसी पर चढ़ने वाला मनुष्य नहीं."

वह भाई जीवन में खूब सुखी-सम्पन्न था. इस बात को ध्यान में रखकर बापू ने उससे कहा, "कितनी ही बहनें और लड़कियां तुम्हारे नाम से घबराती हैं. इस लड़की की तो तुमने मदद और सेवा ही की है, फिर भी तुम्हारा सच्चा परिचय होते ही यह घबरा गयी थी. तो जिन स्त्रियों ने तुम्हारे अत्याचार की बातें सुनी हैं- जनता तुम्हारे नाम से घबराकर अपने घर बार छोड़कर भाग खड़ी हुई है- उनके अब तुम पिता और भाई बन जाओ और अपनी सम्पत्ति का उपयोग बहनों, लड़कियों और माताओं के कल्याण के लिए करो. परंतु जो कुछ करो वह हृदय से करो- बापू कहते हैं इसलिए नहीं, बापू को चोट लगी है इसलिए नहीं, बापू को बुखार आया है इसलिए भी नहीं. तुम्हें ईश्वर ने तुम्हारा कर्तव्य बताया है. इसलिए तुम्हारा हृदय सौ बार स्वीकार करे तो ही तुम मेरा कहा करना."

वह भाई तो एक भी शब्द बोलने की स्थिति में नहीं था. ...बापू के चरणों में उस भाई का सिर था और बापू का प्रेमल हाथ उसके सिर और पीठ पर फिरकर उसे शुद्ध, पवित्र बना रहा था.

बड़ी मुश्किल से बापू ने उसको खड़ा किया. बापू ने उस पर अपना अपार वात्सल्य बरसाया. उस हृदयद्रावक दृश्य को देखकर लगता था, मानो बरसों से विदेश गया हुआ बेटा फिर से बाप को मिला हो और बाप उस पर अपना प्यार बरसा रहा हो.

दूसरे दिन वह भाई चांदी की एक खुरपी लेकर आया. उसने बापू से प्रार्थना की कि मेरी जितनी भी ज़मीन है, वह सब मैं सेवार्थ दान करना चाहता हूं. जो लोग घर-बार से वंचित हो गये हैं, उन्हें मकान बनाकर उसी ज़मीन पर बसाया जाए. आप ही अपने हाथ से उस कालोनी का शिलान्यास करें.

बापू ने कालोनी की नींव डाली और खुरपी अपने पास रख ली. वह खुरपी आज भी कौमी एकता की अनूठी सफलता के प्रतीक के रूप में मेरे पास सुरक्षित है. उसे देखते ही ऊपर का विराट दर्शन मेरी आंखों के सामने तैरने लगता है.

अखबारों के प्रतिनिधि तो बापू के साथ घूमते ही रहते थे. यह प्रसंग मैंने ए.पी.आई. के प्रतिनिधि को सुनाया और कहा कि आज मैंने चंद्र और तारों की साक्षी में अहिंसा और प्रेम की अद्‌भुत विजय के दर्शन किये. प्रतिनिधि ने इस प्रसंग की रिपोर्ट अखबारों के लिए तैयार की और बापू को दिखायी. अखबार वालों पर बापू ने यह बंदिश लगा रखी थी कि यात्रा से सम्बंधित कोई भी नया समाचार प्रकाशित कराने से पहले आप मुझे दिखाएं.

विशाल हृदय वाले बापू ने वह रिपोर्ट पढ़कर उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले. पत्र-प्रतिनिधि से उन्होंने कहा, ''यह सब मैंने जनता को बताने या अखबारों में छपवाने के लिए थोड़े ही किया है? राम की इच्छा से सब कुछ हुआ है. मैं इसका यश लेने वाला कौन होता हूं? उसकी इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता. ऐसी बातें कभी भी अखबारों में नहीं दी जा सकतीं.''

बिहार सरकार को जब इस घटना का पता चला, एक प्रस्ताव उसकी ओर से यह भी रखा गया, ऐसे हत्यारे का क्या भरोसा? उसे जेल में ठूंस देना चाहिए. उस समय बापू ने कहा, ''तो सबसे पहले मुझे जेल में बंद करना होगा.''

उस रात बापू बहुत देर से सोये. लेकिन उन्हें इसकी परवाह नहीं थी. न उन्हें बढ़ते जा रहे बुखार की चिंता थी. उन्हें सिर्फ़ उस भाई के हृदय को शांत करने की ही परवाह थी. खानसाहब को खाना खाने में देर हो गयी. उन्हें बहुत देर से इस घटना का पता चला. जानने के बाद वे इतना ही बोले, ''महात्माजी को पहचानना बहुत कठिन है. इंसान होते हुए भी वे हमारे कुरान शरीफ के मुहम्मद पैगम्बर साहब के जैसे ही 'फ़कीर' हैं. उनको जो पहचानेगा वह कभी दुखी नहीं होगा.''

वर्षों बाद एक बार मैं 'बापू का जीवन-दर्शन' व्याख्यान-माला के कार्यक्रम में भाग लेने के लिए बिहार गयी. वहां जाने पर इन भाई के दर्शन करके पवित्र बनने की इच्छा मेरे मन में उठी. सौभाग्य से उनकी संस्था में जाने का कार्यक्रम भी पहले से तय हो चुका था. मैं वहां गयी भी. आज वे भाई नहीं हैं, परंतु उनका कार्य जीवित है. बापू के अवसान से उनके दिल को गहरी चोट लगी थी. वे पागल हो गये थे और बापू के जाने के कुछ ही समय बाद इस दुनिया से चले गये. परंतु उनकी दान की हुई ज़मीन का बहुत सुंदर उपयोग होते हुए देखकर मन को किसी पवित्र स्थान की यात्रा का आनंद हुआ. □

चेतना के प्रवाह को उलटना होगा

● आचार्य महाप्रज्ञ

क्षमा क्या है? प्रायश्चित क्या है? जिस क्षण मन में द्वेष का संस्कार उत्पन्न हुआ, उसे धो डालो, सफाई कर दो, परिवर्तन कर दो. फिर वह सतायेगा नहीं. बीज को नष्ट कर दिया, वह वृक्ष नहीं बन पायेगा. प्रायश्चित नहीं होता है तो बीज को पनपने का मौका मिल जाता है. अंकुरित होने का मौका मिल जाता है. कालांतर में वह वृक्ष बन जाता है, उसके फल लग जाते हैं, उसकी जड़ें जम जाती हैं. तब हमारे वश की बात नहीं रहती. हमें उसके फल भुगतने ही पड़ते हैं. अगर हम क्षमा नहीं करते तो मन में गांठ बनी रह जाती है. वह समय-समय पर बाहर आती रहती है. हमें कष्ट देती है.

अध्यात्म का बहुत बड़ा रहस्य है कि हम उस क्षण के प्रति जागरूक रहें, जिस क्षण में राग और द्वेष के बीज की बुवाई होती है. शरीर में दो मुख्य केंद्र हैं. एक है काम-केंद्र और दूसरा है ज्ञान-केंद्र. नाभि के नीचे का स्थान काम केंद्र है, वासना केंद्र है. मस्तिष्क है ज्ञान केंद्र. हमारे शरीर में ऊर्जा का एक ही प्रवाह है. जहां मन जाएगा, वहां ऊर्जा जाएगी, जहां मन जाएगा, वहां प्राण जाएगा.

प्रकृति का यह अटल नियम है कि जिसे सिंचन मिलता है, वह पुष्ट होता है, जिसे सिंचन नहीं मिलता, वह सूख जाता है, नष्ट हो जाता है. हमारी ऊर्जा का जिसे सिंचन मिलेगा, वह अवश्य पुष्ट होगा, बढ़ेगा, फलेगा-फूलेगा फिर चाहे वह काम केंद्र को मिले. यदि हमारा चिंतन नीचे की ओर जाता है, काम केंद्र की ओर जाता है तो हमारी ऊर्जा का प्रवाह उस ओर मुड़ जाता है.

हमारी सारी प्राण शक्ति उसी ओर प्रवाहित होने लग जाती है. तब काम-केंद्र बलवान होता जाता है और ज्ञान-केंद्र कमज़ोर होता जाता है. लौकिक चित्त सदा कामना को पुष्ट करता है, मनुष्य के जीवन में कामना का जितना तनाव होता है उतना किसी का भी नहीं होता. यह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से निरंतर रहने वाला तनाव है. क्रोध का आवेग कभी-कभी होता है, लोभ की चेतना कभी-कभी होती है, किंतु काम की चेतना निरंतर रहती है.

जब हमारी चेतना काम-केंद्र की ओर अधिक बढ़ने लगती है तब सहज ही ज्ञान-केंद्र की शक्तियां क्षीण होती जाती हैं. साधना से इसे उलटना होता है. जो साधक अपने ज्ञान का विकास चाहता है, निर्मलता चाहता है, उसे चेतना के प्रवाह को उलटना होगा, मोड़ना होगा. अर्थात मन को ऊपर की ओर ले जाना होगा.

❑

प्रभु उसे क्षमा करो

• गैब्रिएला मिस्त्राल

अनुवाद : डॉ. धर्मवीर भारती

तुम जानते हो मेरे प्रभु कि अक्सर धधकते हुए साहस से, निडरता से
मैंने अपराधियों के लिए तुम्हारी करुणा का आह्वान किया है
आज मैं उसके लिए तुम्हारे सम्मुख उपस्थित हुई हूं जो मेरा था
जो एक अमृत का प्याला था जिसे होंठ से लगाते ही मैं
ताज़गी, में नहा उठती थी
जो मेरी ज़िंदगी की मिठास था
जो मेरी अस्थियों की शक्ति था, जो मेरी जीवन-यात्रा का मधुर अभिप्राय था
जो मेरे कानों में पक्षियों के गीत-सा मधुर था;
जो मुझे रेशमी वस्त्रों की तरह आवेष्ठित किये रहता था
जो मेरे अपने अंश नहीं हैं उनके पीछे मैं दीवानी रहती हूं
इसलिए अगर इस व्यक्ति के लिए तुमसे कुछ मांगूं तो अपनी आंख न फेरना.
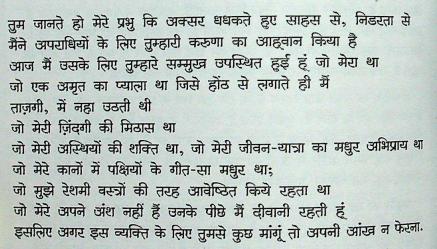
बात यह है मेरे प्रभु कि वह वास्तव में अच्छा आदमी था
मैं कहती हूं कि वह ऐसा आदमी था कि जिसके मन में कहीं कपट नहीं था
उसका स्वभाव बहुत मीठा था धूप की तरह स्वच्छ
और मधुमास की तरह उसमें अजब जादू था.

तुम रुखाई से कहते हो कि वह तुम्हारी करुणा के अयोग्य है
क्योंकि उसके उष्ण होंठों पर कभी प्रार्थना के शब्द नहीं आये
जो उस शाम को बिना तुम्हारे संकेत की प्रतीक्षा किये ही चला गया
उसकी धड़कती कनपटियां टूटे पतले प्याले की तरह!
लेकिन मैं, प्रभु, इसका विरोध करती हूं-
मैंने जैसे उसकी भौंहें छुई हैं
वैसे ही मैंने उसका निश्छल और विक्षुब्ध हृदय भी छुआ था
और वह अधखिली कली की तरह रेशमी और नाजुक था

तुम कहते हो कि वह निर्मम था? तुम क्यों भूल जाते हो मेरे प्रभु
कि मैं उसे प्यार करती थी
और वह जानता था कि मेरा दर्द से क्षत-विक्षत हृदय केवल उसी का है
वह मेरे उल्लास के शांत जल में हमेशा कंकड़ियां फेंक देता था
ओह, यह सब कुछ नहीं (मेरे प्रभु) तुम जानते हो मैं उसे प्यार करती थी,
तहेदिल से प्यार करती थी

और प्यार करना (तुम जानते हो) कितना कड़ुवा और कठोर अभ्यास है
आंसू भीगी पलकों को दबाकर आंसू रोकना
धूल-भरी अलकों का चुम्बन
और तन्मय निगाहों को छिपा कर रखना
ज़ख्म चीरने वाले तीर में भी एक अजब-सी स्वागत-भरी सिहरन रहती है
जब वह प्यार करने वाले तन को पकी फसलों की तरह चीर देता है
और सलीब भी उस समय गुलाब के गुच्छे-सा हल्का लगता है
(तुम तो जानते ही हो, तुमने क्रॉस वहन किया है.)

यहां मैं पड़ी हूं प्रभु, धूल में अपना चेहरा छिपाये
शाम के धुंधलेपन के माध्यम से मैं तुमसे बातें कर रही हूं
और मेरी तमाम ज़िंदगी यही शाम का धुंधलापन बनी रहेगी
अगर तुमने क्षमा का वह शब्द न कहा जिसके लिए मैं आकुल हूं
मै प्रार्थनाओं और सिसकियों से तुम्हें मथ डालूंगी
मैं स्वामिभक्त कुत्ते की तरह तुम्हारे लबादे का छोर चाहूंगी
तुम अपनी करुणाभरी आंखों से मुझे वंचित नहीं कर सकते
तुम मेरे गर्म आंसुओं की बारिश से अपने चरण हटा नहीं सकते

बोलो तुमने उसे क्षमा किया या नहीं? एक क्षमा का शब्द
हवाओं में सैकड़ों चंदन मंजूषाओं की सुगंध बिखेर देगा
जल-धाराएं आलोक से नहा उठेंगी, खंडहर फूलों से ढंक जाएंगे
पथ के कंकड़ पत्थर हीरों की तरह चमक उठेंगे

नरभक्षी पशुओं की काली खूंखार आंखों में दया के आंसू आ जाएंगे.
और वे चेतनामय पर्वत जो तुमने पत्थरों से गढ़े हैं
झरनों की शत-शत पलकों से रो पड़ेंगे
और सारा संसार यह जान जाएगा कि तुमने उसे क्षमा कर दिया

मेरी पहली कहानी

रेलवे प्लेटफार्म पर जनम रही थी कहानी

• शालिग्राम

शालिग्राम का जन्म 21 मई, 1934 को बिहार के मुंगेर जिला के पचौत गांव में हुआ. इनकी महाविद्यालय तक की शिक्षा भागलपुर में हुई तथा सन् 1957 में स्नातक हुए. लेकिन स्नातकोत्तर की पढ़ाई आधी-अधूरी छोड़कर खुद को साहित्य की ओर मोड़ दिया. वैसे तो साहित्य में इनकी शुरूआत सन् 1953 में ही हो गयी थी, जब इन्होंने डॉ. विष्णु किशोर का कहानी संग्रह 'इंसान की लाश' सम्पादित किया. सन् 1963 से इनकी रचनाएं धर्मयुग, कहानियां, दिनमान आदि पत्रों में प्रकाशित होने लगीं. शालिग्राम की कहानी संग्रह, उपन्यास, रिपोर्ताज़ संग्रह, काव्य-संग्रह तथा आत्मकथा प्रकाशित हो चुकी है. इनकी कहानियों का संग्रह, 'शालिग्राम की सात आंचलिक कहानियां' भी प्रकाशित हो चुका है.

साहित्य-रचना का बीज मुझमें शरत और बनफूल (बलाय बाबू) की कर्मभूमि भागलपुर में ही पड़ चुका था, जिसका अंकुरण, पल्लवन तथा फूलन-फलन सहरसा के बंजर पर हुआ... कहानी सृजन की भूख! कैसी और कौन-सी कहानी लिखूं? मेरे मनः आकाश पर अनुभूति के बादल उमड़ने-घुमड़ने लगे थे... किस अषाढ़ के दिन को याद करूं...? मोहन राकेश या कि महाकवि कालिदास का अषाढ़! विरही यक्ष की प्रणय पुकार... नहीं नहीं, बाबा नागार्जुन की जनभावना को पकड़ूं. उन्होंने भी अपनी कविता में बादल को घिरते देखा है. जा की रही भावना जैसी... कि बाबा मेरे सहरसा निवास को आ धमके-कोई खबर, सूचना नहीं. अचानक का यह आगमन, सन् ६० का दशक था. उस समय न कोई मोबाइल था और न मेरे घर सूचना आदान-प्रदान करने वाला दूरभाष यंत्र ही. मैंने बाबा से कहानी लेखन का गुर पूछा था तो उन्होंने तपाक से उत्तर दिया, ''बलचनमा नहीं पढ़ा है बौआ! अगर पढ़ा है तो उसे अपने अंदर गढ़ो और सुबह-शाम कोशी के पानी पर... नदी के किनारे बादल जैसे छाये घने कुहरों को देखो. वह भी अषाढ़ के बादल से कम नहीं दिखेगा.''

फिर तो मैं इसके साथ-साथ रेलगाड़ी के इंजन से निकलते काले-काले धुओं को देखने लगा था. मेरी प्रतिदिन की आवाजाही सहरसा रेलवे स्टेशन का प्लेटफार्म... जहां मुझे इसके ए.एच. व्हीलर बुक स्टॉल पर 'धर्मयुग', 'साप्ताहिक हिंदुस्तान',

'सारिका' एवं 'नीहारिका' जैसी पत्रिकाएं मिल जाती थीं. अब मैं कहानी लिख-लिखकर रंगे पन्नों को फाड़ने लगा था... ठीक-ठीक कुछ बन नहीं पा रही थी जो. उधर स्टेशन प्लेटफार्म पर मेरी आवाजाही पूर्ववत बनी रही... इंजन से निकलते काले-काले धुंओं से बने मेघ और उसकी मोटी तथा चिंघाड़ती आवाज़ मुझे अच्छी लगने लगी थी. फटे-चिटे कपड़ों में छोटे-छोटे लड़के-लड़कियों का इंजन से गिराये गये जले-अधजले कोयले चुनना और आपस में उनकी छीना-झपटी एक होड़ जैसी कवायद... किसने अपनी कितनी डलियां भरी हैं. इन कोयलों की बिक्री से ही तो उनके पैसे बनते थे. इससे अधिक देखने को और था ही क्या? बस, नुक्कड़-चौराहे के पास मुरी-घुघनी, चूड़ा-दही के साथ चाय की दुकानें, जहां मोदिआइन नहीं तो खूसठ बुढ़ऊ की उपस्थिति दिखाई पड़ती थी, अपनी दुकान का रखवाला, साथ में टहल-टाम करने वाला कोई छोकरा.

कुछ ही दूरी पर रायसाहब की फ्लावर मिल की चिमनी दिखाई पड़ती थी जो सुबह-शाम मज़दूरों को अपने काम पर हाज़िर होने का भोंपा बजाती, जिससे आम लोगों को भी समय की जानकारी मिलती थी. मनोरंजन वास्ते समय-समय पर रामलीला मंडली का मंच तैयार रहता था. उगते हुए शहर के ये सारे माहौल मेरी पहली कहानी की सरज़मीं तैयार कर रहे थे. अब मैं कहानी लिखूं और उसे फाड़ूं नहीं, चाहे जैसी भी बन पड़े. बाबा नागार्जुन तथा रेणुजी को मेरी आंचलिक कहानी लिखने का इंतज़ार था. कारण, वे साहित्य में छिड़े आंचलिकता के युद्ध वास्ते मेरे जैसे नव कथाकारों का जत्था तैयार कर रहे थे..., इसी माहौल में हो रहा था 'केंचुल' शीर्षक कहानी का जन्म... मेरी यह पहली कहानी 'नयी कहानियां' में छपी थी. समय के दशक के शुरू में पत्रिका के सम्पादक भैरव प्रसाद गुप्त ने तब इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी. मैं बरसों तक उनकी शाबाशी से खुश होता रहा था.

केंचुल

लड़के ने जम्माई ली और पच्च से थूक फेंका...

जी मचल रहा है- कच्ची नींद में ही बुड्ढे ने उसे जगा दिया. आखिर इतनी जल्दबाज़ी क्या थी? ...चूल्हा-चौका, केतली-गिलास,चम्मच-प्लेट, दुकानदारी ... अंट-संट. सब कुछ तो इसी छोकरे के सिर रहता है, तो फिर यह गालियां? ''स्साले' को बाप की गद्‌दी मिल गयी है- गद्‌दी! सिंहासन बत्तीसी... नाना की जागीर... आ-ही-ही-ही खाकर मुसटंडा बना सोया रहता है- कुम्भकरण की नींद जैसा ...कोई फिकर नहीं; चूल्हे में आग पड़ी, न पड़ी, चाय का पानी गर्म हुआ या

न हुआ- ज़रा भी परवाह नहीं... यह नहीं सोचता कि ग्राहक की अगात गिर गयी तो स्साले दिनभर बताशे तोड़ते रह जाएंगे.

लड़के को बुड्ढे का यह बड़बड़ाना अच्छा नहीं लगा. उसे गुस्सा चढ़ गया, जैसे वह एक झटके में बंदर की तरह उछलकर बुड्ढे की छाती पर चढ़ जाए और उसका गला दबाते हुए सारा काम तमाम कर दे... भले जी का जंजाल टल जाएगा- हमेशा खे खे-खूं खूं, दमे की बीमारी है कि लड़के का सरदर्द. भले वह चुपचाप अंगीठी के पास बैठा खांसता रहे- चिलमची को बलगम से भरता रहे... गुड़गुड़ी दमभर मुंह लगाता रहे- लड़का तो है ही उसका बंधुआ, चिलम में आग डालने वाला, चाय की दुकान चलाने वाला और ठीक समय पर भोजन खिलानेवाला ईमानदार नौकर.

वह स्वयं इन सारी बातों को जानता है... दुकान चलाने का सारा भार उसी के सिर है; किंतु रातभर रामलीला देखने के कारण ही तो उसे जगने में देर हो गयी. खरदूषण वध होते-होते सुबह का तारा निकल आया था और सभी की आंखें भारी हो गयी थीं. रामलीला कम्पनी के मोटे महंथजी तो परदे के पीछे खाट पर लेटने चले गये थे. लड़के की इच्छा हुई थी कि झांककर वह पीछे देखे कि खरदूषण का पार्ट करनेवाला आदमी कैसा होता है? लेकिन देख नहीं सका और देखा भी, तो पहचान नहीं पाया. क्योंकि सभी के चेहरे पर तो एक-सा ही लेप लगा हुआ था. भले दुकान में चाय पिलाते वक्त उसके असल रूप का पता चल जाएगा.

लड़का इस बात से थोड़ा आश्वस्त हुआ, लेकिन दूसरे ही क्षण वह नीम की टहनी पर बैठे काले कौए को देख झेंप गया. इस तरह का झेंपना उसे कभी-कभार होता रहता है.

दिन काफ़ी चढ़ गया है. सूरज बांसों ऊपर फ्लावर मिल की चिमनी पर चमकता है. आंखें चौंधियाती हैं. चिमनी से निकलता काला धुआं उसके दिल को घेरता जा रहा है- एक अज़ीब-सी दहशत. लड़के ने बैंच पर से उठते हुए नीम और गुलमुहर के विशाल पेड़ पर नज़र दौड़ायी. नीम का यह पेड़ दुकान के ठीक ऊपर है और गुलमुहर के सामने. एक से छोटी-छोटी फलियां गिरती हैं और दूसरे से लाल-लाल फूलों के गुच्छे झड़ते हैं. नीम की इन फलियों को चुनने वाला कोई नहीं होता है. ये केवल ज़मीन पर बिखरे आने-जाने वालों के जूते तथा पांवों के नीचे पिचपिचाते रहते हैं. पर गुलमुहर के फूल तो सुंदर लगते हैं- बहुत सुंदर! लड़का बड़े ही तारतम्य भाव से नीम और गुलमुहर को अपने अंदर रखते हुए चापाकल के पास जा, हाथ-मुंह साफ़ करने लगता है.

सचमुच, आज दुकानदारी का वक्त टलते जा रहा है. चाय-पानी, मूरी-चबेना, कचरी-फुलौरी सभी का प्रबंध उसे ही करना है... तो फिर वह किसलिए बैठा रहे? लड़के ने झटपट चूल्हा-चौका, बर्तन-बासन, केतली और प्यालियों की सफ़ाई करते हुए चूल्हे में आग डाली.

दिन चढ़ते-चढ़ते कसबे की हालत बिगड़ने लगती है. हलक सुखाने वाली पछिया हवा का हू-हू बहना, बेआबरू कर देने वाली चिलचिलाती धूप की छौंक और उसमें बस, ट्रक तथा छोटे-मोटे वाहनों का चिल्ल-पों. फूस-टट्टी के घरों का तो कोई देखना ही ईंट, खपरैल, पक्कापोश मकान भी इस धूल-धक्कड़ में गुनाहे मुज़रिम से बने रहते हैं- कहीं किसी को पनाह नहीं. न सड़क पर दायें और बायें चलने की हिदायत और न बाज़ार को अपनी सजावट का ही मोह... क्या लटक रहा है, झटक रहा है- चिंता ही किसे? रिक्शे और सायकिल किसी पियाक की तरह इधर-उधर डगमागाते नज़र आते हैं. पूरा का पूरा कसबा पंख कटे परिंदे की तरह हांफता रहता है. रामलीला स्टेज पर लगी बांस की डंडियों तथा टंगे हुए आधे-अधूरे परदों का कहीं कोई ठिकाना नहीं... यह टूटा, वह गिरा-यह खुला, वह फटा... कहीं किसी को होश-हवास नहीं कि इन्हें समेटे. आखिर रात भर के जागरण को तो दिन की ही झपकी में बिताना है. अकेले महंथजी किस-किस की खबर लें.

चूल्हे पर चाय का पानी खौलने लगा है. लड़के ने तरीके से केतली में दूध डाला और फिर चीनी तथा चाय. लोग बैठे हुए हैं. बुड्ढा अंदर से खांसता हुआ बोलता है, "चीनी कम डालकर एक गिलास चाय लाना रेएस-ए-!" लड़के ने बैठे ग्राहक के आगे चाय की प्यालियां रखीं और गिलास बुड्ढे को थमाया. ...रात में खरदूषण बध होते-होते सबका मन उकता गया था. असल मज़ा तो तब देखने को आया जब कि लखन लालजी ने धूरी से सूपनखा की नाक काट डाली और वह ज़ोर से चिल्ला उठी, 'भाई, खरदूषण होऽऽऽऽ भाई खरदूषण!' लड़के के अंदर एक हादसा समा गया... 'ओफ री बंदरिया! तुझे अपने रूप का गुमान था न, मिला न लछमन जी से इनाम ...आ ही.ही.ही. धत्त री नकटी.'

ठीक ऐसे ही मिल के ऊपर छोटे पीलर को देख उसके अंदर हादसा समा जाता है. फ्लावर मिल की काली चिमनी के नीचे टीन छज्जी के ऊपर जहां गुलमुहर का पेड़ झुका रहता है ईंट का एक छोटा पीलर है. धूप, बरसात और ठंड में पड़कर उसका रंग मटमैला हो गया है- कजली बैठ गयी है, जहां-तहां गाढ़ा दाग पड़ गया है जिससे उसका रंग बदल गया है. दूर से देखने में वह अजीब-सा मालूम पड़ता है कि कोई बनमानुष बैठा हो. जब कभी लड़के की नज़र उसपर पड़ती, वह भयभीत हो उठता है... 'ओफ री बंदरिया!' ऐसा ही भय उसे कभी-कभार मिल में राय साहब को देखकर होता है. ...हाथ में मोटी छड़ी, आंखों पर ऐनक और पोपले मुंह वाले रायसाहब जब मिल देखने आते तब सबके सब डर से सकपका जाते थे. मिल के बड़े मुंशी के हाथ की कलम हिलने लगती थी. सबके अंदर आतंक और भय का साया दौड़ जाता था. बस, केवल मशीन का चक्का अपनी शान से ऊपर-नीचे घूमता रहता था. लड़का उन्हें ठीक से देख भी नहीं पाता था... राय साहब!

कितने बड़े लोग हैं मिल वाले ...बड़ी-बड़ी चिमनी से भी बड़े लोग लेकिन उसे केवल उनके हाथ की मोटी छड़ी, आंखों की ऐनक तथा पोपला मुंह ही याद आता रहता है- बराबर.

दुकान की भीड़ छंटते ही लड़के ने केतली से एक गिलास चाय अपने लिए निकाली और अंदर बुड्ढे को झांकते हुए सोचा... गुड़गुड़ी पर चिलम चाहिए- मौसम में ठंडी नहीं तो क्या? खून में तो ठंडी आ गयी है... उमर की दहलीज, हलक को ताज़ा रखने को तम्बाकू का धुआं चाहिए नहीं तो वह कहीं निर्धूम न हो जाएं. बुड्ढा हमेशा अंगीठी के पास बैठा अपने अंदर और बाहर के ताव को बरकरार रखता है... चिलम और चाय. लड़के ने चाय का गिलास बेंच पर रखते ही चिलम में आग डाली और उसे आगे बढ़ाया. फिर वह लगा चाय पीने.

इतने में काली-कलूटी एक लड़की माथे पर कोयले की डलिया उठाये वहां पहुंच गयी और लड़के को देखते ही वह अचकचाती हुई बोल उठी, "अरे बंदरा! तू यहां है?"

"कौन! पियरिया."

"आ. ही-ही-ही-ही सिधेसरा, तू है सिधेसरा?" सिधेसरा और पियरिया ने एक दूसरे को पहचान लिया.

"राय साहब का मिल तुमने कब छोड़ा?"

"क्यों, तुमको इससे मतलब."

"अरे, यहां आकर तू कब से गनीठ बन गया है- चाय वाला दुकानदार! आ-ही-ही-ही-ही तू भी अपना खूब रंग बदलता है रे, रंगरेजवा! कभी मटर तो कभी टमाटर."

"बहुत मटर-मटर करती हो छोरी, चुप रह. बताओ तुम, अभी यहां कहां आयी हो?"
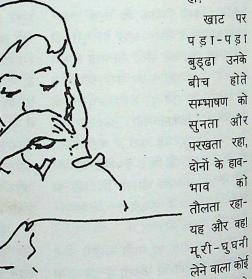
खाट पर पड़ा-पड़ा बुड्ढा उनके बीच होते सम्भाषण को सुनता और परखता रहा, दोनों के हाव-भाव को तौलता रहा- यह और वह! मूरी-घुघनी लेने वाला कोई ग्राहक तो नहीं है, यह कलमुहिया! बुड्ढे को दोनों के बीच का सम्भाषण अच्छा नहीं लगा. उसने बात तोड़ने के बहाने लड़के को पुकारते हुए कहा, "सिद्धुआऽऽऽ सिद्धुआऽऽऽ! पछिया तेज़ हो रही है. देख न, सुबह से ही काला कौआ कांय-कांय

कर रहा है. जल्दी हांडी साफ़ कर ले, रसोई चढ़ा दे- नहीं तो धुक्कड़ में पड़ जाएगा.''

इस बात को सुनते ही काली-कलूटी लड़की बड़े ज़ोर से हंस पड़ी. बुड्ढे को यह हंसी कड़वी लगी. उसका शरीर ऊपर से नीचे तक झनझना गया जैसे बिजली का झटका लगा हो. वह भांप गया कि हो न हो लड़की उसे उड़ा ले भागे- कलमुहिया! बुड्ढे के चेहरे पर शंकाएं उतर आयीं. सुबह जैसे काले कौए की आवाज़ उसके सामने दिन भर सांय-सांय पछिया चलने का आभास देती है वैसे ही लड़की की यह हंसी. बुड्ढे की उत्सुकता और जगी कि आखिर यह लड़की है कौन? बड़ी टर्र-टर्र लड़के से बातें करती है. पूछे तो ज़रा, लेकिन लड़के का लड़की के प्रति खास झुकाव देख बुड्ढे के मन की बात मन ही रह गयी. और वह चुप हो गया.

लड़की ने अपने संगी लड़के से एक गिलास चाय मांगी. लड़के ने झट चाय का गिलास उसके हाथ थमा दिया. लेकिन चाय पीने के बाद जब लड़की बिना पैसे दिये चलने लगी तब लड़के ने फटककर कर कहा, ''पैसे देती जाओ पियरिया! यहां कोई खैरात नहीं बंटती, दुकान है दुकान! ...सेठ का धरमसल्ला नहीं''

''आ ही-ही-ही पैसे! कितने पैसे, रे सुगवा! कहते हो सेठ का धरमसल्ला... बस, आज का बतिया और कल का सेठ! जानता नहीं कि अभी मालगाड़ी के आने में कितनी देर है? ...पसिंजर गाड़ी का इंजन तो कम कोयला गिराता है. देख न, अभी डलिया कितनी खाली पड़ी है. कोयला और चुनूंगी तब न पैसे दूंगी... बस, इसी में तुम फिस्स्ल बोल दिये- दिल चोर कहीं का, सेठ बनने चला है सेठ!'' लड़की ने साहस के साथ अपना मुंह ज़हर बनाते हुए कहा. पर उसने उसका कहना नहीं माना. लड़के ने उसके कोयले की डलिया छीन ली. लड़की का चेहरा फक रह गया. और वह बिना कुछ कहे-सुने अपना मुंह नीचे लटकाये वहां से चल पड़ी.

तब बुंड्ढे की हंसी फूटी और उसे लगा जैसे उसके गले का सारा बलगम बाहर निकल आया हो- मन हल्का. उसने सोचा, लड़का ईमानदार मालूम पड़ता है... चुस्त-चालाक. बड़े भाग्य से मिला है यह छोकरा.

फिर उसने खांसते हुए कहा, ''सिद्धू बेटा! हंडी चढ़ा दे चूल्हे पर. पछिया हवा चलेगी धू-धू धुक्कड़.'' लड़के ने मन मारते हुए चूल्हे पर भात की हंडी चढ़ायी और पीछे घूरकर देखा... क्या दिल बंजर है स्साला, यह बुड्ढा! दुकान का रखवाला, जैसे सब ढोकर साथ ले जाएगा ...कौआ बना देखता रहता है हमेशा सुग्गे की तरह कान पसारे. फिर वह लगा आहिस्ते-आहिस्ते कोयला पसारने. ...उसे पियरिया का उदास चेहरा बुरी तरह याद आने लगा.

लोकोशेड में ढेर सारे इंजनों की आवाज़... उसकी सीटी-छक-छक, धक-धक... फिस्स फोंय-इंजन का आगे-पीछे होना. लड़के-लड़कियों की दौड़-धूप... छीना-झपटी, कोयला चुनने की होड़.

सिद्धेसरा भी बुड्ढे की इस दुकान तथा रायसाहब की मिल में रहने से पूर्व, इन्हीं आवारों जैसे दिन भर हवा, धूप तथा पानी में लोकोशेड तथा रेलवे लाइन के किनारे-किनारे कोयला चुनता रहता था. उसके साथ उसकी हमजोली थी पियरिया! साथ-साथ घूमने वाली. एकबार गर्म कोयला उठाते पियरिया का हाथ जल गया था. वह चिल्ला उठी थी- 'उफ्फ! मरी रे मरी... हाथ को देर तक ऊपर-नीचे हिलाती, दर्द से छटपटाती रही थी. तब सिद्धेसरा ने ही उसके हाथ को अपने हाथ में दबाते हुए हल्का किया था. पियरिया को बहुत आराम मिला था. फिर दूसरा इंजन शेड से बाहर निकला था. उसकी ताम्बे की नली से बहते गर्म पानी को देख पियरिया ऊपर भाग गयी थी और सिद्धेसरा केवल उसे डराने उसका हाथ खींचता रहा था... तभी काला-काला ड्राइवर मुंह में नारियल की फांक चबाता हुआ हंस पड़ा था, ''वाह छोकरे! अभी से प्यार का रिहर्सल कर रहा है.'' और उसने ज़ोर से इंजन की सीटी बजा दी थी. उस भाग-दौड़ में पियरिया की डलिया इंजन के पास ही छूट गयी थी. तब सिद्धेसरा ही बड़े साहस के साथ उसकी डलिया ले आया था. पियरिया बहुत खुश हुई थी. उसके होठों पर हंसी दौड़ आयी थी- ठीक वैसी ही, जैसे रामलीला में राम को देखकर सीताजी मुसकुरा पड़ी थी.

लड़के के अंदर उसके दिल पर, सीताराम लाल-लाल गुलमुहर के फूल छा जाते हैं- एक बड़ा ही सुंदर पेड़; किंतु नीम की मद-मद गिरती हुई फलियां उसके मन को तीता कर देती हैं. लड़का बुड्ढे को गौर से देखने लगता है वैसे ही जैसे वह फ्लावर मिल के ऊपर वाले पीलर को और हाथ में मोटी छड़ी लिये आंखों पर ऐनक डाले पोपले मुंह वाले रायसाहब को देखता रहा था...

तलहट पर सुगबुगाहट होती है. कोयले का स्पर्श उसके हाथ को काला करते जा रहा है... अनजाने, अनदेखे उसके तलहट के नीचे कोई कोमल कीड़ा तो नहीं दब रहा है... पुच-पुच लस-लस कोई निरीह खून बह रहा है, शायद काला खून. च-च-च-च पियरिया ने इसे बड़े जतन से जमा किया होगा... फिर तो उसे बेचने पर पैसे मिलते... सौदा-पानी खरीदती... सब कुछ तो इसी से होता. उसका मन लोहे की नली में भरे बारूद की तरह पलीता लगने से पूर्व की स्थिति में आ जाता है. उसे अपने आप पर पछतावा होने लगा. पियरिया के कोयले से बुड्ढे की शान तो बढ़ी. कम से कम उसे कोयला तो नफे में आये. एक गिलास चाय का क्या मोल? ...लड़का दिन भर धू-धू पछिया में अंदर चौकी पर पड़ा सड़क के किनारे ड्रम से बहते कोलतार की तरह पिघलता रहा.

आज की दोपहर पछिया खूब चली. सुबह में काला कौआ कांव-कांव बोला था. बुड्ढे की बात ठीक जंची. दिन भर छायी रही. लड़का सोचता ही रह गया कि वह रात का जागरण दोपहर की गाढ़ी नींद

लेकर पूरा करेगा. पर नींद आयी ही नहीं, और न रामलीला के मोटे महंथ से भेंट हुई जिसने रात में खरदूषण का पाट किया था. वैसे वह हर रोज़ दोपहर में चाय पीने दुकान आते ही थे, आज नहीं आये.

गुलमुहर के पेड़ के नीचे रुकी बसें खुलने लगी हैं. पछिया कम हो गयी. खलासी चिल्लाता है, "बेलदौर बेलदौर! सड़क चालू हो गई... आइए, जगह लीजिए... गाड़ी खुल रही है- पहली गाड़ी बैजनाथपुर, सौर, चकला मवटीया तथा सोनवर्षा राज होते हुए- बेलदौर."

पड़ाव पर लोगों का शोर बढ़ने लगा है. दूसरी तरफ़ डिग-डिग-डिग आज रात सीता हरण है... भाइयों! आज रात सीता हरण है... ज़रूर देखिए- चार आने का टिकट... सीता हरण-सीता हरण! ढोलक पर डिग डिग डिग डिग रामलीला का एलान हो रहा है. लड़के के दिल पर चोट पड़ती है... डिग डिग डिग डिग सीता हरण! सीता हरण! रावण सीता मैया को हरकर लंका ले जाएगा.

बसें खुलती हैं- 'गुर्र-र-र-र गोयं.' लड़के का उदास मन धूल के बबूले में लिपटकर चक्रवात बन जाती है- एक वृत्त. आज रात वह रामलीला देखने नहीं जाएगा... सीता हरण है. राम का वियोग उससे देखा नहीं जाएगा और न सीता का विलाप ही.

गुलमुहर के पेड़ पर छाये लाल-लाल फूलों के गुच्छे अस्पष्ट होते जा रहे हैं. फ्लावर मिल की चिमनी से उगलता धुआं भी बंद दिखाई पड़ता है. अजीब-सी खामोशी, बिखरा हुआ सन्नाटा. मिल के फाटक पर दरबान भी नहीं है. लड़के ने बाहर निकलते हुए देखा- अंदर कुछ लोग इधर-उधर घूमते तथा खड़े नज़र आ रहे हैं. उसकी उत्सुकता बढ़ी... आखिर कोई होनी-अनहोनी या रामलीला के गिरे परदे के पीछे किसी मायावी राक्षस का षड्यंत्र तो नहीं चल रहा है? उसने सशंकित आंखों से अपनी इस दुकान तथा सामने की मिल को बड़े गौर से देखा... कोई ललक या आकर्षण? नहीं, कुछ तो नहीं. तब उसे पता चला कि मिल वाले रायसाहब की मृत्यु हो गयी है- एक हल्का-सा संवाद जैसा. फिर उसने 'आंय' करते हुए बीते दिनों को याद किया. गुलमुहर की सघन पत्तियों के ऊपर आकाश और उससे दूर टिमटिमाता कोई एकल तारा! ...उसकी पियरिया अभी कहां होगी?

पेड़ पर चिड़ियां चुगता रही हैं, सांझ का बसेरा लेने. उसने बड़ी उदास आंखों से, किंतु साहस के साथ मिल के ऊपर पुनः अपनी नज़र दौड़ायी, तो देखा, वह पीलर जी बनमानुष की आकृति में सदा उसके अंदर एक भय-सा छाये हुए था, आज कुछ नहीं... सिर्फ़ ईंट का बना स्थूल है. लड़के के अंदर विश्वास जम गया. और वह आहिस्ते-आहिस्ते केंचुल उतारते सांप की तरह दुकान को छोड़ आगे सड़क पर निकल पड़ा. ❑

विचार

पर्यावरण और सनातन दृष्टि

● छगन मोहता

पर्यावरण को भारतीय दृष्टि से समझने की कोशिश करें. इसके साथ हमारी हज़ारों वर्षों की मित्रता है. जिसके अनुसार पर्यावरण का क्षेत्र कोरा प्राकृतिक पर्यावरण का क्षेत्र नहीं है. हमारे यहां प्रकृति का बहुत व्यापक अर्थ लिया गया है. संसार की कोई ऐसी चीज़ नहीं है जो प्रकृति से अलग हो. हमारा घर और परिवार वह भी एक पर्यावरण है. पर्यावरण की हमारी शास्त्रीय परम्परा भी रही है कि प्रत्येक मनुष्य पर्यावरण में ही पैदा होता है, पर्यावरण में ही जीता है और पर्यावरण में ही लीन हो जाता है. पर्यावरण की इतनी व्यापक परिभाषा है.

अब पर्यावरण के स्तर देखिए! मनुष्य परिवार में पैदा होता है, परिवार में जीता है, परिवार में मरता है या विलीन हो जाता है. आज उसे चुनौती नहीं दी जा सकती है क्योंकि पर्यावरण बहुआयामी है. प्रत्येक परिवार के इर्द-गिर्द एक सामाजिक पर्यावरण है और उसके कई आयाम हैं. एक आयाम आर्थिक है, दूसरा आयाम राजनीतिक है और तीसरा आयाम सांस्कृतिक है. बहु केंद्रित होने के कारण प्रत्येक आयाम का अपना एक केंद्र होता है जहां से वह क्रियाशील रहता है. इस सारे सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक पर्यावरण के इर्द-गिर्द एक ओर सजीव पर्यावरण है जिसे हम पशु-पक्षियों तथा जीवधारियों का पर्यावरण कहते हैं. उसके भी चारों ओर इन सब स्तरों में ओतप्रोत भौतिक तत्त्वों का पर्यावरण है. जिसे हम भौतिक, जलीय, वाष्पीय, आग्नेय और आकाशीय या विद्युत चुम्बकीय पर्यावरण कहते हैं.

ये प्रकृति के स्थूल और प्रत्यक्ष आवरण हैं, जिनका हमें अपनी ही इंद्रियों के द्वारा ज्ञान और भान होता रहता है. लेकिन पर्यावरण के सम्बंध में मीमांसा करते हुए हमारी परम्परा सिर्फ़ इतने में इतिश्री नहीं मान लेती. वह यह भी कहती है कि इस दृष्ट, प्रत्यक्ष स्तरों के अतिरिक्त पर्यावरण के कुछ अदृष्ट और अप्रत्यक्ष स्तर भी हैं जिनसे हम और हमारा दृष्ट और व्यक्त पर्यावरण प्रभावित होता रहता है और प्रभावित करता भी रहता है. उन स्तरों को हम जैविक या प्राणवरण एवं मानसिक या चित्तावरण कहते हैं. इन सब आवरणों से हमारा प्रतिक्षण सम्बंध बना हुआ है और हमारे जीवन व्यापारों का इन सब स्तरों से आदान-प्रदान होता रहता है. हमारे यहां कहावत है कि यदि

पानी कुएं में नहीं है तो वह खेतों में यानी ऊपर के कुंड में कहां से आयेगा?

धर्म सम्बंधी हमारी धारणा में यह कहा जाता है कि धर्म से ही प्रजा का धारण होता है- 'धर्मों रक्षित रक्षितः'. आप धर्म की रक्षा करो, धर्म आपकी रक्षा करेगा. इसका असली तात्पर्य यही है कि हम पर्यावरण के इन विभिन्न स्तरों को परिशुद्ध बनाये रखें और उनमें आपस में एक सामंजस्य बना रहे. पर्यावरण के स्तरों में जब सामंजस्य टूटता है या विषमता पैदा होती है तो उसका प्रभाव मनुष्य पर सीधा पड़ता है.

हमारी शास्त्रीय परम्परा इस विषमता का कारण मनुष्य को ही मानती है. मनुष्य अपनी सद् और असद् इच्छाओं द्वारा, सद्-असद् विचारों द्वारा, सद् और असद्-वाणी व्यवहार के द्वारा एवं सद् और असद् कर्मों के द्वारा पर्यावरण को दूषित करता है और इसके स्तरों में असंतुलन व विषमता पैदा करता है. और फिर स्वयं और सामूहिक रूप में उसके विषम परिणामों को भोगता है. इन मूल तत्त्वों को ध्यान में रखते हुए मनुष्य को सबसे पहले अपने पारिवारिक एवं सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक, राजनैतिक एवं सामाजिक पर्यावरण को दूषित करने और उसका संतुलन बिगाड़ने से बचना चाहिए. यही 'धर्म' शब्द का वास्तविक तात्पर्य है. मनुष्य के इर्द-गिर्द पर्यावरण के अंतर्गत आने वाले जो भी प्राणी और पदार्थ हैं उन सबका प्रत्येक मनुष्य से सम्बंध होने के कारण वह उनका ऋणी है क्योंकि वह उनसे उपकृत होता है, पोषण और जीवन प्राप्त करता है. इसीलिए अपना ऋणशोधन करना पर्यावरण के प्रति उत्तरदायित्व का निर्वाह करना है. यह ऋणशोधन या ऋणमोचन उसका आजीवन कर्तव्य है. और जब तक जीवित रहता है तब तक उससे उऋण नहीं हो सकता.

पर्यावरण के विषय में दो परस्पर भिन्न दृष्टियां हैं, जो एक दूसरे से सर्वथा विपरीत हैं. एक दृष्टि पश्चिम की है जिसमें माना जाता है कि पर्यावरण मनुष्य का शत्रु है. वह उसके अस्तित्व और विकास के लिए बाधक और घातक है. इसलिए उसके प्रत्येक स्तर को समझकर उसको अपने वश में करना है, उसका दमन करना है और उसका शोषण करना है. ताकि मनुष्य अपने पर्यावरण से ज़्यादा से ज़्यादा दीर्घ समय तक अनुकूलता प्राप्त कर जीवित रह सके. इसी दृष्टि को प्रसिद्ध वैज्ञानिक चार्ल्स डार्विन ने 'सर्वाइविल ऑफ दी फिटेस्ट' के नाम से प्रचलित किया था और पश्चिम उसे पूरे वेग से अपनाये हुए है. इसके विपरीत भारतीय दृष्टि यह है कि पर्यावरण किसी भी स्तर पर हमारा शत्रु नहीं है बल्कि उससे तमाम स्तरों पर प्राणी और पदार्थों की पारस्परिक निर्भरता का एक सामंजस्यपूर्ण संसार है और उसके साथ संतुलन बनाये रखने से ही मनुष्य सुखी, शांत और संतुष्ट रह सकता है. इसके लिए प्रकृति अथवा पर्यावरण का शोषण, दमन और उपभोग करने की अपेक्षा उससे सहयोग और उसका उपयोग करना ही भारतीय दृष्टि से पर्यावरण के साथ सहज और स्वाभाविक सम्बंध की स्थापना

करता है.

हमारी दृष्टि यह है कि तमाम जगत जगदीश्वर का शरीर है और हम सब उसमें विभिन्न घटक के रूप में जी रहे हैं और समग्रता के साथ पर्यावरण से हमारा सम्बंध अंगोअंगी यानी ऑर्गेनिक रिलेशनशिप है. हम एक-दूसरे से भिन्न तो अवश्य हैं और पर्यावरण के स्तर पर भी एक-दूसरे से भिन्न हैं परंतु कोई भी प्राणी, पदार्थ या स्तर सर्वथा भिन्न होते हुए भी एक दूसरे से कटा हुआ एवं पृथक नहीं है. इसलिए प्रकृति या पर्यावरण के साथ अलगाव या कटाव की मिथ्या मान्यता के आधार पर उसे अपना शत्रु मानकर, उससे घातक व्यवहार करना, मानव जाति के लिए स्वयं को आत्मघात के लिए निमंत्रण देना है.

भारतवर्ष में हज़ारों वर्षों से यह मान्यता रही है कि प्रकृति के संतुलन को कायम रखा जाए. लेकिन विज्ञान का जिस ढंग से प्रयोग हो रहा है, उसमें ऐसा लगता है कि सत्ता के लोभ से, धन के लोभ से ग्रस्त सभ्यता उसे रहने नहीं देती. वह हर हालत में प्रकृति के संतुलन को तोड़ना चाहती है. क्यों तोड़ना चाहती है? मुझे लगता है उसमें एक दृष्टि-दोष है. पूर्व की दृष्टि यह रही है कि प्रकृति हमारी माता है. और हमें उसके साथ सहयोग करना चाहिए. हमें उसके नियम समझकर उसके अनुसार बर्ताव करना है. यह सही है कि प्रकृति किसी का लिहाज़ नहीं करती और उसके नियम समझना साइंस के ज़रिये ही हो सकता है. लेकिन साइंस के द्वारा प्रकृति के नियम समझकर उसके साथ हमें सहयोग करना है. उसे आदर देना है.

दूसरी दृष्टि है पश्चिम की कि प्रकृति एक तेज़ नाखूनों वाली राक्षसी है जो हर हालत में हमें मारना चाहती है, नष्ट करना चाहती है. और इसलिए हमें किसी तरह से इसके साथ संघर्ष करना है. संघर्ष में अगर हम फिट हैं तो हम ज़िंदा रह सकते हैं, नहीं तो प्रकृति हमें मार देगी. इसलिए प्रकृति को जानकर प्रकृति को अपने वश में करना है, इसका शोषण करना है. यह प्रकृति के साथ दुश्मनी की दृष्टि है और ये पश्चिम की दृष्टि है. और इस दृष्टि की यदि आप पूरी तरह तलाश करें तो बहुत पुरानी है यह दृष्टि.

बाइबिल में एक कथा आती है कि पशु की तरह नर-नारी पहले नंगे रहते थे. उनका जीवन स्वाभविक था, प्राकृतिक था, प्रकृति के साथ उनका पूर्ण सामंजस्य था. तो परमात्मा ने उन्हें ऐसी प्रेरणा दी थी कि इस वृक्ष का फल है जो तुम्हें नहीं खाना है. यह वर्जित है तुम्हारे लिए. सेब का वृक्ष है और नीचे शैतान सांप का रूप बनाये हुए बैठा था. उसने कहा कि क्यों बात मान रहे हो खुदा की. यह फल बहुत मीठा है इसको ज़रूर खाओ. उसने परमात्मा की बात नहीं मानी, शैतान की बात मान ली. उस फल को खाया. खाते ही उसमें स्वचेतना पैदा हुई कि मैं अलग हूं और प्रकृति अलग है, मैं अलग हूं और यह नारी अलग है. नारी में स्वचेतना पैदा हुई कि मैं अलग हूं, पुरुष अलग है. मैं अलग हूं और यह परिवेश मुझसे अलग है. इससे मनुष्य में द्वैत या द्वंद्व पैदा हुआ है. उससे एक तो लज्जा पैदा हुई, उसने अपने

अंगों को ढंक लिया और दूसरा भय पैदा हुआ कि प्रकृति हमें मारेगी, खा जाएगी. इसलिए इस प्रकृति के डर से कैसे बचें. जैसे भयभीत बिल्ली ज़ोर से आक्रमण करती है वैसे ही प्रकृति के डर ने उसे इतना भयभीत और तनाव से भर दिया कि वह हर हालत में प्रकृति को समझने और प्रकृति पर विजय प्राप्त करने, तत्पश्चात प्रकृति का शोषण करने की तरफ़ अग्रसर हुआ. इस मामले में पश्चिम ने दुनिया का नेतृत्व किया. और आज हम देखते हैं कि जितना पर्यावरण का प्रदूषण पश्चिम ने किया उतना और किसी ने नहीं.

प्रश्न उत्पन्न होता है कि हमारे यहां भी एक समय था जिसमें व्यापारी भी रहा है, सम्पन्नता भी रही है और प्रकृति का दोहन भी किया गया. चार शब्दों के फ़र्क को ध्यान में रखें- एक है प्रकृति का पोषण, दूसरा है प्रकृति का शोषण, तीसरा है प्रकृति का दोहन और चौथा है प्रकृति का प्रदूषण. इन चारों को आप समझ लीजिए. प्रकृति के साथ हमें कैसा सम्बंध रखना है. भागवत् में एक कथा है कि वेण नाम का चक्रवर्ती राजा हुआ था. वह बहुत अत्याचारी था. उस समय के बौद्धिक वर्ग ने कुपित होकर उसका वध कर दिया. उसके बाद उसका बेटा पृथु राजा हुआ. उसके कार्यकाल में प्रकृति वंध्या हो गयी, बांझ हो गयी. कुछ भी उत्पन्न नहीं होता था. तो पृथु ने प्रकृति का दोहन किया.

अब हम यह कह सकते हैं कि दोहन और शोषण में क्या फ़र्क है? दोहन भी एक तरह का शोषण है लेकिन एक बुनियादी फ़र्क है. आप गाय को दुहते हैं. एक व्यक्ति गाय को पालता है. गाय का दोहन करता है लेकिन बिना पोषण किये गाय का दोहन करता है क्या? या इस हद तक करता है कि गाय के प्राण निकल जाएं? महात्मा गांधी कोलकाता गये थे और उन्होंने गाय का दूध पीना उस दिन से छोड़ दिया जब उन्होंने देखा कि कुछ पेशेवर दूध बेचने वाले गाय के पेट में बांस की एक नली से फूंक देकर इस तरह से दूध की ग्रंथियों पर दबाव डालते थे कि दूध के साथ खून भी आने लगता था. इस हद तक दूध निचोड़ते थे. यह शोषण है, दोहन नहीं है. दोहन में पहली शर्त पोषण की है. बच्चा मां का दूध पीता है तो शोषण नहीं करता. मां का पोषण होता है और वो उमड़ती है उसको दूध पिलाने के लिए. लेकिन आज तो केवल शोषण होता है.

भागवत् की एक और कहानी का हवाला देता हूं— कृष्ण ने यशोदा का दोहन किया, दूध पिया उसके स्तनों से और पूतना का शोषण किया, इतना किया कि वह मर गयी. वह राक्षसी थी इसलिए उसका शोषण किया. और मां का दूध पिया— वह उनका दोहन था. तो दोहन में हमेशा पोषण का स्वरूप रहता है. पोषण पहले है और उसके बाद दोहन है. यह एक पूरक सम्बंध है. इसमें संतुलन बना रहता है और उसके बाद दोहन है. इसमें संतुलन बना रहता है. जात का सवाल नहीं है, हिंदू हो या मुसलमान. बीकानेर के तेलीवाड़े में रहीम बक्श नाम का एक मुसलमान था. मियां बीबी दो ही थे, बच्चा कोई नहीं था. इनकी दो गायें थीं. इतना

लाड़-प्यार से रखते थे कि गायों के चारे में और बांटे में गुवार में घी मिला-मिला के खिलाया करते थे. दूध पिलाया करते थे गाय को. गाय खूब दूध देती थी. लोग जब कहते कि रहीम बक्श तुम्हारी गाय है या हथिनी है, तो वह बड़ा खुश होता था. उसे लगता कि मेरी गाय की तारीफ़ हो रही है कि जिसे मैं पोषता हूं. वह दूध पीता भी और बेचता भी था. लेकिन यह उसका शोषण नहीं था.

प्रकृति का हम शोषण करते हैं. जिस चीज़ का शोषण करते हैं उसे हम बिलकुल नष्ट कर देना चाहते हैं. मैं आपको बीकानेर का ही एक उदाहरण देना चाहता हूं. आप सबेरे-सबेरे जस्सूसर गेट जाकर चार छह घंटे के लिए बैठ जाएं. आपको फोग की लकड़ियों के भरे हुए ट्रक दिखाई देंगे. वह लकड़ियां जड़ से काटी जा रही हैं. आइंदा उगेगा नहीं फोगा. बीस सूत्रीय कार्यक्रम के अनुसार उस वृक को लगाया जाए तो शायद पचास वर्ष में फोग के वृक्ष तैयार होंगे. तब तक क्या होगा ईंधन का? लेकिन आज ईंधन भी एक व्यापार की वस्तु बन गयी है. और इसके लिए फोग जड़ों से काटा जा रहा है.

हमारी परम्परा में हमेशा पर्यावरण का पूजन किया जाता है. पर्यावरण की चीज़ों में देवत्व माना गया है. और इसलिए जीवित वृक्षों को काटना पाप समझते हैं. कभी भी नहीं काटना चाहिए उसे और जड़ से तो कभी उसे काटना ही नहीं चाहिए. अगर सूखा भी है तो उसे जड़ से कभी नहीं काटना चाहिए जब तक वह वृक्ष पूरा मर नहीं जाता उसकी सूखी डालियों को क़ाट ले ताकि वृक्ष फिर ज़िंदा रह सके.

हमारे यहां भी बहुत चिल्लाते हैं कि चूहे बहुत ज़्यादा अनाज खा जाते हैं. नतीज़ा यह हुआ कि कुछ बीमारियां ऐसी चलीं कि जिनके कीड़ों को चूहे खा जाया करते थे वे नहीं खाये गये और उन्होंने रोग फैलाने शुरू कर दिये तो फिर इधर-उधर से चूहे मंगवाकर चूहों को गांवों में छोड़ा गया ताकि उनकी नस्ल बढ़े. प्रकृति का अपना एक संतुलन है. मनुष्य को उसमें ज़्यादा फेरबदल करने की ज़रूरत नहीं है. चूहों को मारने के लिए खेतों में सांप भी हैं. वे संतुलन को बनाये रखते हैं. सांप को मारने के लिए पक्षी बहुत सारे हैं, चील भी मार देती हैं, दूसरे पक्षी भी मार देते हैं और नेवला भी मार देता है. प्रकृति में एक ऐसा संतुलन है. उससे हमें छेड़छाड़ नहीं करनी चाहिए. और संतुलन बिगड़ना अस्वास्थ्य का लक्षण है. हमारे शरीर में अंगों का संतुलन है. हमारे रक्तसंचार का, हमारे श्वास का, हमारी पाचन क्रियाओं का एक संतुलन, एक सामंजस्य है. जब संतुलन बिड़गता है तो कोई एक चीज़ बढ़ती है और दूसरी चीज़ घटती है.

जो घटती है उसका शोषण होता है, जो बढ़ती है उसकी वृद्धि होती है, उससे स्वास्थ्य की हानि होती है. शरीर में आठ दस जगह बड़े ट्यूमर निकल जाएं और अंग सूख जाएं, एकदम एट्रोफी हो जाएं तो उसको हम स्वस्थ नहीं कह सकते. लेकिन हमारे उद्योग

प्रधान आर्थिक ढांचे से सामाजिक और सांस्कृतिक शरीर में टयूमर पैदा हो जाएंगे. ट्यूमर हमेशा शरीर के दूसरे आवश्यक अंगों का शोषण करते हैं. जो शोषण करते हैं उसी से प्रदूषण होता है.

मेरे कहने का मतलब यह नहीं है कि इस युग में हम उद्योग न लगायें या इंडस्ट्री न हो. पर इंडस्ट्री पर जिन लोगों ने बहुत गहराई से सोचा है उनमें 'शूमाकर' का नाम महत्त्वपूर्ण है. उन्होंने 'स्मॉल इज ब्यूटीफुल' नामक एक किताब लिखी है. वे कहते हैं कि इंडस्ट्री चलाने के लिए पावर लगायें, चाहे आप उसे एटम से चलाएं या बिजली से चलायें, किसी तरह से चलाएं, उसका परिवेश के साथ संतुलन होना चाहिए, सम्बंध होना चाहिए. आर्थिक सम्बंध भी, प्रशासनिक सम्बंध भी, सामाजिक सम्बंध भी, सांस्कृतिक सम्बंध भी. इन सारे सम्बंधों का जो कॉम्पलेक्स है उसमें यदि एक संतुलन, सामंजस्य है तो वह स्वस्थ रहेगा, शोषण नहीं होगा और उसके माध्यम से पोषण भी होगा और पारस्परिकता भी बढ़ेगी. अगर वैसा नहीं है तो एक जगह सत्ता का बहुत ज़्यादा केंद्रीकरण होता है, उत्पादन का केंद्रीकरण होता है, धन का केंद्रीकरण होता है, जनसंख्या का केंद्रीकरण होता है. तो जहां केंद्रीकरण होता है वहां शोषण भी होगा ही. अगर एक की जेब बहुत मोटी हो जाती है, तो ज़रूरी बात है कि कइयों की जेबें खाली हुई होंगी. तभी ऐसा होगा. प्राकृतिक शक्तियों के साथ मनुष्य का सम्बंध है. मनुष्य भी एक प्राकृतिक प्राणी है और उसका मन और बुद्धि भी प्रकृति का ही एक सूक्ष्म हिस्सा है.

हम देखते हैं कि गुलाब का पौधा है, उसके नीचे खाद होती है, उसके इर्द-गिर्द तना होता है, उसके बाद कांटे होते हैं. कांटों के बाद पत्ते होते हैं. उनके बीच में फूल किस कदर से खिलता है. गंध होती है. हमारी बुद्धि और हमारा मन फूल की तरह खिली हुई चीज़ हो सकती है. लेकिन उसके नीचे तो सारा सम्बंध इसी तरह का है. कांटे भी हैं, पत्ते भी हैं, तना भी है, मिट्टी भी है, कीचड़ भी है. और जो खनिज् धातुएं हैं वह उन सबका पोषण करती हैं. उन सबको निकाल दें तो गुलाब के फूल का कोई अस्तित्व नहीं है. हमारी बौद्धिकता का हमारी नैतिकता का जिन-जिन, ऊंचे-ऊंचे आदर्शों की हम बातें करते हैं उन सबका आपस में निर्भरता का सम्बंध है और वह परिवेश के साथ निरंतर बना रहता है.

आप परिवेश की रक्षा करें, पर्यावरण को प्रदूषण से बचाएं, पर्यावरण आप की रक्षा करेगा. उसकी परवाह न करिए इसे और जहरीला होने दीजिए, शोषित होने दीजिए, आपका पोषण मर जायेगा.

दो मिनट सांस रोककर देखें तो हमें पता लगेगा कि वायु की कितनी कीमत है. दो

मिनट अगर वायु हमारे फेफड़ों में नहीं आये तो दम घुटने लगता है. परिवेश के जितने भी भौतिक तत्त्व हैं- हवा, पानी, प्रकाश, मिट्टी सबके साथ हमारा एक संतुलन होना चाहिए. उसी तरह जितने प्राणी, चाहे सांप हो, चीता हो, गाय हो, पशु हो, कोई भी हो, उनके साथ हमारा एक संतुलन बना रहना चाहिए. इसे कहते हैं इकोलॉजी. एक नया साइंस पनप रहा है, पर्यावरण विज्ञान है. उसका अध्ययन वैज्ञानिक ढंग से होता है क्योंकि वह सारी प्रकृति का एक आवश्यक हिस्सा है.

आप परिवेश की रक्षा करें, पर्यावरण को प्रदूषण से बचाएं, पर्यावरण आप की रक्षा करेगा. आप चुपचाप उसे उपेक्षा से नष्ट होने दीजिए. उसकी परवाह न करिए इसे और जहरीला होने दीजिए, शोषित होने दीजिए, आपका पोषण मर जायेगा. श्वास के ज़रिये से, पानी के ज़रिये से, अन्न के ज़रिये से, मांस मछली के ज़रिये से, एक ज़हर हमारे अंदर पहुंच जायेगा और हम धीरे-धीरे मृत्यु की ओर प्रयाण करते रहेंगे. मैं समझता हूं कि यह मानव जाति के लिए जीवन और मरण का प्रश्न है. इसको सुलझाने के लिए प्रकृति के साथ संतुलन और सामंजस्य बनाये रखने की ज़रूरत है. यही मनुष्य का धर्म है क्योंकि जो स्वाभाविक होता है वही धर्म होता है. जो अस्वाभाविक है वह धर्म नहीं है. सम्प्रदाय आदि को मैं धर्म नहीं मानता. जैन दर्शन में लिखा है कि जो वस्तु का स्वभाव है वही धर्म है. आग का जलना ही आग का धर्म है, पानी का बहना ही पानी का धर्म है, हवा का संचारित होना और श्वास का चलना हवा का धर्म है. जिस वस्तु का जो धर्म है उसके साथ में संतुलन ही हमारे शरीर को बनाये हुए हैं. उसे नहीं बिगाड़ें, उसको बिगाड़ने की जो दृष्टि है वह है सामाजिक प्रदूषण. जो आज की अर्थव्यवस्था है उसे हम भोग प्रधान अर्थव्यवस्था भी कह सकते हैं. यह सारी चीज़ों का संतुलन बिगाड़ती है.

पर्यावरण की दृष्टि को हमें शोषण रहित बनाना है. वह नारेबाज़ी से नहीं होगा. इकॉलोज़ी की दृष्टि को, पर्यावरण की दृष्टि को हमें सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक क्षेत्र तक उतारना है. अगर समाज में संघर्ष, कलह है, शोषण है, अत्याचार है, अन्याय है तो निश्चित बात है कि समाज का यह जो परिवेश है और उसका पर्यावरण भी दूषित हो रहा है. पर्यावरण का दूषण मानसिक तरीके से भी होता है, नारेबाज़ी से भी होता है, गुंडागर्दी से भी होता है. उनका शोषण होता है, उसका प्रदूषण होता है और वह तत्काल हमें हानि पहुंचाता है. हत्याओं में परिणत हो जाता है, तत्काल दुर्घटनाओं में. आत्मदाह में या आत्महत्याओं में परिवर्तित हो जाता है. प्रदूषण पर विचार करते हुए उसके तमाम पहलुओं पर विचार करना चाहिए. ❑

उपनिषद पढ़ते हुए

● इला कुमार

उपनिषदों को जानने-समझने की जिज्ञासा ने एक प्रयास को जन्म दिया था. इला कुमार के इसी प्रयास का फल है उनका उपनिषद-कथाओं का पुनर्लेखन. लेखिका ने अपने इस लेख का शीर्षक दिया था– 'छांदोग्य उपनिषद और मैं.' इस 'मैं' को हटाकर 'हम' भी किया जा सकता है– तब शायद यह ज्ञान-गंगा हमें भी कहीं छू ले!

उपनिषद के रास्ते चलकर किसी गंतव्य पर जा पहुंचने की बात तब थी, जब वेदांत की गुह्यता से परिचित होने के क्रम में छांदोग्य स्थित कथाएं अपने शुरुआती बिम्बों के संग पहली बार मेरे करीब आयीं. मैंने पढ़ने के ख्याल से छांदोग्य उपनिषद को अपनी हथेलियों के बीच करीने से संजोया, एहतियात से उसके संस्कृत अंग्रेज़ी से पटे पन्नों को खोला.

क्वार के उस मौसम में अकसर ऐसे बादल आसमान को ढंक लिया करते, जो अगले घंटों में घनघोर बारिश के सूचक हुआ करते.

उनके गहरे सुरमई किनारों पर कहीं-कहीं काली उथल-पुथल मची दीखती और पेड़ों की ओट से लुकता-छिपता विस्तार किन्हीं बिंदुओं पर विस्तृत लॉन की हरियाली को छू लेने का स्वांग भरता.

आकाश की छाती पर कोई हल्के रंग के बादल का टुकड़ा यक्ष संदेशक की तर्ज पर उड़ता हुआ बड़े पेड़ों की फुनगियों को एक सीध में फलांगता हुआ दूर जाकर अपने अनंत के सफर में नज़रों से ओट हो जाया करता.

छांदोग्य उपनिषद ने उसी अद्भुत मौसम के बीच पहली बार मेरे करीब आकर मेरे मानस को छुआ. लेकिन यह स्पर्श मेरे लिए न तो सहज था, न ही सरल. सीधे-सीधे कहूं तो स्वामी गम्भीरानंद द्वारा लिखित उपनिषद का अंग्रेज़ी अनुवाद मेरी समझ में थोड़ा भी नहीं आया. अष्टावक्र संहिता और अवधूत गीता के ब्रह्मभाव पूरित श्लोकों ने जिन उलझनों को बीत चुके वर्षों में रचा था, उन उलझनों से उपनिषद छुटकारा दिला सकती है– ऐसा मैंने सुन रखा था और शायद इसीलिए वेदांत के प्राथमिक तह से परिचित मेरा मन क्षितिज पर इस पार से उस पार तक गोलाई में तने हुए इंद्रधनुष-सा, वेदांतिक तथ्यों के सत्यस्वरूप से परिचित होने की उत्सुकता से भरा हुआ था.

इस पठन-पाठन के पीछे मेरा अपना निजी लालच था. सामवेदीय उपनिषद ग्रंथ छांदोग्य के बारे में कहा जाता है कि यह छह प्राचीन उपनिषदों में से एक है. ब्रह्मतत्त्व के सम्बंध में सर्वप्रधान समझी जानेवाली यह पुस्तक मंत्रों से ज़्यादा अपनी कहानियों के कारण प्रतिष्ठित है.

वेदांत के मर्म को अपने तईं समझ लेने का लोभ मुझे उकसाता. एक सुना हुआ सच मेरे कानों में सलाह फूंकता कि उपनिषद के द्वारा वेदांत का अभेद्य, अगुह्य आवरण शनैः-शनैः झीना हो उठता है.

उपनिषद के पन्नों की बार-बार रीडिंग लगाते हुए उनके पन्नों को उलट-पुलटकर देखने के दौरान बीच-बीच के कुछ हिस्से पढ़ डालने पर एक सत्य अपने ढंग का उभर आया कि उन पन्नों में कई कहानियां वर्णित हैं— 'रैक्व कथा', 'सत्यकाम कथा', 'उपकोसल कथा', 'अश्वपति कथा', 'प्रवाहण कथा', 'उद्दालक कथा', 'सनत्कुमार कथा', 'प्रजापति कथा' एवं 'ब्रह्मा कथा'. कहानियों का रेखांकन जब दीख पड़ा तो एक बार फिर मैं स्वामी गम्भीरानंद के अंग्रेज़ी 'छांदोग्या' की ओर लौटी. और इस तरह बिना किसी खास दिन या समय का इंतज़ार किये हुए छांदोग्य का पाठन अपने निजी विकल्पों के साथ शुरू हो चुका था. बीच के समय-खंड में यह तय हो चुका था कि कहानियों के संदर्भ में ही मैं छांदोग्य उपनिषद को पढ़ूं. पढ़ने के दौरान पहले मैं अंग्रेज़ी में पढ़ती, अंग्रेज़ी पढ़कर ऊपर लिखे संस्कृत को समझने की चेष्टा करती, फिर [illegible]. इसी अनुशासन को दुहराते-तिहराते हुए मैंने 'सत्यकाम-जाबाल' कथा पढ़ डाली. पढ़कर यह समझ में आया कि नेत्रस्थ पुरुष और आदित्यांतर्गत पुरुष के बीच एकत्व है. लिखा हुआ सच.

और तब मैंने प्राण विद्या से सम्बंधित हारिद्रुमत गौतम कथा एवं तत्त्वमसि को निरूपित करनेवाली उद्दालक कथा भी पढ़ डाली. एक-एक करके मैंने सभी कथाओं को सिलसिलेवार ढंग से पढ़ा. शायद उन्हीं उतारों, चढ़ावों, मुश्किलों के बीच मेरे मन में कहीं यह तय हो गया था कि भविष्य में इन कहानियों को मैं सहज-सरल भाषा में, इच्छुक पाठकों के लिए पुनर्लिखित करूंगी.

उपनिषद अर्थात उप+नि+सद् यानी कि गुरु के निकट ज्ञान रहस्यों की प्राप्ति के लिए बैठना. कहते हैं कि इस साहित्य की रचना गुरु से जीवन जगत और आत्मा एवं ब्रह्म के रहस्यों के उद्घाटन, निरूपण तथा विवेचन के द्वारा सभी कुछ जान लेने के लिए हुई.

वैदिक साहित्य के चार भागों (मंत्र संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद) में चौथे स्थान पर अवस्थित उपनिषद अपने अंदर संहिताओं-मंत्रों में वर्णित कर्मकांड, ज्ञानकांड एवं उपासना के व्याख्यान एवं विस्तार को समाहित किये हुए हैं. वेदों के अंतिम ध्येय (ब्रह्म) को निरूपित करनेवाले श्लोकों से आवेष्ठित प्रवाह थोड़ी-सी माकूल स्थिति पाते ही झहर उठता है.

श्लोकों के अवगुंठन से निर्गत होते भाव, ब्रह्मवाद को पोषित करनेवाली उपासना के

व्याख्यायित स्वरूप पढ़े जाने की प्रक्रिया के बीच स्वयं को पूरी तरह खोल डालते हैं, कहीं कोई लुकाव-छिपाव, लक्षणा, व्यंजना नहीं. उपकोसल-सत्यकाम कथा के बाद श्रुति कथ्य को इंगित करते हुए जन्म-मरण चक्र में लिप्त जीवों की गति का तथा देवमार्ग-ब्रह्ममार्ग, अर्चिरभिमानी देवता एवं संवत्सर आदि का वर्णन आता है...

प्रतिपाद्य विषयों पर उपासना एवं ज्ञान (कथा दर कथा) क्रम से सान चढ़ाता जाता है; तीक्ष्णधार रूप धर कोई ज्ञानखड्ग चकमकाता है, मानो वास्तव में अज्ञान को पूर्णतः काट डालेगा— बोधोऽहं ज्ञानखड्गेन तन्निकृत्य सुखी भव. ब्रह्म विद्या के विभिन्न अंगों (आत्मा, जगत, बंध, मोक्ष, मुक्ति जीवनगति आदि) के रहस्यों का चित्रण, सहज प्रवाहित क्लिष्ट शैली में उभरकर अंतर्निहित ज्ञानकोष के प्रति आश्चर्य और श्रद्धा जगाता है जब पंचाग्नि विद्या कथा में प्रवाहण, लोकरूपा अग्नि विद्या से शुरू करके तरह-तरह के दृष्टांतों को देते हुए पर्जन्य रूपा, पृथ्वी रूपा और पुरुषरूपा अग्नि विद्या के बारे में बताते हुए स्त्री रूपी अग्नि विद्या के बारे में बताते हैं— ऐसे स्थानों पर छांदोग्य पाठक के मानस को अपने मृदु गुंजलक के बीच थाम लेता है. यह थमना एक खास किस्म के काल के बीच थम जाना है. तय है, वह थमा हुआ समयखंड अपने अपरिवर्तित पूर्ण सौंदर्य के संग सारे जीवन भर अब साथ रहने वाला है. शायद तब तक, जब तक कि वेदांतवर्णित माया अपना पसारा समेटकर तिरोहित न हो जाए.

'परोक्ष अनुभूति, प्रत्यक्ष ज्ञान' अपनी सम्पूर्णता में सभी कथाओं के अंदर अलग-अलग किस्म के ज्ञानावृत्तीय प्रकाशबिम्बों की रचना करता है. उन वृत्तों के अंदर हर किस्म की शंकाएं सुलझाव पाती हैं. बात चाहे जन्म-मरण की हो या उपासना दान की. प्रवाहण कथा के बीच जीव के जन्म प्रक्रिया का प्रसंग सर्वप्रथम प्रश्नरूप में उठता है, जो आगे जाकर उत्तरित भी होता है, कि पांचवीं आहुति के हवन कर दिये जाने पर अप (जल) पुरुष संज्ञा (जीवभाव) को कैसे प्राप्त होता है, यानी कि जीव इस लोक में कैसे आते हैं.

आत्मज्ञानी प्रवाहण बताते हैं कि स्त्रीरूपा अग्नि में देवगण (इंद्रियां) वीर्य का हवन करते हैं, श्रद्धा, सोम, वर्षा, अप और रेतःरूप आहुतियों के पर्यायक्रम से जल (वीर्य) ही गर्भरूप में परिणत होता है (पुरुष शब्दवाची हो जाता है). वही गर्भ, पूर्ण रूप से पूर्णांग होने पर नौ या दस महीने तक जरायु से आवृत्त रहकर माता के शरीर से महाकष्टपूर्वक बाहर निकलता है.

जीव के जन्म की प्रक्रिया के बीच, जलीय शरीरावरण धारण करने की बात, जल के बल पर ही जीव के प्रथम अणु धारण करने का स्वीकार- आज के आधुनिक काल के वैज्ञानिक दृष्टि वाले पाठक को अपने औपनिषदीय विवरण के बल पर चौंका देता है. जीवन की शुरुआती प्रक्रियाओं को, सत्य स्वरूप तथ्यों को एक ओर हमारा इक्कीसवीं सदी का परम प्रबोधितमानस झुठला नहीं पाता और दूसरी ओर उसे 'जीवन गमन' (मरणोपरांत) की प्रक्रिया (सूर्यरश्मि को

पकड़कर परलोक गमन की बात) के विवेचन पर उंगली उठाते हुए संकोच होता है.

वह एक तरह के संदेह में घिर जाता है कि जब उपनिषद वर्णित जीव के इस लोक में आगमन प्रक्रिया का विवरण इतना अकाट्य दीख पड़ता है, तो शायद जीव के परलोक गमन की बात भी उतनी ही सच हो, साथ ही धूममार्ग, पितृमार्ग और देवयान मार्ग की अवस्थिति भी.

और ऐसे बिंदु पर पहुंचकर छांदोग्य स्वयं को सत्यता की शाश्वतता के संदर्भ में पूर्ण सच प्रमाणित कर देता है, अचानक.

ऐसे समय में श्रद्धा शब्दवाच्य करीब आता है, अष्टावक्रसंहिता का पृष्ठ, छियानवे (96) फुसफुसाता है 'श्रद्धस्व तात, श्रद्धस्व!'

और आधुनिक भौतिकी और विज्ञान से सुसंस्कृत हुआ बड़े-बड़े इंटिग्रेशन और डिफरेंशिएशंस के सवालों को हल करनेवाला, क्वांटम थ्योरी पर बहस करनेवाला मन कहता है कि मान लें (कुछ काल के लिए ही सही) कि प्रवाह वर्णित धूम मार्ग, देवयान मार्ग आदि अंतरिक्ष (या अन्य लोकों) में अवस्थित हैं और उन मार्गों पर जीव के गमन की बात सत्य है. इस परिकल्पना को मान लेने से अनगिनत द्वंद्वों के प्रथम द्वार अचानक खुल पड़ते हैं.

कई प्रश्न गहरे काले कांटों की नाईं चारों ओर उग पड़ते हैं जब शरीर की अग्नि को समर्पित और धूममार्ग से जीव के अन्य लोकों की ओर प्रस्थान की बात व्याख्यायित होती है– शरीररूप अंतिम आहुति के हुत होने पर जब अग्नि द्वारा शरीर दग्ध होने लगता है, तो उससे उत्पन्न होनेवाला जल, धूम के साथ जीव को आच्छादित कर ऊपर चंद्रमंडल में पहुंचकर बाह्य शरीर का आरम्भ करनेवाला होता है.

ये विवरण अलग तरह की व्यूह रचना करते हैं. संशय के व्यूह/शरीरपात के बाद भी उपस्थित रहनेवाले अनुभवों के नये सिलसिलों के व्यूह और ये व्यूह मानो भय के आकाश को संरचित करते हैं.

तरह-तरह के सत्य व्यावहारिकता के बीच से उठकर उदग्र खड़े हो जाते हैं जिन्हें काटना या झुठलाना असम्भव है- यथा प्राण के श्रेष्ठत्व का सत्य, ज्ञान की अगाधता का सत्य और जन्म एवं मृत्यु का सत्य.

उपनिषद क्या भय का उद्गम स्थल है? शायद नहीं!

क्योंकि जब अनजाने अव्यक्त तथ्य पूर्ण व्यक्त कर दिये जाते हैं, संशयों का निवारण हो जाता है, गुत्थियां सुलझ जाती हैं तो एक अन्य आकाश– विश्वास का, ज्ञान का उग पड़ता है– वैश्वानरविद्या का, प्रणविद्या का और भूमा विद्या का. सभी ज्ञान से श्रेष्ठ ज्ञान को बताते हुए भूमा विद्यांतर्गत सनदकुमारजी नारद के समक्ष भूमा का वर्णन करते हैं– 'मैं ही नीचे हूं, मैं ही ऊपर हूं, मैं ही पीछे हूं, मैं ही आगे हूं, दायीं ओर हूं, मैं ही बायीं ओर हूं और मैं ही वह सब हूं. आत्मा ही नीचे है, आत्मा ही

ऊपर है, आत्मा ही दायीं ओर है, आत्मा ही बायीं ओर और आत्मा ही यह सब है. इस प्रकार देखनेवाला, इस प्रकार मनन करनेवाला तथा विशेष रूप से इस प्रकार जाननेवाला आत्मरति, आत्मक्रीड और आत्मानंद होता है, वह स्वराड् (स्वाराज्य पर अभिषिक्त) होता है और सम्पूर्ण लोकों में उसकी यथेच्छ गति होती है.

छांदोग्य उपनिषद को उसके एकत्व में देखने पर जो तत्त्व अपनी सम्पूर्णता में अडिग निर्धूम शिखा-सा ज्योतिर्मंडित दीख पड़ता है वह है सत्य की अकाट्यता का. तरह-तरह के सत्य व्यावहारिकता के बीच से उठकर उदग्र खड़े हो जाते हैं जिन्हें काटना या झुठलाना असम्भव है— यथा प्राण के श्रेष्ठत्व का सत्य, ज्ञान की अगाधता का सत्य और जन्म एवं मृत्यु का सत्य. और ये तथ्य जब स्वयं को उपनिषद के द्वारा सिद्ध कर देते हैं, तो अन्य कई बातें स्वतः स्वयंसिद्ध हो उठती हैं, मसलन कर्मों के बल पर अन्य लोकों में गमन, अनेकानेक लोकों की उपस्थिति, महः आदि लोक, देवयान धूमयान मार्ग की अवस्थिति, मंत्रों का माहात्म्य आदि आदि. ऐसे में शाश्वतता का जगमगाता हुआ, उज्वलित स्वरूप स्वयं को अपने पूर्ण निजी प्रकृतिजन्य, पराभौतिक स्तर पर कायदे से प्रतिस्थापित करता हुआ दीखता है. यह सत्यशिखा वैयक्तिकता तथा प्राणमय, मनोमय, ज्ञानमय, विज्ञानमय कोषों को पार करके आनंदमय कोष की अनंतता को सूक्ष्मित स्पर्श से पूर्णता में छू लेने के क्रम में कथाओं के संग आगे बढ़ती चलती है पराआकाशीय विस्तार पर हिरण्यगर्भ, ईश्वर, सगुण ब्रह्म आदि की सम्भावनाओं पर व्याख्याओं को केंद्रित न करते हुए इस उपनिषद में वर्णित कथाएं 'सेल्फ' के, 'मैं' के, 'स्वत्ववाच्य' के विवेचन में मशगूल दीख पड़ती हैं, मात्र आत्म की उपस्थिति को बार-बार तरह-तरह से विश्लेषित करती हुई 'क' ब्रह्म, 'ख' ब्रह्म के सूत्र के द्वारा, 'श्यामाच्छबलं प्रपद्यै' के मंत्र के द्वारा तथा अन्य कई ढंग से अनेकानेक स्तरों पर मोह लेने की विशद माया फैलाती है.

सर्व लोक एवं सर्वसृष्टि को पवित्र करनेवाले श्यामाच्छबलं मंत्र की बात ब्रह्मा प्रजापति कथा के बीच आत्मज्ञान के संदर्भ में आती है— 'मैं शबल ब्रह्मलोक को प्राप्त होऊं और शबल से श्याम को प्राप्त होऊं, जिस प्रकार अश्व रोएं झाड़कर साफ़- सुथरा हो जाता है, उसी प्रकार मैं पापों को परे हटाकर, राहु के मुख से निकले हुए चंद्रमा के समान (शरीरपात के पश्चात) कृतात्मा हो अकृत ब्रह्मलोक को प्राप्त करूं...'

यह कृतकृत्यता, यह अकृत, नित्य ब्रह्मलोक की उपस्थिति, तेज के द्वारा अंकुरित जल, जल के द्वारा अंकुरित अन्न और अन्नमय कोष शरीर के अंदर प्राण की साक्षात उपस्थिति ऐसे विराट उथल-पुथल को रचता है, जिसके बीच पठन-पाठन स्वयं भी उद्वेलित हो उठता है. शायद यही है वह औपनिषदिक सम्भावनाओं का संसार जिसके चलते पुरातन कालीन छांदोग्य सदा सर्वदा नया है.

देखा गया है कि उपनिषदों के अंदर क्लिष्ट तत्त्व; जो ज़्यादातर पहली बार पढ़े

जाने पर समझ में नहीं आते, फिर भी अद्भुत आकर्षण प्रवाहित कर डालने में सक्षम हैं. ऐसे में सहज जिज्ञासा उठती है कि आखिर क्या है उन शब्दों, उन भावों के अंदर जो हमें कुछ खास स्तरों पर लगातार लुभाये रखता है?

पौराणिक काल से लेकर आज क़ी तारीख के बीच लम्बा कालखंड पसरा हुआ है, इतना ज़्यादा समय बीत गया, फिर भी श्रुत्यकथ्य परम्परा पोषित उपनिषदों के बीच एक जाग बरकरार है और यह 'जाग' कईयों के मानस को जगाये रखने में मानो पूर्ण दीक्षित है, सर्वथा सक्षम है.

क्या है वह?

वह 'जाग', वह जाग्रतता कैसी है?

शायद सत्य!

हां ये, वे सत्य ही हैं जो एक किस्म की शाश्वतता का निभाव करते हुए अपने अमर्त्यपने को बनाये रखते हैं, सदाजीवी, पूर्ण जीवंत.

कैसे हैं वे सत्य?

वे सत्य शायद ऐसे हैं जिनमें से कुछ व्यावहारिक स्थल पर पूर्ण प्रमाणित हैं, कुछ मानसिक संवेगों के बीच स्वप्रामाण्य और कुछ विज्ञानपूर्ण चुनौतियों के समक्ष पूर्णतः अकाट्य.

एक ओर पंचभूतों (पृथ्वी, जल, आकाश, आदि) प्रत्यक्ष देवताओं (वायु, सूर्य, द्युलोक) के उपास्यफल की चर्चा प्रकाश में आती है, दूसरी ओर स्थूल से सूक्ष्म, सीमित से असीमित, अनंत की कल्पना के बीच ज्ञानित व्योम की परिकल्पना परवान चढ़ती है और यह कोरी मनगढ़ंत बात नहीं दीख पड़ती है, क्योंकि सचमुच का वायु, आकाश और सूर्य सामने दीख पड़ता है और बिजली चमकने पर आकाश की दरारों में से झांकते विद्युत लकीरों के संग-संग द्युलोक की उपस्थिति भी प्रतिभासित हो उठती है.

और इन सभी दृश्य-अदृश्य पंचभूतों, देवताओं, सूक्ष्मताओं के साथ-साथ वैश्वानर का कद भी कहीं सूक्ष्म अगोचर स्वरूप में तना दीखता है उदग्र. ऐसे में अविश्वसनीयता दूर खिसक जाती है. वैज्ञानिक अनुशासन निभाने वाला मन (अंग्रेज़ी के एक्स को पांच सेंटीमीटर, दस सेंटीमीटर, एक लाख मीटर मानने वाला मन और अनंतता की परिकल्पना से परिचित मन) अनंत को महसूसने की चेष्टा करता है. अनंत और ब्रह्म का पर्याय ढूंढ़ता हुआ विभिन्न कथाओं में स्थित कल्पनाओं के साथ-साथ चलता है, वर्णित तथ्यों का मननकर्ता बनता है और अचानक किसी बिंदु पर छांदोगिय कथ्य और तथ्य को आज के वैज्ञानिक विवरणों के बिलकुल करीब जुड़ते देखकर विस्मयविमुग्ध हो उठता है. विश्वास का मुद्दा भी ऐसे ही बिंदुओं पर आकर उठता है. अनंतता की और वैश्वानर की कल्पना एक साथ भयमिश्रित श्रद्धा और ज्ञान के अनिर्वचनीय सुखदीप रचती है. लगता है 'वह' सबों को देख रहा है. हम सभी उसके द्रष्टव्य हैं, जो स्वयं न तो द्रष्टव्य है, न श्रोतव्य और इस तरह समस्त मानसिक ज्ञानित तत्त्व औपनिषदिक व्याख्याओं के आगोश में. एक नये लोक में प्रविष्ट, ज्ञानलोक में. ❑

महापुरुषों के अतृप्त सपने

• नागोची

स्वर्ग के सर्वानंद के बीच भी भगवान ने जब मुझे परेशान देखा तो बड़े स्नेहार्द्र भाव से पूछा- ''इतने उदास क्यों हो, मानव! क्या स्वर्ग में किसी बात का अभाव है?'' ''हां प्रभो, मैं अपनी एक ऐसी निधि पृथ्वी पर भूल आया हूं, जिसके सामने स्वर्ग के अनंत सुख बिल्कुल बेस्वाद हैं!'' ''क्या है वह निधि?'' विधाता ने झुंझलाकर पूछा. ''एकांत में संजोये कुछ अधूरे सपने!'' मैंने कहा!

काश, मैं एक हवाबाज़ होता! विमान के निर्माण से लेकर आज तक की उसकी गतिविधियों में मेरी बड़ी रुचि रही है. जब मैं निरा छात्र ही था, तभी 1906 में मैंने उड़ने पर एक निबंध लिखा था. सम्भवतः यह वही ज़माना था, जब कि राइट ब्रदर्स, लैथम और ब्लेरियट, इंग्लिश-चैनल को पार कर रहे थे. मैं उनके इस अभियान से बड़ा प्रभावित हुआ था!

''मुझे स्मरण है, मैंने अपने पिताजी को एक पत्र लिखा था. तब मैं इंग्लैंड में था और मेरे पिताजी भारत में. उस पत्र में मैंने लिखा था कि यथाशीघ्र ही, मैं विमान द्वारा भारत आ रहा हूं.

''जब प्रथम जेपलिन बरलिन में उड़ाया गया, तो मैं उस समय भी वहां मौजूद था. तब की सारी घटनाएं मुझे आज भी याद हैं और अब सोचता हूं कि यदि मैं भी उड़ाका होता, तो... ज्यों ही जीवन की मंदगति और उसके रूखेपन से मेरा मन ऊब जाता, मैं तुरंत एक ही झटके में मेघमालाओं के ऊपर विचरण करता और उस उड़ान में जीवन-मरण की उस सीमा-रेखा पर नभ-मंडल में तरंगित होते समय, एक कवि ने जो गीत लिखा है, उस एकांत में, उसे गुनगुनाकर पूरे नभ-मंडल के मौन को भंग कर देता.

''काश्मीर के हिम-मंडित उत्तुंग शिखरों की ओर भी मेरे मन में एक विचित्र खिंचाव है. उन शिखरों पर आरोहण का विचार मैंने न जाने कितनी बार किया है. सारे काम छोड़कर प्रकृति के उस उदास नर्तन की ओर

दौड़ जाने को मेरा जी करता है और इस विचार से ही मैं आनंद-विभोर हो उठता हूं. देखता हूं, मेरा वह आनंदमय सुख-स्वप्न कभी पूरा नहीं हो पा रहा है.

''राजनीति और देश का शासन चलाने के काम में, मेरे हाथ-पांव नित्य दृढ़तर बंधते चले जा रहे हैं. जो कुछ मुझे पसंद है, उससे भिन्न; मुझे सैकड़ों काम करने पड़ते हैं और कितनी ही ऐसी ज़रूरी दौड़-धूप करनी पड़ती है.

''...आज मैं देखता हूं कि एक ओर मेरा यह सुख-स्वप्न है और दूसरी ओर घड़ी-पल बीतते जा रहे हैं. जवानी बीत गयी है. बुढ़ापे में कदम रख दिया है और भय उत्पन्न होता है कि कहीं बुढ़ापे का ठंडा खून मेरे इस कैलास और मानसरोवर के दर्शन की मधुर कल्पना को मूर्त करने में साथ न दे पाये.''

अतृप्त आकांक्षा एवं पश्चात्ताप-जनित अवसाद से ओतप्रोत ये शब्द हमारे प्रधानमंत्री श्री नेहरू के हैं, जिन्होंने कर्मक्षेत्र के राजनीतिज्ञ नेहरू से पृथक, एक बिल्कुल भिन्न व्यक्तित्व भी बचपन से लेकर आज तक संजो रखा है. सच पूछा जाए, तो नेहरू के वर्तमान शुष्क एवं कठोर कर्मठ जीवन के लिए, यह दूसरा व्यक्तित्व एक ऐसी भाव-माधुर्य से अभिषिक्त कविता है, जो उनको अगाध शक्ति का स्रोत दिया करती है. किंतु, क्या ऐसा नहीं लगता है कि नेहरू की इस कविता के ऊपर बाह्य आवश्यकताओं का आवरण इतनी सघनता से व्याप्त हो गया है कि वस्तुतः उसमें स्वयं नेहरू ही खो गये से लगते हैं? निष्कर्ष को न मानिए, पर तो भी क्या नेहरू के जीवन का अध्ययन यह ध्वनित नहीं करता है कि कभी-कभी जीवन के व्यक्तिकरण का आग्रह बड़ी तेज़ी से सांचा बदलता है और मनुष्य यह देखकर विस्मय-विमूढ़ हो जाता है कि वह क्या से क्या हो गया?

यहां बरबस शेक्सपियर के 'ट्वेल्थ नाइट' नाटक के नायक की याद आ जाती है- जीवन की ऐसी प्रवंचना का शिकार उसे भी होना पड़ा था और उसने कहा था- ''मैं वह नहीं हूं, जो हूं!''

मनुष्य का यह भीतर दबा एवं अविकसित व्यक्तित्व वास्तव में जीवन की क्षतिपूर्ति का ही एक प्रकृतिजन्य तरीका है. जीवन का प्राण-स्रोत अपनी पूरी प्रचंडता में जब गतिमय होने लगता है, तो वह अपने प्रवाह के कई मार्ग बनाता है और जो मार्ग एकदम अनायस ही सामने आ जाता है, उस पर ही पूरे आकार एवं गति के साथ बहने लगता है. अपरिमित शक्ति-क्षमता को लेकर जन्मे संसार के प्रत्येक व्यक्ति के साथ यही मिसाल चरितार्थ हुई है. संसार के महान मेधावी व्यक्तियों के जीवन में, नियति की इस कुटिल प्रवंचना से संतप्त होकर कार्लाइल ने अत्यंत पीड़ा-भरे शब्दों में कहा है-

''परमात्मा के इस अभिशप्त वरदान को अपनी क्रूरता में फलीभूत देखकर; किसका दिल नहीं बैठ जाता है कि भाग्यवान को अपने प्रिय सुख-स्वप्न कुचलकर उत्कर्ष की मंजिल तय करनी पड़ती है.''

विश्व-
कल्पना दे
समाप्त क
दृष्टि से वे
कुछ दिन
तब जन्म
वह स्थान
बाबू उस
राजमार्ग प
बैलगाड़िय
अगणित
गुजरते. र
मन उस प्र
के लिए
चढ़ाव-उत
रविबाबू ने
मधुर कल
गाजीपुर से
कल्पना क
पेशावर! प
मन, जिस
अनुभूतिय
मन...' क
विराट दश
पर! किंतु,
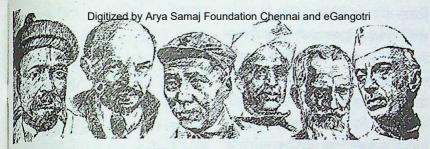
विश्व-कवि रवींद्रनाथ ठाकुर की एक मधुर कल्पना देखिए. जब उन्होंने अपनी पढ़ाई समाप्त कर दी, तो अवकाश बिताने की दृष्टि से वे एक बार उत्तरप्रदेश में आये और कुछ दिन वहीं रह गये. रवि बाबू की कविता तब जन्म ले चुकी थी. जहां वे ठहरे थे, वह स्थान ग्रांड-ट्रंक रोड के किनारे था. रवि बाबू उस समय कलकत्ते से पेशावर तक के राजमार्ग पर असंख्य लोगों को चलते देखते. बैलगाड़ियां, बैल, ऊंट, हाथी, घोड़े, कितने अगणित वाहन एवं व्यक्ति उनके सामने से गुज़रते. रवि बाबू का कौतूहल पूर्ण जिज्ञासु मन उस प्रलम्ब पथ के दोनों छोरों को देखने के लिए मचल पड़ा. इतिहास के कितने चढ़ाव-उतार इस मार्ग ने देखे थे! अतः रविबाबू ने, अपने बाल्य-सरल मन में, यह मधुर कल्पना संजोयी कि बैलगाड़ी द्वारा गाजीपुर से पेशावर तक की यात्रा की जाए! कल्पना कीजिए, बैलगाड़ी और गाजीपुर से पेशावर! पर, विश्वकवि का मन ठहरा! ऐसा मन, जिसके कगारों से विश्व-मानव की अनुभूतियां टकरा रही थीं और जो 'जन गन मन...' का गायक था. जन गण के कितने विराट दर्शन करने का संयोग था- इस पथ पर! किंतु, कवि का वह स्वर्ण-स्वप्न अपूर्ण ही रहा, क्योंकि जब उनके पिताजी ने उक्त योजना की बात सुनी, तब उनको तुरंत वापस बंगाल बुला लिया.

बर्नार्ड शॉ के सपनों पर भी ज़रा एक नज़र डाल लीजिए! वे साहित्यकार थे. पर, उनके प्रारम्भिक जीवन का लक्ष्य इससे दूर, बहुत दूर था और उन दो विभिन्न छोरों में जल्दी से किसी समानता को ढूंढ़ निकालना, वास्तव में बड़ा कठिन है. वे एक सफल पादरी बनना चाहते थे. उनकी शिक्षा-दीक्षा भी इसी दिशा में हुई थी. अपने इस प्रिय व्यवसाय के लिए वे इतने उत्सुक थे कि उन्होंने कितने ही 'सरमन' लिखकर तैयार कर लिए थे तथा उनको भलीभांति कंठस्थ भी कर लिया था. पर, विधि को और ही कुछ स्वीकार था. उसे तो शॉ को साहित्य के क्षेत्र में शिरोमणि बनाना था. शॉ पादरीगिरी में नहीं लिये गये और उन्होंने निराश होकर प्रूफें पढ़ना शुरू किया. यहीं उनकी सरस्वती जागी और वे क्या-से-क्या हो गये!

इससे भी एक विचित्र कल्पना सुनिए और विधि की विडम्बना सराहिए. हमारे उपराष्ट्रपति सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन, आज से 50 वर्ष पूर्व, यह स्वप्न देखा करते थे कि जीवन में प्रवेश करके वे या तो

टिकट-कलेक्टर होंगे या पुलिस के दारोगा होकर सफेद घोड़े पर अपने हल्के में गश्त लगायेंगे. पर इस मनोगत स्वप्न से ऊपर उठकर, जब वे कर्म की वास्तविक सतह पर उतरे तो संसार ही नहीं, वे स्वयं विस्मित हो गये होंगे कि टिकट कलेक्टर या पुलिस दारोगा के बजाय एक दार्शनिक वहां खड़ा है. रेलवे की नौकरी की मधुर कल्पना अकेले सर सर्वपल्ली के जिम्मे ही नहीं पड़ी थी. सर सर्वपल्ली के अतिरिक्त विश्व के कितने ही विशिष्ट पुरुषों ने उस ओर अपनी कल्पना दौड़ायी. रूस के भाग्य-विधाता, लेनिन; वर्तमान चीन के डिक्टेटर, माओत्से-तुंग और च्यांग-काई-शेक ये तीनों ही रेलवे में गार्ड होना चाहते थे. माओ ने तो गार्ड के पद के लिए प्रार्थना-पत्र भी दिया था. पर, वे न लिये गये और ये तीन ही क्यों! भारत के वर्तमान रेलमंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री भी रेलवे में गार्ड होना चाहते थे. हां, समय ने उन्हें अंततः रेलमंत्री बना दिया है. पर, रेलवे के गार्ड होने की उनकी कल्पना ज्यों-की-त्यों दफन रह गयी!

इसी प्रकार विख्यात विचारक बरट्रेंड रसेल कमीशन एजेंट होना चाहते थे और कुछ समय तक उन्होंने कमीशन एजेंट का काम अपने जीवन के प्रारम्भिक दिनों में किया भी था.

लोकमान्य तिलक से एक बार जब पूछा गया कि स्वराज्य मिलने के बाद आप क्या करेंगे, तो उत्तर में उन्होंने कहा कि किसी कॉलेज में गणित का प्राध्यापक होकर शांत जीवन बिताऊंगा.

अपने अतृप्त सपनों के सम्बंध में, भारतीय संसद के अध्यक्ष, श्री गणेश बालकृष्ण मावलंकर ने भी एक बड़ा ही मनोरंजक विवरण दिया है. आपने लिखा है- "मेरे पिताजी मुनसिफ थे. दादा, परदादा सभी सरकारी कर्मचारी थे. पर, न जाने क्यों, मेरे मन में सरकारी नौकरी का विचार कभी न उठा. यदि किसी काम के लिए मेरे मन में तृष्णा जागी, तो वह थी- डॉक्टरी! दुखियों को देखकर हृदय में एक पीड़ा उठती और सेवा की भावना मन में प्रबल हो उठती. पर, दुर्भाग्य से, जब 16 वर्ष की मेरी उम्र थी, तभी पिताजी का देहांत हो गया और अहमदाबाद छोड़कर कहीं बाहर जाना मेरे लिए कठिन हो गया. इस प्रकार मैं वकील बन गया. जीवन में जो कुछ भी मैंने देखा, उसके बाद अब इच्छा होती है कि जीवन का अवशिष्ट भाग संन्यासी-सा व्यतीत करूं."

ऊपर जिन सपनों का विवेचन है- उन्हें स्वप्न कहें या दिवा-स्वप्न, तात्पर्य में कोई अंतर नहीं पड़ता. वास्तव में, स्वप्न हमारी सब से प्रिय निधि है- ऐसी अनंत निधि, जिसके साथ क्षय की कोई शर्त नहीं जुड़ी हुई है. गेटे कहता है- "हम अपने यथार्थ पर नहीं, स्वप्न पर जीते हैं. अगर स्वप्न की ज्योति बुझ जाए, तो हम भी वैसे ही जड़ हो जाएं, जैसे ये शिलाखंड एवं पहाड़-पर्वत हैं."

सचमुच दिवा-स्वप्नों के गर्भ में हमारे विकास के लिए अमृत का कुंड भरा हुआ है- हमारी आशा, महत्त्वाकांक्षा, उत्साह, रुचि-सबको सपनों के अमृत-कुंड से ही प्राण-रस मिलता है. हां, कर्म का संयोग उन्हें ज़रूर मिलना चाहिए. किंतु, शंकराचार्य की यह उक्ति निरर्थक नहीं है कि 'कर्म जड़ है और स्वप्न चेतन!'

शेखचिल्लियों की खामखयाली की उपेक्षा के बाद हमारे कर्म-संकुल जीवन में आकांक्षा के जो नक्शे हैं, यदि उनमें हमारे स्वप्नों की तूलिकाएं इंद्रधनुषी रंग न भरें, तो हमारा सारा जीवन ही एक असह्य बोझ हो जाए. एक ओर स्वप्न जहां हमारे वास्तविक जगत के भावात्मक अभावों की पूर्ति करते हैं, वहां वे हमारे जीवन की कर्कशता का भी परिमार्जन करते हैं. अपनी विश्व-विख्यात पुस्तक 'दी आर्ट ऑफ लिविंग' में आंद्रे मोराउस लिखता है-

"जब बुद्धि के असंयत बोझ और विवेक के हठीले अंकुश से संतप्त जीवन की कविता के पैर थक जावें और तुम्हें कर्म के मरुस्थल से पार ले जाने के लिए जीवन की तृष्णाएं तुम्हारे आग्रह के बावजूद इंकार कर दें- भले ही, वे तुम्हें किसी मृग-मरीचिका की तरफ़ ही ले जाएं- तो या तो जीते-जी मौत का वरण कर लो या फिर मेरी इन पंक्तियों पर अमल करो और नवजीवन-प्राप्त कविता के पंखों पर बैठकर-चाहे क्षणभर के लिए ही क्यों नहीं- इस ब्रह्मांड के सारे वैभव को अपनी हस्ती में समेट लो. लो, ये हैं वे पंक्तियां, जिनका एक-एक अक्षर अनुभूति की विद्युत से लिखा गया है-

"जब मन की वायु तुम्हारे जीवन-सरिता में तरंगें पैदा करने में असमर्थ हो जावे, तो उस पर कल्पना का अमृत छिड़को- तन के द्वार बंद करके मन को सीमाहीन छोड़ दो और शिशु की भांति अपने को दिवा-स्वप्नों में लय कर दो. बस, इतना काफ़ी है- तुम्हारे रंध्र-रंध्र से अमृत का संचार होने लगेगा और तब तुम जीवन और आनंद में किसी प्रकार का फ़र्क नहीं पा सकोगे."

(नवनीत, दिसंबर 1952)

पुरुष या स्त्री?

ईश्वर स्त्री है या पुरुष, यह सवाल कई-कई स्तरों पर उठता, उठाया जाता रहा है, लेकिन एक महाशय आश्वस्त हैं कि ईश्वर पुरुष ही हैं. उनकी इस धारणा का आधार पूछा गया तो उन्होंने बताया, "करोड़ों सालों से सितारे आसमान में एक ही पैटर्न में चमक रहे हैं. ईश्वर औरत होता तो सितारे कितनी ही बार रीअरेंज किये जा चुके होते."

शुक्र है आज नहीं हुए ग़ालिब और कबीर

● शशिकांत सिंह 'शशि'

गालिब और कबीर यदि आज होते तो उनकी जान को खतरा था. प्रशासन को उन्हें ज़ेड श्रेणी की सुरक्षा मुहैया करानी होती. ये दोनों खुराफाती थे. एक को शराब का शौक इस कदर था कि मज़हबी पाबंदियों को नहीं मानता था. दूसरे को समाज-सुधार की लत थी. ऐसी-ऐसी बातें कह दिया करते थे कि एक सामान्य आदमी तो कभी सहन नहीं करेगा. उन दिनों लोग सह गये तो सह गये, आज तो सिर काटने का फतवा जारी हो जाता. कबीर साहब अगर आज होते तो कब के उनके नाम की सुपारी दे दी गयी होती. धर्मों का जन्म तो होता है आदमी को बनाने के लिए मगर बाद में उसे आदमी ही बनाता-बिगाड़ता रहता है. वे बेचारे तो किसी को आदमी नहीं बना पाते.

कबीर साहब को आदत थी, फटे में टांग अड़ाने की. बाभन, तुरक सबको अनाप-शनाप बोलने की आदत थी उनको. मौलवी, पंडित सबको ललकारना तथा उनकी गलतियां गिनाना. भई वही समय था कि लोग मान गये वरना अभी का सभ्य समाज होता तो खून की नदियां बहा देता. हमने जब एक बार घोषणा कर दी कि धर्म वही है जो हम कहते हैं तो फिर आप कौन होते हैं हमें बार-बार दूसरी ओर धकेलने वाले. हम मंदिर के नाम पर क्या नहीं करते और आप कहते हैं कि मंदिर में भगवान नहीं रहते.

पाथर पूजै हरि मिलैं तो मैं पूजूं पहाड़
ताते तो चक्की भली पीस खाये संसार

नहीं, चक्की तो हम पिसवाते आपसे अगर आप आज होते, जेल की चक्की. हरि मिलें न मिलें, सत्ता तो मिल ही जाती है. आज कहकर देखिए आपके घर को उजाड़ दिया जाएगा. आपकी किताबें जला दी जाएंगी. हो सके तो आपके हाथ-पांव भी तोड़ दिये जाएंगे. हमने प्रगति की है. पांच सौ सालों में हम इतने विचारवान तो हो ही गये हैं कि विरोध का अर्थ समझ जाएं. हमें पता है कि असली विरोध वही है जो हिंसा के बल पर किया जाता है. अहिंसक और वैचारिक विरोध तो निहायत शाकाहारी किस्म का होता है जिससे नवयुवक प्रभावित ही नहीं होते. हमें तो हिटलर की तरह नफरत की राजनीति करनी है. आप कहते हैं कि-

हिंदू मूये राम कहि, मुसलमान खुदाइ
कहै कबीर सो जीवता दुई में कदे ने जाइ

पता नहीं उन दिनों लोगों ने आपके चरखा वगैरह को तोड़ क्यों नहीं दिया. कम्बल का

जो धंधा आपका चलता था उसको नष्ट करके आपको देश से बाहर जाने के लिए मज़बूर क्यों नहीं कर दिया. आप जैसा आदमी तो समाज में फूट डालने ही नहीं देगा और हमने तीन सौ सालों में यही सीखा है कि फूट डालकर ही राज किया जा सकता है. आप तो सबके पेट पर लात मारते. एक आधे कबीर तो आज भी हैं पर मजाल कि मुंह खोलें. जान किसको प्यारी नहीं होती. हमारी रोटियां जाति पर ही चलती हैं. आप कहते हैं-

एक रक्त, एक मल-मूतर, एक चाम एक गूदा
एक ही ईश ते सब जग उपज्या, को बाभन को सूदा

आपके ज़माने का तो पता नहीं. उन दिनों तो राजतंत्र था. जनता की असली ताकत का अंदाज़ा नहीं था. आज तो साहब जाति के नाम पर दल बनाये गये हैं. जाति के सम्मेलन होते हैं. जाति की रैलियां निकलती हैं. हमने आजतक लोगों को यह नहीं भूलने दिया कि कौन बाभन है और कौन शूद्र है. जब भूलने लगते हैं हम उन्हें किसी न किसी बहाने याद दिला देते हैं. जातीय स्वाभिमान भी कोई चीज़ होती है कि नहीं.

उन दिनों मीडिया इतना जागरूक नहीं था. नहीं तो आपके ही इतने प्रोपेगेंडे होते कि आप साखी, रमैनी सब भूल जाते. 'आखिर क्या है कबीर की जाति', 'क्या है कबीर का धर्म', 'क्यों कबीर बेचते हैं केवल कम्बल?' आज रात सबसे बड़ा खुलासा- 'क्या वास्तव में कबीर नहीं हैं पढ़े-लिखे?', 'आखिर कौन लिखता है कबीर के बदले में', 'क्या कबीर किसी पार्टी से जुड़े हैं?' आज रात केवल प्रोपेगेंडा चैनल पर देखिए आजतक का सबसे बड़ा खुलासा- 'क्या कबीर राजनीति में जाना चाहते हैं? आखिर क्यों खड़े हैं कबीर बाज़ार में?' आज उठेगा इन रहस्यों पर से पर्दा सबकी अदालत में. देखते रहिए न्यूज चैनल. इतने खुलासे होते कि कबीर खुद ही कनफ्यूज़ हो जाते. दिन-रात लोगों से अपनी पहचान छुपाने की कोशिश करते रहते. धर्म और जाति पर प्रहार करने की हिम्मत ही नहीं पड़ती. उससे भी बचते तो सत्ताधारी दल वाले एक जांच कमीशन बिठा देते. जांच कमीशन जांच करता कि- 'कबीर की आय का साधन क्या है? क्या वास्तव में केवल कम्बल बेचकर ही कबीर का गुज़ारा हो रहा है? अभी तक कबीर ने कितने कम्बल बुने, उनसे कितनी आय प्राप्त हुई? क्या उन्होंने सही समय पर इनकम टैक्स रिटर्न भरा. यदि नहीं तो तत्सम्बंधी ब्यौरा क्या है? क्या कबीर के पास आय से अधिक सम्पत्ति है? कबीर की किताबों से कहीं देशद्रोह की आशंका तो नहीं है? कहीं माओवादियों से तो कबीर के तार नहीं जुड़े?'

इन सभी जांचों की रिपोर्ट सरकारात्मक ही आती. अर्थात सरकार जिस तरह चाहती, निकल आते रिपोर्ट के निष्कर्ष. उसके बाद पुलिस पीछे-पीछे कबीर आगे-आगे. शायद कबीर भागते नहीं. आदमी क्रांतिकारी थे इसलिए जेल में डालकर सरकार चैन की सांस लेती. धर्मध्वजवाहक यदि छोड़ भी देते तो सत्ता नहीं छोड़ती. समाज में भी कबीर को कोई चैन से रहने नहीं देता. उनके बच्चों की शादियां नहीं होती. एक जो पुत्र था कमाल,

वह भी कुंवारा रह जाता. भई जब जाति धर्म का ही पता नहीं तो कौन करेगा शादी? कौन ऐसे आदमी के घर में अपनी लड़की देगा जिसके पीछे पुलिस लगी हो. चलो आमदनी यदि चार अंकों में हो तो सारे अवगुण पचा भी लिये जाएं. लड़की के राज करने की सम्भावना हो तो जाति धर्म देखने की भी कोई खास ज़रूरत नहीं. पर साहब, न तो बाप कुछ करता है न बेटा. खुद जब कबीर ही कह रहे हैं कि-

बूड़ा वंश कबीर का, उपजा पूत कमाल

ऐसे में रिश्ता नहीं होता. सही में कबीर साहब का वंश बूड़ जाता. उन दिनों लोगों में इतनी अक्ल ही नहीं थी. एक आदमी मुसलमान और हिंदू दोनों को खरी-खोटी सुना रहा है और सारे लोग तमाशा देख रहे हैं. सही में समाज असभ्य और अनपढ़ था. आज देखिए, मजाल है किसी लेखक की कि धर्म और जाति के विरोध में कुछ लिख दे. कुछ बोल दे. सवर्ण के विपक्ष में जाएगा तो सवर्ण तलवार लेकर घर पर हमला कर देगा. दलित के विपक्ष में गया तो दलित बंदूक लेकर चढ़ जाएगा. हिंदू को कोई कुछ कहे तो एक से बढ़कर एक देशभक्त दल हैं जो आदमी से अधिक धर्म को प्रेम करते हैं. काटकर रख देंगे. यदि किसी ने इस्लाम को कह दिया तब तो तीनों लोकों में उसकी रक्षा करने वाला कोई नहीं. फतवे जारी होंगे.

कबीर तो थे ही उलटबांसी कहने वाले. उनकी तरह का उल्टा सीधा कहने वाले हो गये ग़ालिब. इतना बेलौस और बमुरव्वत दूसरा शायर तो नहीं दिखता जो रात को रात और दिन को दिन कहने की हिम्मत रखता हो. ये बात अलग है कि उस समय लोग बर्दाश्त कर गये, आज लाशें बिछ जातीं. किसी देश में जाते मिर्ज़ा ग़ालिब मगर चैन नहीं मिलता. अशआर कहना तो भूल ही जाते. जान बचाते घूमते. भारत हो या पाकिस्तान पूछ कर ही एंट्री लेनी पड़ती. मुशायरा तो भूल ही जाते. भला एक शायर जो शराब जमकर पीता हो. मज़हबी पाबंदियों को नहीं मानता हो. अपने ज़माने के हिसाब से मॉडर्न हो उसे किसी अदबी महफिल में जाने का कोई हक है? हमेशा मज़हब को लेकर आशंकित रहा हो उसे भला कैसे मज़हब के ठेकेदार रहने देते.

हद तो यह थी कि ग़ालिब जन्नत वगैरह की बातों पर यकीन भी नहीं करते थे. अपने एक शेर में तो कहते हैं कि जहां लाखों साल की हूरें हों उस जन्नत में कोई क्यों जायेगा.

जिसमें लाखों बरस की हूरें हो
उस जन्नत में क्या करे कोई.

यह तो सरासर नाफरमानी है. आप नहीं जाना चाहते मत जाएं. मगर जन्नत का मज़ाक तो मत उड़ाइए. इस स्वर्ग और नरक की कल्पना पर तो धर्म ज़िंदा है और आप उसी का मज़ाक उड़ाते हैं. आपको जन्नत की हकीकत मालूम है तो दूसरों को क्यों बताते हैं. बताने का काम आपका नहीं है. जिनका है चाहे वह जो मर्ज़ी बतायें. आप अपना दिल बहलाते रहिए. एक साहब ने उनसे कहा कि भई आप शराब पीते हैं आपकी दुआ कबूल नहीं होगी. उन्होंने कहा कि जब शराब मिल रही है तो फिर दूसरी दुआ किसलिए?

भला ऐसे आदमी को अदीब माना जा सकता है जो मज़हब को ही नहीं मानता. एक शेर देखिए, कहते हैं-

जब मैकदा छिना तो फिर अब क्या जगह की कैद
मस्जिद हो, मदरसा हो, कोई खानकाह हो.

लगता है उन दिनों इतने सतर्क मज़हब के रखवाले नहीं हुआ करते थे. मस्जिद या मदरसे में शराब पीने की बात करते हैं. आपकी गर्दन तो इसी बात पर उड़ा देनी चाहिए थी. मुल्ला की इजाज़त के बगैर आप शेर कह रहे हैं और उसमें शराब की वकालत. वकालत तक तो ठीक मगर मस्जिद और मदरसे की बात करना!!

ऐसा नहीं कि ग़ालिब खुदा नहीं रखते थे. नास्तिक तो नहीं थे. सवाल है कि आप खुदा रखते थे तो किस तरह? खुदा को रखने के भी तौर-तरीके हैं. उसकी बकायदा तालीम लेनी पड़ती है. सीधे-सीधे खुदा रखना हर आदमी शुरू कर दे तो उनका क्या होगा जो इसकी रोटियां सेंकते हैं. जो खुदा को रखने के तौर-तरीके सिखाते हैं. लगता है उन दिनों धर्म को वह इज़्ज़त हासिल नहीं थी जो आज है. कितने चौकन्ने लोग हैं. एक लेखक केवल इसलिए भारत नहीं आ सकता क्योंकि उसने वह लिखा जो उसके तर्कों के आधार पर सही लगा. भावनाएं आहत हो गयीं. परसाई लिखते हैं कि सबसे बड़ी शक्ति होती है नासमझी में. हम नहीं मानते कि आज से हज़ार साल पहले जो हुआ वह गलत हुआ. आप को वही मानना है जो हम मानते हैं. नहीं माने तो हम मना देने की ताकत भी रखते हैं. जो होता आ रहा है वही होता रहेगा. यदि किसी ने बदलने की कोशिश की तो झेले फतवा. एक चित्रकार विदेशों में ही मर गया केवल इसलिए कि उसने लोगों की भावनाओं को आहत किया था. तब शायद क्रियाशील और ज्वलनशील भावनाएं नहीं होती होंगी. ग़ालिब साहब की हिमाकत देखिए कि काबा तक को चुनौती पेश करते हैं. पता नहीं कैसे उन दिनों लोग सह गये-

बंदगी में भी वो आज़ाद या खुदबीं है कि हम
उलटे फिर आये दरे काबा अगर वा न हुआ.

काबा तक गये तो सही पर दरवाज़ा खुला नहीं था तो चले आये. देखिए साहब आप गये तो किसको बता के गये? किससे पूछ के गये? आप लौट आये. सो तो होना ही था. बंदगी करते रहिये. खुदा तो सुन ही लेगा मगर ये खुदा के बंदे न सुन लें. ज़रा सावधान रहिए. यह अंग्रेज़ों का ज़माना नहीं है कि कानून अपना काम करता है. लोकतंत्र है यहां कानून से पहले और उससे भी तेज़ी से काम करने वाले सीन में मौजूद हैं. बाद में कानून तो उसके हिसाब से भी बनता है ही.

सवाल यह नहीं कि ग़ालिब शराब पीते हैं. छुप के पियो कौन मना करता है, मगर इस तरह ऐलानियां पियोगे तो आने वाली नस्लों को क्या पयाम जाएगा? खालिस कौमें कहां से आयेंगी. एक शेर देखिए, कहते हैं कि नहीं पीते तो कलम ही नहीं चलती-

बे मय न कुनद दर कफे मन खायः रवाई
सर दस्ते-हवा आतिशे-बेदूद कुजाई

हाथ में दम बाकी नहीं है. प्याले उठते नहीं हैं. आंखों के सामने फिर भी शराब होनी ही चाहिए. इसे कहते हैं बच्चन जी के शब्दों

में- 'जो सच्चा पीने वाला है, उसकी ममता घट-प्यालों में, पर्दे के भीतर आप कुछ भी करें सब चलता है मगर आप कहकर नहीं कर सकते. आश्चर्य की बात तो यह कि उन दिनों लोग ग़ालिब को मुशायरों में जाने कैसे देते थे. उनपर तरह-तरह की पाबंदियां क्यों नहीं लगायी गयीं? इतनी सख्ती की जाती कि बंदे को देश छोड़कर ही भागना पड़ता. आदमी से बड़ी है कौम. जो कौम का नहीं कौल का नहीं, उसके रहने और न रहने से क्या फ़र्क पड़ता है. शुक्र है कि आज आदमी इतना पढ़-लिख गया है कि उसे यह सारी बातें समझ में आने लगीं हैं. आज मजाल नहीं कि कोई बेफिक्र और बेलौस लिखने वाला अदीब बिना इजाज़त के अंदर आ जाए. आ गया तो बाहर नहीं जाएगा.

बात पीने-पिलाने तक ही रहे तो चलो मुआफ किया जा सकता है मगर इस आदमी को तो कुफ्र खींचता रहता है. भला ऐसे आदमी को कैसे सहेंगे आप जो कहता है-

ईमां मुझे रोके है तो खींचे है मुझे कुफ्र
काबा मेरे पीछे है तो कलीसा मेरे आगे.

यदि समय पर इलाज हो गया होता तो यूं कुफ्र बार-बार नहीं खींचता. उस ज़माने में लोग, लगता है, इतने प्रगतिशील नहीं थे. दरअसल शिक्षा का इतना विकास तो हुआ नहीं था. हो सकता है तब के मुल्ला-मौलवी भी छोटी-छोटी दुनिआवी मसलों में उलझना न चाहते हों. यहां तो तलाक से लेकर हलाक तक पर फतवे जारी होते हैं. सच्ची चेतना तो अब जगी है. उस ज़माने में ग़ालिब कह गये अब कहकर देखें-

कहां मैखाने का दरवाज़ा ग़ालिब और कहां वाइज
बस इतना जानते हैं कल वो जाता था कि हम निकले.

वाइज के साथ इस तरह के मज़ाक कर के आज कोई देखे. चाहे वह ग़ालिब हों या तालिब. किसी की जान की खैर नहीं. मौलवी साहब अगरचे मैखाने की ओर गये भी होंगे तो वहां के लोगों को यह समझाने गये होंगे कि शराब बुरी बला है. तैरने के लिए तो पानी में उतरना ही पड़ता है. ग़ालिब को लिहाज तो करना ही चाहिए था. मान लिया आपने देखा भी, तो गम खा जाइए. बड़े लागों की गलती नासमझी होती है, छोटे लोगों की गलती गुनाह.

अंत में ग़ालिब का ही एक शेर जो बताता है कि वास्तव में खुदाबंद होने का क्या मतलब है. समर्पण का अर्थ प्रदर्शन नहीं है-

मुझको दयारे गैर में मारा वतन से दूर
रख ली मेरे खुदा ने मेरी बेकसी की लाज.

तो शुक्र मानिए कि ग़ालिब और कबीर आये और समय से अपना काम निपटा के चलते बने. नहीं तो बेचारों की बड़ी फजीहत हो जाती. बाल-बच्चों वाले दोनों ही थे. मर मरा जाते तो घरवाले कहां जाते. उन दिनों लोगों के अंदर नासमझी तो थी लेकिन इतनी भी नहीं कि किसी को अपने हिसाब से हांकने की कोशिश की जाए. उस समय तो लोग यह मानते थे कि जो सारे जहां की इज़्ज़त बचाता है, जान की हिफाज़त करता है, जो सबका मालिक है, उसकी हिफाज़त करने की बात करके हम उसकी बेइज़्ज़ती कर रहे हैं. हम खुदा के बंदे हैं, खुदा नहीं. ❑

लघुकथा

जागरण

• दुर्गाशंकर राय

एक राष्ट्रीयकृत बैंक में नौकरी करते सोलह वर्ष बीत चुके थे. अपने अक्खड़ स्वभाव के चलते मैं कहीं भी ज़्यादा समय एक जगह टिक नहीं पाया था. एक बार मेरा स्थानांतरण एक सुदूरवर्ती पिछड़े गांव में हुआ. साधन-संचारहीन उस गांव ने मुझे चिड़चिड़ा बना दिया था. काउंटर पर ग्रामीणों से मेरी मौखिक मुठभेड़ आये दिन का हिस्सा होती थी. उनके प्रश्नों का उत्तर मैं प्रश्न-शैली में ही देता और वो बेचारे निरुत्तर.

मुझे याद है अप्रैल महीने का वह दिन. बैंक के ऑडिटर आने वाले थे. रामनवमी की छुट्टी से पहले का आखिरी दिन था. बैंक में ग्रामीणों की भीड़ उमड़ी थी. रोकड़ काउंटर मैं सम्भाल रहा था. एक ही लम्बी लाइन में लेन-देन वाले तकरीबन पचास की संख्या में खड़े थे. संतोष... जरा जल्दी करना. बैंक मैनेजर की आवाज़ आयी, तो मैंने उस दिशा में घड़ी देखते हुए एक मरियल मुस्कान उछाली. घड़ी दो बजकर दस मिनट दरशा रही थी. लाइन में लगा एक व्यक्ति खिड़की तक पहुंचा और अपना काम निपटाकर पुनः खिड़की के पास लाइन के बगल में खड़ा होकर 'ऐ साहेब, ऐ साहेब' चिल्लाने लगा. मैंने उसे बुरी तरह घुड़क दिया उसकी पूरी बात सुने बगैर और लाइन में खड़े लोगों ने धक्का-मुक्की कर के उसे सबसे पीछे पहुंचा दिया. मैं भुनभुना रहा था- ''जाने कैसे-कैसे अनपढ़, गंवार आ जाते हैं सिर खाने... मूर्ख कहीं का...''

काम निपटाते साढ़े तीन बज गये. उफ! मैंने गहरी सांस ली, तभी अंतिम व्यक्ति के रूप में वही व्यक्ति बनियान पहने कंधे पर अंगौछा लिये खिड़की के पास प्रकट हुआ. ''साहेब आपने गलती से मुझे एक हज़ार की जगह दस हज़ार रुपये दे दिये हैं साहेब...मैंने वही आपसे कहना चाहा था...'' लेकिन मैं अवाक, स्तब्ध. अठारह सौ रुपये माहवार पाने वाले मुझ जैसे ज़िद्दी, जड़ व्यक्ति के सामने वो गंवार मेरे लिए ईश्वर बना हुआ हंस रहा था और मैं उसके सामने अकिंचन. मेरी दोनों आंखों से आंसू झर रहे थे. मेरी अकड़ आंखों के रास्ते लगातार कोरों को भिगो रही थी. उस व्यक्ति के पासबुक पर और मेरे डेबिट रजिस्टर दोनों जगह एक हज़ार रुपये ही दर्ज थे. गलती से नौ हज़ार रुपये अधिक दे दिये थे मैंने. उस गंवार की ईमानदारी ने मेरी गलत सोच को एक नयी दिशा दी, एक नया अर्थ दिया और उसी दिन एक समग्र व्यक्ति के रूप में मेरा जागरण हुआ.

इसके अलावा और लिख भी क्या सकता हूं?

● मो यान

चीनी भाषा में 'मो यान' का मतलब होता है, चुप रहो. इस बार के साहित्य के नोबेल पुरस्कार विजेता ने यह नाम अपने लिए इसीलिए चुना था कि बचपन से ही उन्हें बहुत बोलने की आदत थी और मां यह देखकर परेशान थी कि बेटा इतना क्यों बोलता है, कहीं कुछ है तो नहीं इसे. पर आज वे स्वर्ग में यह देखकर खुश होंगी कि उनका बातूनी बेटा दुनिया के सर्वश्रेष्ठ साहित्यकारों में गिना जा रहा है. 1955 में एक गरीब किसान परिवार में जन्मे मो यान ने अपने लेखन से दुनिया को चौंकाया भी है और प्रभावित भी किया है. प्रस्तुत है, उनके आत्मकथ्य का एक रोचक और सारगर्भित अंश.

बिना कारण कोई लेखक नहीं बनता. हर एक के पास अपने कारण होते हैं लेखक बनने के. मेरे भी हैं. पर मैं हैमिंग्वे या फॉकनर नहीं हूं. और मैं जो हूं, यानी जिस तरह का लेखक हूं, उसका रिश्ता मेरे बचपन से है. मेरे बचपन के कुछ अनुभव थे जो मुझे वरदान की तरह लगते हैं.

साठ का दशक चीन के इतिहास का एक अजीब-सा कालखंड था. एक जुनून-सा था चीन की हवाओं में तब. यह वह दौर था जब एक आर्थिक ठहराव-सा आ गया था. खस्ताहाल ज़िंदगी जी रहे थे चीन के लोग. भुखमरी, गरीबी और मौत से जूझ रहा था सारा चीन. दूसरी तरफ़ एक गहरे राजनीतिक उछाह का वक्त भी था वह. एक तरफ़ भूख थी और दूसरी तरफ़ कम्युनिस्ट पार्टी में विश्वास का एक भाव था- कमर कसकर हम पार्टी के उस प्रयोग को सफल बनाने में लगे हुए थे. भूख और गरीबी के बावजूद हम स्वयं को दुनिया के सबसे सौभाग्यशाली लोगों में मानते थे. हम यह जानते थे कि दुनिया के दो-तिहाई लोग गरीबी की रेखा के नीचे की बदहाली जी रहे हैं और हम चीन वाले ही उन्हें इस बदहाली से उबारेंगे, दुखों के महासागर से पार लगायेंगे. 1980 के बाद एक बदलाव आया. चीन ने बाहर की दुनिया के लिए

अपने दरवाज़े खोले. तब जिस हक़ीकत से हमारा सामना हुआ वह नींद से जगाने वाला एक अनुभव था. लगा, जैसे हमारी आंखें खुल गयी हैं.

मो यान : मानवीय भावनाओं का रचनाकार

खैर, पहले मेरे बचपन की बात. तब पांच-छह साल की मेरी उम्र के बच्चे गर्मियों में और पतझड़ में नंगे ही घूमा करते थे. जो फटे-पुराने कपड़े हम तब पहनते थे, उसकी कल्पना तो आज के चीनी बच्चे कर ही नहीं सकते. बस सर्दियों में हमें टाटनुमा कोई चीज़ ओढ़ने के लिए मिल जाती थी. मेरी दादी कहा करती थी कि दुनिया के हर दुख को झेला जा सकता है, पर ढेरों सुख ऐसे हैं जिन्हें हम जैसे इंसान कभी भोग नहीं पायेंगे. दादी की इस बात से मैं सहमत हूं और यह भी मानता हूं कि डार्विन ने 'सरवाइवल ऑफ फिटेस्ट' वाली बात सही कही थी. वे मर जाते हैं जो स्वयं को स्थितियों के अनुसार ढाल नहीं सकते और मेरा मानना है कि जो बच जाते हैं, वे किसी खास मिट्टी के बने होते हैं. मैं भी शायद, किसी खास मिट्टी का बना हूं. बर्दाश्त करने की एक अजीब-सी ताकत थी हममें उन दिनों.

उन दिनों एक ही बात हमारे दिमागों में रहती थी- खाने की कोई चीज़ कैसे जुगाड़ी जाए. जैसे भूखे बच्चे टोह में लगे रहते हैं न, वैसे ही हम बच्चे भी गलियों में खाना सूंघते फिरते थे. कुछ भी खा लेते थे हम. पेड़ों की पत्तियां हमारा स्वादिष्ट भोजन था. पेड़ों की छाल, तना कुछ भी न छोड़ते थे हम. दांत हमारा हथियार थे. इतने पैने हो गये थे कि सबकुछ चबा सकते थे. छुरियों की तरह पैने. बचपन का मेरा एक दोस्त बड़ा होकर बिजली का कारीगर बन गया था. वह पलास या कैंची जैसी कोई चीज़ अपने औज़ारों के थैले में नहीं रखता था. पेंसिल जितने मोटे तार को भी वह दांतों से ही छील लेता था. मेरे भी दांत मजबूत तो थे, पर उसके जैसे नहीं. वरना, क्या पता एक लेखक के बजाय मैं एक इलेक्ट्रीशियन ही होता अपने दोस्त की तरह.

1961 की गर्मियों में हमारे स्कूल में कहीं से कोयला आया था. हम जानते ही नहीं थे कि वह है क्या. एक बच्चे ने एक कोयला उठाकर चबाना शुरू कर दिया. उसका चेहरा देखकर लग रहा था, जैसे कोई लजीज़ चीज़ खा रहा हो. हम सबने भी कोयले उठाकर चबाना शुरू कर दिया. ज्यों-ज्यों उसे चबाते, स्वाद बेहतर होता जाता. गांव वालों ने जब यह देखा कि हम

मज़े ले-लेकर कुछ खा रहे हैं तो वे भी आ गये. वे भी कोयले खाने लगे. स्कूल के मुख्याध्यापक ने हमें रोकने की कोशिश की, पर उसकी कौन सुनता! धक्कामुक्की और भगदड़ का शिकार हो गये वे. पेट में पहुंचने के बाद कोयलों का क्या हुआ, मुझे नहीं पता, पर उस दावत का स्वाद मैं कभी भूल नहीं सकता.

वह अकाल दो-तीन साल रहा था. सातवें दशक के मध्य तक आते-आते हालात में सुधार आ गया. हर व्यक्ति को साल में सौ किलो अनाज मिलने लगा था. पर्याप्त तो नहीं था यह, पर खेतों से बटोरी गयी साग-सब्जी के साथ काम चल ही जाता था. अकाल में मरने वालों की संख्या भी धीरे-धीरे कम हो रही थी.

ज़ाहिर है, भूख से कोई लेखक नहीं बनता. पर भूख और गरीबी ने मुझे जीवन को दूसरों की तुलना में, कहीं अधिक गहराई से समझने का अवसर दिया. अकाल और भुखमरी के उस दौर में मैंने ज़िंदगी में खाने के महत्त्व को समझा था. जब पेट खाली होता है तो न यश कुछ माने रखता है, न सामाजिक सरोकार, न व्यापार, न प्रेम. भूख के कारण मैंने अपना आत्मसम्मान खोया था, भूख ने ही मुझे गली के कुत्ते की तरह अपमानित होने की स्थिति में ला दिया था और इसी भूख ने मुझमें प्रतिरोध की भावना जगाकर रचनात्मक लेखन का रास्ता दिखाया था.

लेखक बनने के बाद जब भी स्वादिष्ट व्यंजनों से सजी मेज़ देखता हूं तो मेरी आंखों के सामने मेरी भूखी ज़िंदगी आ जाती है. तभी मुझे अपने अकेलेपन की याद भी आती है. उत्तर-पूर्व के गओमी जिले में मेरा जन्म हुआ था. वहां तीन देशों की सीमाएं मिलती हैं. काफ़ी फैला हुआ बीहड़ इलाका है यह. जितनी वहां की आबादी कम है, उतना ही यातायात भी कम है वहां. मेरे गांव में सब तरफ़ जंगली फूलों और घास से ढकी ज़मीन दिखाई देती है. स्कूल तो मैं गया था, पर बहुत जल्दी स्कूल से निकाल भी लिया गया था. मेरी उम्र के बच्चे जब स्कूल में पढ़ते थे, मैं जानवर चराया करता था. ये जानवर ही मेरे दोस्त बन गये. मैं इंसानों से ज़्यादा इन जानवरों को समझने लगा था. उनकी खुशी, उनकी गली, उनका गुस्सा, उनकी तृप्ति, सब, उन्हें देखकर समझ जाता था मैं. गांव के आस-पास के लम्बे-चौड़े मैदानों में मेरे और उन मवेशियों के अलावा और कोई नहीं हुआ करता था. वे जानवर चुपचाप चरते रहते थे. उनकी आंखों में मुझे नीला समंदर दिखता था. मेरा मन करता था उनसे बात करूं, मैं कोशिश भी करता था. पर वे चरने में मस्त रहते थे. मुझे सुनते तो क्या, मेरी तरफ़ देखते भी नहीं थे. तब मैं मैदान में लेट जाता था. आकाश देखा करता था. नीले आकाश में धीरे-धीरे सरकते बड़े-बड़े बादल. मुझे वे मोटे-मोटे पहलवान लगते थे. सुस्त पहलवान. मैं उनसे भी बात करने की कोशिश करता था, पर जानवरों की तरह वे भी मेरी उपेक्षा कर देते थे. बादलों के अलावा तरह-तरह

के पक्षी भी देखा करता था मैं आकाश में. तरह-तरह की आवाज़ें निकालते थे वे. बहुत कारुणिक लगती थीं मुझे वे आवाज़ें. कभी-कभी तो मेरी आंखों में आंसू आ जाते थे वे आवाज़ें सुनकर. पक्षियों के पास मुझसे बात करने का समय नहीं था. घास पर चुपचाप, उदास लेटा मैं कल्पनाओं की लम्बी उड़ानों पर चला जाया करता था. अजीब-अजीब खयाल आते थे तब मुझे. उन खयालों ने मुझे बहुत कुछ दिया. मुझे प्यार और आत्मसम्मान को समझने की समझ भी दी.

उन दिनों मैं अपने आप से बातें भी करने लगा था. अपने आप को अभिव्यक्त करने के नये-नये रास्ते खोज लिये थे मैंने. तब मैं बोलना शुरू करता तो बोलता ही जाता. एकबार मेरी मां ने मुझे पेड़ से बात करते हुए देख लिया. उन्हें लगा मुझे कुछ हो गया है. घबरा गयीं वे.

बचपन की यह आदत बड़े होने पर भी मेरे साथ रही. घरवाले मेरी इस आदत से परेशान रहते थे. मेरी मां मिन्नतें करती, "बेटा, तू कुछ देर के लिए चुप नहीं रह सकता? उनके चेहरे के भाव देखकर मेरी आंखों में आंसू आ जाते. मैं उनसे चुप रहने का वादा करता. पर वादा पूरा नहीं कर पाता था- जब भी मेरे आस-पास कुछ लोग इकट्ठा होते, मैं शुरू हो जाता. जैसे चूहे बिलों से निकलकर भागते हैं, वैसे ही मेरे भीतर जमा शब्द निकलने लगते थे.

मेरे साहित्यिक नाम, मो यान के पीछे भी यही कहानी है. चीनी भाषा में मो यान का मतलब होता है 'बोलो मत'. मेरी मां कहा करती थी कुत्ता गंदगी से और भेड़िया मांस खाने से बाज़ नहीं आ सकता. मेरे साथ भी कुछ ऐसा ही था, मैं बोलने से बाज़ नहीं आ सकता था. मेरी इस आदत के कारण मैंने बहुत से दोस्त खोये हैं. मेरे बहुत से लेखक साथी मुझसे इसलिए नाराज़ हो जाते हैं कि मैं सच बोलने से बाज़ नहीं आता. हां, अब जब मैं अधेड़ हो गया हूं, मुझे लग रहा है, मेरे मुंह से निकलने वाले शब्दों का प्रवाह कुछ धीमा होता जा रहा है. आशा है, अब ऊपर से मुझे देखती मेरी मां की आत्मा को ज़रूर शांति मिल रही होगी.

मैंने जो कुछ लिखा है, उसमें बहुत कुछ ऐसा है जो मेरी निम्नवर्गीय पृष्ठभूमि की वजह से लिखा गया. बहुत कुछ उसमें सामान्य और अनगढ़ है. मेरे लेखन में नफ़ासत और सौंदर्यबोध का अभाव लोगों को निराश कर सकता है. पर मैं उनकी कोई मदद नहीं कर सकता. लेखक वही अच्छी तरह लिख सकता है, जिसे वह अच्छी तरह जानता है. भूख और अकेलेपन के बीच मैं पला हूं. यातना और अन्याय को अपने चारों तरफ़ नाचते देखा है. इसीलिए मेरे लेखन में मानवीय भावनाओं के प्रति ममत्व है. मनुष्य के प्रति सहानुभूति है और है असमानता के कांटों में जी रहे समाज के प्रति विद्रोह. यह मेरे लेखन का मूल स्वर है. इसके अलावा मैं और लिख भी क्या सकता हूं?

❑

दो कविताएं

● हूबनाथ

मुखौटा

एक
काम करो
चेहरे को
दोनों हाथों से
उतार लो
जैसे उतारते हैं छिलका
केले पर से
फिर उसे
दोनों हाथों से
ज़ोर से झटको
दो बार
जैसे झटकते हैं
निचुड़े हुए कॉटन के कपड़े
चुटकियों से पकड़
सीधी कर दो

भौंहों के बीच की सलवटें
नथुनों के अगल-बगल
एक लम्बी सिलवट
चली गयी है
होठों के दोनों कोरों तक
उन्हें भी
खींचकर सीधा कर दो
गालों के बीच
जो प्यारे से गड्ढे हैं
उनमें अंगूठा डालकर
थोड़ा और गहरा कर दो
जैसे आटे की लोई
बनाने के बाद दबा देते हैं
बीच में हौले से
बस
अब सावधानी से पहन लो इसे
ध्यान रहे
एक भी सिलवट न रहे बाकी
वरना
लोग जान जाते हैं
भीतर की उथल-पुथल
और
मुस्कुराते हैं
धीमे-धीमे.
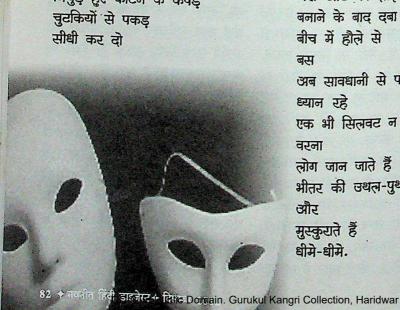
सुनो !

पड़ोसी का घर जलाने के लिए
जो आग तुमने छुपा रखी है
अपनी जेब में
वो पड़ोसी का घर जब जलायेगी तब
अभी तो तुम्हारी जेब जल रही है
सीना भी झुलस रहा है
और अपने झोले में
पत्थर, कांटे, शीशे की किर्चियां
लिये कहां घूम रहे हो
किसी की राह में
जब छींटोगे तब
अभी तो तुम्हीं ढोये जा रहे हो

अभी-अभी जो गाली दी तुमने
उसके कुछ रेशे
फंसे रह गये हैं तुम्हारे दांतों के बीच

सुनो!
गाली देने के बाद तुरंत
दांत साफ़ कर लिया करो
दांतों में फंसे रेशे
बहुत जल्दी सड़ जाते हैं
मुझे बताओ
क्या खुद तुम्हारी परेशानियों का बोझ
कम था
जो दूसरों की
नफ़रत और ईर्ष्या की
गंदी टोकरी का बोझा
लिए घूम रहे हो
कहीं पटक क्यों नहीं देते
जिसे दुश्मन समझे हो
वो तो मज़े में निर्द्वंद्व घूम रहा है
सांड की तरह
तुम कोल्हू के बैल की तरह
दुनियाभर की अच्छाइयों की ओर
आंखों में पट्टी बांधे
अपनी ही कुंठा के
चक्कर लगा रहे हो
कितना अजीब है ना
कि जब दुनिया
फूलों की तरह खिलखिला रही है
चिड़ियों की तरह चहचहा रही है
फसलों की तरह लहलहा रही है
तुम झुलसी हुई जेब से सीना बचाते
कांटों का थैला
कभी इस कंधे
कभी उस कंधे
लेते डरते हो कि कहीं
सिर का टोकरा गिर न पड़े
जबकि ये सब
तुम्हारी मज़बूरी नहीं
सिर्फ़ बेवकूफ़ी है
और सुनो
इस महफिल में सभी लोग
तुम्हारी बेवकूफ़ियों पर हंस रहे हैं
वो भी
जिसे तुम हमेशा
रोता देखना चाहते हो.

महाभारत जारी है...

विदेशनीति...

● प्रभाकर श्रोत्रिय

यह बहुआयामी कहानी विदेशनीति, अंतर्कलह, मानवीय सम्बंध, लोक-व्यवहार, राजधर्म, काल, कर्म, भाग्य जैसे अनेक राजनैतिक, नैतिक पक्षों पर सारगर्भित रोशनी डालती है.

भीष्म पितामह जब शरशय्या पर सोये थे, युधिष्ठिर उनसे राजनीति का उपदेश लेने गये. राज-धर्म और नीति की चर्चा करते हुए एक बार भीष्म ने शत्रु पर यहां तक कि किसी पर भी विश्वास न करने का परामर्श दिया, तो युधिष्ठिर ने पूछा "पितामह, इस तरह राज्य-व्यवहार कैसे चल सकेगा?'' तब भीष्म ने अपने कथन की पुष्टि में राजा ब्रह्मदत्त और पूजनी चिड़िया के बीच हुए वार्तालाप की कथा कही-

कापिल्य नगरी में एक समय ब्रह्मदत्त नाम का राजा राज्य करता था. उसके घर में पूजनी नामक एक चिड़िया रहती थी. एक दिन उसने रनिवास में बच्चा दिया. उसी दिन रानी ने भी एक बालक को जन्म दिया. कृतज्ञ चिड़िया प्रतिदिन समुद्र तट पर जाती और दो अत्यंत मधुर और पौष्टिक फल लाती. एक फल वह राजा के नवजात शिशु को देती और एक अपने बच्चे को. एक दिन जब पूजनी गयी हुई थी, तब दासी के साथ खेलता बालक पूजनी के बच्चे को खिलाने लगा और एकांत में ले जाकर उसे मार डाला और फिर दासी की गोद में आ बैठा.

जब पूजनी लौटी तो उसने अपने बच्चे को मरा हुआ पाया. उसे ज्ञात हुआ कि राजा के बच्चे ने उसे मार डाला है, तब वह अत्यंत दुखी हुई. उसे राजा के बच्चे पर बड़ा क्रोध आया. उसने उसकी आंखें फोड़ दीं.

राजा बहुत क्रुद्ध हुआ, परंतु अपने बच्चे का अपराध जानने के बाद उसने क्रोध त्याग दिया और कहा- "पूजनी हमने तेरा अपराध किया है, अब तूने भी उसका बदला ले लिया है. हम दोनों का कर्म समान हो गया. इसलिए तू यहीं रह, कहीं न जा.''

पूजनी ने कहा- "राजन्! एक बार किसी का अपराध कर कोई वहीं आश्रय लेकर रहे तो उसे बुद्धिमान नहीं सराहते. जब कोई वैर में बंध जाए तो उसकी चिकनी-चुपड़ी बातों पर भरोसा नहीं करना चाहिए. यह

वैर-भाव पुत्रों-पौत्रों तक चलता है. विश्वासपात्र का भी अधिक विश्वास नहीं करना चाहिए और विश्वासघाती का तो कतई नहीं.

आपस में वैर हो जाए तब संधि करना ठीक नहीं. अपना किया कर्म ही दुर्बल प्राणी को डराया करता है. इसलिए मैं जाऊंगी.''

ब्रह्मदत्त- ''अपराध के बदले कोई अपराध करे तो वह अपराध नहीं माना जाता. उल्टे पहला अपराध भी ऋण-मुक्त हो जाता है इसलिए तू यहीं रह.''

पूजनी-''अपकार करने वाले का अपकार करने पर दोनों में मेल असम्भव है.''

ब्रह्मदत्त- ''पूजनी बदला ले लेने पर तो क्रोध शांत हो जाता है. इसलिए मेल हो सकता है.''

पूजनी- ''राजा, इस प्रकार भी वैर शांत नहीं हो सकता. शस्त्र से नहीं तो वाणी से अपकारी को बंदी बना लिया जाता है. जैसे हाथियों की सहायता से हाथी पकड़े जाते हैं.''

ब्रह्मदत्त- ''प्राणों को नाश करने वाले भी साथ-साथ रहते हैं तो प्रेम हो ही जाता है. जैसे चांडाल के साथ रहने से कुत्ते को भी उससे स्नेह हो जाता है.''

पूजनी- ''राजन्, वैर पांच करणों से होता है- स्त्री के लिए, धन के लिए, कठोर वाणी के कारण, जातिगत द्वेष से और किसी अपराध के कारण.

फिर भी यदि व्यक्ति परोपकारी हो तो उसका किसी भी कारण से वध नहीं करना चाहिए. परंतु जिससे वैर हो जाता है, वह मनुष्य में, लकड़ी में छुपी आग के समान, भीतर बना रहता है. क्या कभी बड़वानल समुद्र में भी शांत हो पाता है? यही स्थिति क्रोध की है. इसलिए मैं आपका विश्वास नहीं कर सकती.''

ब्रह्मदत्त- ''पूजनी, कोई कुछ नहीं करता, जो कुछ करता है, काल करता है. कौन किसका अपराध करता है! तू यहां निश्चिंत रह, मैं तेरी कभी भी हिंसा नहीं करूंगा.''

पूजनी- ''यदि काल ही सब करता है तो किसी से वैर होना ही नहीं चाहिए. फिर भी बंधु-बांधवों पर किये अत्याचार का बदला क्यों लिया जाता है? देवता और असुर युद्ध में एक दूसरे का वध क्यों करते हैं? वैद्य रोगियों की दवा क्यों करते हैं? शोक में व्यक्ति हाहाकार क्यों करता है? कर्म करने वालों के लिए विधि-निषेध के सिद्धांत क्यों हैं.

यदि कालः प्रमाणं ते न वैरं कस्यचिद् भवेत्।
कस्मात् त्वपचितिं यान्ति बान्धवा बांधवैर्हत।।
139/54

कस्मात् देवासुराः पूर्वमन्योन्यभिजन्घिरे।
यदि कालेन निर्याणं सुखं दुःखं भवाभवौ।।139/55
भिषजो भैषजं कर्तुं कस्मादिच्छन्ति रोगिणः।
यदि कालेन पच्यन्ते भैषजैः किं प्रयोजनम्।।139/56
प्रलापः सुमहान् कस्मात् क्रियते शोकमूर्च्छितैः।
यदि कालः प्रमाणं ते कस्माद् धर्मोऽस्ति कर्तृषु।।
139/57

''यदि मैं शोक संतप्त होकर आपके बेटे के प्रति पाप कर बैठी तो वैसा आप क्यों नहीं कर सकते? मनुष्य खाने और खेलने के लिए ही पक्षियों की कामना करता है.''

"वध करने या बंधन में डालने के सिवा तीसरे प्रकार का कोई सम्बंध पक्षियों के साथ नहीं देखा जाता. राजन्! सबको अपने प्राण प्यारे होते हैं, पुत्र प्यारे होते हैं. सभी दुख से उद्विग्न होते हैं. सभी सुख चाहते हैं. इनकी हानि की प्रतिक्रिया होती है. पुत्र को याद करते हुए आपका वैर हरा होता रहेगा. वैर की अग्नि एक पक्ष को दग्ध किये बिना नहीं बुझती:

न हि वैराग्निरुद्भूतः कर्म चाप्यपराधजम्।
शाम्यत्यदग्ध्वा नृपते विना ह्येकतरक्षयात्।।
139/46

"मरणांत वैर हो जाने पर प्रेम असम्भव है. ठीक वैसे ही जैसे पानी से भरा मिट्टी का घड़ा फूट जाने पर फिर नहीं जुड़ता. विश्वास दुख देने वाला है. दुख को याद दिलाने वाले लोग बने रहते हैं. नरेश्वर! दुष्ट प्रवृत्ति के लोग ऊपर से मधुर वचन बोलते हैं, लेकिन मौका पाते ही पीस डालते हैं, जैसे कोई पानी के घड़े को पटककर चूर कर देता है."

ब्रह्मदत्त- "अविश्वास करने से तो मनुष्य संसार में अपना अभीष्ट नहीं पा सकता, न कार्य के लिए चेष्टा ही करता है. अगर आपके मन में किसी पक्ष से भय बना रहे तो मनुष्य मृतक तुल्य हो जाएगा."

पूजनी- "दोनों पैरों में घाव होने पर कोई कितनी ही सावधानी से चलता रहे तो भी उसके पैरों में पुनः घाव लग ही जाता है:

यस्येह व्रणिनौ पादौ पद्भ्यां च परिसर्पति।
खन्येते तस्य तौ पादौ सुगुप्तमिह धावतः।।13।76

"जो अपनी शक्ति को न समझकर दुर्गम मार्ग पर चलने लगता है, उसका सर्वनाश हो जाता है. दैव (भाग्य) और पुरुषार्थ दोनों एक-दूसरे के सहारे रहते हैं, परंतु उदारचेता लोग सदा शुभकार्य करते हैं और नपुंसक दैव का भरोसा करते हैं.

जो कर्म छोड़ देता है, सदा निर्धन रहकर अनर्थ का शिकार बना रहता है. अतः काल, दैव, स्वभाव आदि का सहारा छोड़कर सदा पराक्रम ही करना चाहिए:

दैवं पुरुषकारश्च् स्थितावन्योन्यसंश्रयात्।
खन्येते तस्य तौ पादौ सुगुप्तमिह धावतः।।139/82
तस्मात् सर्वं व्यपोह्यर्थं कार्यएवपराक्रमः।
सर्वस्वमपि संत्यज्य कार्यमात्महितं नरैः।।139/84

"विद्या, शूरवीरता, दक्षता बल और धैर्य ही मनुष्य के स्वाभाविक मित्र हैं. अपना जन्म स्थान भी यदि रोग और दुर्भिक्ष से ग्रस्त हो तो आत्मरक्षा के लिए वहां से चले जाना चाहिए. राजन्! बलवान के साथ युद्ध छेड़ना भी अच्छा नहीं माना जाता, जिसने बलवान के साथ झगड़ा मोल ले लिया, उसके लिए कहां राज्य और कहां सुखः

बलिना विग्रहो राजन् न कदाचित् प्रशस्यते।
बलिना विग्रहो यस्य कुतो राज्यं कुतः सुखम्।।
139/111

यह कहकर पूजनी चिड़िया विदा ले इच्छित दिशा की ओर उड़ गयी.

❑

झारखंड का राज्यवृक्ष साल

• डॉ. परशुराम शुक्ल

साल 'डिप्टेरोपेंसी' परिवार का वृक्ष है. इसका वैज्ञानिक नाम 'शोरिया रोबस्टा' है. अंग्रेज़ी में इसे 'साल ट्री' कहते हैं. इसे भारत के अलग-अलग भागों में अलग-अलग नामों से जाना जाता है. साल को संस्कृत, बाङ्ला, गुजराती और मराठी में 'शाल वृक्ष' तथा तमिल में 'कुंगिलियम' कहते हैं. हिंदी भाषी क्षेत्रों में साल के अनेक देशी नाम भी हैं. इनमें 'साखू', 'सखुआ', 'साल्वा', 'साखेर', 'सकवा', कंदार आदि नाम प्रमुख हैं.

यह वृक्ष हिमालय के तराई वाले भागों में और बाहरी पर्वत श्रेणियों पर 200 मीटर से लेकर 1200 मीटर तक की ऊंचाई पर देखा जा सकता है. यह भारत के साथ ही नेपाल और म्यामार (बर्मा) में भी पाया जाता है. भारत में यह असम, बंगाल, हरियाणा, पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश और दक्षिण भारत के कुछ भागों में पाया जाता है. उत्तर भारत में पंजाब में अम्बाला के कलेसर के जंगलों से किनारे-किनारे पूर्व में असम तक साल के विशाल जंगल हैं. हरियाणा में मोरनी पर्वतों पर और कलेसर के जंगलों में साल के घने वृक्ष हैं. इसके साथ ही भारत में शिवालिक के तराई वाले भागों में भी साल के वृक्ष पाये जाते हैं. बिहार के सिंहभूमि क्षेत्र में और उत्तरांचल की घाटी में साल के बहुत घने जंगल देखे जा सकते हैं. यहां ये प्राकृतिक रूप से उत्पन्न और विकसित होते हैं तथा इनकी देखभाल करने की आवश्यकता नहीं पड़ती. छोटा नागपुर जिले की सिंहभूमि का और नेपाल का साल सबसे अच्छा माना जाता है. नेपाल में साल के बहुत घने जंगल हैं. साल के वृक्ष स्वतः तो सरलता से उत्पन्न हो जाते हैं, किंतु इन्हें सप्रयास लगाना बड़ा कठिन कार्य है. यह शोध का विषय है. इस

सम्बंध में नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ फॉरेस्ट्री एंड एनवारोनमेंट, देहरादून में कुछ काम चल रहा है.

साल के जंगल अन्य जंगलों से कुछ भिन्न होते हैं. साल के वनों में अधिकांश वृक्ष साल के ही होते हैं. इसका प्रमुख कारण यह है कि साल स्वतः फैलने वाली प्रजाति का वृक्ष है. यह नमी वाली बालुई मिट्टी में अच्छे ढंग से विकसित होता है और धीमी अथवा मध्यम गति से बड़ा होता है तथा अनुकूल परिस्थितियों में लगभग 1000 वर्षों तक जीवित रहता है.

इस शानदार ऊंचे वृक्ष का तना सीधा, मज़बूत और बेलनाकार होता है. इसकी लम्बाई लगभग 35 मीटर होती है और परिधि 2 मीटर से 2.5 मीटर तक हो सकती है. इसके नये और छोटे वृक्षों के तने की छाल चिकनी होती है और इसके कुछ भागों पर लम्बी-लम्बी दरारें होती हैं. इसकी छाल 2 सेंटीमीटर से लेकर 5 सेंटीमीटर तक मोटी होती है और इसका रंग कालापन लिये हुए गहरा कत्थई होता है. साल के पूर्ण विकसित और पुराने वृक्ष के तने की छाल मोटी, खुरदरी, अधिक दरारों वाली और कटी-फटी होती है. इसका रंग भी अधिक गहरा होता है. साल वृक्ष के काफ़ी उठने के बाद इसके तने पर शाखाएं और उपशाखाएं निकलती हैं. यह वृक्ष घना नहीं होता अतः साल के जंगलों में दिन भर प्रकाश रहता है और खुले मैदानों के समान ज़मीन पर धूप आती है.

वृक्ष की शाखाओं और उपशाखाओं पर काफ़ी ऊंचाई पर पत्तियां लगती हैं. साल वृक्ष को पर्णपाती और सदाबहार के मध्य का वृक्ष माना गया है, क्योंकि साल के वृक्ष पर हमेशा पत्तियां रहती हैं. ऐसा बहुत कम ही होता है कि साल के वृक्ष पर पत्तियां न हों किंतु कुछ शुष्क स्थानों पर इसकी लगभग सभी पत्तियां गिर जाती हैं. इसकी पुरानी पत्तियां मार्च में गिर जाती हैं और इसी महीने में नयी पत्तियां निकल आती हैं. स्थान और मौसम के अनुसार इसमें थोड़ा बहुत परिवर्तन भी हो सकता है. यही कारण है कि साल के वृक्ष पर अप्रैल मई तक नयी पत्तियां निकलती रहती हैं. कुछ स्थानों पर तो इसमें पूरी बरसात नयी पत्तियां आती रहती हैं.

साल की पत्तियां 10 सेंटीमीटर से 30 सेंटीमीटर तक लम्बी और 5 सेंटीमीटर से 15 सेंटीमीटर तक चौड़ी होती है. ये एकांतर क्रम में होती हैं तथा आधार की ओर ह्रदयाकार अथवा गोलाकार होती हैं. साल की पत्ती मोटी, मज़बूत एवं चर्मिल होती है तथा इसका सिरे वाला भाग लम्बा होता है. साल की पत्तियां एक ओर चिकनी और चमकदार होती हैं तथा दूसरी ओर खुरदरी होती हैं. ये एक बेलनाकार डंठल द्वारा शाखा से जुड़ी होती हैं. इनका डंठल मज़बूत होता है एवं इनकी लम्बाई 1.25 सेंटीमीटर से 2 सेंटीमीटर तक होती है.

गर्मियों के आरम्भ होते ही मार्च-अप्रैल में साल पर फूल आने लगते हैं. इसके फूल पीलापन लिये हुए सफेद रंग के होते हैं. इन पर सफेद रंग के छोटे-छोटे रोएं से होते हैं. ये बिना डंठल वाले अथवा बहुत छोटे डंठल वाले होते हैं. ये डालियों के आगे वाले भाग

पर लगी हुई पत्तियों के पास आधार के किनारे वाले भाग से निकलते हैं तथा गुच्छों में होते हैं. साल के वृक्षों पर जब फूल खिलते हैं तो पूरा जंगल एक भीनी-भीनी सुगंध से भर उठता है.

फल गर्मियों के मौसम में, मार्च-अप्रैल के महीनों में लगते हैं. साल का फल सफेद होता है. मई-जून तक यह गूदे वाला हो जाता है और इसका रंग बदल कर धूसर हो जाता है.

जून से जुलाई के मध्य साल के वृक्ष पर बीज पकते हैं और पकने के बाद गिरना आरम्भ हो जाते हैं. इसके बीज में बहुत अधिक अंकुरण क्षमता होती है और यह बहुत शीघ्र अपनी जड़ें जमाना आरम्भ कर देता है. कभी-कभी तो यह वृक्ष पर ही अंकुरित होने लगता है. साल के बीज के अंकुरण के लिए नम ज़मीन सर्वोत्तम होती है. नदियों के कछार इसके लिए सर्वाधिक उपयुक्त पाये गये हैं.

साल की लकड़ी कठोर और मज़बूत होती है. इसकी ताजी कटी हुई लकड़ी में वार्षिक छल्ले साफ दिखाई देते हैं. ताजी कटी लकड़ी का रंग पीलापन लिये हुए होता है, किंतु कुछ समय बाद इसका रंग गहरा कत्थई हो जाता है. इसकी लकड़ी में बहुत छोटे-छोटे छेद होते हैं. इनमें एक विशेष प्रकार का 'रेजिन' होता है. इसी से साल की लकड़ी लम्बे समय तक खराब नहीं होती.

इस वृक्ष के तने में चीरा लगाने पर एक गाढ़ा, चिपचिपा पदार्थ निकलता है. इसे 'राल' कहते हैं. राल एक उपयोगी पदार्थ है. इसे अलग-अलग भाषाओं में अलग-अलग नामों से जाना जाता है. इसे हिंदी, मराठी और गुजराती में 'राल', बंगाली में 'धुना', अरबी में 'रातीनाज', फारसी में 'रतियान' और मोअम्बरी तथा अंग्रेज़ी में 'रेज़िन' कहते हैं.

ताज़ी राल रंगहीन, गंधहीन और स्वाद-हीन होती है. कुछ समय बाद इसका रंग हल्के अम्बरी से लेकर गहरा भूरा तक हो जाता है. यह ईथर में पूरी तरह से घुलनशील तथा अल्कोहल में आंशिक रूप से घुलनशील है. राल को यदि गंधक के तेजाब में डाला जाए तो यह इसमें घुलकर लाल रंग का घोल तैयार करता है. इसे जलाने पर यह धूप की तरह जलता है एवं भीनी-भीनी सुगंध छोड़ता है.

जंगल के जंगल केवल साल ही साल के वृक्ष होते हैं. इनका घनापन अंधेरा नहीं उत्पन्न करता. साल के जंगलों में ज़मीन पर भरपूर धूप आती है. साल के साथ एक रोचक तथ्य और जुड़ा है. इसके वृक्ष को 'पर्णपाती', 'अर्धपर्णपाती' अथवा सदाबहार, तीनों में कुछ भी अधिकार पूर्वक नहीं कहा जा सकता. यह पर्णपाती अर्थात पतझड़ वाला वृक्ष है या अर्धपतझड़ वाला वृक्ष है अथवा सदाबहार वृक्ष है? यह जानने के लिए एक लम्बे समय से शोध की आवश्यकता महसूस की जा रही थी, क्योंकि साल के वृक्ष के पत्ते गिरते हैं अर्थात यह पर्णपाती है. इसके नये और पुराने पत्ते एक साथ वृक्षों पर देखने को मिल जाते हैं. अर्थात यह अर्धपर्णपाती है. इसके वृक्षों

पर सदैव पत्ते बने रहते हैं अर्थात यह सदाबहार वृक्ष है. साल वास्तव में किस प्रकार का वृक्ष है? यह जानने के लिए कुछ समय पूर्व उष्ण कटिबंधीय शुष्क क्षेत्रों में साल के जंगलों का अध्ययन किया गया.

प्रतिवर्ष साल अपने पत्ते बदलता है. वास्तव में इसी आधार पर साल का वृक्ष अपना अस्तित्व बनाये रखने में सफल होता है और लम्बी आयु तक जीवित रहता है. साल का इस प्रकार पुराने पत्ते गिराकर नये पत्ते प्राप्त करना सूखे के मौसम में बहुत उपयोगी होता है. क्योंकि पुराने पत्तों की अपेक्षा नये पत्ते बहुत कम पानी उपयोग में लाते हैं. अर्थात इससे कम पानी में भी साल का अस्तित्व बना रहता है. इसका यही गुण इसे शुष्क क्षेत्रों के साथ ही नमी वाले क्षेत्रों में भी अपना अस्तित्व बनाये रखने में और अपना विकास करने में सहयोग देता है.

साल वृक्षों का अध्ययन करने वाले वैज्ञानिकों ने अपने अध्ययन के लिए उष्णकटिबंधीय शुष्क जंगलों के कुछ साल वृक्ष 'चुने'. इसका वृक्ष मार्च के महीने में पत्तियां बदलता है.

जीव वैज्ञानिकों ने अध्ययन में साल के वृक्षों का अलग-अलग व्यवहार देखा और इसी आधार पर इसे अर्धपर्णपाती वृक्ष माना. इसी आधार पर कुछ वैज्ञानिकों ने साल के वृक्ष को पर्णपाती-सदाबहार वृक्षों के मध्य का वृक्ष माना है. इसी प्रकार का एक अध्ययन हाथीनाला वनक्षेत्र में किया गया.

उत्तर प्रदेश के वाराणसी जिले में मुख्यालय से लगभग 150 किलोमीटर की दूरी पर हाथीनाला वनक्षेत्र है. यहां साल के विशाल जंगल हैं. हाथीनाला वनक्षेत्र सोनभद्र के अंतर्गत आता है. उपग्रह द्वारा किये गये अध्ययनों से यह स्पष्ट हो चुका है कि इस जंगल में मानव का हस्तक्षेप बहुत कम है. वनविभाग के अधिकारियों ने भी हाथीनाला वनक्षेत्र का अवलोकन करने के बाद इस तथ्य की पुष्टि की है. अतः हाथीनाला वनक्षेत्र को साल वृक्ष के अध्ययन के लिए सर्वाधिक उपयुक्त पाया गया.

हाथीनाला वनक्षेत्र की वनस्पतियां उत्तरी उष्ण कटिबंधीय शुष्क सदाबहार वनों जैसी हैं एवं यहां साल के वृक्षों की अधिकता है. बरसात के मौसम में यह वनक्षेत्र हरियाली से भर जाता है. इस समय वृक्षों के पत्ते फैले हुए होते हैं और झाड़ियां बहुत घनी दिखाई देती हैं. गर्मियों के मौसम में साल के वृक्ष पीले पड़ जाते हैं, सूख जाते हैं तथा झाड़ियां भी सूख जाती हैं.

वैज्ञानिकों ने यह देखा कि साल के वृक्षों पर, बरसात का मौसम समाप्त हो जाने के काफ़ी समय बाद तक पत्तियां घनी बनी रहीं. इन वृक्षों पर फ़रवरी से अप्रैल तक के मध्य पत्तियों के घनेपन में कमी आयी. मार्च के महीने में उन साल की पत्तियों में घनापन सर्वाधिक कम हुआ, जिनकी सभी पत्तियां गिरी नहीं थीं.

हाथीनाला वन क्षेत्र के साल वृक्षों पर मार्च-अप्रैल के मध्य नयी पत्तियों का निकलना आरम्भ हुआ. इन पर 75 प्रतिशत तक पत्तियां गर्मियों तक आ गयीं. अर्थात

बरसात का मौसम आरम्भ होने के पहले वृक्षों पर 75 प्रतिशत तक पत्तियां आ चुकी थीं. इसके साथ ही इन वृक्षों पर सर्दियों के आगमन तक नयी पत्तियां निकलती रहीं. अर्थात साल के वृक्ष पर पूरी बरसात नयी पत्तियां निकलती रहीं.

वैज्ञानिकों ने मार्च के महीने में साल के वृक्षों पर एक विशेष बात देखी. मार्च के महीने में साल के वृक्षों का व्यवहार विविधतापूर्ण रहा. इस विविधतापूर्ण व्यवहार को चार भागों में बांटा जा सकता है. पहला, पर्वतों पर नीचे की ओर के 40 प्रतिशत वृक्षों की पत्तियां पूरी की पूरी गिर गयीं और नयी पत्तियों का आना आरम्भ हो गया. दूसरा, पर्वतों की ढलान के नीचे के 30 प्रतिशत साल के वृक्षों की पुरानी पत्तियां गिरती जा रही थीं और इसी समय नयी पत्तियां आती जा रही थीं.

तीसरा, पर्वतों की ढलान वाले साल के वृक्षों की पुरानी पत्तियों के आने के मध्य कुछ समय लगा. अर्थात इन वृक्षों की पुरानी पत्तियां सब की सब गिर चुकी थीं, किंतु मार्च के अंत तक नयी पत्तियां नहीं आयीं थीं और चौथा, यह एक रोचक तथ्य है कि दो वर्षों के अध्ययन काल में साल के वृक्ष कभी भी ऐसे नहीं दिखाई दिये, जिन पर पत्तियां न हों. बस केवल मार्च के महीने में कुछ वृक्ष पूरी तरह पर्णविहीन देखे गये. इन पर सर्दियों के महीनों में फूल खिलना आरम्भ हुआ और गर्मियों के आरम्भ तक चलता रहा.

किसी वृक्ष की पत्तियों के जीवन काल में उसके पर्णपाती अथवा सदाबहार होने का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है. सदाबहार वृक्षों की पत्तियों का जीवनकाल लम्बा होता है और इनके वृक्षों की जड़ें ज़मीन के भीतर अधिक गहराई तक जाती हैं. किसी भी वृक्ष पर नयी पत्तियों के शीघ्र आ जाने एवं जड़ों में पानी का पर्याप्त भंडार होने से उसे शुष्क मौसम में पानी की कमी नहीं हो पाती और वह हरा-भरा बना रहता है.

भारतीय शुष्क उष्ण कटिबंधीय क्षेत्रों में पाये जाने वाले साल के वृक्षों से मार्च- अप्रैल में पुरानी पत्तियां गिरती हैं और नयी पत्तियां आती हैं. यह समय साल-वृक्षों के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण होता है. क्योंकि इसी समय इनमें फूल भी निकलते हैं.

साल के वृक्ष से हमेशा वसंत के महीने में ही अथवा इसके बाद पुरानी पत्तियां गिरती हैं और नयी पत्तियां निकलती हैं. ऐसा क्यों होता है? क्या साल की अन्य प्रजातियों में भी ऐसा ही होता है? ये सभी प्रश्न उतने ही जटिल हैं, जितना पूरे अधिकार के साथ यह बताना कि साल का वृक्ष पर्णपाती है या सदाबहार? वास्तव में साल के वृक्ष के विभिन्न पक्षों से सम्बंधित शोध अभी अपने आरम्भिक स्तर पर हैं. आज आवश्यकता है आधुनिक तकनीकी के सहयोग से साल के गहन अध्ययन की. वैज्ञानिकों को विश्वास है कि इसके साल से सम्बंधित अनेक जटिल प्रश्न तो हल होंगे ही, इनके साथ ही इस वृक्ष से सम्बंधित अनेक रोचक जानकारियां भी प्राप्त होंगी. ❑

मैं बंदरगाह पर चिड़ियों को देख रहा था. पानी में डुबकी लगातीं और फिर उड़ कर पंखों को झाड़ देतीं चिड़ियां. अन्य कोई जीव-जंतु नहीं था, कहीं भी नहीं. पानी पर तेल के धब्बे तैर रहे थे और उनकी वजह से पानी हरा-सा और तेलिया-सा लग रहा था. कहीं कोई जहाज़ नहीं दीख रहा था. क्रेन जंग खाये हुए मुंह बिसूरे खड़े थे. सभी गोदाम खंडहर हो चुके थे. इतने कि अब वहां चूहा तक नहीं था. अजीब सुनसान था. मुझे पता था कि इस किनारे का पिछले कई सालों से अन्य देशों से कोई सम्बंध नहीं रहा था.

एक चिड़िया कब से पानी में डुबकी लगाती, फिर झपट कर ऊपर को उड़ती और फिर पानी में डुबकी लगाने के लिए पंखों को मरोड़ लेती थी. वह हर बार ऊपर आकाश में झपटती. शायद कोई संग ढूंढ़ रही थी. जी चाहा कि यदि मुझे कोई रोटी का टुकड़ा मिल जाए तो मैं छोटे-छोटे टुकड़े कर इस चिड़िया को भी डालूं ताकि सभी को उड़ने की एक दिशा मिल जाए. परंतु मैं खुद भूखा था उन पक्षियों की तरह और थका हुआ भी. खाली जेब में हाथ डाल कर मैंने उन पक्षियों की ओर देखा और अपने दुख का एक घूंट-सा भरा.

लगा कि किसी ने मेरे कंधे पर हाथ रखा था. मुड़कर देखा- एक पुलिस का आदमी था.

मैंने कंधे को छुड़ाने की कोशिश की.

''कामरेड'', उसने मेरा कंधा और ज़्यादा दबा लिया.

''साहब''

''अब कोई साहब नहीं, हम सभी कामरेड हैं.''

''लेकिन मेरा कसूर?''

''कसूर?'' वह हंस दिया और कहा, ''तुम्हारा चेहरा. तुम्हारा उदास चेहरा.'' मुझे भी हंसी आ गयी.

''यह हंसने वाली बात है?'' उसका चेहरा गुस्से से सख्त हो गया.

पहले तो मुझे लगा कि वह शायद वैसे ही ऊब चुका है. शायद उसे आज बाकायदा पेश करने वाली कोई वेश्या नहीं मिली या गली में गिरा कोई शराबी नहीं मिला या कोई

चोर-उचक्का और कोई अब कतरा आज हाथ नहीं लगा, लेकिन फिर मैंने देखा कि वह सचमुच गुस्से में था और मुझे हिरासत में लेना चाहता था.

उसने मेरी बायीं बांह में हथकड़ी लगा दी. लोहे की छनक के साथ मुझे होश आया कि मैं तबाह हो गया था. जल्दी से एक बार उड़ते पक्षियों को और खुले आकाश को आंखों में भरा और फिर पानी की तरफ़ एक कदम बढ़ाया. पुलिस के हाथ आ जाना और फिर कई दिनों तक गहरी चोटों की सज़ा और इसके बाद जेल की कोठरी में सड़ते रहना, डूब मरने से कहीं भयानक है. परंतु उसने एक झटके से मुझे अपनी तरफ़ खींच लिया.

''परंतु मेरा कसूर जनाब?''

''कानून के मुताबिक सभी लोगों को हर समय खुशनज़र आना चाहिए.''

''परंतु मैंने कभी यह कानून सुना नहीं.''

''सुना नहीं? परंतु इसको लागू हुए छत्तीस घंटे हो गये हैं. एलान होने के चौबीस घंटे बाद प्रत्येक कानून अमल में आ जाता है.''

''परंतु मुझे इसका बिल्कुल पता नहीं.''

यह सभी समाचार पत्रों में छपवाया गया था. लाउड स्पीकरों से सुनाया गया था. ''मेरे कामरेड तुमने पिछले छत्तीस घंटे कहां गुज़ारे हैं?''

अब वह मुझे घसीटते हुए ले जा रहा था. कहर की ठंड का अहसास हुआ और बहुत-बहुत भूख का भी. मैंने खुद पर नज़र डाली- कपड़े बहुत खस्ता थे, शेव भी नहीं की थी. हालांकि कायदा यह था कि प्रत्येक कामरेड को साफ़-सुथरे कपड़े पहनने चाहिए.

सड़क पर जितने भी लोग नज़र आ रहे थे. सभी ने उत्साह का नकाब पहना हुआ था और देख रहे थे कि पुलिस की शक्ल नज़र आते ही उनका नकाब और चमक उठता था. परंतु सभी बड़ी जल्दी कदम उठा रहे थे. जैसे बड़े जोश से काम से लौट रहे हों.

समझ रहा था कि सभी लोग बड़ी होशियारी से हमसे परे खिसक रहे थे जैसे सभी की कोशिश हो कि वे जल्दी-ज़ल्दी किसी घर, किसी गोदाम या कारखाने में पनाह ले लें या आगे के मोड़ पर मुड़ जाएं, पुलिस की नज़र से परे चले जाएं.

सिर्फ़ एक बार ऐसा हुआ— हम एक चौराहे पर पहुंचे और एक अधेड़ आदमी के साथ हमारा सीधा सम्पर्क हो गया. उसे देखते ही मैं समझ गया कि वह कोई स्कूल मास्टर था. अब खिसक कर कहीं जा नहीं सकता था और जैसा कि कानून के अनुसार ज़रूरी था उसने पुलिस वाले को बड़ी इज़्ज़त से सलामी दी और फिर फर्ज अनुसार तीन बार मेरे मुंह पर थूका और कहा- ''राष्ट्रविरोधी सूअर.''

उसने सभी कुछ पूरे तरीके के साथ किया था परंतु मैं देख सकता था, उसका गला सूखा हुआ था. मैंने भी कानून के अनुसार सभी कुछ अपनी कमीज़ की बांह से पोंछने की कोशिश की.

मेरी पीठ पर ज़ोर का एक घूंसा पड़ा और आवाज़ आयी- ''पहली सीढ़ी''. मतलब साफ़ था यह मेरी सज़ा का पहला रूप था.

वह स्कूल मास्टर जल्दी से अब कहीं चला गया था. बाकी पूरे रास्ते सभी लोग

हमें टाल कर निकलने में सफल हो गये थे और फिर वह ठिकाना आ गया जहां मुझे पहुंचना था. एक बिगुल की आवाज़ सुनाई दी. पता चला कि मज़दूरों की छुट्टी होने वाली थी और उन्होंने अपने चेहरे पर खुश करने के लिए अच्छी तरह मल-मल के मुंह हाथ धोने थे. कारखाने से बाहर आते हुए उनके चेहरे पर तसल्ली नज़र आनी चाहिए थी लेकिन ज़्यादा खुशी नहीं ताकि ऐसा न लगे कि उन्हें काम से जान छूटने पर बहुत खुशी हुई थी. बहुत खुशी सिर्फ़ कारखाने में जाते हुए ही नज़र आनी चाहिए थी. उस समय राह चलते हुए उन्हें गाना भी चाहिए ताकि पता चले कि काम पर जाते समय उनमें बहुत उत्साह था.

शुक्र यह कि यह बिगुल छुट्टी होने से दस मिनट पहले बजाया गया था. साबुन से हाथ-मुंह धोने की तैयारी के लिए. नहीं तो यदि ये सारे मज़दूर इस समय सड़क पर निकल आते और सभी को मेरे मुंह पर तीन-तीन बार थूकना था.

जहां मुझे पहुंचाया गया, यह एक सादा लाल ईंटों का मकान था और दो सिपाही दरवाज़े के आगे पहरा दे रहे थे. सबसे पहले उन्होंने कानूनन मेरी मरम्मत की. बंदूकों के कुंदे मेरी कनपट्टियों पर मारे. अंदर के कमरे में एक बड़ी मेज़ (टेलीफोन सहित) और दो कुर्सियों के अतिरिक्त कुछ नहीं था. मैं कमरे के बीचों-बीच खड़ा था. मेज़ वाली कुर्सी पर कोई व्यक्ति लोहे का टोप पहने डटा था. पिछली तरफ़ कोई और आया. उसने भूरे रंग की वर्दी पहनी हुई थी. वह चुपचाप कुर्सी पर बैठ गया. सवालों का सिलसिला शुरू हुआ.

''कारोबार?''

''सादा कामरेड!''

''जन्म?''

''01-01-01''

''पिछले दिनों की तफसील?''

''कैदी''

दोनों ने एक दूसरे की तरफ़ देखा.

''कहां और कब?''

''जेल नम्बर-12, कोठरी नम्बर-13, कल रिहा हुआ था''

''परवाना?''

मैंने रिहा होने का परवाना जेब से निकाला और उनके सामने रख दिया.

''उस समय का कसूर?''

''मेरा खुश चेहरा.''

दोनों ने फिर एक दूसरे की ओर देखा और कहा, ''साफ़-साफ़ बताओ''

''जनाब! तब कोई बहुत बड़ा सरकारी अफसर मर गया था और सरकार की मंशा थी कि पूरे राज्य में शोक मनाया जाए. परंतु एक पुलिसमैन का दावा था कि मेरा चेहरा दुख भरा नहीं था.''

''सज़ा की मियाद?''

''पांच बरस.''

फिर खूब पिटने के बाद मुझे नयी सज़ा सुनायी गयी.

'दस बरस.' खुश चेहरे पर पांच बरस की सज़ा मिली थी. दुखी चेहरे पर दस बरस की. सोचता हूं अब जब जेल से बाहर आऊं तो मेरा कोई चेहरा न हो. न खुशी, न दुख.

(अनुवाद : तरसेम गुजराल)

❑

कच्चे रास्तों से शुरू हुई पिताजी की पक्की यात्रा

● अमिताभ मिश्र
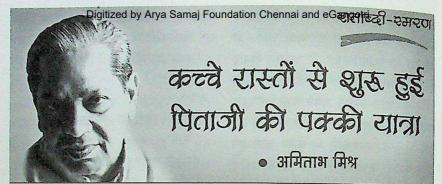
यादों के काफिले तीन-साढ़े तीन साल की उम्र से साथ हो लिये. मैं था, मां थीं और मुझसे दो वर्ष छोटा भाई था. नाना थे, नानी थीं, दो मामा थे, दो ममेरे भाई. भरा-पूरा परिवार था. स्थान रामचंद्रजी द्वारा प्रसिद्धि प्राप्त चित्रकूट था. रेलवे स्टेशन तब कर्वी कहलाता था. नाना रेल्वे से रिटायर हुए थे. इलाका राममय था. रामलीला नाना की देख-रेख में होती थी. घर में तबला, हारमोनियम, ढोलक आदि साज थे. संगीत का वातावरण था. दोनों मामा न केवल गाते थे बल्कि मुझे भी सिखाते थे.

इतने लोगों के बीच छोटी-मोटी कोई भी मांग अधूरी नहीं रहती थी. पिता का कोई पद होता है यह आसपास के लोग महसूस नहीं होने देते थे. मानसिक रूप से जीवन इतना परिपूर्ण बाद में कभी नहीं लगा. इसी सब के बीच में कभी-कभी मां रोने लगती, लोग उन्हें समझाते मनाते पर उनको मानने और समझने में बहुत देर लगती थी. एक दिन मेरे लिए कोट सिलवाया, जूते मोजे आये. फिर मेरा, मां का और छोटे भाई का फोटो खींचा गया. इतनी तैयारी के बाद मुझे अपना फोटो बहुत अच्छा लगा. फोटो कोई 'बाबूजी' के लिए खिंचवाया था. फोटो कांड के बाद मां खुश रहने लगी थीं. मुझे समझाया जाने लगा तुम्हारे बाबूजी आ रहे हैं. मुझे समझ नहीं आता था कि ये बाबूजी कौन हैं? और क्यों आ रहे हैं ? बाबूजी कर्वी नहीं आ रहे थे. नरसिंहपुर नाम की कोई जगह है वहां आ रहे हैं. हम लोगों को नरसिंहपुर आना पड़ा. जैसा समझाया था बताने पर कि ये तुम्हारे बाबू हैं, मैं बाबूजी कहकर उनसे चिपक गया. बाबूजी ने एकदम अलग करके बताया कि वो बाबूजी-वाबूजी नहीं हैं. मैने पूछा, फिर आप कौन हो? मुझे तो यही बताया है कि आप बाबूजी हो. उन्होंने समझाया कि घर में सब मंझले भैया कहते हैं तुम लोग भी वही कहो. दूसरों के समझाने से बाबूजी बहुत मुश्किल में समझ में आये थे. पिता के समझाने से मंझले भैया एकदम से समझ में आ गये. ये मेरी उन पिता से साढ़े पांच वर्ष की उम्र में पहली भेंट थी, जो लगभग पहली सांस से संतान के साथ रहते हैं.

धीरे-धीरे मिले सूत्रों से जो घटनाक्रम

बना कुछ इस तरह था. जन्मदिन को लेकर खुद मेरे पिताजी भवानीप्रसाद मिश्र के मन में पर्याप्त अनिश्चय था. डायरी में उन्होंने लिखा है – '23 या 29 मार्च के मेरा जन्मदिन होता है.' सन् 1913 माना गया है. दूसरा सप्तक (पहला संस्करण) जो हिंदी कवियों की जानकारी का महत्त्वपूर्ण दस्तावेज माना जाता है उसमें जन्मदिन और महीने के बारे में कोई जानकारी नहीं मिलती. पिताजी के जाने के बाद सर्वसम्मति से 29 मार्च 1913 पिताजी की जन्मतिथि मानी गयी.

जन्मदिन के बारे में जो संशय पाया जाता है वो जन्मस्थान के बारे में नहीं पाया जाता. होशंगाबाद जिले के छोटे-से गांव टिगरिया में पंडित सीताराम मिश्र के यहां पिताजी का जन्म हुआ. दादा पंडित लाड़ले रामजी गांव के मंदिर में पूजा आरती करते थे और गांव में पंडिताई. पिता सीताराम मिश्र ने परम्परागत पारिवारिक शिक्षा के साथ मैट्रिक तक शिक्षा प्राप्त करके परिवार में शिक्षा की नयी परम्परा का सूत्रपात किया. मैट्रिक करने के बाद जिला स्कूल शिक्षा निरीक्षक के पद पर कार्य करने लगे. नौकरी के दौरान अधिकांश समय वे सोहागपुर, नरसिंहपुर, बैतूल और होशंगाबाद नियुक्त रहे. पिताजी ने इन्हीं स्थानों पर प्राथमिक और मैट्रिक तक की शिक्षा पायी.

पिताजी सन् 1942 के आंदोलन में जेल गये थे. मैं दो साल का था. छोटे भाई अनुकूल का जन्मदिन और पिताजी के जेल जाने का दिन, एक होने में एकाध दिन का अंतर रह गया. पिताजी पुराने मध्य प्रदेश के बैतूल से जेल गये थे और छोटे भाई का जन्म नरसिंहपुर में हुआ था. पिताजी का जेल जाने का तार और नरसिंहपुर से पुत्र जन्म का तार लगभग एक ही दिन अपने-अपने गंतव्य पर पहुंचा था. बैतूल में 'मिश्र हाई स्कूल' के नाम से पारिवारिक स्कूल चलता था. पिताजी, उनके दो भाई और उनके कुछ मित्र इस काम को अंजाम देते थे. दादाजी रिटायर होकर नरसिंहपुर बस गये थे. सम्मिलित परिवार की आजीविका का मुख्य आधार यही स्कूल था. आंदोलन में, पिताजी को झंडा लेकर जुलूस का नेतृत्व करना था. छोटे शहर थे, सद्भावना का अभाव नहीं था. रात को कलेक्टर पिताजी के बड़े भाई को, समझदार मानकर, उन्हें समझाने आये थे. फाइरिंग वगैरह की भी गुंजाइश है इसलिए भवानी को मना कर सको तो करो. ताऊजी को जितना मैंने जाना और समझा है उस आधार पर निस्संकोच कह सकता हूं कि दूसरे दिन से कलेक्टर ने ताऊजी को समझदार मानना बंद कर दिया होगा. दूसरा दिन आया तो गोलियां भी चलीं, गिरफ्तारियां भी हुईं. कहते हैं, इनके कान के पास से गोली निकल गयी यानी जिस गोली का लिहाज पिताजी ने नहीं किया, उस गोली ने पिताजी का लिहाज किया. गिरफ्तारी के बाद सरकार ने मिश्र हाई स्कूल बंद करके कब्जे में ले लिया. आजीविका का चलना बंद हो गया, जीवन सब चल रहे थे.

नागपुर से वर्धा की दूरी 50 मील थी. वर्धा तब तक अघोषित राष्ट्रीय तीर्थ बन गया था. ऐसे बहुत से लोग जो वर्धा के निवासी थे,

सन् 42 के आंदोलन के बाद नागपुर जेल के निवासी बन गये थे.

आश्रमों से आये लोगों ने नागपुर जेल को भी आश्रम बना दिया था. सुबह-शाम की प्रार्थना के साथ खाना खाते समय मंत्र का पाठ जेल के कोने-कोने को सामूहिक और सहयोग की शक्ति से गुंजा देता था-

ओम सहनाववतु, सहनौभुनक्तु, सहवीर्यंकर्वावहै, तेजस्विनावधीतमस्तु, मा विद्विषावहि....ओम शांति शांति शांतिः.अगर आश्रमवासियों ने जेल को आश्रम बना दिया था. वहां के विद्वानों ने जेल को देश के तत्कालीन शिक्षा केंद्रों का सिरमौर बना दिया था. उच्च और उपयोगी शिक्षा का कोई ऐसा केंद्र नहीं था जो नागपुर जेल में दी जाने वाली शिक्षा से टक्कर लेता. पूज्य विनोबा भावे वहां शास्त्रों और उपनिषदों की शिक्षा देते थे. डॉ. वामनराव बारलिंगे होम्योपैथी और ज्योतिष सिखाते थे. काका कालेलकर नक्षत्रों का ज्ञान देते थे. जेल के दरवाज़े बंद थे इसलिए ज्ञान के दरवाज़े रात-दिन खुले रहते थे. न शिक्षक बाहर जाते थे और न विद्यार्थी.

सामूहिक शिक्षा के इस स्तर की तुलना में व्यक्तिगत प्रयास भी कम नहीं थे. पिताजी के उदाहरण से इसे समझा जा सकता है. जेल में पिताजी के जीवन की सर्वश्रेष्ठ रचनाएं अस्तित्व में आयीं. जेल में ही रहकर मराठी और गुजराती भाषा से पिताजी का ठीक परिचय हुआ. खलील जिब्रान के 'प्रोफेट' का काव्यानुवाद किया. भाषाओं के हिसाब से उनकी सबसे बड़ी उपलब्धि बाङ्ला भाषा थी.

जेल में वर्धा के लोगों के वर्चस्व और उनकी घनिष्ठता ने, जेल से छूटने के बाद, वर्धा में उनका रहना तय कर दिया था. श्रीमती शांता बाई रानीवाला(बुआजी) के सौजन्य से महिला छात्राओं की शिक्षा के लिए संस्था थी- महिला आश्रम. इसी आश्रम में पिताजी शिक्षक नियुक्त हुए थे. हम लोग नरसिंहपुर से किसी शाम की गाड़ी से वर्धा पहुंचे. राम चाचा ने बजाजबाड़ी में रात रुकने की व्यवस्था की थी. महिला आश्रम बजाजबाड़ी से थोड़ी दूर था. शाम को महिला आश्रम से भाऊ (दामोदर दास मूंदड़ा) और उनकी पत्नी मीरा बहन मिलने आये थे. पति-पत्नी दोनों पिताजी के साथ नागपुर जेल में थे.

दूसरे दिन हम लोग महिला आश्रम अपने घर आ गये. राम चाचा ने खाना बनाने और खाने के जो ज़रूरी बर्तन साथ रख दिये थे, वे आज भी राम चाचा द्वारा बनायी गयी पारिवारिकता के प्रमाण की तरह, घर में हैं.

पिताजी ने नाहक का ज्ञान दूसरों में वितरित करने के लिए कभी नहीं बटोरा. जो उपयोगी लगा उसे जेल में और जेल के बाहर भी समेटा. उर्दू, फारसी, संस्कृत और हिंदी के समुचित ज्ञान से शब्द सामर्थ्य अपरिमित था. नाटक और नौटंकी के मोह ने उनकी कविता को बातचीत करना सिखाया. पिताजी ने गालिब, मीर, मोमिन, नज़ीर के साथ रहीम, कबीर, तुलसी को केवल पढ़ा नहीं था बल्कि उन्हें याद भी किया था. नाहक के ज्ञान का मज़ाक अपनी दो पंक्तियों में इस तरह उड़ाया...

जीना अलग है,
जानकारी के पीपे पर पीपे पीना अलग है.

वर्धा आकर सबसे पहले ऐसा चलन लगा. पिताजी के मित्र मोहनलाल बाजपेयी शांतिनिकेतन में हिंदी विभाग में अध्यक्ष थे. आदरणीय हजारीप्रसाद द्विवेदी के बाद पद भार सम्भाला था. जबलपुर के रॉबर्टसन कॉलेज में पिताजी से एकाध वर्ष जूनियर थे. पुराने मध्य प्रदेश में केवल दो कॉलेज होते थे. नागपुर में हिसलप कॉलेज और जबलपुर में रॉबर्टसन कॉलेज. प्रांत के पढ़े-लिखे लोग इन्हीं दो जगहों से जुड़े होते थे. नागपुर का नहीं मालूम, लेकिन रॉबर्टसन कॉलेज में कक्षाएं भाईचारे का निर्णय कर देती थीं. ऊंची कक्षा का छात्र बड़ा भाई और निचली कक्षा का छात्र छोटा भाई. कुछ चाचा रॉबर्टसन कॉलेज से मिल गये, कुछ जेल से. मोहनलाल बाजपेयी हमारे रॉबर्टसन के चाचा थे.

कलकत्ते में हिंदी फिल्में बनती थीं. बंगाल में जो 'हिंदीवाला' सहज उपलब्ध हो सकता था, वो मोहनलाल बाजपेयी थे. फिल्मों में संवाद लिखने का काम उन्हें मिलता था. ऐसी एक फिल्म थी 'स्वयंसिद्धा'. उस समय की मशहूर हीरोइन शांता आप्टे मुख्य भूमिका में थीं. संगीत अनिल विश्वास जी का था. संवाद लेखक से जब गीतकार का नाम पूछा तो उन्होंने रॉबर्टसन कालेज के अपने सीनियर का नाम सुझा दिया.

अनिल विश्वास के सहायक प्रफुल्ल दा चक्रवर्ती अपनी सफारी पेटी (हारमोनियम) लेकर वर्धा आते थे. उस समय पहले गीत लिखे जाते थे फिर उस पर धुन बनती थी. आजकल ऐसा नहीं होता. पहले धांसू धुन बनती हैं, फिर उस पर गीत के बोल लिखे जाते हैं. प्रफुल्ल दा वर्धा आकर गीत की धुन बनाते थे फिर अनिल दा की मोहर लगवाने कलकत्ता जाते थे. उनकी आठ-आठ दस-दस दिन की तीन-चार यात्राएं वर्धा की हुईं. बाद में पिताजी भी लगभग एकाध महीने काम करने के लिए कलकत्ता रहे. कलकत्ता निवास में बीच-बीच में शांतिनिकेतन भी हो आते थे.

'स्वयंसिद्धा' का अनुबंध सात हज़ार का हुआ था. नरसिंहपुर के विशाल घर की आमूल-चूल सुधरवायी और एक बहन की शादी इस रकम में आसानी से हो गयी. स्वयंसिद्धा का सारांश सामान, मकान सुधरवायी और बहन की शादी माना जा सकता था. इसके साथ दर्शन चाची (मोहनलाल बाजपेयी की पत्नी) ने पिताजी को कविता लिखने के लिए एक सुंदर-सा रजिस्टर दिया. यह सबसे उपयोगी भेंट थी. सारांश खत्म हो चुका था. कुछ बचा है तो लिखी कविताओं के साथ यह रजिस्टर. पिताजी की आदत थी कहीं कोई कागज़ का कोरा टुकड़ा दिखता था तो उस पर, उस नाप की कोई कविता लिख देते थे. इस तरह लिखी कविता की सुरक्षा का भी कोई भरोसा नहीं रहता था. 'बालमोहन' उपनाम से लिखी हाईस्कूल की कविताएं एक रेल-यात्रा में छूट गयी थीं. फुटकर कविताएं इनसे कहां-कहां, कितनी छूटीं इसका कोई हिसाब नहीं है. रजिस्टर आने के बाद कविता सुरक्षित हो गयीं. कविताओं का आकार भी कागज़ के आकार का न होकर मन के आकार का हो गया.

स्वयंसिद्धा की उपलब्धियां यहां खत्म हो

गयी थीं, लेकिन [illegible] थी. मध्य प्रदेश में उनके हमउम्र दोस्तों का बड़ा तबका उन्हें कवि तो मानता था पर कुछ खुद को भी कवि मानता था. ऐसे लोगों में अहं की तुष्टि और प्रतिशोध की अग्नि को शांत करना उनके स्वयं के लिए बड़ा प्रश्न था. पिताजी अपने जत्थे के अकेले ऐसे कवि थे जो प्रांत के बाहर मान्य और प्रतिष्ठित थे. असंतुष्ट दोस्तों ने अपने प्रतिशोध की अग्नि का शमन कानाफूसी से शुरू किया. ऐसे कवि को क्यों इतना मान दिया जा रहा है, जो कवि-कर्म भूल चुका है, फिल्मों में गीत बेचता है, पैसा ही उसका मुख्य धर्म हो गया है इत्यादि इत्यादि. लांछनों का प्रारम्भिक रूप कानाफूसी का था. पर बाद में यह छापाखाने से भी प्रवाहित होने लगा. लगभग दो वर्षों तक सहन करने के बाद एक लखनऊ यात्रा में छतर मंजिल में बैठकर पिताजी ने एक बैठक में 'गीत-फरोश' की रचना की. इस कविता ने पिता की प्रसिद्धि प्रांत एवं प्रांत के बाहर कई गुना कर दी. यदि विरोधियों को उनकी प्रतिक्रिया के परिणाम का अंदाज होता तो वे ऐसा कभी नहीं करते.

नरसिंहपुर के उसी निवास में 'दूसरा सप्तक' अस्तित्व में आया. 'दूसरा सप्तक' का कवि होना पिताजी के काव्य जीवन की महत्त्वपूर्ण घटना थी. '[illegible]' के पहले कवि पिताजी हैं. कोई दस छोटी और मामूली मोटी कविताओं ने संग्रह में पिताजी का प्रतिनिधित्व किया है. संग्रह के वक्तव्य में पिताजी ने माना है कि वे प्रतिनिधि कविताओं के रूप में अपनी दूसरी कविताएं देना पसंद करते, लेकिन स्थानाभाव में इन कविताओं का चयन किया. पिताजी कविताओं का मज़ा हमेशा लेते रहे लेकिन इन कविताओं ने पिताजी के इस वक्तव्य का लगभग मज़ाक-सा उड़ा दिया.

ये ही कविताएं कालांतर में पिताजी की प्रतिनिधि कविताओं की तरह जानी जाने लगीं और आज भी जानी जाती हैं. इन छोटी-बड़ी कविताओं के समुदाय में 'सन्नाटा' 'गीत-फरोश', 'सतपुड़ा के घने जंगल' और एक लाजवाब प्रेम गीत 'मंगल वर्षा' है. पिताजी किसी भी तरह के संग्रह के खिलाफ थे. इस खिलाफत में काव्य-संग्रह भी आते थे.

पिताजी का पहला काव्य-संग्रह 'गीत फरोश' 1953 में चाचा बद्रीविशाल पित्ती के प्रयास से नवहिंद प्रकाशन, हैदराबाद से प्रकाशित हुआ. इस संग्रह के प्रकाशन में प्रेम की मात्रा पर्याप्त थी, लेकिन संग्रह की वितरण प्रणाली कमज़ोर थी. इसके बाद 67-68 तक पिताजी का कोई संग्रह नहीं आया. पत्र (वे पोस्टकार्ड के नाप की कविता अक्सर लिख लेते थे) पत्रिकाओं में ज़रूर छपते रहे.

> **पिताजी को सोने से पहले सिगरेट पीने की आदत थी. सिगरेट आधी ही पीते थे. आधी सिगरेट दूसरे दिन के लिए कहीं रख देते थे.**

'दूसरा सप्तक' वितरण की दृष्टि से 'गीत-फ़रोश' की तुलना में अधिक सशक्त था. पिताजी इतने समग्र बहुत दिनों तक, 'दूसरा सप्तक' के सिवा और कहीं भी नहीं मिलते थे. ऐसे में धीरे-धीरे ये ही कविताएं पिताजी की प्रतिनिधि कविताएं बन गयीं, जिन्हें पिताजी ने प्रतिनिधि कविताएं मानने से इंकार कर दिया था.

ये सब होते-होते वर्धा फिर से खटखटाने लगा था. इस बार आश्रम के साथ एक काम और जुड़ गया था. वर्धा में राष्ट्रभाषा प्रचार संस्था, हिंदी की परीक्षाएं देश भर में आयोजित करती थी. मद्रास में इसी तरह की एक संस्था दक्षिण राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के नाम दक्षिण भारत में हिंदी प्रचार का काम करती थी. वर्धा की संस्था का दायरा बड़ा होने से काम का बोझ भी ज़्यादा हो रहा था. रामेश्वर दयाल दुबे, सुमन वात्स्यायन, श्रीकांत व्यास, भदंत आनंद कौसल्यायन वहां पहले से ही काम करते थे. कवि नागार्जुन, पिताजी और रुद्र नारायण शुक्ल बाद में आये.

इस बार आश्रम में घर, पुराने अहाते में अन्य घरों के साथ नहीं था. बालमंदिर के पास था. इस घर में पिताजी की एक आदत याद आती है. इसे आदत से ज़्यादा समस्या कहना ठीक होगा. पिताजी को सोने से पहले सिगरेट पीने की आदत थी. सिगरेट आधी ही पीते थे. आधी सिगरेट दूसरे दिन के लिए कहीं रख देते थे. यह 'कहीं' अक्सर बदल जाता था और उससे व्यक्तिगत समस्या का आरम्भ हो जाता था. ज़्यादातर समस्या यहीं सुलझ जाती थी. आधी सिगरेट गुमने पर, जिद, दूसरे दिन के लिए बचायी आधी सिगरेट के लिए ही होती थी. उनके प्रयास के बाद यदि वह टुकड़ा नहीं मिलता तो समस्या पारिवारिक हो जाती थी. सभी मिलकर आधी सिगरेट ढूंढ़ते थे. ज़्यादातर चार दिन का कोटा, दो सिगरेट घर में आती थीं. अगर बचा हुआ आधा टुकड़ा दूसरी सिगरेट का होता और नहीं मिलता तो फिर किसी साइकिल वर्ग के समाज के व्यक्ति को ढूंढ़ना पड़ता था. पान, सिगरेट की दुकान शहर से दूर थी. इस तरह गुमा आधी सिगरेट का टुकड़ा व्यक्ति को परिवार से और परिवार को समाज से जोड़ता था. आश्रम में सिगरेट-पान गोपनीय तो था ही. अपने इस अपराधबोध को उन्होंने लगभग इस तरह कहीं व्यक्त किया था-

आधी सिगरेट, सबसे छिपकर, रात को
पीता हूं अपने कक्ष में
कम से कम इतना तो मानो
मेरी आधी सिगरेट के पक्ष में

महिला आश्रम में वार्षिक उत्सव होता था. उस वर्ष पिताजी ने महादेवी वर्मा से प्रमुख अतिथि होने का आग्रह किया. महादेवी जी साधारणतया उत्सवों से अलग रहती थीं. पिताजी के आग्रह पर इंकार नहीं किया. इस उत्सव में पिताजी ने शरदचंद्र चट्टोपाध्याय के उपन्यास 'मझली बहन' का नाट्य रूपांतर किया था. नाटक में दो-तीन गाने लिखे थे और संवाद भी पिताजी ने लिखे थे. नाटक की तैयारी भी पिताजी ही करवा रहे थे. पिताजी को महादेवी वर्मा के

लिए स्वागत गीत भी लिखना था.

इन गीतों को बनाने के लिए अकोला से चटर्जी साहब आये थे. उनके संगीत में पहली बार इसका अनुभव हुआ कि ठीक संगीत कितना लुभावना हो सकता है. नाटक के गीत और स्वागत गीत मुझे ही गाना था. गाने का मेरे मन पर कोई वज़न नहीं था. लेकिन महसूस किया कि जैसे-जैसे उत्सव का दिन पास आ रहा था वैसे-वैसे गीत लिखने वाले पिताजी पर उस काम को करने का वज़न बढ़ता जा रहा था. नाटक के सब गाने बन गये थे, याद हो गये थे. लेकिन मुख्य स्वागत गीत अभी तक नहीं लिखा जा सका था. फिर एक दिन पिताजी विद्यालय के एक कमरे में बंद हो गये, दो-ढाई घंटे में तो लाजवाब स्वागत गीत लिखने का संतोष उनके चेहरे पर था. गीत था--

स्वर्णिम संध्या में निकले झिलमिल तारे
जग गया छंद आनंद हमारे द्वारे
स्तब्ध गगन ग्रह नीरव मुग्ध प्रशांत
बज रहे सुमंगल शंख मुखर वन प्रांत
रह गये चकित पंछी दल पंख पसारे
जग गया छंद आनंद हमारे द्वारे...
हे गंध वारि सिंचन से धूलि दबा दो
हे नेह व्यजन से सुरभित मंद हवा दो
आलोक अतिथि का स्वागत करो मगन मन
अपने आंचल आंगन भर रहो पसारे
जग गया छंद आनंद हमारे द्वारे...
हों हृदय हमारे विमल सबल हों प्राण
छा जाये हमारे नभ में मंगल गान
रस की देवी ने आज स्वयं पगधारे
जग गया छंद आनंद हमारे द्वारे...

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति में उठा-पटक शुरू हो गयी थी. भदंत आनंद कौसल्यायन से कुछ सैद्धांतिक मतभेद हो गये थे. परिणाम स्वरूप बाद में जैसे ये लोग जमा हुए थे वैसे ही फैल-फुट्ट हो गये थे. रुद्र चाचा लखनऊ, नागार्जुन चाचा बिहार और पिताजी हैदराबाद आ गये. हैदराबाद में मुख्य काम बद्रीविशाल जी की मासिक पत्रिका 'कल्पना' का सम्पादन था. सम्पादक मंडल में मुनींद्र जी थे, बद्रीविशाल जी थे. मुख्य सम्पादक डॉ. आर्येंद्र शर्मा थे. कला सम्पादक जगदीश मित्तल थे. पिताजी बंसीलाल बालिका विद्यालय में पढ़ाते भी थे.

पिताजी जेल के अलावा कहीं भी गये हों तो उसकी जड़ में उनकी कविता ही थी. पिताजी की काव्य-यात्रा घोड़े पर शुरू हुई थी. दादा जी जिला शिक्षा अधिकारी थे. जिले भर के स्कूलों का निरीक्षण करते थे. न ढंग के रास्ते थे, न ढंग के साधन. ऐसे में घोड़ा ही आवागमन का ठीक साधन बनता था. घर में सदा घोड़ा और छोटी बैलगाड़ी दादाजी के काम के सिलसिले में घर में होती थी. सबसे पहले चम्पी नाम की सफेद सुंदर घोड़ी रही, उसके बाद मंगल नाम का घोड़ा, फिर भौंरा नाम का घोड़ा और फिर चम्पी नाम की घोड़ी इस काम के लिए रही. अक्सर इनकी पीठ पर दादाजी पचास-बावन मील तक की यात्रा स्कूल निरीक्षण के निमित्त कर लिया करते थे. मंगल बहुत सुंदर घोड़ा था. जंगल घने होते थे. रास्ते और पगडंडी इनके बीच से गुज़रते थे. बैतूल में ऐसी ही किसी यात्रा में लोगों ने इन्हें किसी विशेष रास्ते पर जाने से इसलिए रोका कि उस रास्ते

पर सोन कुत्तों का राज था. सोन कुत्ते छोटी जात के सफेद हिंसक कुत्ते होते हैं. थूथना उनका सुनहरा होता है, झुंड में रहते हैं. लोग तो यहां तक कहते हैं कि उनका झुंड किसी जंगल में पहुंच जाए तो शेर अपनी राजधानी बदल देता है. दादाजी मंगल की पीठ पर उस रास्ते गये भी और लौट भी आये. ऐसे घोड़े पर तो कविता लिखी ही जानी थी. पिताजी ने पहली कविता मंगल घोड़े पर लिखी, जो इस प्रकार है- **सुंदर है यह घोड़ा मेरा,/ मंगल इसका नाम./ गया खरीदा था 65 (रुपए) में,/ आता बढ़िया काम./ चलता है यह चाल बांकी,/ सरपट कदम और सागाम,/ इसको कभी नहीं बेचूंगा/ एक और ऐसा ही लूंगा मैं.**

ग्रंथावली में इसका रचनाकाल 1924 है. यानी 10-11 वर्ष की उम्र में यह कविता लिखी होगी. पिताजी कविता लिखकर निपट गये, लेकिन बड़े भाई दुर्गा प्रसाद मिश्र उसे कहीं छपवाने के लिए बेताब थे. किसी पत्रिका का पता भी उन्हें मिल गया. भाई की प्रतिभा पर और कविता की श्रेष्ठता पर इतना विश्वास था कि कविता के नीचे टिप्पणी भी लिख दी- 'पिताजी की पहली कविता थी पर ताऊजी की ये दो पंक्तियां उनकी पहली और अंतिम रचना थी

छापना हो तो छाप
नहीं तो बैठा-बैठा टाप

उपरोक्त कविता ग्रंथावली में पहली कविता की तरह है. घोड़े पर शुरू हुई काव्य यात्रा में हॉर्स पावर तो अपने आप आ गया, लेकिन दो अन्य शक्तियों का समावेश भी अपनी कविता में पिताजी मानते थे. उन्होंने किसी साक्षात्कार में स्वीकारा है कि विंध्यवासिनी देवी और नर्मदा धारा से उनकी कविता को विकास, गति और शक्ति मिलती है. पहली कविता के बाद लगभग चार-पांच वर्ष तक कुछ नहीं लिखा पर इसके बाद जो लिखना शुरू किया तो अंत तक रुकने का नाम नहीं लिया. 8वीं 9वीं से कविताएं 'बाल मोहन' के नाम से लिखना शुरू किया. इस उपनाम से लिखी कविताओं की डायरी किसी रेल यात्रा में छूट गयी. डायरी छूट गयी तो कविताएं भी छूट गयीं. केवल उपनाम बच गया. उपनाम इसलिए बच गया क्योंकि इसका उपयोग उन्हें बाद में पूज्य माखनलाल जी द्वारा सम्पादित 'कर्मवीर' में अपनी कविताएं इस नाम से छपवानी थीं. कविता लिखने में जितनी दिलचस्पी थी उतनी छपवाने में नहीं होती थी फिर भी नहीं-नहीं करके कविताएं छपने लगी थीं. रॉबर्टसन कालेज की पत्रिका नर्मदा में कविताओं के साथ 'राधापद् शिख नखत् ज्योति' उपनाम से कहानियां भी लिखीं. उस समय इनी-गिनी पत्रिकाएं छपती थीं. 'हिंदुपंथ', 'सरस्वती', 'आगामी', 'कल', 'प्रतीक', 'हंस', 'कर्मवीर' इत्यादि. इन सभी में पिताजी की मांग हो गयी थी.

किशोरावस्था से शुरू हुई काव्य-यात्रा में अभी तक कोई संग्रह पड़ाव नहीं आया था. हैदराबाद निवास में उनका पहला काव्य संग्रह 'गीत-फरोश' के नाम से 'नवहिंद' प्रकाशन से आया. हिंदी प्रेमियों ने इसे उत्साह से लिया.

घटनाओं के क्रमिक विकास में मध्य प्रदेश

का ही उल्लेख [illegible] 'गीत-फरोश', चिर-प्रतीक्षित होकर प्रकाशित हुआ पर संग्रह का दूसरा पड़ाव एकदम आ गया. संग्रह बना लेकिन छपा नहीं. मध्य प्रदेश शासन ने किशोरों के लिए कविता संग्रह आमंत्रित किये थे. सर्वश्रेष्ठ संग्रह के लिए पांच सौ रुपए के पुरस्कार की घोषणा की थी. पुरस्कार निश्चित रूप से पिताजी को मिला. यह पुरस्कार तत्कालीन राष्ट्रपति राजेंद्र प्रसाद के कर-कमलों से मुख्यमंत्री रविशंकर शुक्ल की उपस्थिति में दिया गया. संग्रह का नाम 'नये-पत्ते' था. सीधी पांडुलिपि भेजी गयी. तब पांडुलिपि की प्रतिलिपि रखना ज़रूरी नहीं माना गया, क्योंकि शासन इसे छापने वाला था. इनाम मिलने के एकदम बाद भाषावार प्रांतों की रचना हुई. जब प्रांतों की पुनर्रचना में नागपुर जैसी राजधानी गुम हो गये तो नये पत्ते तो पुराने पत्तों जैसे बिना पतझड़ के झड़ गये होंगे.

हैदराबाद निवास विविधता भरा रहा. जिस तरह रॉबर्टसन के छोटे भाई मोहनलाल बाजपेयी स्वयंसिद्धा में माध्यम बने थे, उसी तरह रॉबर्टसन के बड़े भाई ब्रजमोहन दीक्षित फिर से पिताजी को फिल्मों में खींचने का माध्यम बने. दीक्षितजी बम्बई में फिल्मों में संवाद लेखन करते थे. चेन्नई के ए.व्ही.एम. के लिए 'शिव-भक्त' के संवाद दीक्षितजी ने लिखे थे. काम खत्म होते-होते इनके मन और शरीर दोनों ने विद्रोह कर दिया. दक्षिण की फिल्मों में संवाद लिखने के बाद संवाद निर्देशन का काम शुरू होता था. दीक्षितजी ने यह काम पिताजी को सौंपा. पिताजी ने [illegible] कर लिया था कि फिल्मों में गीत नहीं लिखेंगे. संवाद लेखन से इनकी वचन-बद्धता को आघात नहीं पहुंच रहा था सो 'शिव भक्त' में काम स्वीकार किया. शाहू मोडक नायक थे. इनकी प्रतिष्ठा विद्वान सुरुचि सम्पन्न नायक की थी. उनके अद्भुत ज्योतिष ज्ञान से सभी प्रभावित थे. हस्तरेखा के तो वे विशेषज्ञ ही थे.

ए.व्ही.एम. का काम खत्म करके पिताजी हैदराबाद आ गये. दो-तीन दिन बाद सरकारी तार आया कि अमुक तारीख को आपको आकाशवाणी में हिंदी निदेशक का पद सम्भालना है. तार की खबर उन्होंने परिवार को इस तरह दी. एक अच्छी खबर है और एक बुरी खबर है. नौकरी लग गयी है इसे उन्होंने अच्छी खबर माना था और बम्बई में लगी है, इसे उन्होंने बुरी खबर माना था.

ढाई-तीन वर्ष के बम्बई निवास में लगभग सभी प्रसिद्ध फिल्म निर्माताओं ने इनसे गीत लिखवाने की कोशिश की, लेकिन पिताजी इस काम में फिर नहीं पड़े. एक बार किसी को मज़ाक में हिट सांग के ये बोल सुनाये थे-

चौबीस घंटों के चौदह सौ चालीस
मिनटों में जी
अच्छे वही, अच्छे वही
जिनमें मिलन हो हमारा कहीं

बम्बई में फिल्मों में गीत नहीं लिखने के अलावा और कोई उल्लेखनीय काम नहीं कर पाये. सन् 1960 में दिल्ली तबादला हुआ. शुक्रवार को प्रसारित होने वाली गांधी चर्चा के मुख्य निदेशक के रूप में. सरकारी नौकरी जीवन को एकरूपता देती है, जबकि

आकाशवृत्ति जीवन की विविधता और कठिनाई देती है. पिताजी के जीवन में सरकारी नौकरी भी उतनी एकरूपता नहीं दे पायी, जितनी दूसरों को देती है.

बड़ों के स्नेह भाजन होने के साथ उनका एक शौक पहले का, 'देश प्रेम' अब 'राजनीति प्रेम' में बदल गया. आपातकाल कहने को 74 में लगा था पर उसका वातावरण बहुत पहले से बनने लगा था. उसी तरह जयप्रकाश नारायणजी को आपातकाल से जोड़ें तो जे.पी. का वातावरण बहुत पहले से हमारे घर में बनने लगा था. उनका वर्चस्व हमारे घर में तब से हो गया था, जब अनुपम, प्रभाष जोशी, श्रवण कुमार गर्ग मध्य प्रदेश के जंगलों में जे.पी. के दूत बनकर दस्यु सम्राट राजा मानसिंह के सुपुत्र तहसीलदार सिंह और पंडित लोकमन(लुक्का) तथा प्रसिद्ध गांधीवादी सुब्बाराव जी के प्रयासों से माधो सिंह और मोहरसिंह के पास समर्पण का प्रस्ताव लेकर गये थे. अनुपम और श्रवण मेरे छोटे भाई हैं और प्रभाष जोशी मेरे बड़े भाई.

हम लोग सब एक घर में और एक कालोनी में रहते थे. किसी भी तरह के विचारों के आवेश में सारे विचारवान, पिताजी की छत्र-छाया में एक ही घर में जमा हो जाते थे. आपातकाल में तो कालोनी बची ही नहीं थी केवल एक ही घर बचा था. पिताजी की कविता 'चार कौवे उर्फ चार हौवे' आपातकाल में शायद पिताजी से भी ज़्यादा लोकप्रिय हुई थी. इस तरह जयप्रकाश जी की गतिविधियों में डाकू उन्मूलन से लेकर इंदिरा उन्मूलन तक वे तन-मन और तीन सुपुत्रों समेत उनके साथ रहे.

सन् 1966 में पहली दिल का दौरा पड़ा. सन् 68 में दो काव्य संग्रह 'चकित है दुख' दिल के दौरे से पहले और 'अंधेरी कविताएं' दौरे के बाद प्रकाशित हुए. सन् 72 में 'बुनी हुई रस्सी' पर साहित्य अकादमी का पुरस्कार मिला. इसके बाद दिल के दौरे, काव्य संग्रह और सम्मानों की झड़ी लग गयी. मन से वो कभी मजबूर नहीं थे, शरीर की कमज़ोरी उन्हें मजबूरी नहीं दे पायी. काव्यपाठ करने से उन्हें कोई भी शक्ति कभी भी नहीं रोक पायी. ऐसे ही किसी कार्यक्रम के लिए 1985 में खंडवा गये थे. खंडवा तक जाकर नरसिंहपुर न जाएं ऐसा कभी हो ही नहीं सकता था. नरसिंहपुर उन्हें देश के किसी भी कोने से खींच लेता था. किसी भी कारण यात्रा पर निकलें तो नरसिंहपुर कहीं न कहीं कोष्टक में होता था. यहां कुछ दिनों के निवास के बाद अंतिम दिन नहाने के पहले कुछ चिट्ठियों का उत्तर देने के बाद भगवान ने उन्हें बुला लिया. उन्होंने किसी कविता में उत्तर न देने की जिद इसलिए की थी कि वे उत्तरदायी नहीं हैं, पर आयी हुई हर चिट्ठी के प्रति वे उत्तरदायी होते थे. शायद आने वाली अंतिम चिट्ठी का जवाब वे दे चुके थे.

पिताजी का यह शताब्दी वर्ष है. पिताजी ने 72 वर्ष के जीवनकाल में खुद भी अपनी शताब्दी के बारे में कभी नहीं सोचा होगा, क्योंकि कविता के विषयों का उनका दायरा इतना विस्तृत था कि विचार ही 'कविता रूप' हो जाता था. इस विषय पर उनकी कोई कविता नहीं मिलती. इससे तय होता है कि उनके मन में उनकी शताब्दी के बारे में कोई

उत्कृष्ट भारतीय कपास

अब एकल स्रोत पर
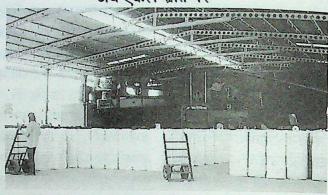
भारतीय कपास निगम तीन दशकों से अधिक समय से भारतीय कपास उत्पादकों के हितों का संरक्षण कर रहा है। निगम 10 राज्यों में फैले हुए 300 केंद्रों द्वारा कपास खरीदता है और उसे भारत स्थित वस्त्र मिलों को उपलब्ध कराता है तथा विदेशों में भी भेजता है।

हमारा कपास का क्षेत्र व्यापक है, जिसमें शॉर्ट और लौंग स्टेपल किस्मों की दोनों तरह की कपास होती है। हम गुणवत्ता, 100 प्रतिशत कपास कपड़े की पैकिंग तथा बिक्री के पहले और बाद में उत्कृष्ट सेवा का आश्वासन देते हैं.

आज हम देश में कपास का सबसे बड़ा व्यापारिक संगठन हैं, जिसका टर्न-ओवर लगभग 2748 करोड़ रूपए है, हमारा कार्य परिचालन नवी मुम्बई में स्थित मुख्यालय और 18 शाखा कार्यालयों से होता है। भारतीय कपास की 'वन-स्टॉप शॉप' होने के साथ-साथ हम कपास उत्पादकों को उचित मूल्य देने और खरीद्दारों को उत्कृष्ट कपास देने के, दोनों कार्य में समन्वय बनाये रखते हैं।

इसलिए, यदि आपको कपास की आवश्यकता है, तो आज ही निगम से सम्पर्क करें।

- लीन सीजन के लिए कपास का सबसे बड़ा एकल स्रोत, जो निधियों को रोके बिना वस्त्र उद्योग मिलों की सहायता करता है।
- आधुनिक भंडार गृहों में वैज्ञानिक भंडारण।

भारतीय कपास निगम लिमिटेड
(भारत सरकार का उपक्रम)

कपास भवन, प्लॉट नं. 3 ए,-सेक्टर 10 ए
सीबीडी बेलापूर, नवी मुंबई- 400614
दूरभाष : 91-22-27579217
फैक्स : 91-22-27576030
www.cotcorp.gov.in

वस्त्र मंत्रालय
भारत सरकार
उद्योग भवन
नई दिल्ली- 110 011
www.ministryoftextiles.gov.in

आदर भाव नहीं था. पिताजी ने शताब्दी को शायद समय की छोटी इकाई माना था. कविताओं में काल प्रवाह और अखिल काल प्रवाह की बात ज़रूर मिलती है. लेकिन जहां यह बात मिलती है वहां अखिल काल प्रवाह को तुच्छ माना है-

गगन मानो एक वातायन हुआ
नयन मेरा भटकता-सा मन हुआ
अखिल काल प्रवाह से ये बल बड़ा
लग गया मुझको पता पल वो चल पड़ा

अखिल काल प्रवाह उनके लिए निरर्थक था. उनके मिले हुए पल सार्थक होते चले जाएं यही उनके लिए बहुत था. इस सबके बाद कोई एक पल अखिल काल प्रवाह से बड़ा हो जाए तो उसमें उन्हें आश्चर्य नहीं होता था. अगर रात भर तूफान के थपेड़ों से घायल पंछी सुबह पस्त हुए तूफान की छाती पर उसकी खिल्ली उड़ाते हुए उड़ान भर लें या कोई पल अखिल काल प्रवाह से बड़ा हो जाए तो इससे ज़्यादा अलौकिक उनके लिए कुछ भी नहीं था. लघुत्तम की महत्तम पर विजय उन्हें अच्छी लगती थी. पिताजी के वंशजों की बात करें तो न तो उनका कोई सामर्थ्य ऐसा था और न उनके पास पिता की दी हुई ऐसी शिक्षा थी कि वे अपने पिता की शताब्दी मनाने की सोचते. हम लोगों ने तो उन्हें सबकी बात करने वाला भीड़ का कवि मानकर उन्हें भीड़ और सब से अलग नहीं किया.

पिताजी का अपना वक्तव्य है- छोटी-सी जगह में रहता था. छोटी-सी नदी नर्मदा के किनारे, छोटे-से पहाड़ विंध्याचल के आंचल में छोटे-छोटे साधारण लोगों के बीच. एकदम घटना विहीन, अविचित्र मेरे जीवन की कथा है. साधारण मध्यवित्त के परिवार में पैदा हुआ, साधारण पढ़ा-लिखा.

इस तरह पगडंडी और कच्चे रास्तों से जीवन-यात्रा शुरू हुई. पगडंडी के टेढ़े-मेढ़ेपन ने उनको पगडंडी सरलता से नापने की कला दी तो गड्ढों से युक्त कच्चे रास्तों ने उन्हें कष्टों में विचलित न होने की शिक्षा दी. नर्मदा ने जीवन को प्रवाह और गति दी तो विंध्याचल, सतपुड़ा ने जीवन को स्थिरता और दृढ़ता दी. पगडंडी और कच्चे रास्तों की स्वाभाविकता जिस बड़े रास्ते पर जाकर जुड़ी, उसे गांधी मार्ग मानने में कोई हर्ज नहीं. गांधी मार्ग को सबसे स्वाभाविक मार्ग मानना चाहिए. प्रलोभन और न जाने कितने रास्ते खोलता है लेकिन ये रास्ते कहीं न कहीं जाकर बंद हो जाते हैं. इनमें से एकाध तो तिहाड़ जेल तक जाकर बंद होता है लेकिन 'गांधी मार्ग' कहीं बंद नहीं होता. इसको पिताजी के उदाहरण से जाना जा सकता है. पिताजी गांधी मार्ग पर चलकर बैतूल से नागपुर जेल गये. गांधी मार्ग पर चलने के लिए नागपुर जेल से वर्धा आये और बाद में वर्धा से हैदराबाद, मद्रास, बम्बई होते हुए 'गांधी मार्ग' का सम्पादन करने दिल्ली आये. यह यात्रा छोटी नहीं थी, लगभग 72 वर्ष तक इस मार्ग पर पिताजी चले. मार्ग के बारे में यही समझ में आता है कि व्यक्ति चुक सकता है, पीढ़ियां चुक सकती हैं, लेकिन ये मार्ग नहीं चुकता. ❑

अविस्मृत

● शरद रंजन शरद

अब तो आवाज़ ही बची है
हवा के गलियारों में चक्कर काटती
सोंधे कंठ से हांक लगाते
कुछ अक्षर हैं उसकी वसीयत
और थकी हारी मनुष्यता के लिए
चंद उत्साह भरे कदम

शाम ढलते वक्त जब खुरों से अधिक
दौड़ते भागते जूतों की धूल फैलती ऊपर
और सीले पांवों से उतरे मोजों की
चिपचिपी गंध पसरती सतह पर
सुस्ताते समय के बारजों पर बिछतीं
अगली सुबह की प्रतीक्षा में आंखें
सुनायी पड़ता वह फटी नीरवता को सिलता
दिखाई देता मानो सच का सपना

लगता जैसे रोशनी की लालटेन लिये
अंतरिक्ष से उतर आया बूढ़ा चांद
जब जवान था वह और हम बच्चे
खा नहीं पाये चांदी के कटोरे में
बस गिरते सम्भलते हुए बड़े
और वह देखते न देखते
पहुंच गया चौथे पन में

पृथ्वी की एक बहुत छोटी पृथ्वी
दो बराबर भागों में बंटकर बैठी होती
सांसों की तनी रस्सियों के सहारे
कंधों पर उम्र की लचकती बहंगी में
वह खुद को लिये चलता
कोई कर्ज़ होता उसकी पीठ पर
बार-बार चढ़ता उतरता

हम खरीदने से पहले चखना चाहते
तो वह दोने में देता मलाई
जामन के लिए मांगते थोड़ा दही
तो ले आता भरकर ढकनी
ऐसे में कितना बचेगा मिलेगा क्या
पूछने पर भरे हृदय से कहता
मैं अकेला वक्त के भार से लदा
अब जोड़ने बटोरने से क्या फ़ायदा
जबतक डोर टूटी नहीं है सांस की
भर भरकर लाता रहूंगा मटकी

हमारी शामें बेहतर लगतीं उसके आते ही
भोर के जगे हम असल में तभी जगते
दिनचर्या जैसे शुरू होती उस दिव्य भोग से
रात भर उसी स्वाद को लिये घूमते
और तड़के सूर्य रथ की धुरी में रख जाते
ताकि गर्मजोशी के साथ फैलती रहे तासीर

धूप में छिपा उसका झीना चेहरा
रंगों के साथ कई रूपों में नज़र आता
वह बिहंसता आंखें नचाता मुंह बनाता
हवा पानी के हाथों भेजता न्योता
कभी मन नहीं मानता तो अंतरिक्ष में लगी
सीढ़ियों पर छड़ी टेकता उतरने लगता
और रुकते ही उदास होकर उठंग जाता

वह बूढ़ा चांद डूबा अंतरिक्ष से अधिक आंखों में
तब से कोई उतरा न देखा हमने आकाश
वह कब किस तरह बदलता है रंग
तो भी आवाज़ें कैसे रुकतीं वे तो मरती नहीं
और वहां गूंजती जहां होता उन्हें मिलाने वाला
आहटें पीछा करतीं सीधे सधे मौन का

उसकी याद गये कितने बरस बीते
फिर भी पड़ी हुई मीठी गलमूंछें!

मिसेज़ रोशन का वंडर डॉग

• मनीष कुमार सिंह

मिसेज़ रोशन के घर कुत्ता आया है. यह बात पड़ोसियों को पता चल गयी. उनके ऊपर रहने वाली पड़ोसन ने बताया कि उन्हें कुत्ते को घुमाते हुए देखा गया है. भौंकने की आवाज़ तो मैंने भी सुनी थी. बच्चे बगल में कुत्ते की बात सुनकर उत्साहित हो उठे. ''ममी हम भी देखेंगे.''

''अच्छा रुक जाओ. मैं आंटी के घर चलूंगी तो दिखला दूंगी,'' मैंने उन्हें आश्वासन दिया.

''ममी आज चलें!'' दोनों ने समवेत स्वर में कहा. ''नहीं, कल देखेंगे.''

ऊपर वाली पड़ोसन ने कुछ और जानकारी भी दी. पूरे पंद्रह हज़ार में खरीदा है. प्योर ब्रीड है. बिलकुल बछड़े जैसा लम्बा-ऊंचा. अरे इन्हें पालने में काफ़ी खर्च आता है. समझो अपनी औलाद की तरह रखना. खाने-पीने से लेकर समय पर घुमाना वगैरह. अंत में उसने यह भी जोड़ा कि सबके बस की बात नहीं होती है. बात आयी-गयी सी हो गयी. घर-गृहस्थी में किसे इतनी फुरसत है कि कहीं आये-जाये. लेकिन जब बच्चों की रविवार की छुट्टी आयी तो उन्होंने फिर कुत्ते को दिखाने के वादे की याद दिलायी. मैं दोनों को लेकर मिसेज़ रोशन के यहां गयी. करीब साठेक साल की मिसेज़ रोशन तंदुरुस्त कही जा सकती थीं. चेहरे पर उम्र की लकीरें और सिर के बालों में सफेदी ज़रूर थी लेकिन मूलतः वे स्वस्थ थीं. उनके पति से भी मेरे मुलाकात हुई थी. वे एक खुशमिजाज़ किस्म के बुजुर्ग थे. पड़ोसियों के छोटे बच्चों को बुलाकर बातें करते और कभी-कभार टॉफी-चॉकलेट हाथ में पकड़ा देते. एक दिन मैंने उन्हें अपने बच्चों को भी रोककर स्कूल का नाम और खेल-कूद के बारे में बतियाते देखा. उनके ड्राइंगरूम में बातचीत करते हुए मैंने कहा, ''इन बच्चों को आपका पैट देखना है. बड़े शौक से आये हैं.''

''बड़ी अच्छी बात है,'' वे हंसने लगीं, ''चलो बच्चों तुम्हें दिखाती हूं.'' वे दोनों को लेकर दूसरे कमरे में गयीं. एक विशाल आकार का कुत्ता चहल कदमी कर रहा था. ''मिकी, सी टू लिटिल फ्रेंड्स हैव कम टू मीट यू.''

मिकी यानी उनका कुत्ता. गले में चमड़े का पट्टा बंधा हुआ था. बच्चों को उसके पास जाने में हिचकिचाहट हो रही थी. कहीं काट ले तो. ''बिल्कुल डरो नहीं. यह काटता नहीं है.'' ढेर सारे रोयेंदार बालों से भरा उसका चेहरा छुपा हुआ था. ''ये अभी बस पांच महीने का है.''

"अच्छा!" मुझे बड़ा अचरज हुआ "हां, मेरे हसबैंड को भी यह बहुत पसंद आया. सो क्यूट" वे भी बच्चों से कम उत्साहित नहीं थीं. "हम इसे मैनर्स सिखा रहे हैं." सब तौर-तरीके अंग्रेज़ी में अपने कुत्ते को रटायेंगी मेरे मन में विचार आया. "आंटी यह सोता कहां है?" मेरे बड़े बेटे ने प्रश्न किया. "बेटे हमारे साथ." वे बोलीं. "अच्छा?" उसे हैरत हुई.

"और क्या. बिस्तर में घुसकर जगह बनायेगा और सो जाएगा."

मेरा छोटा बेटा ज़रा दुस्साहसी था. सो करीब आकर शेक हैंड मिकी कहने लगा. "अभी इसे हाथ मिलाना नहीं सिखाया है." वे हंसने लगीं. देर तक बच्चे कुत्ते को निहारते रहे. मैं उनसे बातों में लगी रही. उनकी बातों का मुख्य विषय मिकी की वंशावली, उसकी अभिजात्य पृष्ठभूमि और खानपान था. "मेरे हसबैंड मेंटेनेंस के मामले में बड़े पर्टीकुलर हैं." मैं ज़रा बोर हो गयी. ऐसा भी क्या रखा है कुत्तों में. अपनी औलाद के लिए इतना करती तो कोई बात थी.

वे हमें वापस ड्राइंगरूम में ले गयीं. कोल्डड्रिंक परोसती हुई वे पुनः पुराने प्रसंग पर लौट आयीं. मैं आयी थी बच्चों को उनका कुत्ता दिखाने ही लेकिन अब ऊब चुकी थी. तभी वे बच्चों के लिए मुट्ठी में कुछ टॉफियां और एक क्रीम बिस्कुट ले आयीं.

"लो बेटे खाओ." उन्होंने मेरी तरफ़ देखा, "ले लो." मैंने कहा, "आंटी दे रही हैं."

सामने आलमारी में शीशे के दरवाज़ों के पीछे बहुत से सुंदर खिलौने सजे थे बालसुलभ उत्सुकता से मेरे बच्चे उन्हें निहारने लगे. वे भांप गयीं. "सब मेरे बेटे-बेटियों के बचपन के खिलौने हैं. कुछ अपने नाती-पोते के लिए दुबई से लेकर आयी थी." जरा मंद स्वर में आगे बोलीं, "यहां कौन इनसे खेलने वाला है. ...लो बच्चों तुम्हें यह चाबी वाला भालू देती हूं."

"अरे नहीं," मैंने प्रतिवाद किया, "ये दो मिनट में खराब कर देंगे. घर में इतने सारे पड़े हैं. पहले उनसे तो खेल लें. सारा दिन इन लोगों का यही सब चलता है. पढ़ाई में ध्यान कम रहता है."

"तो क्या हुआ?" वे निर्झर हंसी से बोलीं, "एक मेरी तरफ़ से ले जाओ." उन्होंने सचमुच भालू बच्चों को थमा दिया. लो चले थे मिलने के लिए और एक एहसान सर पर पड़ गया. लौटते वक्त मेरे मन में मिसेज़ रोशन के प्रति अच्छी धारणा थी.

अगले दिन शाम को पार्क में बेंच पर मैं चार और महिलाओं के साथ बैठी थी. चर्चा और गपशप के मध्य मिसेज़ रोशन और उनके

कार्यकलापों का भी ज़िक्र आया. "बड़ी अजीब औरत है." सबसे पहले उनके ऊपर रहने वाली ने ही टिप्पणी की. "हसबैंड-वाइफ दोनों को पैसे की कोई कमी नहीं है. उल्टे-सीधे काम में लुटाते हैं. कुछ दिन हुए कुत्ता क्या पाला सारा समय उसी के पीछे लगे रहते हैं. सुबह-शाम घुमाना और माई सन कहकर गले लगाये रखना. बुड्ढे-बुढ़िया का दिमाग फिर गया है. औरतों के चेहरे पर हंसी छा गयी. "अकेले रहते हैं?" एक ने प्रश्न किया. वह रोशन दम्पत्ति के बारे में ज़्यादा नहीं जानती थी.

"हां. अकेले ही हैं." ऊपर वाली उनके विषय में सबसे ज़्यादा ज्ञान रखती थी. "बाल-बच्चे सेटेल्ड हैं. अपनी-अपनी जगह हैं. एक अमेरिका में बसा हुआ है. बेटी मुम्बई में है. एक और बेटा इसी शहर में है लेकिन अलग रहता है."

"साथ नहीं रहता है. क्यों?" मैंने पूछा. "भई नहीं पटती होगी. इनके यहां तो लोग आते-जाते भी कम हैं."

"ये सब अमीरों के चोचले हैं," एक अन्य पड़ोसन मिसेज़ लाल कह रही थी, "हम सब मिडिल क्लास के हैं." उसके कथन से यह अहसास सभी के अंदर आ गया कि वे एक ही वर्ग की हैं. इस एकजुटता की अवस्था में और रस लेते हुए मिसेज़ लाल ने बताया कि शहर में होने वाले डॉग शो में जीतने पर इनाम में मोटी रकम मिलती है. सम्पूर्ण प्रसंग में व्यावसायिक कोण प्रवेश कर गया. यह सारा लाड़-दुलार यूं ही नहीं है. आजकल लोग कमाने के लिए जो न करे वह कम है.

ऊपर वाली पड़ोसन ने कहा कि ज़रा उनके कुत्ते को बड़ा होने दो. किसी औलाद से कम कमाकर नहीं देगा. बातचीत पूरी होते-होते महिलाओं के चेहरे पर ईर्ष्या पुत चुकी थी. "अगर ऐसा है तो हमें भी कुछ इसी तरह से करना चाहिए." मिसेज़ लाल ने अंत में टिप्पणी की.

मिसेज़ लाल और ऊपर वाली पड़ोसन की दी हुई जानकारी से यह ज्ञात हुआ कि रोशन दम्पत्ति कुछ सालों से अकेले रह रहे थे. अपुष्ट सूत्रों के अनुसार बहुएं उन्हें पसंद नहीं करती थीं. बेटी से रिश्ता ठीक-ठाक कहा जा सकता था लेकिन आखिर उसके साथ तो नहीं रहा जा सकता था. आज की न बहुएं कम हैं और न ही सास. किचन में स्लीपर पहनकर मत जाओ. यह करो, यह न करो. ऐसी बातों को लेकर झगड़ा होता था. अब कुत्ता सारे घर में चक्कर काटता है तो पवित्रता नष्ट नहीं होती है. ऐसी औरतें अकेले जीती हैं बस अपने लिए. मैंने भी अपने अल्पकाल की मुलाकात में रोशन के चेहरे पर बुढ़ापे और अकेलेपन से उपजी उदासी चिपकी नहीं देखी थी. कम से कम बुजुर्ग औरतों का जो समूह होता है उसी में शामिल हो जाती. मन लगा रहता. मैं एक सीमा से ज़्यादा पराये मामलों में रुचि नहीं रखती थी. अपना घर-परिवार काफ़ी है.

एक दिन सब्जी-फल वगैरह लेने मार्केट को निकली थी. हाथ में थैला लेकर मोलभाव में लगी थी. तभी एक आवाज़ ने आकृष्ट किया. "सुनिधि तुम यहां!" मैंने मुड़कर देखा.

मिसेज़ रोशन थीं. वे प्लास्टिक का बासकेट लिये थीं. साथ में उनके पति भी थे. वे भी ख़रीदारी करने निकले थे. पति ने कुत्ते की ज़ंजीर थाम रखी थी. मुझे वह पिछली मुलाकात से भी ज़्यादा बड़ा नज़र आ रहा था. मैंने दोनों को नमस्ते किया. ''तुमसे उस दिन मिलकर बड़ा अच्छा लगा,'' वे बोलीं, ''किसी दिन फिर आओ ना.'' उनकी बात से लगता था कि वे मुझे औरों से अलग समझती थीं. ''पहले आप अंकल को लेकर हमारे यहां आइए.'' मैंने भी आत्मीयता से कहा.

पीछे खड़े रोशन साहब ने कहा, ''हम बूढ़े-बुजुर्ग ठहरे. ये तुम्हारी तारीफ कर रही थीं. बच्चे भी बेहद प्यारे हैं. एक दिन हम भी तुम्हारे यहां आयेंगे. पर फिलहाल तुम लोग आओ.''

''ठीक है अंकल.'' मैं इंकार न कर सकी. हमारी बातें होने लगीं. औरतों की बातचीत देखकर रोशन साहब बोले, ''भई तुम लोग बातें करो तब तक मैं बाकी सामान देखता हूं.'' बातों से मालूम हुआ कि मिसेज़ रोशन को 'आस्टोइसिस' है. फिजिओथेरेपी करने के साथ-साथ सुबह-शाम टहलती भी हैं. साथ में अपने अज़ीज़ मिकी को लेकर जाती हैं. पति तो वैसे स्वस्थ हैं. बस डायबिटिस है इसलिए खानपान में परहेज करते हैं. ''आंटी आप अकेले यह सब कैसे कर लेती हैं?'' मैंने पूछा.

वे इस सवाल पर पहले चुप रहीं. बाद में कहा, ''कौन करेगा फिर सुनिधि?'' चेहरे पर आये अवसाद को चतुराई से छिपाकर मुस्करायी, ''कुछ मुश्किल नहीं है. धीरे-धीरे इंसान को आदत पड़ जाती है. अब तो यही मेरी दुनिया है.'' उन्होंने मिकी की पीठ सहलायी जैसे यह बता रही हो कि यह भी मेरे इस संसार का हिस्सा है. हम दोनों बातें करते हुए साथ चलने लगे. इंसान के पैर में जख्म हो तो उसकी चाल से पता चल जाता है. चाहे वह बताये या न बताये. ''गुंचु को पिछले हफ्ते हम लोगों ने फोन किया था. इधर वह नहीं आ पायेगा.'' गुंचु यानी उनका बड़ा बेटा. पहली बार वे अपने परिवार के किसी सदस्य का ज़िक्र कर रही थीं. मुझे ऊपर वाली ने बताया था कि न तो वह इधर आता है और न इन लोगों को अपने पास बुलाता है. अब किस मुंह से बिना बुलाये जायेंगे

''हम तो मिकी को घुमाने आये थे. सोचा साथ में घर के लिए कुछ खरीद लें.'' वे मिकी को सहलाती हुई उत्साह से कहने लगीं. मैंने औपचारिकता के नाते सहमति में कहा, ''इसी बहाने आपका मन लगा रहता होगा. यही ज़िंदादिली आपकी सेहत का राज़ है.''

वे शायद यह सुनना नहीं चाहती थीं. ''देखो मैं बूढ़ी हो गयी इसमें क्या मेरा दोष है. मेरे हसबैंड कहते हैं कि अगर मैं तुमसे पहले चला गया तो ज़्यादा अपसेट मत होना. पहनने-ओढ़ने में कमी करने की ज़रूरत नहीं है.'' ''...मैं क्यों कमी करूंगी.'' मैंने उनसे तुरंत कहा. ''रोशन साहब मुझे तो ऐसे ही रहना था. अच्छा हुआ कि आपने खुद कह दिया. मुझसे आपको सर्टिफिकेट

मिल गया.''

अविश्वास के भाव को मैंने यत्नपूर्वक चेहरे पर लाने से रोका. वे अपनी धुन में आगे कहने लगीं, ''हमारे पंजाब में ऐसे बाज़ार से सब्ज़ियां नहीं खरीदनी पड़ती थीं. घर के पिछवाड़े क्यारियों में सब्ज़ियां लगाती थीं. ताज़ी तोड़कर पकाते थे. यहां तो समझो कि सीवर के पानी से उपजी खा रहे हैं या किसी और पानी से, कोई ठिकाना नहीं है.'' उन्होंने आगे बताया कि घर के पास वाले पार्क में कुछ क्यारियां माली ने बनायी हैं. वहां वे रोज़ मिकी को लेकर जाती हैं. बिल्कुल शुरू में अपने पोते की उंगली पकड़कर ले जाती थीं. नंगे पांव उसे ही घास पर चला कर खुश होतीं. हरदम जूते मोजे पहने रहना कौन-सी अच्छी बात है. मिकी को पार्क में घूमना बहुत पसंद है.

मेरा मन हुआ कि पूछूं क्या कुत्ते को ले जाने की इजाज़त है. पर चुप रही. मिसेज़ रोशन मुझे अतीतजीवी लगीं. या फिर शायद किसी भ्रम में जीने वाली. पता नहीं मैं उनका ठीक से मूल्यांकन कर पा रही थी या नहीं. हर इंसान जीना चाहता है. वे भी कुछ ऐसा ही प्रयास कर रही थीं. जहां तक मिकी का सवाल था वह रात-दिन अपने मालिक-मालकिन या कहिए मां-बाप के बीच घुसा रहता और उन्हीं के बीच सारी हरकतें करता. जैसे साथ घूमने जाना, घर में अपनी उपस्थिति व अपने मूक प्यार द्वारा अकेलेपन के बोध को दूर करना. जाहिर है वह कुछ ऐसे काम कर रहा था जो कि रोशन दम्पत्ति अपनी औलादों, नाती-पोतों वगैरह से चाहते होंगे. जीवों में श्रेष्ठता का दावा करने वाले मनुष्य का स्थान लेना सम्भव नहीं पर शून्यता को भरने के लिए कुछ व्यवस्था तो होगी ही. उम्र के इस मोड़ पर व्यक्ति संस्मरणात्मक हो जाते हैं. वर्तमान को किसी तरह काटना शुरू कर देते हैं. लेकिन वे लोग एक हद तक इससे बचे हुए थे. कोई अपने घर में हो तो कई मर्ज यूं ही दूर रहते हैं.

जाते-जाते उन्होंने हंसकर कहा, ''अगर हमारे आंसू बहाने से कोई गुज़रा हुआ लौट आये या किसी का फूला मुंह ठीक हो जाये तो मैं ऐसा खूब करूंगी.'' कुत्ता उनके पैरों से लगभग सटकर चल रहा था. वे प्यार से उसे थपकी देने लगीं. ☐

माथे पर सवार

एक बार दो शिष्य नदी पार कर रहे थे. तभी एक युवती ने प्रार्थना करते हुए उसे भी नदी पार करवाने का आग्रह किया. एक शिष्य ने उसे कंधे पर बिठा कर नदी पार करवा दी. जब दोनों शिष्य अपने आश्रम की ओर जा रहे थे तब दूसरे शिष्य ने पहले से कहा, ''आज गुरुजी से शिकायत करूंगा कि तूने एक युवती को कंधे पर नदी पार करवायी थी अतः तेरा ब्रह्मचर्य खंडित हो गया है.'' दूसरे शिष्य ने उत्तर दिया, ''बंधु, तुम्हारे माथे पर तो वह युवती अभी तक सवार है, जबकि मैं उतार कर भूल चुका हूं.''

व्यक्तित्व

एक अप्रतिम जीवन का नाम है बाबा आमटे

● सुरेश द्वादशीवार

अपने बचपन में ग्रेटा गार्बो से खत-ओ-किताबत करनेवाला आदमी अपनी पूरी ज़िंदगी कुष्ठपीड़ितों की बस्ती में गुज़ारने की ठान ले तो उसने क्या पाया-क्या खोया? कॉलेज के दिनों में रेसर कार का शौक पालनेवाला मनचला युवक जवानी में संन्यासी का चोगा पहनने पर आमादा हो जाए, यह कौन-सी अलख है जो उसकी वर्जनाओं पर विजय पा सकी? उसके परिवार की चार पीढ़ियां उसी के नक्शे कदम पर स्वेच्छा से उसी विरासत को आगे बढ़ाने में पूरी शिद्दत के साथ जुट जाएं तो त्याग या भोग में से किसकी श्रेष्ठता यहां दांव पर लगी होती है? ...यह बाबा के अभंग होने का सबूत है या छितर कर चिरंजीवी बन जाने की पेशकश है? इन सवालों के सम्यक उत्तर जिसे मिल जाएं वह बाबा को भी समझ सकेगा और खुद को भी. सम्भवतया अपने परिवेश, परिजनों और बहुजनों को भी वह पढ़ पाएगा... बाबा आमटे के जन्मदिवस (26 दिसम्बर) के अवसर पर उन्हें समझने की एक दृष्टि.

आलेख का मराठी से अनुवाद प्रकाश भातम्ब्रेकर ने किया है.

ज़िद, दृढ़ निश्चय, जद्दोजहद, संयम, चुस्ती, दूरदृष्टि, धीरज, सावधानी, सहनशीलता, आत्मविश्वास, परिश्रम करने की असीम क्षमता. ये सारे गुण जिस व्यक्ति में हों और इनके अलावा अपना अलग व्यक्तित्व, असाधारण प्रतिभा, प्रखर मेधा तथा अक्खड़-फक्कड़ आज़ादी का पुरोधा होने का माद्दा जिस शख्स में हो- वही व्यक्ति बाबा आमटे बन सकता है. अपनी न्यूनताएं, सीमाएं आदि के दायरों से पूरी तरह वाकिफ़ होते हुए भी सहृदयता, दरियादिली, संवेदनशीलता, व्यापक विचारशक्ति तथा सदाबहार पूर्णता की उत्कट जिजीविषा जिसके पास हो- ऐसा व्यक्ति ही बाबा के आसपास पहुंच सकता है. इंसान का कद नापने के सभी पैमाने जहां बौने सिद्ध होते हों, इतनी बुलंदी को जो छू सकता हो तथा नटखट बचपन की सहज शिशुता समेत दिल-ओ-दिमाग की पैनी व्यंग्यात्मकता को भी जो बखूबी धारण कर सकता हो, ऐसा व्यक्ति भी बाबा की पंक्ति में बैठ सकता है. अभ्यागत व्यक्ति की गुणवत्ता, क्षमता आदि का गहराई से फौरी आकलन कर उसके सर्वांगीण विकास की हर सम्भव सुविधाएं उपलब्ध कराते हुए अपने श्रमजीवी परिवार से उसे जोड़ लेने का हुनर जिस शख्स में हो, वह भी ऐसी ज़ुर्रत कर सकता है... किंतु इतने सारे गुण-विशेष धारण करने वाला व्यक्ति विरला ही होगा. इसीलिए, बाबा आमटे अपनी किस्म के एक अकेले ही दिखाई देते हैं और हैं भी.

ज्योतिविहीन बच्चों की सुविधा के लिए बिना कांटे के गुलाब के पौधे प्राप्त करना, इंसान को पुश्त-दर-पुश्त जीने की ऊर्जा प्रदान करते हुए खुद ठूंठ बन जानेवाले बेनामी वृक्षों के अहसानों की हरदम याद दिलाने हेतु स्मारक स्थापित करना, कूड़े के ढेर में पाये गये नवजात भ्रूण को मां की ममता से उठाकर लाना, उसे खिलाना, उसकी परवरिश करना तथा उसे जीने का अधिकार प्रदान करना और उसकी गृहस्थी बसाना; वृद्धाश्रम का नाम बदल कर उसे उत्तरायण की संज्ञा प्रदान कर उसे 'ज्ञानाधिकोष' (विजडम बैंक) कहना तथा सिंधु नदी की साक्षी से आखिरी सांस लेने की कामना करना... इस तरह के अफलातून किरदार बाबा जैसा असाधारण व्यक्ति ही निभा सकता है.

अपंगों-अपाहिजों में हट्टे-कट्टे इंसानों का माद्दा भर देना आसान नहीं होता. हाथ-पांव के ठूंठ, आंखों के स्थान पर बचे कोटर तथा लाचार ज़िंदगी का बोझ ढोने को बाध्य बेबस लोगों का दवाखाना खोलने के बजाय उन्हें कृषिकर्म करने अथवा औद्योगिक इकाइयां चलाने योग्य बनाना क्या किसी अद्भुत करिश्मे से कम है? हट्टे-कट्टे इंसान जहां नियति की शरण में घुटने टेकते नज़र आ रहे हों वहीं आनंदवन के अपंगों के काफिले नियति को धता दिखाते हुए अपने बूते पर भगवान को ललकारने की हिमाकत करते हों तो यह न जादू है, न चमत्कार. इसे समूह-शक्ति की समेकित निर्मिति-क्षमताओं का अविजित आविष्कार

ही कहा जाना चाहिए. इंसान भीड़ में रहता है तो सामाजिक इकाई भी वही है. जहां भी वह है, समस्याओं तथा व्यथा-वर्जनाओं से घिरा है. इन्हीं में से सर्वाधिक पीड़ित, प्रताड़ित, वंचित एवं उपेक्षित व्यक्तियों को इकट्ठा कर उन्हें विकास की राह दिखाना, उनकी कार्यप्रवणता को झकझोरना, संजोना तथा मायूस पराधीनता के बजाय उन्हें एक खुद्दार, खुशहाल तथा इज़्ज़त की ज़िंदगी का दावेदार बनाना... यही वह बुलंदी है जो बाबा आमटे को रेखांकित करती है.

एक बार रात के वक्त में घर लौट रहा था तो मैंने देखा, रास्ते में एक स्कूल के सामने, बाबा की बस खड़ी है. मैं स्कूटर से उतरकर भीतर गया. वहां एक खटिया पर बाबा लेटे थे, तनिक बेचैन-से. मुझे देखते ही उन्होंने कहा, 'काफ़ी देर घर में तुम्हारा इंतज़ार करता रहा और चल पड़ा इस उम्मीद से कि तुम यहां ज़रूर मिलोगे, पहुंच गया...''

शर्मसार होकर मैंने कहा, ''आप फोन कर देते. मैं हाज़िर हो जाता. इतनी-सी बात के लिए इतनी दूर....''

''बहुत ज़रूरी काम था'', मुझे बीच में ही टोकते हुए वे बताने लगे तो मैं चुप हो गया.

''आज पहली बार आनंदवन पर कर्ज़ लेने की नौबत आयी है. तो दिल के फफोले फोड़ने चला आया.'' मेरे पिताजी से बाबा के अंतरंग सम्बंध थे. अतः हम सभी के वे श्रद्धेय एवं पूजनीय थे. रात के वक्त पचास कि.मी. दूर से वे यहां आये और दो घंटे तक मेरी प्रतीक्षा करते रहे... वह भी केवल अपना दिल हल्का करने! मेरा कलेजा मुंह को आ गया.

''बाबा, आप हमें अपने बच्चे मानते हैं. न, तो चिंता-विंता छोड़ दीजिए. कल दोपहर तक चार लाख रुपये आपके पास पहुंच जाएंगे.''

''लेकिन लाओगे कहां से इत्ता सारा पैसा?''

''खेती-बाड़ी बेच डालूंगा.''

वे भौंचक से मुझे देखते रहे, फिर मुझे अपने सीने से लगाकर उन्होंने कहा, ''बन गया मेरा काम, अब तुम जा सकते हो.''

मैंने इधर-उधर से डेढ़ लाख इकट्ठा किये और तीसरे दिन पहुंच गया उनके पास ''बस, चुक गया पूरा कर्ज़'' उन्होंने कहा. इस घटना के बाद मेरा सम्बंध रिश्ते में बदल गया. जब भी कोई महत्त्वपूर्ण काम सामने आता, वे पूरे आत्मीय अधिकार के साथ बुलाकर मुझे वह काम सौंपते थे.

सन् 1978-84 के बीच कॉलेज की नौकरी से निपटकर हर शनिवार शाम को मैं आनंद पहुंचता और दो रातें वहीं बिताकर सोमवार को सबेरे सीधे वहीं से कॉलेज पहुंच जाया करता था. उन दो दिनों में, फुरसत में होने पर हमारी खूब बातें होतीं, बहसें होतीं, कई नये विचार मुझे सुनने मिलते, विभिन्न मामलों में उनकी राय जानने को मिलती. इस दौर में बाबा ऐसी बातें भी आत्मीयता से कह जाते, जो किसी को बताने लायक नहीं होती थीं. उनकी कल्पनाओं में ताज़गी, सपनों में दिव्यता, विचारों में

स्पष्टता और पारदर्शिता हुआ करती थी.

एक बार उनकी वाणी का दौर शुरू हो जाए तो अखंड सिलसिला जारी रहता; कथ्य और विषयवस्तु की दृष्टि से उसमें संगति भले ही न रहती हो. उनके विचारों के स्वरूप, दाहकता, दृढ़ता, तरलता आदि सभी विशेषताओं को भांपकर मैं अपनी तरह से उन्हें क्रमवार शब्दबद्ध कर लिया करता था. यदा-कदा अंग्रेज़ी में भी वे बोलते थे, जैसे सुभाषित झर रहे हों. असाधारण स्मृति के कारण किसी भी संदर्भ के लिए वे अटकते नहीं थे. महर्षि व्यास-वाल्मीकि से लेकर ज्ञानदेव-तुकाराम तक अथवा गांधी, साने गुरुजी, यीशू, खलील ज़िब्रान, कार्ल मार्क्स का संतत्व, माओ के क्रूर कारनामे... और भी बहुत कुछ. ये सभी संदर्भ उलट-पलटकर आते रहते थे और इधर मेरी सांस फूलने लगती थी. लेकिन बाबा के मूल स्वर से तादात्म्य स्थापित हो जाने पर ये संदर्भ आप ही, हाथ जोड़ कर पंक्तिबद्ध स्थापित हो जाते थे. पी.एल. देशपांडे ने उक्त पुस्तक की प्रस्तावना में इस पूरी प्रक्रिया को ट्रांसप्लांटेशन' कहा है.

1962 में पहली बार मैं बाबा से मिला था. अदिवासियों की समस्याओं को मुखर करने के उद्देश्य से एक साप्ताहिक पत्रिका का प्रकाशन उन दिनों मैंने शुरू किया था. इसी सिलसिले में उनसे मिलने मैं आनंदवन गया था. उन दिनों आनंदवन कृषि-औद्योगिक बस्ती की तरह हरा-भरा एवं प्राकृतिक सम्पदा से भरा-पूरा था. अब वह चिकना-चुपड़ा, साफ़-सुथरा कम्यून-सा बन गया है. खैर. कहने का मतलब यह है कि तब तक आनंदवन या बाबा आमटे अंतरराष्ट्रीय क्षितिज पर पहुंचे नहीं थे.

'ज्यां बुले' नामक फ्रांसीसी कवि ने उन दिनों आनंदवन को केंद्र में रखते हुए एक लम्बी कविता लिखी. उसमें उन्होंने ईसा मसीह से पुनर्जन्म के उन्हीं के वादे के अनुसार आनंदवन में पुनः जन्म लेने का आग्रह किया था. अपनी इस कविता की लाखों प्रतियां उन्होंने समूचे यूरोप में वितरित कीं. उसी के परिणामस्वरूप पहले-पहल आनंदवन के विकास हेतु वहां से मोटी धनराशि का चेक प्राप्त हुआ था. जिस काम का जिक्र विदेशों में भूरि-भूरि प्रशंसा के साथ हो रहा हो, उसकी अपने ही गृहराज्य, महाराष्ट्र में उपेक्षा हो जाए तो क्या दिल खट्टा नहीं होगा? यदुनाथ थत्ते ही वे जांबाज़ पत्रकार थे जो बाबा को सबसे पहले समूचे महाराष्ट्र के सामने लाये. थत्ते जी उनके 'सपनों का सहोदर' थे.

बाबा के खून में ही पहलवानी अक्खड़-फक्कड़पन था. जवानी के दिनों में उन्होंने पहलवानी का शौक पूरा भी किया था. यूं भी वे क़द्दावर तो थे ही और वर्जिश-कसरत की वजह से किसी यूनानी योद्धा से कम नहीं लगते थे. सांवला रंग, धूप में निरंतर खटते रहने के कारण सांवले से श्यामल बनी कांति, छह फुटा कद, सिर पर घने किंतु छितरे बाल, मोटी-मोटी आंखों और धारदार पैनी निगाहें जो मानो दिल के आर-पार थाह लेती हों तथा अगले के भेजे के पिछले हिस्से को भी बांच सकती हों. खद्दर की,

बिना बांहों की बनियान और खद्दर की ही बरमूडानुमा निक्कर (इस पोषाक को आनंदवन में बाबा सूट कहते थे. इसी लिबास में वे राष्ट्रपति भवन में गांधी स्मृति एवं आम्बेडकर स्मृति सम्मान प्राप्त करने गये थे.) इस लिबास में उनके गठीले बदन का तिलिस्म उजागर होता था. न चेहरे पर शिकन, न थकान, न रीढ़ में बांक! सदाबहार व्यक्तित्व था उनका.

वे बोलते क्या, गरजते-लरजते थे. भाषण भी बिजली की तरह कड़कते अंदाज़ में. सुननेवालों के सिर के ऊपर से भले ही निकल जाता हो विचारों का गुबार, पर वाणी की मोहिनी, फेविकॉल की तरह कुर्सी से चिपकाये रखती थी. मार्क ट्वेन ने एक जगह कहा है कि साहस में भय का अभाव नहीं, भय को मात देने का माद्दा निहित होता है. भय का साया भी उनके साथ रहता ही था, पर वह कभी स्व-केंद्रित नहीं था. उन्हें भय से अकुलाते, छटपटाते हुए मैंने कई बार देखा, पर वे विचलित कभी नहीं हुए, जिस विश्वास के साथ हज़ारों कुष्ठपीड़ितों ने खुद को आनंदवन के हवाले कर दिया उसकी चिंता बाबा को हरदम लगी रहती थी. उनकी सेवा में जुटे अन्य सहयोगियों का पल-पल के सार्थक सदुपयोग की चिंता उन्हें रहती थी. बाबा का बोधवाक्य था- होश में रहकर योजना बनानी चाहिए और बेहोश होकर उस पर अमल करना चाहिए. योजना के कार्यान्वयन में जुटे सहकर्मियों की बेहोशी उनकी बेहोशी के समकक्ष नहीं होती इसलिए वे अकुलाते थे, यदा-कदा खीझते भी थे.

इन सब कामों के अलावा सफेद रंग का मिनी ट्रक भी खुद चलाते थे. कुष्ठ पीड़ितों के हाथ की उंगलियों के संवेदनाहीन हो जाने से उन्हें ड्राइविंग लाइसेंस नहीं दिया जाता था. जबकि आनंदवन में हर रोज़ अतिथियों का आना-जाना लगा रहता था. दूध, साग-सब्जी, अनाज, राशन-पानी आदि के लिए वाहन तो चाहिए ही था. तो ड्राइवर कहां से लाएं? बाबा ही ड्राइव किया करते थे. किसी भी व्यावसायिक ड्राइवर से अधिक यानी लाखों कि.मी. की ड्राइविंग बाबा ने की होगी. इसका असर रीढ़ के मनकों पर पड़ा और इलाज के लिए उन्हें लंदन जाना पड़ा था.

बाबा गतिशील इंसान थे. हर कदम अनुशासित और चुस्त. यही वजह थी कि भरोसेमंद सहयोगियों का काफिला साथ में होने के बावजूद हर काम में आगे रहना तथा उसके सुचारु रूप से सम्पन्न होने के बाद आश्वस्त हो लेना उनके स्वभाव में था. जैसे- कुआं खोदने का काम हो तो प्रत्यक्ष उस स्थान पर प्रातः काम शुरू होने से लेकर शाम को काम समाप्त होने तक धूप में वहीं तपते हुए खड़े रहते थे. आनंदवन में उपजी साग-सब्जी मंडी में किफायती दाम पर ग्राहकों को उपलब्ध हो, इस बात से आश्वस्त होने के लिए वे खुद मंडी जाते और बिक्री की आमद भी संस्था के दफ्तर में खुद ही जमा कराते. दवाखाना था, दवाकर्मी थे; फिर भी कुष्ठपीड़ितों के घाव साफ़ करने, उनकी मरहम-पट्टी करने का

काम करने में वे खुद ही पहल करते... इसी दौरान एक दिन उन्हें लगा कुष्ठरोग निवारण के लिए टीका क्यों न बनवाया जाए? बिजली एक बार कौंध जाये तो चैन कहां! वे बीमारी के विशेषज्ञों से मिले और कुष्ठ के विषाणु अपने बदन में रोपकर खुद गिनी पिग बनने का आग्रह उन्होंने किया. शिथिलता, कामचोरी और आलस्य से उन्हें सख्त नफरत थी. वे खुद पर ही इस का गुस्सा उतारते और यदा-कदा गुमसुम हो जाते थे. बाबा का गुस्सा सभी को गवारा था. पर उनकी चुप्पी सबको कचोटती थी.

एक रात आनंदवन से कांपती-सी आवाज़ में विकास का फोन आया, ''तुम फौरन स्टेशन के चौराहे पर आ जाओ, जया को भी लेते आना. गुस्से में भरे बाबा अभी-अभी यहां से चल पड़े हैं... बिना कुछ बताये...''

''लेकिन हुआ क्या था?''

''कुछ नहीं. वही, खीझना और भुनभुनाना. ताई पर बरस पड़े और चल दिये...''

''लेकिन तुमने कैसे अनुमान लगाया कि वे यहीं से होकर जाएंगे?''

''या तो सोमनाथ जाएंगे, या फिर तुम्हारे घर और भला कहां... जया के साथ मैं फौरन चौपुले पर पहुंच गया. चंद्रपुर रेलवे पुल को पार कर बाबा की बस आगे की ओर निकल ही रही थी कि हमें वहां देखकर वह वहां रुक गयी. हमने दरवाज़ा खोला ही था कि उनकी बौछार शुरू हो गयी-

''किसने कहा तुम्हें यहां आने के लिए?''

''लेकिन किसी को कुछ बताये बिना आप चल पड़े... वहां सब लोग दिल थामकर बैठे हैं...''

''तो उनसे कहो कि वे दिल थामकर ही बैठे रहें. मैं हरगिज़ आनंदवन लौटूंगा नहीं. और तुम किसी तरह की वकालत नहीं करोगे मेरे सामने. समझे?''

''हम तो छोटे लोग हैं, बाबा. लेकिन आनंदवन, ताई...'' मुझे बीच में ही टोककर तमतमाये अंदाज़ में उन्होंने कहा, ''लेकिन उन्हें ही तो मैं अखरने लगा हूं न...'' जितनी जल्दी वे भावुक हो जाते थे, उतनी ही तेज़ी से वे उखड़ भी जाते थे. आम स्थिति में ताई-बाबा में पाया जानेवाला अद्वैत भाव ऐसे मौकों पर काफूर हो जाता था...

''चलो, जाने दो मुझे देर हो रही है. उतर जाओ तुम यहीं...'' वाक्य समाप्त करते-करते उन्होंने मुड़कर जया की ओर देखा और पूछा, ''तुम ठीक तो हो न, बेटी!'' ...मुझे कुछ राहत-सी महसूस हुई. बर्फ पिघलने लगी था. उनके सोमनाथ पहुंचने से पहले ही हमने वहां सभी को खबर कर दी. बाबा के तेवर देखकर यथोचित रूप से पेश आनेवाले, वहां के खास लोगों ने उनका पूरा ध्यान रखा और एक तूफान थम गया. आठ-दस दिनों तक बाबा वहीं रहे.

बात जब आयी-गयी हो गयी तो अब बरसने की बारी ताई की थी, ''जाने को तो मैं भी यहां से जा सकती हूं. लेकिन आपका तथा बाकी लोगों का दायित्व मुझ पर है. आपने तो आनंदवन को छोड़ा, मैं दुनिया को

भी छोड़ सकती हूं.'' बाबा शांत हुए, मुस्कुराये और स्थिति सामान्य हो गयी.

बाबा के ऐसे कई रूपों का मैं प्रत्यक्ष गवाह हूं. आनन-फानन में उनके तेवर बदलते देर नहीं लगती थी. अभी गम्भीर चिंतक हैं तो दूसरे ही क्षण बच्चों-से मासूम. तो अगले क्षण करुणा-सिंधु नज़र आते. गुस्सा इतना कि हिमालय को भी डगमगा दे और भावुकता के दौर में इतने सरल कि दिल के स्पंदनों से खुशबू झरने लगती.

आदमी कितना ही बड़ा क्यों न बने, सेवा का मानदंड उन्हें विनयशील बना देता है. सत्ताधारी हो या कीर्ति-शिखर का पुरोधा, प्रतिभासम्पन्न मेधावी हो या आम आदमी, व्यष्टि हो समष्टि अक्सर उस मानदंड में छुपा इंसान किसी को नज़र ही नहीं आता. नज़र आता भी हो, तो अनदेखा ही रह जाता है. उस मानदंड से प्राप्त ऊंचाई अथवा खींची लक्ष्मण रेखा के दायरे में ही उसे देखना लोग पसंद करते हैं. इस कशमकश में उस व्यक्ति की सांस फूलने लगती है, इस बात का तनिक भी अहसास दर्शकों को नहीं होता. आम आदमी की तरह दुनियाई सुख-दुख से रू-ब-रू होने अथवा रोने-हंसने का अधिकार एक इंसान होने के नाते उसे भी प्राप्त है. इस हकीकत को अनायास भुला दिया जाता है. तथापि, उल्लेखनीय है कि इन सभी सीमाओं के बावजूद उनके भीतर का इंसान हरदम तरोताज़ा और अभंग रहा. सामान्य इंसान बने बाबा को मैंने देखा है. यदा-कदा इस कोशिश में नाकाम होने पर उनके दिल की छटपटाहट और टीस को भी मैंने महसूस किया है.

अपने बचपन में ग्रेटा गार्बो से खत-ओ-किताबत करनेवाला आदमी अपनी पूरी ज़िंदगी कुष्ठपीड़ितों के सहवास में गुज़ारने की ठान ले तो इसमें भला उसने क्या पाया, क्या खोया? कॉलेज के दिनों में रेसर कार का शौक पालनेवाला मनचला युवक भरी जवानी में संन्यासी का चोगा पहनने पर आमादा हो जाए तो यह कौन-सी अलख है जो उसकी वर्जनाओं पर विजय पा सकी? उसके परिवार की चार पीढ़ियां उसी के नक्शे कदम पर स्वेच्छा से उसी विरासत को आगे बढ़ाने में पूरी शिद्दत के साथ जुट जाएं तो त्याग या भोग में से किसकी श्रेष्ठता यहां दांव पर लगी होती है? ...यह बाबा के अभंग होने का सबूत है या छितर कर चिरंजीवी बन जाने की पेशकश इन सवालों के सम्यक उत्तर जिसे मिल जाएं वह बाबा को भी समझ सकेगा और खुद को भी. सम्भवतः अपने परिवेश, परिजनों तथा बहुजनों को भी वह पढ़ पायेगा... इंसान के भीतर, ठेठ गहराई तक झांकने का प्रयास शायद ही कोई करता है. ऐसी ज़ुर्रत कोई करे भी, तो वह हाशिये के इर्द-गिर्द ही मंडराता पाया जाता है. कोशिका के केंद्रबिंदु तक वह पंहुच ही नहीं पाता है... सम्भवतः इस प्रयास में हम सदा ही खंडित रहे और दरारें भी हमारे ही साथ बरकरार रहीं. शायद यही उस व्यक्ति की और हमारी मूल प्रकृति है, जो दोनों को अलग-अलग पहचान दे सकी.

बाबा ने 'भारत जोड़ो' आंदोलन का दामन थामा, तो उस दौर में हमारी दूरी कुछ बढ़ गयी थी. उनके आंदोलन पर काफ़ी टीका-टिप्पणी हुई और किसी हद तक उसमें दम था भी. यह पढ़-सुनकर, दूरी के बावजूद मन में कचोट तो होती ही थी. 'क्या मैं ताउम्र आनंदवन में ही सिमटा रहूं? देश, समाज, परिवेश और युवाओं के प्रति क्या मेरा कोई दायित्व नहीं? यदि मैं लीक से हटकर, इस दिशा में कुछ करना चाहूं तो इसमें भला किसी को आपत्ति क्यों है?' ऐसे सवाल उन दिनों वे किया करते थे. चिलचिलाती धूप का कहर, सड़क के किनारे निर्धारित आवास, साइकिल की सवारी कर वहां पहुंचनेवाले सैकड़ों युवकों-युवतियों की ज़िम्मेदारी. न सही आवास-निवास, न समुचित खान-पान सुविधा, न कोई समय सारणी, बुखार-नज़ले को दर किनार कर काम में जुटे रहने की जद्दोजहद... सुध-बुध खोकर समूची कार्रवाई में शुरू से अंत तक सहभाग... पूरे उत्साह के साथ. उन्हें मलाल था तो यही कि उनके इन प्रयासों को समाज का तथाकथित कर्णधार या चिंतक-विचारक तबका समझ क्यों नहीं रहा है? बाबा शोहरत के कायल नहीं थे, यह तो उन्हें विदेशों में मिल ही रही थी, वहां उनके चाहनेवालों की तादाद भी काफ़ी थी. इसके बावजूद, यह शोहरत पाने की स्टंटबाजी होने के फिकरे उन पर कसे जाते थे. जो लोग ज़िंदगी भर धूप के साये से भी डरते रहे और निष्क्रियता में ही जिन्होंने सारी उम्र गंवा दी. ऐसे बौने लोगों की उलाहना बाबा को व्यथित कर देती थी. पंजाब के संतप्त युवाओं के जत्थों से बाबा विमर्श करते. बिहार तथा उड़ीसा में शस्त्राचारी समूहों में पहुंचकर उनका अंतरंग जानने का प्रयास करते. 'इस यात्रा से ज़्यादा कुछ हासिल होनेवाला नहीं था. तथापि, मैं कुछ हासिल करने या कुछ प्राप्त करने या किसी की खुशामद के लिए कोई काम नहीं करता मुझसे रहा नहीं गया और मैं चल पड़ा...' कहनेवाले बाबा को यात्रा की उपलब्धियों से कोई सरोकार नहीं था. उन्हें यही तसल्ली थी कि देश की एकात्मता का मसला कितना जटिल है, यह जानने-समझने का अवसर उन्हें मिला.

महाकाय परियोजनाओं की रूपरेखा बनानेवाले पुरोधा नीति-निर्धारण के पड़ाव तक पहुंचकर ठिठक जाते हैं. उनमें से कुछ महाभाग एक कदम आगे बढ़कर कार्य-व्यवस्था (इंफ्रास्ट्रक्चर) मोड़ तक पहुंच जाते हैं और कुछ ही लोग उससे भी आगे बढ़ते हुए अंतिम लक्ष्य-प्राप्ति की बारीकियों को जज़्ब कर पाते हैं. इनमें से प्रत्येक स्तर पर बाबा सक्रिय रूप से सहभागी होते थे और आखिरी मंज़िल तक प्रत्येक मद की गुणता से स्वयं आश्वस्त हो लेते थे. निर्धारित मानदंडों के यथार्थ कार्यान्वयन के मामले में वे कोई समझौता नहीं करते थे. आनंदवन-परियोजना में सोमनाथ की कृषिभूमि नये सिरे से जुड़ गयी, तो उसकी जुताई से लेकर पकी फसल के खलिहान में पहुंचने तक की पूरी अवधि में वहीं, एक कुटिया बनाकर वे रहे थे. पहली जोताई में

वहां हल चलने लगा तो कुछ स्थानीय लोगों ने रोड़े अटकाना शुरू किया. ऐसे में, संघर्ष की स्थिति से निपटने के लिए बाबा ही अगुवा थे. वहां की कृषि उपज, फूलों की उपज सफलतापूर्वक मंडी में जाने लगी, कृषि-कर्मियों को मेहनत की रोटी बाइज़्ज़त उपलब्ध हो सकी. यह अंतिम लक्ष्य प्राप्त करने के बाद ही बाबा वहां से आनंदवन लौटे.

बाबा के सेवाभाव पर सौंदर्यबोध की झालर हमेशा सजी होती थी. खेत की सिंचाई करनी हो तो भी फुहारों की उछल-मचल का नज़ारा देखने मिलता था. आनंदवन में मवेशियों को चारा-पानी के साथ-साथ संगीत की दावत भी दी जाती थी. आनंदवन के निवासी कुष्ठपीड़ितों के साथ अभ्यागतों का व्यवहार सौहार्दपूर्ण ही हों, इस बात का विशेष ध्यान रखते थे. संस्था को धन या अन्य सहयोग की अपेक्षा सदा रहती थी. लेकिन उसे उन्होंने धनदाताओं के नाज़-नखरों या सनकीपन का मुहताज कभी नहीं होने दिया.

आगामी आवश्यकताओं के पैदा होने से पहले ही उनका इलाज बाबा के दिमाग में तैयार रहता था और सम्बंधित योजनाओं की सम्पूर्ण रूपरेखा एवं क्रियाविधि का ब्योरा भी. वर्षाऋतु के आगमन से पहले आनंदवन तथा सोमनाथ की कृषिभूमि बुआई-जुताई के लिए यथासमय तैयार रहती थी. खाद, उर्वरक, बीज आदि पूरक सामग्री का पर्याप्त भंडारण बाकायदा हुआ होता था. सूखे का तानिक अंदेशा हो जाए तो भी जल-नियोजन की रूपरेखा वे फौरन बना लेते थे...

आपातकाल के दौरान मुझे हिरासत में लिया गया. पुलिस जब मुझे ले जा रही थी तो बीच में बरोड़ा के बस स्टैंड पर वाहन को रुकवाकर मैंने बाबा से फोन पर कहा- ''मैं कृष्ण की मातृभूमि के लिए प्रस्थान कर रहा हूं.'' उन्होंने फौरन जवाब दिया, ''गोकुल की चिंता मत करो. मैं हूं यहां.'' ऐसे कितने ही अवसर और कितनी ही स्मृतियां... बाबा के बड़प्पन का बखान तो सभी लोग करते हैं, मैं भी कर सकता हूं, लेकिन उनके बड़प्पन से भी उनकी इंसानियत का मैं अधिक कायल रहा हूं. उनकी इंसानियत का कोई ओर-छोर नहीं था. बड़प्पन की गुंजाइश खत्म हो जाने पर इंसानियत पनपती है अथवा असीम इंसानियत ही बड़प्पन का रूप धारण कर लेती है? सवाल पेचीदा है किंतु बाबा बड़े भी थे और इंसानियत से आतेप्रोत भी थे, यह सच है. उनकी विभिन्न भूमिकाओं में एक अद्वैत था. पिता-नेता सेवक-संयोजक के बीच की सीमारेखाएं कब और कहां खत्म तथा शुरू हो जाती थीं, पता नहीं चलता.

बाबा की फटकार सुनने और उनके मुंह से सराहना के शब्द सुनने में भी कृतार्थता महसूस होती थी. किसी के साथ मामला बिगड़ जाये तो उससे वे इस कदर मुंह फेर लेते, जैसे उसे जानते भी न हों. और किसी को बख्शना हो तो मामूली से, सोल्डर करनेवाले आदमी को भी लगे कि वह टाटा से कम नहीं है... लेकिन इस पूरे दौर में

उनकी टोही निगाहें उस व्यक्ति की थाह पाने में बराबर जुटी रहतीं. किसी भी व्यक्ति से मिलते ही उसकी औकात तथा क्षमताओं का यथार्थ आकलन उन्हें हो जाता था. किसी विद्वान मनीषी को एकाध बस खरीदकर भेंट देने को उनका मन करता. किसी व्यंग्यकार को कमरे में बंदकर उससे कुछेक पृष्ठों का सृजन कर्म अनिवार्यतया करवाने की कल्पना भी उनके दिमाग में आती. किसी गायक को खालिस गायकी के लिए ही अन्य दायित्वों से मुक्त रखा जाये या फिर किसी अन्य व्यक्ति को अधिक-से-अधिक विश्राम का समय मिलने दिया जाये- आदि कई तरह के अफलातून विचार उनके मस्तिष्क में मंडराते रहते थे.

विष्णु सखाराम खांडेकर को महसूस हुआ था कि साने गुरुजी की सेवा भावना और डॉ. कोटनीस की अमर कहानी का मेल बाबा के व्यक्तित्व में है. पी.एल. देशपांडे ने उनके भीतर रवींद्रनाथ को पाया तो कुरुंदकर ने उन्हें गांधी-विचारों का सक्रिय प्रतिनिधि करार दिया. स्वयं बाबा विनोबा भावे को अपनी मां मानते थे तथा अन्य समाजसेवियों का बखान अत्यंत श्रद्धापूर्वक किया करते थे. किसी कवि ने उन्हें तूफान की संज्ञा दी (और उन्हें काबू में रखनेवाली साधनाताई के सामर्थ्य को भी सराहा). बाबा तूफान थे तो, सामर्थ्य और गतिमानता के मामले में. अन्यथा तूफान हमेशा दिशाहीन ही होता है. और अल्पजीवी होने का शाप भी उसे मिला होता है. किंतु बाबा आमटे नामक तूफान स्वयंप्रेरित, स्वयंचालित और स्वयंनियंत्रित था.

ज़िंदगी में पायी जानेवाली विषमता, दुख, दैन्य आदि से सभी का मन उद्विग्न हो जाता है. परिणामस्वरूप उनमें से अधिकांश लोग करुणा के पड़ाव तक आकर थम जाते हैं; उनमें सहभागी होने की दिलेरी बहुत कम लोग दिखा पाते हैं... उन्हीं में होता है एकाध गांधी, साने, स्वाइटजर, मदर टेरेसा और उनके बाद बाबा आमटे.

बाबा आमटे के कुछ परिचितों तथा चाहनेवालों ने उनको लेकर उनके जीते जी कई कहानियां गढ़ीं जैसे... चलती गाड़ी में वे पैदा हुए. उन्होंने भगतसिंह को हथियार उपलब्ध कराये. रवींद्रनाथ के साथ प्रत्यक्ष बातचीत की. गांधीजी ने उन्हें अभय साधक कहा. नेहरूजी ने आनंदवन में आकर उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की. आज़ादी की जंग में बाबा शामिल हुए थे और कई बार जेल भी जा चुके थे... आदि और भी कई बातें. उन पर अंग्रेज़ी में लिखे गये एक चरित्र-ग्रंथ में भी अत्यंत भक्ति भावना से चरित्रकार ने ऐसे किस्सों को स्थान दिया है. बाबा से क्षणिक मुलाकात करनेवाले लोग भी उनसे चिर-परिचित होने के अंदाज़ में ऐसे किस्से औरों को सुनाते रहे हैं.

यह तो मानना ही पड़ेगा कि किसी व्यक्ति के जीते जी उसके बारे में इस तरह की किंवदंतियां प्रसारित हो जाएं तो यह निश्चय ही उस व्यक्ति की महानता को रेखांकित करता है. उनका कार्य किसी तरह के चमत्कार से कम है भी नहीं. दरअसल आनंदवन की परिकल्पना, उसका विकास

एवं स्वरूप सभी कुछ करिश्माई वीरता से कम नहीं. और यह करिश्मा उनके अपंग योद्धा साथियों की अद्‌भुत क्षमता एवं जुझारूपन का प्रतीक है. किसी कुष्ठरोगी संस्था द्वारा हट्टे-कट्टे समाज की संतानों की उच्चशिक्षा हेतु महाविद्यालय शुरू करने तथा वहां के आचार्यों-प्राचार्यों को विधिवत नियुक्त करने की मिसाल शायद पूरी दुनिया में अद्वितीय है... आनंदवन को चलाने के लिए जिन-जिन चीज़-वस्तुओं की आवश्कता पड़ती है. उन सभी का उत्पादन बाकायदा अपंगों के हाथों से, अपंगों की देखरेख में होता है और अतिरिक्त माल खुले बाज़ार में बेच दिया जाता है. अपंगों की व्यावसायिक सफलता की यशोगाथा बयान करनेवाला यह उपक्रम भी दुनिया में अपने किस्म का एक अकेला है. कुष्ठरोगियों का एक केंद्र ज्ञानपीठ को जन्म देता है, प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियों का ऊर्जास्रोत बन जाता है और समाज द्वारा दुत्कार दिये गये, उपेक्षित, वंचितों को समाज के उपकारकर्ता के रूप में प्रतिष्ठित कर दिखाता है... यह घटना भी शायद जागतिक कीर्तिमानों की शृंखला की अव्वल कड़ी होगी.

मानवीय इतिहास इंसानी जुल्म-जबरदस्ती तथा इसके खिलाफ़ छिड़ी इंसानी जंग का ही बयान है. इस माहौल में एकाध महामानव ही हाथ में ईश्वर नामक नियति का शस्त्र थामकर यदा-कदा अवतरित हुआ है... मानवमुक्ति के लिए. नियति को घुटने टेकने के लिए मजबूर करनेवाले नुस्खे कई महानुभावों ने दिये. इतिहास की साक्षी विज्ञान और प्रौद्योगिकी के बल पर नियति को मात देने के इरादे से विज्ञानमहर्षि खम ठोंक कर अखाड़े में उतरे. तथापि, उन्हें महसूस हुआ कि नियति से लोहा लेने की इस जद्दोजहद में हथियारों की चमक इंसानियत पर हावी हो गयी है... लेकिन बाबा की अपंग-सेना की जद्दोजहद की बुनियाद ही सर्वथा भिन्न थी. प्रत्यक्ष नियति को ही उन्होंने ललकारा और उस पर विजय पाकर नियति के अस्तित्व पर ही प्रश्नचिह्न लगा दिया. बची-खुची क्षमताओं के साथ अपनी अभावग्रस्तता पर ही उन्होंने धावा बोल दिया. उन्होंने विज्ञान और प्रौद्योगिकी का दामन तो थामा, लेकिन इंसानियत की चाभी हठात् उन्हें नहीं सौंपी. बल्कि अपने दायरे में उन्हें सिमटा दिया. गांधीबाबा को भी विज्ञान का यही रूप शायद अभिप्रेत था.

स्तुति और प्रशंसा भला किसे नहीं लुभाते? बाबा उससे अछूते थोड़े ही थे! पर उसकी मदहोशी उनके सिर चढ़कर बोलने की ज़ुर्रत कभी नहीं कर सकी. इंदिरा गांधी उनसे मुलाकात करने पधारीं, अटल बिहारी वाजपेयी के हाथों गांधी-आम्बेडकर पुरस्कार उन्होंने प्राप्त किये, उन्हें पद्मभूषण अलंकरण का सरकारी एलान हुआ... फिर भी हर मौके पर वे ज़मीन पर ही खड़े मिले, कोई अतिरिक्त उत्तेजना नहीं. इंदिराजी ने उनसे मुलाकात के दौरान उन्हें महामानव कहा तो लम्बे-लम्बे डग भरते हुए दस-बीस फुट चलकर महामानव की चाल के अंदाज़ की नकल उन्होंने उतारी थी. इतना ही नहीं, बल्कि अपनी इस कारगुजारी पर खुद ही

खूब ठहाके भी लगाये थे. इंग्लैंड-अमेरिका की मददगार संस्थाओं की ही तरह यूरोपीय संस्थाओं-संगठनों से भी प्रचुर मात्रा में वित्तीय सहायता किसी ज़माने में आनंदवन को प्राप्त होती थी. उन सभी के प्रति बाबा के मन में कृतज्ञता का भाव अवश्य था, किंतु आनंदवन की गतिविधियों में उन्होंने दखलंदाजी शुरू की, तो बाबा का माथा ठनकने लगा. ऐसी संस्थाओं को वे साफ़-साफ़ लिख देते- आपकी सहायता की अब हमें ज़रूरत नहीं! एक देसी संस्था ने उन्हें सुझाव दिया कि आनंदवन में एकाध मंदिर बनवाया जाये. तपाक से उनकी बात को काटते हुए उन्होंने जवाब दिया था... "तब तो मुझे यहां मस्जिद, गिरजाघर, गुरुद्वारा भी बनाने पड़ेंगे. बाबा सेक्युलर होने के अलावा ठेठ निरीश्वरवादी भी थे. उनका दृढ़ विश्वास था कि कर्म ही तपस्या है, मनुष्य ही भगवान है और सेवा ही पूजा है. इसीलिए उन्हें कभी किसी मंदिर या मस्जिद में जाते हुए किसी ने नहीं देखा... तथापि, ज़िंदगी के आखिरी दिनों में मंदिरों की बेसाख्ता याद उन्हें आती रही. पहाड़ी पर चढ़ने में तकलीफ होने के बावजूद माहुरगढ़ की अंतिम पायदान पार कर उन्होंने अम्बा माता के दर्शन किये थे. इसके मूल में ताई की ईश्वर-भक्ति के प्रति आदर व्यक्त करने का भाव तो था ही, कुछ अपराध-बोध भी था- बाबा की खातिर ताई ने ताउम्र अपनी इच्छाओं को कुर्बान होने दिया. ताई न केवल मूर्ति पूजक, बल्कि संत-महात्माओं की भी भक्त थीं. उनका पूजागृह रंग-बिरंगे फूलों से हरदम सजा-संवरा! उसमें देवी-देवताओं के अलावा संत-महंतों की भी तस्वीरें टंगी होती थीं. उनका पूजाकाल एक-डेढ़ घंटा हुआ करता था. आनंदवन में फूलों की क्यारियों में एक तख्ती लटकी होती थी- 'आनंदवन में फूल तोड़े नहीं जाते.' ज़ाहिर है, बाबा का ही यह आदेश था. लेकिन इस आदेश की अनदेखी कर ताई वहां के फूलों को बराबर तोड़ लातीं... बस, इतनी-सी बेअदबी! अन्यथा बाअदब बाबा के आदेशों का पालन वे करती थीं. बाबा को मिष्ठान्न पसंद नहीं था तो ताई भी उससे परहेज करती रहीं, अपने बच्चों, नाती-पोतों के कोई नाज़-नखरे उन्होंने नहीं उठाये, मेरे लिए ताई ने इतनी कुर्बानियां दीं किंतु उनके लिए मैं एक कदम पीछे हटने का सौजन्य कभी नहीं दिखा सका- यह मलाल उन्हें आखिरी दिनों में अधिक तीव्रता से सालता था. इसलिए ताई से वे हररोज़ तीर्थ-प्रसाद ग्रहण करने लगे थे. उनके संत-महंतों के दर्शन करने भी जाने लगे थे... ताई के साथ न्याय न कर पाने के प्रायश्चित स्वरूप वे ऐसा कर रहे थे.

नर्मदा बांध परियोजना को लेकर जो अंदोलन चला था, उसमें वे शामिल हुए और पूरे बारह साल तक आनंदवन से बाहर, नर्मदा तट पर ही बने रहे थे. मध्यप्रदेश में एक छोटा-सा गांव है- 'कसरावद'. विस्तीर्ण नर्मदा के दक्षिणी तट पर एक छोटी-सी पहाड़ी पर टिन के टप्परवाली कुटिया में ताई के साथ वे रहे. आनंदवन से, बीच-बीच में लोग भी वहां

आते-जाते थे... आग उगलती गर्मियों में उनसे मिलने एक बार मैं भी वहां गया था.

दोपहर में 49 डिग्री तापमान, टिन का टप्पर मानो तवा बन गया था इसी असह्य तपिश को झेलते हुए बाबा की खटिया के पास मैं बैठा था और हमारी बातचीत हो रही थी. इसी बीच ललमुंहे बंदर का पिल्ला उछल कर कमरे में आया और सीधे बाबा के सीने पर जा बैठा. इंसानी बिरादरी का तो बाबा को आकर्षण था ही, इसके अलावा प्राणियों से भी उन्हें बेहद लगाव था. मुझे उनके प्यार के रिश्ते तो मालूम थे लेकिन यह बंदर मुझे नया लग रहा था. इसलिए मैं हाश-हुश कर उसे वहां से भगाने की चेष्टा करने लगा, तो वह बाबा से चिपट गया... तब उसे पुचकारते हुए बाबा ने उससे कहा, "अरे मन्या, इतने दिन कहां गायब थे, भाई. और ये है सुरेश." इस प्रकार मेरा परिचय भी उसे करा दिया. उन दिनों एक भारद्वाज पक्षी-युगल और कुछेक हिरन भी उनके परिवार में कभी के शामिल हो चुके थे. एक अर्सा पहले सोमनाथ में साहित्य सम्मेलन आयोजित किया गया था. उस समय साहित्यकारों को वहां बाबा का चिड़ियाघर देख पाने का मौका मिला था. सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष स्वयं बाबा ही थे. पंडाल में बायीं ओर बाबा की खाट बिछी होती थी. वे उधर जाने को हुए कि उनके पीछे-पीछे हिरन, मोर, बंदर और एक छौना आदि का काफिला चल पड़ता था. जब तक बाबा पंडाल में होते, तब तक यह पूरी पलटन वहां चुपचाप बैठकर सभी वक्ताओं के भाषण सुनती थी. भाषण अच्छा हो या बुरा-सभी को तन्मयता से सुनने का सौहार्द वे दिखाते थे. इस मायने में वे इंसान से श्रेष्ठ ही सिद्ध हुए.

अंतिम बीमारी के दौर में लगातार बिस्तर से जकड़े रहने से उकता कर एक बार खुले आंगन से सितारों भरा आसमान देखने की इच्छा बाबा ने जतायी. उनकी इस इच्छा के लिए आनंदवन कर्मियों ने एक मोटी-तगड़ी ठेला गाड़ी बनायी. उसे ठेलते हुए ले जाने की व्यवस्था उनमें थी और ब्रेक भी बाकायदा लगाये गये थे. रात के वक्त एक बार उस गाड़ी में उन्हें परिक्रमा करवायी तो हर रोज़ शाम के वक्त सैर के लिए लिवा ले जाने का आग्रह वे करने लगे. शाम को तालाब के पास गाड़ी के पहुंचते ही बत्तखों का बड़ा-सा जत्था तैरते हुए गाड़ी के पास आता था और गाड़ी के साथ-साथ तालाब की परिक्रमा पूरी करता था.

8 फ़रवरी 2008 की रात. मैं पुणे में था. रात ग्यारह बजे के आसपास बाबा के भानजे डॉ. बाबा पोळ का फोन आया- "बाबा की हालत ज़्यादा खराब है, तुम फौरन चले आओ."

पुणे से मुम्बई और वहां से आनंदवन पहुंचते शाम हो गयी. लोगों का हुजूम वहां इकट्ठा हुआ था. रुआंसे, अनाथ, छत्रहीन लोगों का हुज़ूम... मैं भी उन्हीं में जा मिला.

आनंदवन के दक्षिण में घने वृक्षों की छाया में रंग-बिरंगे फूलों के मदमाते, मोहक परिवेश में बाबा निद्राधीन हैं..

❑

वाल्मीकि रामायण

प्रक्षिप्तः सर्गः२

धर्मेण राष्ट्रं विन्देत धर्मेणैवानुपालयेत्।
धर्माच्छरण्यतां याति राजा सर्वभयापहः ।।15।।
इदं विज्ञाय यत् कृत्यं श्रूयतां मम राघव।

'रघुनंदन! राजा धर्म से ही राज्य प्राप्त करे और धर्म से ही निरंतर उसका पालन करे. धर्म से ही राजा सबको शरण देने वाला और सब का भय दूर करनेवाला होता है. ऐसा जानकर आप मेरा जो कार्य है, उसे सुनिए.

भिक्षुः सर्वार्थसिद्धश्च ब्राह्मणावसथे वसन् ।।16।।
तेन दत्तः प्रहारो मे निष्कारणमनागसः।

'प्रभो! सर्वार्थसिद्ध नाम से प्रसिद्ध एक भिक्षु है, जो ब्राह्मणों के घर में रहा करता है. उसने आज अकारण मुझ पर प्रहार किया है. मैंने उसका कोई अपराध नहीं किया था.'

एतच्छ्रुत्वा तु रामेण द्वाःस्थः सम्प्रेषितस्तदा।।17।।
आनीतश्च द्विजस्तेन सर्वसिद्धार्थकोविदः।

कुत्ते की यह बात सुनकर श्रीराम ने तत्काल एक द्वारपाल भेजा और उस सर्वार्थ सिद्ध नामक विद्वान भिक्षु ब्राह्मण को बुलवाया.

अथ द्विजवरस्तत्र रामं दृष्ट्वा महाद्युतिः ।।18।।
किं ते कार्यें मया राम तद् ब्रूहि त्वं ममानघ।

श्रीराम को देखकर उस महातेजस्वी श्रेष्ठ ब्राह्मण ने पूछा— 'निष्पाप रघुनंदन ! मुझसे आपको क्या काम है?'

एवमुक्तस्तु विप्रेण रामो वचनमब्रवीत् ।।19।।
त्वया दत्तः प्रहारोऽयं सारमेयस्य वै द्विज।
किं तवापकृतं विप्र दण्डेनाभिहतो यतः ।।20।।

ब्राह्मण के इस प्रकार पूछने पर श्रीराम बोले— 'ब्रह्मन्! आपने इस कुत्ते के सिर पर जो यह प्रहार किया है, उसका क्या कारण है? विप्रवर! इसने आपका क्या अपराध किया था, जिसके कारण आपने इसे डंडा मारा है?

क्रोधः प्राणहरः शत्रुः क्रोधो मित्रमुखो रिपुः।
क्रोधो ह्यसिर्महातीक्ष्णः सर्वं क्रोधोऽपकर्षति ।।21।।

'क्रोध प्राणहारी शत्रु है. क्रोध को मित्रमुख शत्रु बताया गया है. क्रोध अत्यंत तीखी तलवार है तथा क्रोध सारे सद्गुणों को खींच लेता है.

तपते यजते चैव यच्च दानं प्रयच्छति।
क्रोधेन सर्वं हरति तस्मात् क्रोधं विसर्जयेत्।।22।।

'मुनष्य जो तप करता, यज्ञ करता और दान देता है, उन सबके पुण्य को वह क्रोध के द्वारा नष्ट कर देता है. इसलिए क्रोध को त्याग देना चाहिए.

इन्द्रियाणां प्रदुष्टानां हयानामिव धावताम्।
कुर्वीत धृत्या सारथ्यं संहृत्येन्द्रियगोचरम् ।।23।।

'दुष्ट घोड़ों की तरह विषयों की ओर दौड़ने वाली इंद्रियों को उन विषयों की ओर से हटाकर धैर्यपूर्वक उन्हें नियंत्रण में रखे.

मनसा कर्मणा वाचा चक्षुषा च समाचरेत्।
श्रेयो लोकस्य चरतो न द्वेष्टि न च लिप्यते ।।२४।।

'मनुष्य को चाहिए कि वह अपने पास विचरने वाले लोगों की मन, वाणी, क्रिया और दृष्टि द्वारा भलाई ही करे. किसी से द्वेष न रखे. ऐसा करने से वह पाप से लिप्त नहीं होता.

न तत् कुर्यादसिस्तीक्ष्णः सर्पो वा व्याहतः पदा।
अरिर्वा नित्यसंक्रुद्धो यथाऽऽत्मा दुरनुष्ठितः ।।25।।

'अपना दुष्ट मन जो अनिष्ट या अनर्थ कर सकता है, वैसा तीखी तलवार, पैरों तले कुचला हुआ सर्प अथवा सदा क्रोध से भरा रहनेवाला शत्रु भी नहीं कर सकता.'

विनीतविनयस्यापि प्रकृतिर्न विधीयते।
प्रकृतिं गूहमानस्य निश्चयेन कृतिर्ध्रुवा ।।26।।

'जिसे विनय की शिक्षा मिली हो, उसकी भी प्रकृति नयी नहीं बनती है. कोई अपनी दुष्ट प्रकृति को कितना ही क्यों न छिपायें, उसके कार्य में उसकी दृष्टता निश्चय ही प्रकट हो जाती है.'

एवमुक्तः स विप्रो वै रामेणाक्लिष्टकर्मणा।
द्विजः सर्वार्थसिद्धस्तु अब्रवीद् रामसंनिधौ ।।27।।

क्लेशरहित कर्म करनेवाले श्रीराम के ऐसा कहने पर सर्वार्थ सिद्ध नामक ब्राह्मण ने उनके निकट इस प्रकार कहा—

मया दत्तप्रहारोऽयं क्रोधेनाविष्टचेतसा।
भिक्षार्थमटमानेन काले विगतभैक्षके ।।28।।
रथ्यास्थितस्त्वयं श्वा वै गच्छ गच्छेति भाषितः।
अथ स्वैरेण गच्छंस्तु रथ्यान्ते विषमं स्थितः ।।29।।

'प्रभो! मेरा मन क्रोध से भर गया था इसलिए मैंने इसे डंडे से मारा है. भिक्षा का समय बीत चुका था तथापि भूखे रहने के कारण भिक्षा मांगने के लिए मैं द्वार-द्वार घूम रहा था. यह कुत्ता बीच रास्ते में खड़ा था. मैंने बार-बार कहा— 'तुम रास्ते से हट जाओ, हट जाओ' फिर यह अपनी मौज से चला और सड़क के बीच में बेढंगे खड़ा हो गया.

क्रोधेन क्षुधयाविष्टस्ततो दत्तोऽस्य राघव।
प्रहारो राजराजेन्द्र शाधि मामपराधिनम् ।।30।।
स्त्वया शस्तस्य राजेन्द्र नास्ति मे नरकाद्भयम्।

'मैं भूखा तो था ही, क्रोध चढ़ आया. राजाधिराज रघुनंदन! उस क्रोध से ही प्रेरित होकर मैंने इसके सिर पर डंडा मार दिया. मैं अपराधी हूं. आप मुझे

दंड दीजिए. राजेंद्र! आपसे दंड मिल जाने पर मुझे नरक में पड़ने का डर नहीं रहेगा.'

अथ रामेण सम्पृष्टाः सर्व एव सभासदः ।।31।।
किं कार्यमस्य वै ब्रूत दण्डो वै कोऽस्य पात्यताम्।
सम्यक्प्रणिहिते दण्डे प्रजा भवति रक्षिता ।।32।।

तब श्रीराम ने सभी सभासदों से पूछा– 'आप लोग बतावें, इसके लिए क्या करना चाहिए? इसे कौन-सा दंड दिया जाए? क्योंकि भली भांति दंड का प्रयोग होने पर प्रजा सुरक्षित रहती है.'

भृग्वाङ्गिरसकुत्साद्या वसिष्ठश्च सकाश्यपः।
धर्मपाठकमुख्याश्च सचिवा नैगमास्तथा।।33।।
एते चान्ये च बहवः पण्डितास्तत्र संगताः।
अवध्यो ब्राह्मणो दण्डैरिति शास्त्रविदो विदुः ।।34।।
ब्रुवते राघवं सर्वे राजधर्मेषु निष्ठिताः।

उस सभा में भृगु, आंगिरस, कुत्स, वसिष्ठ और काश्यप आदि मुनि थे. धर्मशास्त्रों का पाठ करने वाले मुख्य-मुख्य विद्वान् उपस्थित थे. मंत्री और महाजन मौजूद थे तथा और बहुत-से पंडित वहां एकत्र हुए थे. राजधर्मों के ज्ञान में परिनिष्ठित वे सभी विद्वान् श्रीरघुनाथजी से बोले– 'भगवन्! ब्राह्मण दंड द्वारा अवध्य है, उसे शारीरिक दंड नहीं मिलना चाहिए, यही समस्त शास्त्रज्ञों का मत है.'

अथ ते मुनयः सर्वे राममेवाब्रुवंस्तदा।।35।।
राजा शास्ता हि सर्वस्य त्वं विशेषेण राघव।
त्रैलोक्यस्यभवाञ्शास्ता देवो विष्णुः सनातनः ।।36।।

तदनंतर वे सब मुनि उस समय श्रीराम से ही बोले– 'रघुनंदन! राजा सबका शासक होता है. विशेषतः आप तो तीनों लोकों पर शासन करने वाले साक्षात् सनातन देवता भगवान विष्णु हैं.'

वेदोऽखिलो धर्ममूलम् । वेदो नित्यमधीयताम् ।
वेदाः वयं वः शरणं प्रपन्नाः । वेदा ये नः परं धनम् ॥

अद्वैत विद्याचार्य महाराज साहेब

श्री गोविन्द दीक्षितर पुण्य स्मरण समिति (पंजीकृत)

'श्री गोविंद दीक्षिता घटिका स्थानम' 29-30, ईस्ट अयन स्ट्रीट,४ कुम्बकोणम्, थंजावुर जिला,
तमिलनाडु-612001 भारत. टेली नं. (0435) 2425948, 2401789,
पाठशालाः 2422866, 2401788, Email: rajavedapatasala@dataone.in,
Website: www.rajavedapatasala.org

वेद और शास्त्र निहित धरोहर को प्राचीन पारम्परिक गुरुकुल प्रणाली द्वारा सुरक्षित रखने के लिये निवेदन

राज वेद काव्य पाठशाला, कुम्बकोणम् की स्थापना ई.स. 1542 में तीन नायक राजाओं के प्रधानमंत्री **संत अद्वैत विद्याचार्य महाराजा साहेब भगवान श्री गोविन्द दीक्षितर** ने की। यह थंजावुर स्थित पवित्र कावेरी नदी के दक्षिणी तट पर स्थित है। जिसका उद्देश्य है वेदों और शास्त्रों का प्रचार-प्रसार। यह तमिलनाडु क्या पूरे भारत वर्ष में एकमात्र पाठशाला है, जो बिना किसी रुकावट 470 वर्षों से कार्यरत है. यहां निर्धारित पाठ्यक्रम के तहत तीनों वेद-ऋग्, यजु (शुक्ल और कृष्ण) तथा सामवेद की शिक्षा एक ही संकुत के नीचे 8-10 वर्ष के बाल-विद्यार्थियों को दी जाती है। यहां 170 विद्यार्थियों को छह से दस वर्ष तक प्रशिक्षण दिया जाता है। आवास-निवास, खान-पान, यात्रा व शिक्षा की सुविधा आदि समिति अपनी ओर से मुफ्त में करती है। इन विद्यार्थीओं को पाठशाला के 20 वरिष्ठ अध्यापकों के सान्निध्य में वेद-शास्त्रों की शिक्षा दी जाती है. वैदिक शिक्षा की सफल समाप्ति पर उन्हें वेद व शास्त्रों की उच्चतर शिक्षा के लिए पाठशाला के विद्वान अध्यापकों द्वारा प्रोत्साहित किया जाता है.

पाठशाला की इन सब गतिविधियों पर होने वाले बढ़ते व्यय के निरूपण हेतु कांची के कामकोटि मठ के श्री जयेंद्र सरस्वती स्वामिगल द्वारा दि. 21-6-2004 को नवनिर्मित पाठशाला भवन श्री गोविंद दीक्षितर घटिका स्थानम् (13,500 वर्ग फीट) को वैदिक विद्यार्थियों हेतु समर्पित किया गया।

पाठशाला के बढ़ते हुए खर्च की समस्या कम करने हेतु निम्नलिखित योजनाओं के अंतर्गत अनुदान का स्वागत है, कृपया अपना फ़ोन नः(**STD** कोड के साथ) मोबाइल नम्बर / इ-मेल पता व पिन कोड अवश्य लिखें.

योजना का नाम	अनुदान (आंशिक व्यय)	स्थाई अनुदान
वैदिक विद्यार्थी भोज (समाराधना)		
घरेलू भोजन	रु. 700/-	रु. 9000/-
विशेष समाराधना	रु. 2500/-	रु. 30,000/-
चावल और दाल हेतु - (75 किलोग्राम)	रु. 1600/-	रु. 20,000/-
वेद (शिक्षा एवं संक्षण हेतु) प्रति विद्यार्थी	रु. 12,000/- प्रतिवर्ष	रु. 1,50,000/-

अनुदान क्रास चेक, डी.डी. **'ए.वी.एम.एस.जी.डी.पी.एस. समिति'** के पक्ष में 'कुम्बकोणम्' पर देय होना चाहिए। पत्राचार हेतु उपरोक्त पते पर अध्यक्ष एवं कोषाध्यक्ष से सम्पर्क करें।

वर्तमान की तलछट

● ओम थानवी

मैं कराची में हूं. मैं बीकानेर में हूं. नहीं, मैं कराची से बीकानेर की तुलना नहीं करने जा रहा. बीकानेर राजस्थान का एक छोटा-सा शहर है. कराची महानगर है. कराची में समंदर है, जिसके करीब मैं खड़ा हूं. बीकानेर रेगिस्तान है, अरब की खाड़ी से कोसों दूर.

लेकिन एक इमारत है, जो मुझे उस शहर की घनघोर याद दिलाती है जहां मैं पढ़ा और बड़ा हुआ. याद ही नहीं दिलाती, इस इमारत की देहरी पर कदम रखने से पहले- सिर्फ़ परकोटे को देख- मैं घड़ी भर को कराची में मानो सरासर ग़ैर-हाज़िर हूं और बीकानेर में लालगढ़ पैलेस के किसी हिस्से में खड़ा हूं. वही काम, वही छज्जे, झरोखे, मेहराबें और कंगूरे.

वही दरवाज़े और खिड़कियां. और तो और, लाल बलुआ पत्थर भी वही!

यह क्या माजरा है?

यह मोहता पैलेस है. शहर के शानदार क्लिफ्टन इलाके में खड़ी यह इमारत कराची की ही नहीं, पाकिस्तान की सबसे शानदार जगहों में एक है. इमारतों में यह सबसे अहम होगी क्योंकि कायदे आजम जिन्ना का नाम इससे जुड़ा है. जिन्ना की राजनीति में कदम-ब-कदम साथ चलने वाली उनकी बहन फ़ातिमा जिन्ना अपने आखिरी वर्षों में इसी हवेली में रहती थीं.

इसलिए इसे कस्त्र-ए-फ़ातिमा (फ़ातिमा का महल) भी कहा जाने लगा. 1965 में जब उन्होंने फ़ील्ड मार्शल अय्यूब खां के खिलाफ़ गवर्नर-जनरल का चुनाव लड़ा तो एकबारगी मोहता पैलेस जैसे पूरे मुल्क की राजनीति का केंद्र हो गया. लेकिन पाकिस्तान बनवाने में सीधी भूमिका निभाने वाली फ़ातिमा जिन्ना, जिन्हें मुल्क ने मादरे-मिल्लत (राष्ट्रमाता) का खिताब दिया था, चुनाव हार गयीं. इसके बाद उनका सार्वजनिक जीवन कमोबेश खत्म हो गया और वे 'कस्त्र' से बाहर भी कम निकलने लगीं.

फ़ातिमा का इंतकाल मोहता पैलेस में हुआ. यहां से उनका जो जनाज़ा उठा, कहते हैं कराची में उसके बाद उतना बड़ा जनाज़ा नहीं देखा गया. फ़ातिमा के बाद जिन्ना की दूसरी बहन शीरीनबाई यहां रहीं. उनके बाद यह 'महल' उजाड़ में तब्दील हो गया. इतने विशाल भंवन को कौन सम्भाले और जिन्ना के घर में जाकर कौन रहे!

जब बेनज़ीर भुट्टो वज़ीरेआज़म थीं,

सिंध सूबे की हुकूमत ने उनसे गुज़ारिश की कि जिन्ना के नाम पर इस इमारत को खंडहर की शक्ल अख्तियार करने से बचाया जाए. बेनज़ीर ने- जो सिंध की हैं और कराची में समंदर किनारे जिनका अपना घर है- सात करोड़ रुपये खजाने से संस्कृति महकमे को जारी किये. छह करोड़ दस लाख रुपए देकर महकमे ने पहले मोहता पैलेस को जिन्ना के वंशजों से खरीदा और बची रकम उसके जीर्णोद्धार पर खर्च की. चार साल बाद-सितम्बर 1999 में मोहता पैलेस एक अजायबघर के रूप में अवाम के लिए खोल दिया गया.

इस दास्तान से कायदे आज़म जिन्ना के व्यक्तित्व और चरित्र का एक दिलचस्प पहलू खुलेगा अगर आप अब जान लें कि मोहता पैलेस वास्तव में किसका घर था और कैसे वह जिन्ना के परिजनों की सम्पत्ति हो गया.

इसके लिए एक बार फिर बीकानेर की तरफ़ देखें. एक 'मोहता भवन' वहां भी है. यह बीकानेर की शानदार इमारतों में एक इमारत भर नहीं है. भुजिया-रसगुल्ले वाली ख्याति के बावजूद अगर बीकानेर को राजस्थान की सांस्कृतिक राजधानी कहा जाता है तो उसको यह दर्जा अर्जित करने में मोहता भवन की बड़ी भूमिका रही है. शहर का सांस्कृतिक रुतबा यों तो अनूप संस्कृत ग्रंथालय और पल्लू क्षेत्र में निकली जैन सरस्वती की मकराना प्रतिमा से ही कायम रहता, जिसे भाषाशास्त्री और पुरातत्त्वविद् 'तैस्सीतोरी' ने ढूंढ़ा था. (उन्हें सरस्वती की एक-सी दो प्रतिमाएं मिली थीं; दूसरी दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय में है.) मोहता भवन की गतिविधियों ने शिक्षा, साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में सार्थक काम किया. इनके केंद्र में तत्त्वचिंतक छगन मोहता थे. उन्होंने औपचारिक शिक्षा की कोई डिग्री हासिल नहीं की थी, नगर संस्कृति और दर्शन पर उनकी गहरी पकड़ थी. मानवेंद्रनाथ राय के वे निकट सम्पर्क में रहे लोगों में थे.

बीकानेर में मैंने करीब से मोहता भवन के आयोजन देखे हैं. रोत्तमदास स्वामी, महावीर दाधीच, हरीश भादानी, नंदकिशोर आचार्य, शुभू पटवा आदि शहर के लेखक-पत्रकार मोहता भवन में रोज़ आते थे. जैनेंद्र कुमार, अज्ञेय, निर्मल वर्मा वहीं डॉ. छगन मोहता के साथ ठहरते थे. शिक्षाविद् अनिल बोर्दिया ने अपनी कई योजनाओं पर पहले-पहल वहीं चर्चा की.

लेकिन छगन मोहता ने यह भवन नहीं बनवाया था, न वे धनी थे. कराची में व्यवसाय करने वाले सेठ गोरधनदास मोहता के बड़े बेटे रामगोपाल ने-जिनके डॉ. मोहता सहायक थे. बीकानेर का मोहता भवन बनवाया था और मंझले बेटे शिवरतन ने कराची का मोहता पैलेस. गर्मी शुरू होने पर सेठ लोग ऊंटों पर सवार हो बहावलपुर और आगे रेलगाड़ी से कराची पहुंचते. सावन लगा तो वापस बीकानेर. बीकानेर में डॉ. छगन मोहता से हम सुनते थे कि कराची की हवेली बीकानेर के भवन से सुंदर है. तब मैंने यह कल्पना नहीं की थी

कि बीकानेर के महाराजा गंगासिंह के कलात्मक लालगढ़-पिता लालसिंह के नाम पर निर्मित की शैली हू-ब-हू दूर कराची में मौजूद होगी.

जब बीकानेर में मैंने डॉ. श्रीलाल मोहता से इस बाबत बात की तो उन्होंने बताया शिवरतन मोहता का जन्म कराची में हुआ था, पर बचपन बीकानेर में बीता. लालगढ़ का निर्माण शुरू हुआ, तब वे और किशोरों की तरह उस तरफ़ सैर को जाया करते थे. 1929 में जोधपुर के उम्मेद भवन पैलेस के निर्माण में उसके एक हिस्से का ठेका उन्होंने लिया और अगले साल कराची में अपना घर- मोहता पैलेस बनाना शुरू कर दिया. मगर उम्मेद पैलेस की तरह आधुनिक हिंदु-यूरोपीय शैली में नहीं, लालगढ़ की पारम्परिक राजपूत-मुगल शैली में. इसके लिए दुलमेरा (बीकानेर के पास एक जगह) का बलुआ पत्थर भी कराची ले गये. इमारत पर बीस लाख रुपये का खर्च आया.

मोहता प्रसंग क्या यह ज़ाहिर नहीं करता कि मुल्क छोड़ कर भागते 'समान' नागरिकों को जिन्ना ने नहीं रोका; मगर उन्हें रोकने में मदद भी नहीं की जो रुकना

इस स्थापत्य की उसी पत्थर में एक और भव्य इमारत कराची में है, आरजीएम जिमखाना क्लब. आरजीएम यानी रामगोपाल 'जी' मोहता. बड़े भाई के नाम पर इसे भी शिवरतन मोहता ने बनवाया था. चालीस के दशक में शिवरतन मोहता सिंध के चोटी के उद्यमी हो गये थे. उनका चीनी का कारखाना बड़ा था, पर लोहे के कारोबार की वजह से 'आयरन किंग' के नाम से जाने गये. अंग्रेज़ों ने उन्हें 'राव बहादुर', 'मानद् मजिस्ट्रेट' और 'जीपी' (जस्टिस ऑफ़ पीस) के खिताब दिये. समुद्र तट- जिसे 'हवा बंदर' कहा जाता था- पर तब इक्के-दुक्के बंगले थे. बंटवारे के वक्त भी क्लिफटन में सिर्फ़ सत्रह घरों की आबादी थी जिनमें मोहता पैलेस एक बड़ा था. बड़े लोग वहां ठहरा करते थे. गांधीजी भी.

बंटवारा होते-न-होते नये मुल्क की राजधानी बन रहे कराची के प्रशासन ने कई फौरी काम किये, उनमें चर्चित रहा मोहता पैलेस अधिग्रहण. दिलचस्प बात यह है कि सेठ शिवरतन मोहता तब वहीं थे; उनका इरादा कराची छोड़ने का नहीं था. एक साल पहले, अगस्त 1946 में, जब दंगे भड़के तो सेठ के बड़े भाई ने बीकानेर से पत्र लिखा कि कराची का कारोबार समेटने की तैयारी शुरू कर दो क्योंकि वह अब अलग मुल्क बनेगा. इस पर शिवरतन मोहता ने जवाब लिखा- ''अगर बंटवारा हुआ भी, तो दोनों देश तरक्की करेंगे और कुशल व्यापारियों की सबको ज़रूरत रहेगी. इतने बड़े कारोबार और ज़मीन-जायदाद का यहीं पर रहना ठीक है.'' बरसों बाद बीकानेर में बड़े भाई के अमृत महोत्सव में सेठ ने अपना पछतावा

जगजाहिर करते हुए कहा कि 'भाईजान' की सलाह और चेतावनी बजा थी. लाखों लाख दूसरे हिंदुओं की तरह शिवरतन मोहता कराची में रहने के ख्वाहिशमंद थे, यह 14 अगस्त 1947 की शाम कराची में कायदे-आजम की ताजपोशी के मौके पर आयोजित समारोह में घटित वाकये से साफ़ होता है. इसका जिक्र सिंध के पहले प्रशासक और जिन्ना के करीबी अफ़सर रहे सैय्यद हाशिम रज़ा के संस्मरणों में मिलता है जिसके कुछ अंश 1973 में छपे थे. फ़ातिमा जिन्ना, हमेशा की तरह, वहां भी भाई का साया थीं. हाशिम रज़ा वाकये के वक्त जिन्ना की बगल में खड़े थे. रज़ा के अपने शब्दों में-

''रावबहादुर शिवरतन मोहता कराची के बेहतर समृद्ध व्यवसायियों में थे. उनकी कराची में कई इमारतें थीं और वे खुद क्लिफ्टन के अपने घर में रहते थे जिसका नाम उन्होंने मोहता पैलेस रखा था. यह इमारत हमारे विदेश मंत्रालय के लिए अधिग्रहित कर ली गयी. अल्पसंख्यक समुदायों के मोअज़्ज़िज़ नुमाइंदे गवर्नर हाउस में आयोजित स्वागत समारोह में आमंत्रित किये गये थे. शिवरतन मोहता कायद (जिन्ना) के पास आये और उन्हें गर्वनर जनरल बनने की मुबारकबाद पेश की. कायद ने उनसे हाथ मिलाया. मोहता ने, जिन्होंने अपने घर के अधिग्रहण पर एतराज किया था, सोचा कि यह अच्छा मौका होगा कि कायद से अधिग्रहण मुक्त करने की गुज़ारिश की जाए. मैं कायद के नजदीक खड़ा था उन्होंने मुझसे अधिग्रहण की वजह पूछी. मैंने बताया कि हमने वही घर अधिग्रहित किये हैं जिनके मालिकों के पास एक से ज़्यादा इमारतें हैं. शिवरतन मोहता ने कहा कि मोहता पैलेस उन्हें सबसे अज़ीज़ है. बाद में उन्होंने ज़ोर देकर घर वापस दिलाने का अनुरोध किया. कायद का जवाब था- ''शिवरतन मोहता, मैं आपके घर के अधिग्रहण को मुक्त करने में सक्षम नहीं हूं. आप इसके लिए सक्षम प्राधिकारी को अपील करें.'' शिवरतन मोहता मुल्क के मुखिया के मुंह से ये शब्द सुनकर हक्के-बक्के रह गये कि वे (गर्वनर जनरल) इमारत मुक्त करने में सक्षम अधिकार नहीं रखते. और सेठ मोहता ने घर और पाकिस्तान दोनों छोड़ दिया.

अब ठीक तीन रोज़ पहले कराची में ही नवगठित संविधान-सभा में दिया गया कायदेआज़म का वह भाषण याद करें जिसे दुहराते हुए लालकृष्ण आडवाणी आज भी नहीं थकते. जिन्ना ने सभी धर्मों के लोगों से कहा था कि पाकिस्तान उनका है, वे आज़ाद हैं, सब नागरिक समान हैं, धर्म के आधार पर नये राष्ट्र में कोई भेदभाव नहीं होगा, धार्मिक दृष्टि से निजी आस्था को छोड़कर राजनीतिक दृष्टि से राष्ट्र के सामने हिंदू हिंदू नहीं होंगे न मुसलमान मुसलमान रह जाएंगे, बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक की सभी दूरियां वक्त पाट देगा.

बहुत से विद्वान जिन्ना के उस लम्बे अंग्रेज़ी भाषण को दुनिया या इतिहास के लिए दिया हुआ मानते हैं. पाकिस्तान में समादृत इतिहासकार स्टेनली वोलपर्ट तीन

पृष्ठों में इस भाषण का हवाला देने के बाद कहते हैं; वे (जिन्ना) आखिर क्या बोल रहे थे? क्या वे भूल गये थे कि वे कहां बोल रहे थे? क्या घटनाचक्र के बवंडर ने उन्हें इतनी आत्मविस्मृति में ला छोड़ा था कि वे प्रतिपक्ष की दलीलें इस्तेमाल कर रहे थे? क्या वे एक अखंड भारत की वकालत कर रहे थे- पाकिस्तान बनने की घड़ी में- जब लाखों भयभीत बेगुनाह काट डाले गये थे, लाखों अपने घर, खेत और अपने पुरखों के गांव छोड़कर भाग रहे थे, गुमनामी के अंधेरे में या अजनबी ज़मीं पर पसरे किसी शिविर की शरण में?''

ज़ाहिर है, जिन्ना महज़ तकरीर कर रहे थे. इतिहास अभी ताज़ा है और हमें नहीं पता कि जिन्ना कभी मारे जा रहे या भागते लोगों के बीच जाकर बैठे, उनमें रू-ब-रू भरोसा पैदा करने की कोशिश की या मुल्क में हिंसा रोकने की कोई अपील की. यह ठीक है कि जिन्ना गांधी नहीं थे. उन्हें ओहदा भी दरकार था और जान भी प्यारी थी. लेकिन मोहता प्रसंग क्या यह ज़ाहिर नहीं करता कि मुल्क छोड़ कर भागते 'समान' नागरिकों को जिन्ना ने नहीं रोका; मगर उन्हें रोकने में मदद भी नहीं की जो रुकना चाहते थे.

कहा जा सकता है कि नयी मुल्क की हुकूमत को इमारतों की ज़रूरत थी. मगर मोहता पैलेस को छोड़ शिवरतन बाकी इमारतें देने को तैयार थे. क्या नयी हुकूमत के महत्त्वाकांक्षी अफ़सर जिन्ना को खुश करना चाहते थे? गौर करने की बात है कि जिन्ना पाकिस्तान बनने के बाद भी मुम्बई का अपना बंगला अपने पास रखना चाहते थे, कभी-कभी वहां जाने-आने का मन रखते थे. भारत के उच्चायुक्त के समक्ष उन्होंने अपनी इस इच्छा का इज़हार किया था. लेकिन जिन्ना पाकिस्तान बनने के अगले वर्ष ही टीबी बिगड़ने से चल बसे. मोहता पैलेस, जिसे नवगठित सरकार ने

मुगल वास्तु शैली का नमूना : मोहता पैलेस

विदेश मंत्रालय को दिया था, बाद में जिन्ना के मुम्बई के मलाबार हिल बंगले के 'एवज में' उनकी बहन और वारिस फ़ातिमा जिन्ना को दे दिया गया. जिन परिस्थितियों में सरकार ने 'पैलेस' पर कब्जा किया था, उनका ख्याल करते हुए फ़ातिमा जिन्ना को इसका कब्ज़ा लेने से शायद इंकार कर देना चाहिए था क्योंकि जिन्ना के बाद वे मुल्क की सबसे सम्मानित नेता थीं. शायद किसी और की इमारत के लिए जिन्ना के वंशजों को भी छह करोड़ की रकम मंज़ूर नहीं करनी चाहिए. लेकिन फ़ातिमा जिन्ना ही इसका रास्ता बना गयीं थीं. फ़ातिमा ने बाकायदा एक हलफ़नामा देकर यह दावा किया था कि जिन्ना ने 1939 में अपनी वसीयत में मुम्बई का मकान उनके नाम किया था पर जिन्ना के मुम्बई के उस बंगले पर पाकिस्तान सरकार का अब भी दावा है. मैं निजी तौर पर मानता हूं कि भारत सरकार को उनका दावा, रिश्ते सुधरने के सिलसिले में ही सही, मान लेना चाहिए. यह उनकी भावना का मामला है. कराची की इमारत में सेठ मोहता के वंशजों की अब शायद ही दिलचस्पी हो. पर प्रायश्चित के बतौर पाकिस्तान सरकार उसे कराची में प्रस्तावित वाणिज्य-दूतावास के लिए भारतीय उच्चायोग को सुपुर्द कर सकती है.

हां, सेठ मोहता का बाद में क्या हुआ? वे भारत चले आये. मुम्बई में डेरा डाला. इंदौर में मालवा वनस्पति और फिर और काम-धंधे उन्होंने यहां बढ़ा लिये. सरकार में उनकी पैठ रही. पाकिस्तान के वज़ीरे [illegible] आये तो डॉ. राजेंद्र प्रसाद ने शिवरतन मोहता को राष्ट्रपति भवन में बुलवाया. 1947 में उनके बड़े भाई 'आरजीएम' पचहत्तर वर्ष के हुए तो उपराष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन ने बीकानेर जाकर गीता पर रामगोपाल मोहता की लिखी टीका का लोकार्पण किया. उस किताब की भूमिका भी डॉ. राधाकृष्णन ने लिखी थी. अमृत महोत्सव में प्रधानमंत्री नेहरू और इंदिरा गांधी भी बीकानेर गये. उस मौके पर छपे मोहता अभिनंदन ग्रंथ में-जिसका सम्पादन दैनिक हिंदुस्तान के तब के सम्पादक सत्यदेव विद्यालंकार ने किया था शिवरतन मोहता ने कराची के मोहता पैलेस के बारे में लिखा है:-

"सन् 1930 में मैंने कराची में अपने रहने के लिए समुद्र तट पर वह मकान बनाना शुरू किया. मुझे उसको बनवाने का इतना शौक था कि मैं ऑपरेशन की हालत में भी पास के मकान से इस नये बनते हुए मकान को देखने और इंजीनियर को आदेश देने पहुंच जाया करता था. परंतु पूज्य भाईजी मुझे यही कहा करते थे कि तुम अपने रहने के लिए जो इतना बड़ा महल बनवा रहे हो वह उचित नहीं है. इससे तुम्हारा देह अहंकार बहुत बढ़ जाएगा और यह रजोगुणी काम एक दिन दुख का कारण बन जाएगा. मैंने आपके उपदेश पर इस मकान की योजना को कुछ कम कर दिया व बजाय तीन मंजिल के दो ही मंजिल बनाकर समाप्त कर दिया. इस मोहता पैलेस को लोगों ने बहुत पसंद किया. अब

पूज्य भाईजी के उन दिनों के सदुपदेश व चेतावनी याद आती है.''

मोहता पैलेस का विशाल बाग और दालान पार कर मैं भीतर दाखिल हुआ तो ध्यान इमारत की वास्तुकला से हटकर जिन्ना की शख्सियत को समझने की उधेड़बुन में भटक जाता था. सामने एक प्रदर्शनी में जिन्ना की बहुत बड़ी तस्वीर थी. सेठ मोहता का नाम तक कहीं अंकित न था. बांयी तरफ़ एक विशाल प्रदर्शनी में जिन्ना के जीवन की झांकी थी. कोई दो सौ तस्वीरें. उनमें सिर्फ़ एक तस्वीर में जिसमें गांधीजी ने उनके कंधे पर हाथ रख रखा है, गांधीजी के साथ जिन्ना भी हंस रहे हैं, बाकी कोई दूसरी तस्वीर नहीं दिखाई दी जिसमें उनके खूबसूरत होंठों की कोर पर कहीं मुस्कान भूले-भटके भी कौंधती हो.

क्या मैं उद्विग्न हूं? या यह मेरा दुराग्रह है? या यह राष्ट्रवाद की मार है? या अपने शहर की पुकार या एक पूंजीपति सेठ की जिलावतनी पर करुणा का प्रकोप है? बहुत उदार होकर सोचने की कोशिश करता हूं. मुझे सचमुच कोई कष्ट नहीं अगर जिन्ना सच्चे मुसलमान नहीं थे, शराब सिगार पीते थे, सुअर का मांस खाते थे, विलायती सूट-बूट पहनते थे, बैंक के सूद से प्यार करते थे, दिल्ली वगैरह में अपनी जितनी सम्पत्ति बेच सकते थे बेचकर आये थे, कभी जेल नहीं गये, सिर्फ़ एक बार गिरफ़्तार हुए वह भी लंदन में छात्र जीवन में एक छुट्टे झगड़े में, अक्खड़ थे, जिद्दी थे, खुद पारसी से शादी की पर बेटी ने की तो बेटी को छोड़ दिया, भारत को अंग्रेज़ी में भी हिंदुस्तान बोलना पसंद करते थे आदि-इत्यादि.

मेरी दुविधा में अलस गांठ वहां है जहां खड़ा हूं. यह नैतिकता का मसला है. राष्ट्र बन जाने के बाद, कायदे आज़म के नाते ही नहीं, मुल्क की बागडोर थाम लेने के बाद भी दो चेहरे क्यों?

आडवाणी के मन में कराची पहुंचकर जिन्ना के प्रति श्रद्धा उमड़ी. आडवाणी को जिन्ना की धर्मनिरपेक्षता रास आयी, यह वाज़िब है. गांधी की काट का यह भगवा तरीका होगा. वे इस्लाम के नाम पर मुल्क बनाये और धर्म-निरपेक्ष कहलाये, आप हिंदू राष्ट्र का सपना संजोये और धर्म-निरपेक्ष माने जाएं. कथनी और करनी का फरक सब जगह एक सतह पर ही तो चलता है. क्या सचमुच?

नहीं मालूम. पर मैं जिन्ना के मज़ार पर नहीं जा पा रहा. एक तो श्रद्धा नहीं उमड़ रही, तो दिखावा काहे का. दूसरे, कौन राजनीति करनी है. मज़ार के स्थापत्य की तारीफ़ सुनी पढ़ी होती तब भी जाता. मंदिर-मस्ज़िद, गिरजे-गुरुद्वारों में कला देखने जाता ही हूं. लाहौर की शाही मस्जिद जाऊंगा. पर मज़ार के बारे में कराची के अगले सफ़र में सोचूंगा. हमारे यहां अधिकारी लोग जिन्ना के व्यक्तित्व के उजले पहलू पर रोशनी फेंक रहे हैं. आडवाणी की नियत पर भले ही शक हो, उन विद्वानों की ईमानदारी पर मुझे शक नहीं है. उनके विचार मेरे ख्याल बदल सकें तो मुझे अच्छा लगेगा. तब मैं खुशी-खुशी जिन्ना के मज़ार की ज़ियारत पर जाऊंगा. ❑

ये दिन... वे दिन

उषा भटनागर

मेधा बुक्स एक्स-11,
नवीन शाहदरा, दिल्ली-32
मूल्य- 300 ₹

जानी-मानी चित्रकार उषा भटनागर की 192 पृष्ठों में फैली ये 20 कहानियां अतीत-वर्तमान के समाज और जीवन में आये सम्बंधों के विस्फोटक बदलावों की साक्ष्य हैं. स्त्री-पुरुष सम्बंधों के एकदम नये बने ढांचों से मुठभेड़ करती इन कहानियों में आज के दुर्गम रास्तों, पथरीली ज़मीन और उन्हें रौंदने की दौड़ में जुते वाहनों की त्रासद कहानी भी है. यहां एक चित्रकार के कलमकार रूप को कहानियों में पढ़ना सुखद अनुभव दे जाता है.

सवाल ही सवाल हैं

डॉ. सुरेंद्र दुबे

अभिषेक प्रकाशन, साहित्य,
संस्कार, संस्कृति केंद्र,
विद्युत नगर, दुर्ग, छत्तीसगढ़
मूल्य- 250 ₹

142 पृष्ठों में 26 व्यंग्य- कविताओं का यह संकलन प्रकाशित किया गया है. समकालीन काव्य-जगत में प्रतिष्ठित कवि ने अपने इस संग्रह में युगजीवन के विरोधाभास, असंगतियों और विकृतियों के यथार्थ चित्रण को 'सवालों' की सूरत में उकेरा है. वर्तमान सामाजिक और राजनैतिक विद्रूपताओं से उपजी व्यथा, इन कविताओं में स्पष्ट रूप से दृश्यमान होती है.

कौण्डिन्य

डॉ. सुशील पाण्डेय

'साहित्येंदु' कौण्डिन्य साहित्य
सेवा समिति, पटेल नगर,
कादीपुर, सुलतानपुर,
उ.प्र.-228145 मूल्य- 450 ₹

महाकाव्य शैली में लिखी इस पुस्तक को 18 सर्गों में बांटा गया है. इसके मूल में हज़ारों वर्ष पूर्व घटित काव्य-नायक वीर कौण्डिन्य के उस भारतीय सांस्कृतिक अभियान की विजय गाथा अंकित है, जिसका कुछ सम्बंध भारतीय प्राचीन से लेकर चीनी-कम्यूचियाई पुराणों तक फैले हुए हैं और जो अब लगभग विस्मृत हो गये हैं. कथास्रोतों के अभाव के बावजूद सूत्रबद्धता और रोचकता पाठक को बांधे रखती है.

मन सांवर

नयना आडारकार

अनुवाद- राज मेहर

काव्याग्रह प्रकाशन,
वाशिम-444505
मूल्य- 130 ₹

यह पुस्तक कोंकणी कविता-संग्रह का हिंदी अनुवाद है. इस भावानुवाद में प्रेम, ममता, सामाजिकता, राष्ट्रीयता जैसे विविध भावों का निरूपण हुआ है. इनमें समकालीन विसंगतियों पर जमकर प्रहार किया गया है. कुल 56 कोंकणी कविताओं के इस संग्रह का हिंदी अनुवाद कोंकणी साहित्य को समझने एवं भारतीय भाषाओं को समृद्ध करने की दिशा में एक सार्थक कदम है.

प्रेरणा

सम्पादक- अरुण तिवारी
ए-74, पैलेस आरचर्ड
फेज 3, सर्वधर्म के पीछे,
कोलार रोड, भोपाल-462042
मूल्य- 50 ₹

समकालीन लेखन के लिए साहित्यिक एवं सामयिक पत्रिका प्रेरणा का यह 'साहित्यिक पत्रकारिता अंक' है. विभिन्न साहित्यिक विधाओं में लिखे लेखों के माध्यम से हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता के अतीत, वर्तमान और भविष्य को देखने और साहित्यिक पत्रकारिता को एक नया आयाम देने की कोशिश हुई है. हिंदी के सुधी विद्वानों एवं युवा रचनाकारों ने भी अपने मंतव्य दिये हैं.

बातें (तेजेंद्र शर्मा के साक्षात्कार)

सम्पादक : मधु अरोड़ा
शिवना प्रकाशन, पी.सी. लैब,
सम्राट कॉम्प्लेक्स बेसमेंट, बस
स्टैंड, सीहोर- 466001
मूल्य- 150 ₹

कहानीकार, कवि और पत्रकार तेजेंद्र शर्मा के 13 साक्षात्कारों का संग्रह है यह पुस्तक. कहानी कला, लंदन में हिंदी, प्रवासी साहित्य, कथा यू.के. सम्मान, बाज़ार और साहित्य, विदेशों में हिंदी आदि अनेक विषयों पर उनके विचारों का साक्षात्कार इन साक्षात्कारों के माध्यम से होता है. इनके द्वारा हमें एक ऐसे व्यक्ति का परिचय भी मिलता है जो विदेश में जा बसने के बावजूद अपनी जन्मभूमि और मातृभाषा से गहराई से जुड़े लोगों का प्रतिनिधित्व करता है.

कुछ और किताबें

❖ **मम्मा मुझे बचा लो** (व्यंग्य नाटक)
कुमार संजय
नमन प्रकाशन, 4231/1, अंसारी रोड,
दरियागंज, नयी दिल्ली-02
मूल्य- 150 ₹

❖ **वह फिर नहीं आई** (काव्य संग्रह)
देवेंद्र कुमार मिश्रा
उद्योग नगर प्रकाशन, 695, न्यू कोट
गांव, जी.टी. रोड, गाजियाबाद, उ.प्र.
मूल्य- 125 ₹

❖ **इंद्रधनुष** (गीत संग्रह)
अश्वनी कुमार पाठक
गगन स्वर बुक्स, जी-220,
लाजपत नगर, साहिबाबाद,
गाजियाबाद- 201005 मूल्य- 180 ₹

❖ **सांस सांस जीवन**
ओम प्रकाश नौटियाल
301, मारुति फ्लैट्स, गायकवाड
कम्पाउंड, ओ.एन.जी.सी. के सामने
मकरपुरा रोड, वडोदरा, गुजरात 390009
मूल्य- 165 ₹

❖ **रिश्तों के मोती** (कहानी संग्रह)
आर.एन. सुनगरया
भिलाई प्रकाशन, रावणभाटा, सुपेला,
भिलाई, जिला-दुर्ग, छ.ग.- 4900023
मूल्य- 300 ₹

❖ **आंखों के क्षेत्रफल में** (काव्य संग्रह)
चंद्रप्रकाश पाण्डे
जयंती प्रकाशन, लालगंज, रायबरेली,
उ.प्र. 229206 मूल्य- 150 ₹

भवन-समाचार

भवन का 74वां स्थापना दिवस समारोह

भारतीय विद्या भवन के 74 वर्ष पूरे होने की खुशी में भवन मुख्य केंद्र, मुम्बई में कार्यक्रम का आयोजन किया गया. इस कार्यक्रम में भवन के संस्थापक के. एम. मुनशी को श्रद्धांजलि अर्पित की गयी तथा गणेश अथर्वशीर्ष के 108 पारायणों का पाठ किया गया.

गीता हॉल में सम्पन्न हुए इस समारोह में संस्कृत विभाग के निदेशक एस. ए. उपाध्याय तथा अन्य सभी शीर्ष अधिकारियों ने भाग लिया. भवन के कर्मचारी तथा विद्यार्थी भी इस समारोह में उपस्थित थे.

डिमडिमा का सौवां अंक

भारतीय विद्या भवन द्वारा प्रकाशित होनेवाली बच्चों की लोकप्रिय मासिक पत्रिका 'डिमडिमा' का दिसम्बर 2012 का 100वां अंक छपकर हमारे सामने है. डिमडिमा की शुरुआत फरवरी 2004 में भवन के स्कूली छात्रों को रुचिकर और शिक्षाप्रद पठनीय सामग्री उपलब्ध कराने के उद्देश्य से की गयी थी ताकि बच्चों में पढ़ने की आदत को अपरोक्ष रूप से बढ़ावा मिले. इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए विज्ञान, भूगोल, इतिहास और सामान्य ज्ञान आदि विषयों पर आधारित लेखों के साथ पज़ल, कहानियां और कॉमिक्स जैसे मनोरंजक विषयों को भी इसकी विषय सूची में शामिल किया गया.

पिछले कुछ वर्षों में भवनेतर स्कूलों के छात्रों ने भी पत्रिका में रुचि दिखाई है और अब स्कूली और सीमाओं की बाध्यता को तोड़कर डिमडिमा तमाम पाठकों तक पहुंच रही है और पढ़ी जा रही है. विदेशी सदस्यों की संख्या में लगातार वृद्धि हो रही है. यह पत्रिका पिछड़े क्षेत्रों और विदेशों में रहनेवाले छात्रों तक आसानी से पहुंच सके इसे ध्यान में रखते हुए इसे अब डिजिटल फॉर्मेट में उपलब्ध कराया जा रहा है. www.dimdimamagazine.com लिंक पर इसे देखा जा सकता है.

भवन विद्यालय की प्रधानाचार्य राष्ट्रीय पुरस्कार से सम्मानित

पंचकुला (हरियाणा) की प्रधानाचार्य शशी बैनर्जी को शिक्षा के क्षेत्र में उनके योगदान के लिए 'राष्ट्रीय शिक्षक पुरस्कार' से सम्मानित किया गया. दिल्ली के विज्ञान भवन में शिक्षक दिवस के अवसर पर राष्ट्रपति प्रणब मुखर्जी ने उन्हें यह सम्मान प्रदान किया. शशी बैनर्जी 1994 से शिक्षा के क्षेत्र में अपना योगदान दे रही हैं.

भवन विद्यालय की विद्यार्थी अंतरराष्ट्रीय गोल्फ में

भवन विद्यालय, चंडीगढ़ की विद्यार्थी, तलवीन बत्रा ने गोल्फ के अपने हुनर से अंतरराष्ट्रीय गोल्फ स्पर्धा में भी जगह बनायी है. थाईलैंड में हुई कनिष्ठ गोल्फ प्रतियोगिता में 5वां स्थान हासिल किया. गुड़गांव में हुई राष्ट्रीय गोल्फ प्रतियोगिता में तलवीन को दूसरा स्थान प्राप्त हुआ.

जिंदाल पुरस्कार

इस वर्ष का जिंदाल पुरस्कार भारतीय विद्या भवन विद्यालय, अमृतसर की प्रधानाचार्य डॉ. अनिता भल्ला ने अपने नाम किया है. उन्हें यह पुरस्कार सांस्कृतिक तथा नैतिक मूल्यों के कार्यक्रमों में योगदान देने के लिए दिया गया.

भारतीय विद्या भवन हर साल अपने 119 माध्यमिक व उच्च माध्यमिक विद्यालयों में कार्यरत शिक्षक व शिक्षिकाओं में से बेहतर प्रदर्शन करने वाले शिक्षक/शिक्षिका को पुरस्कृत करते हैं.

भवन विद्यालय में व्यापार-प्रशिक्षण

भवन विद्यालय, चंडीगढ़ द्वारा विद्यार्थियों को व्यापार के गुर सिखाने के लिए विद्यालय में 'असेंसन- राइज़ एबव' उपक्रम की शुरूआत की गयी है. जिसके अंतर्गत एक कम्पनीनुमा संस्था की शुरूआत की गयी है जो असली शेयर कम्पनी की नकल है. इस कम्पनीनुमा संस्था के शेयरहोल्डर बच्चे व विद्यालय के कर्मचारी ही हैं.

इस कम्पनी में आईस-क्रीम, आईस-टी, टीश्यु तथा स्टेशनरी के सारे सामान बिकते हैं. इस उपक्रम का प्रबंधन व देखभाल विद्यालय के निदेशकों द्वारा किया जाता है. समय-समय पर विद्यार्थियों को कम्पनी के कार्यों से सम्बंधित प्रशिक्षण भी दिया जाता है.
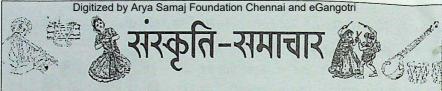
धनबाद जिला हिंदी साहित्य विकास परिषद का 33वां स्थापना दिवस

धनबाद जिला हिंदी साहित्य विकास परिषद की ओर से इंडस्ट्रीज एंड कॉमर्स एसोसिएशन के सभागार में 33वें स्थापना दिवस के अवसर पर कवि एवं सम्पादक भारत यायावर एवं चर्चित उपन्यासकार महुआ माजी को 'हिंदी सेवी सम्मान' से सम्मानित किया गया.

कोयलांचल के कवियों की कविताओं का संकलन 'कोयले पर सुलगते शब्द' तथा संस्था की वेबसाइट का लोकार्पण भी किया गया.

इस अवसर पर आयोजित कवि सम्मेलन में सुरेश अवस्थी, भारत यायावर, दिलीप चंचल व अन्य कविगणों ने काव्यपाठ किया.

हिंदी अकादमी द्वारा व्यंग्य व्याख्यानमाला आयोजित

हिंदी अकादमी, दिल्ली ने व्याख्यानमाला श्रृंखला के अंतर्गत 'व्यंग्य रचनात्मक सीमा का प्रश्न' पर डॉ. नामवर सिंह और राजेंद्र धोड़पकर का व्याख्यान रखा. इसमें नामवर सिंह ने व्यंग्य की व्यापकता, आवश्यकता, इतिहास आदि पर अपने विचार रखे. उन्होंने कहा कि ''जिस साहित्यकार के पास व्यंग्य-दृष्टि नहीं है, वह सही अर्थों में साहित्यकार नहीं है.''

'हिंदी व्यंग्य का वर्तमान और सम्भावनाएं' विषय वाले सत्र में नरेंद्र कोहली, सूर्यबाला, ज्ञान चतुर्वेदी, मूलाराम जोशी, श्रीकांत आप्टे, शांतिलाल जैन ने विचार व्यक्त किये. दिल्ली में ही साहित्य अकादमी, उत्तर प्रदेश 'हिंदी संस्थान' एवं 'व्यंग्य यात्रा' के सौजन्य से 'हिंदी व्यंग्य लेखन : कार्यशाला एवं व्यंग्य पाठ' का भी आयोजन किया गया.

उद्घाटन सत्र के अध्यक्ष विश्वनाथ त्रिपाठी थे. उद्घाटन भाषण नित्यानंद तिवारी का था एवं बीज वक्तव्य प्रेम जनमेजय ने दिया दो दिवसीय इस आयोजन में, हिंदी व्यंग्य की कार्यशाला का आयोजन किया गया जिसमें 20 प्रतिभागियों ने भाग लिया और शंकर पुणतांबेकर, नरेंद्र कोहली, शेरजंग गर्ग, गौतम सान्याल, सुभाष चंदर ने परामर्शमंडल की भूमिका निभायी. संचालन लालित्य ललित ने किया.

व्यंग्य पाठ सत्र में गोपाल चतुर्वेदी, सूर्यबाला, यज्ञ शर्मा, दिविक रमेश, गिरीश पंकज आदि की रचनाओं ने व्यंग्य के रचनात्मक पक्ष को प्रस्तुत किया.

मंटो की जन्मभूमि उनकी बेटियों का नमन

उर्दू के बेबाक लेखक सआदत हसन मंटो की तीनों बेटियां- नुसरत जलाल, निगाहत पटेल व नुजाहत अरशद बीते दिनों अटारी सड़क सीमा के रास्ते अपने पिता की जन्मभूमि गांव पपड़ौदी (समराला) को नमन करने भारत आयीं थीं. नुजाहत अरशद ने बताया कि वे देखने आयी हैं कि उनके भीतर किस माटी की खुशबू थी जो उन्होंने ऐसा साहित्य रच डाला जो न सिर्फ़ दक्षिणी-पूर्वी एशिया में पढ़ा गया वरन् विश्वभर में उसे मान्यता मिली.

वे पिता की जन्मभूमि की माटी का तिलक लगाकर, गांव की माटी पाकिस्तान ले गयी हैं.

संचित स्मृति न्यास द्वारा स्मृति संध्या का आयोजन

संचित स्मृति न्यास, लखनऊ तथा डॉ. रामविलास शर्मा फाउंडेशन, नयी दिल्ली द्वारा जयशंकर प्रसाद सभागार, कैसरबाग में अमृतलाल नागर व डॉ. रामविलास शर्मा की अनुपम मैत्री के सम्बंध में सार्थक चर्चा के लिए स्मृति संध्या का अयोजन किया गया.

अमृतलाल नागर स्मृति व्याख्यान माला के अंतर्गत गोरखपुर विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के पूर्व अध्यक्ष प्रो. रामदेव शुक्ल ने 'चकल्लस वाली चटक मैत्री (अमृत-राम विलास)' विषय पर व्याख्यान दिया. डॉ. रामविलास शर्मा स्मृति में उनके जीवन पर आधारित वृत्तचित्र 'कालजयी मनीषा' दिखाया गया. इस सत्र की अध्यक्षता सरला शुक्ला ने की. कार्यक्रम का संचालन डॉ. विजय मोहन शर्मा ने किया

शिवराम स्मृति दिवस आयोजित

सुप्रसिद्ध कवि, नाट्य लेखक, निर्देशक, समीक्षक एवं विचारक शिवराम के द्वितीय स्मृति दिवस पर 'विकल्प जन सांस्कृतिक मंच', 'श्रमजीवी विचार मंच' एवं 'अभिव्यक्ति नाट्य एवं कला मंच द्वारा कोटा में दो दिवसीय वृहत साहित्यिक-सांस्कृतिक आयोजन किया गया. आयोजन का उद्देश्य शिवराम द्वारा जीवन-पर्यंत साहित्य, संस्कृति, समाज, राजनीति एवं विविध क्षेत्रों में किये गये प्रयत्नों को एकसूत्रता में पिरोना, उनकी स्मृति को संकल्प में ढालने का साझा प्रयास था. आयोजन में देश के विभिन्न हिस्सों से आमंत्रित लेखकों व संस्कृतिकर्मियों के अलावा हाड़ौती-अंचल के करीब दो सौ से अधिक रचनाकार, श्रोता व पाठक शामिल हुए.

९वें विश्व हिंदी सम्मेलन में डॉ. गिरिजाशंकर त्रिवेदी सम्मानित

नवनीत के पूर्व सम्पादक तथा मुम्बई प्रांतीय राष्ट्रभाषा प्रचार सभा के अध्यक्ष डॉ. गिरिजाशंकर त्रिवेदी को हिंदी के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान के लिए जोहान्सबर्ग (दक्षिण अफ्रीका) में आयोजित ९वें विश्व हिंदी सम्मेलन में भारत की विदेश राज्यमंत्री द्वारा शॉल, प्रशस्ति-पत्र और मोमेंटो से सम्मानित किया गया.
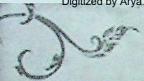
अगला अंक

'नवनीत' के विशेषांकों की
गौरवशाली परम्परा
की अगली कड़ी

नवरस सौरभ

•

साहित्य के नौ रसों का
आस्वाद कराती
नौ महत्त्वपूर्ण कहानियां

•

नववर्ष का यह उपहार
एक संग्रहणीय अंक होगा
अपनी प्रति सुरक्षित करा लें

•

विचारोत्तेजक आलेख, मर्मस्पर्शी
कहानियां और भावपूर्ण कविताएं,
संस्मरण और वह सबकुछ जो
'नवनीत' को विशिष्ट बनाता है.

जनवरी, 2013

पी. वी. शंकरनकुट्टी द्वारा *भारतीय विद्या भवन*, क. मा. मुनशी मार्ग, मुंबई – 400 007 के लिए प्रकाशित
तथा *सिद्धि प्रिंटर्स, 13/14, भाभा बिल्डिंग, खेतवाड़ी, 13 लेन,* मुंबई 400 004 में मुद्रित.
ले-आउट एवं डिज़ाइनिंग : समीर पारेख – *क्रिएटिव पेज सेटर्स*, गोरेगांव, मुंबई-104 फ़ोन: 98690 08907
सम्पादक : विश्वनाथ सचदेव